

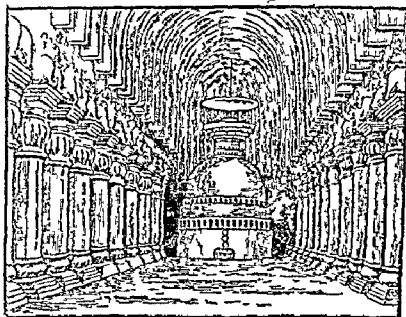
गंगा—“पुरातत्त्वांक”

जनवरी, १९३३ }
तोप-भाष, १९८६ }

“GANGA”
(An Illustrated Hindi Monthly)

{ प्रवाह ३, तरंग १
{ पूर्ण तरंग २५

“PURATATTWANK”—Special Archaeology Number Rs 3/-



प्रधान संपादक

वनेली-राज्याधिपति साहित्य-विभूषण कुमार कृष्णानन्द सिंह बहादुर

अध्यक्ष

११३-५५

Gan

पण्डित गौरीनाथ भा, व्याकरणतीर्थ

इस चक्र के सम्पादक

राहुल सांकृत्यायन

रामगोविन्द त्रिवेदी

पार्षिक मूल्य १) रुपये }
विदेशके लिये ३) ” }

“गंगाप्रवाहा विमलाऽऽदिगंगा”

—शबराचार्य

{ “पुरातत्त्वांक” का मूल्य ३।
{ साधारण भद्र ॥

छप गयी ! - छप गयी !! - छप गयी !!!

“ऋग्वेद-संहिता”

[हिन्दी-टीका-सहित]

प्रथम अष्टक २) रुपये

द्वितीय अष्टक २) रुपये

ऐसा ग्रन्थ आपने नहीं देखा होगा

अत्यन्त सरल हिन्दीमें सम्पूर्ण ऋग्वेदका सरल-सुन्दर अनुवाद

प्रत्येक पृष्ठमें मार्मिक सूचनाएँ

हिन्दीमें मनोहारिणी टीका और निस्तृत-गवेषणा पूर्ण टिप्पनियाँ

हिन्दूजातिकी सम्प्रदायका अध्ययन कीजिये

वेदोंकी ज्ञानगाममें अवगाहन कर पवित्र होनेका ऐसा सुयोग फिर न मिलेगा

आज घने पेशगी भेजकर “वैदिक-पुस्तक-माला” के रथायी ग्राहक बन जाइये

स्थायी आहकोंसे डाकखर्च नहीं लिया जायगा

इस कार्यके लिये ससार भरकी भाषाओंमें ऋग्वेदके सम्बन्धमें जितनी पुस्तकें, निग्रह ग्रन्थ और आलोचना ग्रन्थ छपे हैं, उन सबका संग्रह कर लिया गया है। वेदोंके अनेक अधिकारी विद्वान् और सिद्धहस्त हिन्दीलेखक इस विशाल अनुवाद-यशमें लगे हुए हैं

५) ६० वार्षिक मूल्य भेजकर “गंगा” के ग्राहक बननेवालोंसे वेदकी सारी पुस्तकोंपर डाकखर्च नहीं लिया जायगा

अर्थ सनातनधर्मानुकूल है

“गंगा”-कार्यालय, कृष्णगढ़, सुलतानगंज, मानसपुर

लेख-मालिका

लेख .

पृष्ठ लेख

पृष्ठ

१—पटनाके खंडहरमें (कविता)

वा० रामधारी सिंह 'दिनकर' बी० ए० (आनर्स) १

२—पुरातत्त्व और इतिहास

राय बहादुर डा० एस्० कृष्णस्वामी आर्यंगर
ए०, एम० पी० एच० डी० ३

३—भारतीय पुरातत्त्व

श्रीयुत पी० श्रीनिवासाचार्य एम० ए० (लंडन) ६

४—भारतीय पुरातत्त्वका पूर्वतिहास

आचार्य ए० महायोग्यसाद द्विवेदी १६

५—भारतीय पुरातत्त्वान्वेषण

ए० शशिनाथ चौधरी बी० ए० २३

६—पुरातत्त्वकी बातें

वा० मोतीचन्द्र एम० ए० (लंडन) ३१

७—भारतमें ऐतिहासिक अन्वेषणका कार्य

प्रो० लौट्टीसिंह गौतम एम० ए०, एल० टी० ३५

८—भूगर्भशास्त्र और पुरातत्त्व-विज्ञान

प्रो० कृष्णसुन्दर मायुर बी० एस्० सी
(लंडन), ए० आर० एम० एम० ४१

९—सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता और मोहजोदारो

डा० नरेन्द्रनाथ लाहा एम० ए०,
पी० एच० डी०, पी० आर० एम० ४८

१०—मोहजोदारो

डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फिल
(आक्सन) ६२

११—नागवंश और गंगा

विद्यामहोदय वा० फादीप्रसाद जायसवाल
एम० ए०, बार-पेट-न्या ६६

१२—प्राचीन साहित्यमें नालन्दा

डा० हीरानन्द शास्त्री एम० ए०, डी० लिट्
(एपीग्राफिस्ट दु दि गवर्नमेंट आफ इंडिया) ७०

१३—श्रृंगवेदीक आर्यनिवासाका भौगोलिक विवरण

डा० अचिनाशचन्द्र दास एम० ए०,
पी० एच० डी० ७३

१४—कलचुरि-राजा शङ्कराणके समयका शिलालेख
राय बहादुर वा० हीरालाल बी० ए० ८५

१५—ग्रामीण योलियोंके समुचित अध्ययनका
महत्त्व—डा० वावूराम सक्सेना एम० ए०,
डी० लिट् ८७

१६—राजा कर्कमुत्तर्णवर्षका ब्राह्मणपल्ली-दानपत्र
डा० विनयतोष भट्टाचार्य एम० ए०,
पी० एच० डी० ८६

१७—वेदकालीन शिरोभूषण और पद्मपत्र
डा० मुनिमलचन्द्र सरकार एम० ए०,
डी० फिल (आक्सन) ९५

१८—वैदिक भूगोल
प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र खट्टोपाध्याय एम० ए० १०२

१९—यसाङ्की खोदाई
त्रिपिटकाचार्य राहुल सांठ्यायन ११८

२०—पहाड़पुरकी खोदाई
वा० मदनप्रसाद एम० ए०, बी० एल० १२३

२१—पहाड़पुरके त्रिचित्र मन्दिरकी खोदाई
ए० फादीनाथ दीक्षित एम० ए० १२८

२२—अद्रकपतिर्दशके मूर्त्यमार्का एक शिलालेख
ए० लोचनप्रसाद पाण्डेय १३५

लेख	पृष्ठ	लेख	पृष्ठ
२१—देवगढ़— बा० कामताप्रसाद जैन	१३८	३८—कालनिर्णयमें ई. ई. और गहराई	
२४—पालोके शिलालेख		त्रिपिटकाचार्य राहुल सांझ्यायन	२०४
बा० विनोदचिहारी राय वेदरत्न	१३६	३६—महायान बौद्ध धर्मकी उत्पत्ति	२०७
२५—फाल्गुकी गुफाएँ—प० आनन्दराव जोशी	१४६	४०—मन्त्रयान, यज्ञयान और चौरासी सिद्ध	२१४
२६—दानार्णवके पुत्र महाराजा इन्द्रवर्माका		४१—मागधी हिन्दीका विकास	२२७
टिक्ली स्थित ताम्रपत्र—राजा लक्ष्मी-		४२—हिन्दीके प्राचीनतम कवि और उनकी	
नारायण हरिचन्द्रन जगदेव बहादुर	१५४	कविताएँ	२४२
२७—एक अद्वितीय प्रतिमा		४३—भारतमें मानव विकास	२६३
श्रीयुत रणछोड़लाल द्वानी एम० ए०	१५८	४४—संसारकी भाषाएँ—साहित्याचार्य "मग"	२७४
२८—मथुराकी कला, संग्रहालय और पुरातत्त्व		४५—लेखनोपकरण	
बा० वासुदेवशरण गोमिल एम० ए०	१६२	ठा० अब्दुलानन्द सिंह "अतरसनी"	२८१
२९—भारतकी चित्र-विद्या-सम्बन्धी खोज		४६—गुप्तकालीन विदर्भ	
बा० मोतीचन्द्र एम० ए० (लंडन)	१७१	प० यशवन्त गुशाल देशपाण्डे	
३०—श्वे-डेगोन पगोडा		एम० ए०, एल-एल० धी,	२८४
बा० धर्मचन्द्र सेमका "चन्द्र"	१७५	४७—गुप्तवंश—सा० प० विश्वेश्वरनाथ रेड	२८६
३१—उत्तरकाशीका शक्तिस्तम्भलेख		४८—हिन्दुओंकी वर्षगणनाएँ	
प० वीरभद्र शर्मा तैलंग, घेद-काव्यतीर्थ	१८३	कुमार गंगानन्द सिंह एम० ए०	२९३
३२—जैन मूर्तियाँ—बा० कामताप्रसाद जैन	१८४	४९—संसारके संवत्सरोंका सिंहावलोकन	
३३—मुगल-सम्राट् और उनके समाधि-मन्दिर		प० सुरेश्वरप्रसाद मिश्र	३०१
प० पीताम्बर भा	१८८	५०—हाँसीके किलेकी सूर्य-प्रतिमा	
३४—भारतीयोंका लिपि ज्ञान		प० प्रभुदयालजी	३११
साहित्याचार्य "मग"	१८६	५१—मद्रासका गवर्नमेंट म्युजियम	
५५—भारतके सिक्के— साहित्याचार्य "मग"	१९४	बा० श्रीमदुभाषचतप्रसाद चर्मा	३१२
१६—भारतीय मुद्राकी प्राचीनता		५२—पटनेका संग्रहालय	
प० वासुदेव उपाध्याय श्री० एस-सी०	१९८	बा० लक्ष्मीनारायण वी० ए०	३१३
३७—कलिंगके गंग और केसरी-राजाओंकी		५३—प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम	
स्वर्ण-मुद्राएँ— राजा लक्ष्मीनारायण हरिचन्द्रन		श्रीयुत रणछोड़लाल द्वानी एम० ए०	३१५
जगदेव बहादुर	२०३	५४—सम्पादकीय मन्तव्य—	३२१-३३०

चित्र-सूची

चित्र	पृष्ठ	चित्र	पृष्ठ
१—बनैली राज्याधिपति साहित्यविभूषण कुमार कृष्णानन्द सिंह बहादुर १		३०—राजा लक्ष्मीनारायण हरिचन्द्रन जगदेव बहादुर ६६	
२—प० गौरीनाथ भा, व्याकरण-तीर्थ १६		३१—श्रीराम-प्रतिमा ६६	
३—७—जैन-तीर्थङ्कर ४०—४१		३२—शिव-प्रतिमा ६६	
८—मोहञ्जोदारोकी मनुष्य-मूर्ति ६४		३३—अमरावतीका महाचेत्य ६७	
६—मोहञ्जोदारोकी नग्न-स्त्री-मूर्ति ६४		३४—घेदकालीन शिरःसज्जा ६७	
१०—मोहञ्जोदारोकी नग्न-नर्तकी-मूर्ति ६४		३५—धेनुकासुरवध और इन्द्र १२८	
११—मोहञ्जोदारोकी मुद्रार्थ ६४		३६—राधाकृष्ण और बलराम १२८	
१२—मोहञ्जोदारोका पताला ६४		३७—३६ पहाड़पुर-सम्यन्धी तीन चित्र १२८	
१३—मोहञ्जोदारोका छोटा कूप ६४		४०—श्रीकृष्ण १२८	
१४—मोहञ्जोदारोका तालाव ६४		४१—विविध वानर १२८	
१५—मोहञ्जोदारोकी नाली ६४		४२—यम्यर्षकी अद्वितीय शैवप्रतिमा १२८	
१६—बुद्ध ६५		४३—फाल्गुकी चैत्य-गुहा १२८	
१७—घा० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए०, पार-पेट-ला ७२		४४—खोदाईके अनन्तर पहाड़पुर १२६	
१८—डा० अविनाशचन्द्र दास एम० ए०, पी-एच० डी० ७३		४५—४६ महाराजा इन्द्रवर्माका दानपत्र १६०	
१९—प० काशीनाथ दीक्षित एम० ए० ८८		५०—५२ उत्तरकाशीका शक्तिस्तम्भलेख १६०	
२०—फलचुरि-राजा शङ्कराणका शिलालेख ८८		५३—५४ कलिङ्ग, गङ्गा और केसरी-राजर्षीकी सुवर्ण-मुद्रार्थ १६१	
२१—डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फिल ८८		५५—चौथी सदीके मिर्हके वर्तन १७६	
२२—घा० कामताप्रसाद जैन ८८		५६—गृहस्थ-प्रतिमार्थ १७६	
२३—डा० सुविमलचन्द्र सरकार एम० ए०, डी० फिल (भाक्सन) ८८		५७—सूर्य-प्रतिमा १७६	
२४—प० सर्वेश्वर शर्मा कटकी ८६		५८—धर्माके राजा मीडून मीन १७६	
२५—धर्मयुत रणोडलाल शर्मा एम० ए० ८६		५९—द्वे डेगोन पगोडा, रंगून १७६	
२६—प० लोचनप्रसाद पाण्डेय ८९		६०—द्वे-डेगोनके विभिन्न मन्दिर १७६	
२७—२६ घेदकालीन शिरःसज्जा ६६		६१—द्वे-डेगोनका नया म्यर्ण-छत्र १७६	
		६२—द्वे डेगोन पगोडाकी यौद्धमूर्तियाँ १७६	
		६३—द्वे-डेगोनका महार्थ १७७	

चित्र	पृष्ठ	चित्र	पृष्ठ
६४—पूजाभिलाषिणी वमों महिला	१७७	१६८—प्रस्तवीभूत वृक्ष	३१२
६५—७० भारतमन्त्री द्वारा प्राप्त जैन-मूर्तियाँ	१८४	१६९—मौर्यकालकी मूर्तिका-मूर्तियाँ	३१२
७१—७३ भारतीकी प्राचीन लिपियोंके नमूने	१६२	१७०—चामर-धारिणी स्त्री-मूर्ति	३१२
७४—१५८ चौरासी सिद्ध	२१६	१७१—ईं टोंपर रामायणका दृश्य	३१२
१५९—मैत्रय बोधिसत्त्व	२१६	१७२—मृण्मयी नागिनी	३१२
१६०—अवलोकितेश्वर	२१६	१७३—जहाँगीरकी स्वर्ण मुद्राएँ	३१२
१६१—तिव्वतीय आचार्य	२१७	१७४—बोधिसत्त्व-प्रतिमा	३१२
१६२—तिव्वतीय सिद्ध	२१७	१७५—ताजमहल	३१२
१६३—चौरासी सिद्धोंका वंशवृक्ष	२२०	१७६—गरुडमुखा देव-प्रतिमा	३१३
१६४—५०००० वर्ष पूर्वका पुत्र	२६४	१७७—असीरियाका राजा	३१३
१६५—५०००० वर्ष पूर्वकी स्त्री	२६४	१७८—असीरियाकी देव-मूर्ति	३१३
१६६—कुषाणकालीन यक्षिणियोंकी प्रतिमाएँ	२६५	१७९—मुसलमानों ईंटे	३१३
१६७—संवत् १२४२की जैन-मूर्ति	३१२	१८०—ईसा पूर्व छठी सदीकी अरब-देवमूर्तियाँ	३१३
		१८१—चौथी सदीकी बौद्ध ईंटे	३१३



कमजोर तथा दुबले-पतले
बच्चे

डोंगरे

वा

बालामृत

पीनेसे

नाम मात्रकी सत्ताके लालचसे अपने
घरोंको नकली
और बेकार दवा कदापि न पिलाइये

ताकतवर, पुष्ट और आनन्दी बनते हैं
थोड़ेही असेंमें बच्चोंका वजन बढ़ता है
भारतके कस्बेतकमें बिकता है।

“गेगा” का “पुरातत्त्वांक”

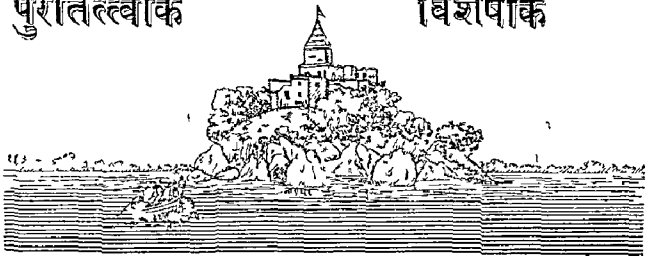


“गेगा” के प्रधान संस्थापक,
 श्री श्रीगंगाधरपति साहित्यविम्वर्य कुमार शृण्णानन्द गिर पहादुर



पुरातत्त्वांक

विशेषांक



सचित्र हिन्दी-मासिक पत्रिका

प्रवाह ३ } जनवरी, सन् १९३३; पौष-माघ, संवत् १९८६ { तरंग १
पूर्ण तरंग २५

घटनाके खँडहरमें

बा० रामधारी सिंह "दिनकर", बी० ए० (ग्रान्से)

बैभवके काल ! नियतिके अकरुण मग्न विहार !

ओ सम्पन्न-मगध-उत्सव-अभिनयके उपसहार !

अरे राजपतियोंके गौरवकी तुम सुप्त समाधि !

घता, घता, तो रहा कहा वह सोनेका सतार !

विश्वका सपना वह सुकुमार

कहाँ सिसकी भरता अनजान ?

प्रलयके तिमिराग्रमें बढ़ा

दिशा यह बैभवकी मुमकान -

नियतिके कुटिल अक्षमें कहा

ऊँपता यह विशाट् भृंगार !

हुआ निम गगनागदमें अस्त

हमारा स्वर्णदिन साकार !

लहराता है कहा शूरताका वह पारावार ? किन्तु अभ्युदयका इस जगमें एक अर्थ संहार ।
 कहां गूँजता आज हमारे भारतका जयकार ? अतः आज तेरे मरघटमें रोता अभ्युत्थान ॥
 फड़-फड़ फहर रहा किस रणमें मेरा विजय-निशान ? मुरझ गया संध्या-अञ्जलमे मेरा स्वर्ण प्रकाश ।
 अरे चमकती “चन्द्रयुग” की वहां आज तलवार ? पतझड़की भंखाड़ सेजपर सोया विमल विकास ।
 काँपते सुन मेरा रणघोष कहां अब भूके राष्ट्र विशाल ? हाथ, गँवाकर आज विभ्रम-मणियोंके वे शृंगार—
 हमारे पदपर झुकता कहां ग्रीसका वह गर्वोन्नत भाल ? खोज रहे तेरी मिट्टीमें हम अपना इतिहास ॥
 बिहँसती भारत-जननी कहा विजयकी आभामें छविमान ? यही सुख-सम्पत्तिका आस्थान,
 कहा गाते किवर-गन्धर्व मौर्व्य-नीरोंके गरिमा-गान ? विनश्वरताका चिर अभिशाप ।
 गूँज उठे जिस धर्म-गीतके स्वरसे देश-विदेश जग सुना दे हम आज गौतमके वे उपदेश । नियतिका कुटिल व्यंग, परिहास,
 गिरि, वन, जलधि लॉच भूतलपर प्रसरित होते आज यही है इस जगतीका पाप ॥
 कह, “भशोक” की प्रथुल बाँह चढ़ क्या मेरे सन्देश ? अशाश्वत विश्व-विभवमें यहाँ,
 यहाँ धर्मगुरुकी समाधि है, तू ऐसे मत मूल । निहित है शाश्वत सत्यानाश ।
 संस्कृतिकी सुकुमार लताका यहीं छिपा है मूल । प्रलयके सौरभसे अज्ञात,
 इतना रखता याद, यदपि वह झूट गया दिनमान ॥ व्याप्त हैं जल, यल, अनिलाकाश ॥
 इस उजाड़ उपवनमें गी ये खिले फलकके फूल ॥ गूँज रहा जगके कण-कणमें महाप्रलयका राग ।
 आज लोटता जिम मिट्टीमें मेरा सुकुट महान एक-एक कर छोड़ रहा कुसुमोंकी सरस धराग ।
 वहीं कमी तूने देखे हैं अद्भुत विभव-वितान । ज्ञानमंगुरताके इस वनमें विकल बैठ हम आज ।
 अपने वैभवकी समाधिपर गाते करुण विहाग ॥ अपने वैभवकी समाधिपर गाते करुण विहाग ॥



पुरातत्त्व और इतिहास

राय बहादुर डा० एस० कृष्णस्वामी आयरंगर एम० ए०, पी०एच० डी०

पुरातन्त्रमें निम्न-लिखित विषय सम्मिलित हैं :—

(क) शुद्ध पुरातत्त्व, शिल्पकला, मूर्तिविद्या और विभिन्न विज्ञान-कलाएँ ;

(ख) लिपि-विद्या और मुद्रा-विद्या ।

इस अर्थ-निरूपणमें साधारणतः विकासवादका सिद्धान्त लागू होता है । इस सिद्धान्तका व्यवहार भले ही असो-त्पादक न मालूम पड़े ; किन्तु इसे सिद्धान्तरूपमें व्यवहृत करनेमें बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है । दीर्घ काल तक विचार करनेपर इसका परिणाम फलदायक हो सकता है ; किन्तु साधारण रूपसे, सावधानीके साथ व्यवहार करनेसे, जो भूलकी सम्मानना हो सकती है, उसके प्रमाणकी बहुत कम आवश्यकता है । कभी-कभी यह दावा किया जाता है कि, विकासवादका सिद्धान्त भ्रष्टकालके लिये भी कामके साथ व्यवहृत किया जा सकता है और इसमें यदि कुछ भूलें भी हों, तो उनका अन्य दूसरे प्रमाणों द्वारा विचार करनेपर निवारण हो सकता है ।

भ्रष्टकाल सावधानीके साथ व्यवहृत करनेपर भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी पदार्थ, वस्तुतः रूपमें, (जिनमें पुरातत्त्व-सम्बन्धी सभी प्रकारकी वस्तुएँ आ जायें) हमें इतिहास-निर्माणमें केवल अतिशय-संशय का काम दे सकते हैं । सदाहरण-स्वरूप किसी घटनाका प्रभाव या कौन-सी घटना किससे आगे या पीछे घटी या जिस जातिकी पुरातत्त्व-सम्बन्धी वस्तुकी परीक्षा की जा रही है, उसकी साधारण अवस्था या सम्प्रदायका धारा आदि विभिन्न सूचनाएँ इससे बहुत-कुछ मिल सकती हैं । किसी भी सम्प्रदायके सम्बन्धमें, पूर्ण जानकारीके लिये, पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाणोंसे काम चलाना असा देसी सीर है । हमें इसके लिये कुछ अधिककी आवश्यकता है ।

हाँ, इतिहास-निर्माण-कार्यमें हमें मनुष्य-कृत पदार्थ ही वास्तविक सहायता पहुँचा सकते हैं; और, जिसे हम पुरातत्त्व-विद्या समझते हैं, वह भी इसी “मानव-कार्य”में सम्मिलित है ।

इधर, हालमें, पुरातत्त्व-विद्यामें, हमारे देशमें, बहुत कुछ उन्नति हुई है और इसके लिये हम सर जान मार्शलके, जिनकी, विचार एवं प्रतिभासे सम्पन्न, देख-रेखमें इस विभागमें इतनी उन्नति की है, ऋणी हैं । तत्त्वशिला, नालन्द, सारनाथ, पाटलिपुत्र, नागौर (राजपुताना) प्रभृति क्षेत्रोंमें जो खोदाईके कार्य हुए हैं ; उनमें इतिहासके अध्ययनमें भिन्न-भिन्न रूपसे बहुत कुछ प्रशंसनीय सहायता की है । किन्तु इन सबसे बढ़कर सिन्ध-प्रदेशकी खोदाई है । इस कार्यके प्रारम्भमें तो ऐसा प्रतीत होता था कि, यह मेनोपोटामियाकी हू-बडू नकल है और प्राप्त वस्तुएँ भारत-सुमेरीय सम्प्रदायके स्मृतिचिह्न हैं ; किन्तु ज्यों-ज्यों आगे कार्य बढ़ता गया, नयी-नयी चीजोंका स्वरूप चला और फलस्वरूप यह भ्रम दूर हो गया । वहाँकी प्राप्त वस्तुओंमें यह साफ प्रमाणित कर दिया है कि, यह सुमेरीय सम्प्रदायसे बिलकुल भिन्न है । सर जान मार्शलने अपने लेखोंमें इस बातपर जोर दिया है कि, इसे भारत-सुमेरीय नहीं, बल्कि सिन्धु-तटस्थ सम्प्रदायका नाम देना चाहिये । पान्थु वह समय अभी नहीं आया है कि, हम इस विषयमें बहुत दूर आगे बढ़कर इसका अन्तिम निर्णय कर सकें । इस सम्प्रदायका वास्तविक रूप (जिसे पुरातत्त्वकी गोजने प्रष्ट किया है) जाननेके लिये अधिक अध्ययन एवं विशेष सामानकी आवश्यकता है । हम तबतक निर्णय-रूपसे कुछ कहनेमें लाचार हैं, जबतक उस स्थानमें पुरातत्त्वज्ञों द्वारा प्राप्त वस्तुओंकी जाँच, अन्वेषण तथा, विशेष अध्ययनके साथ, न की जाय । पान्थु इतना प्रसरण है कि, इसके कार्य-क्रमसे

हमें इस प्रश्नको सन्तोष-रूपसे हल करनेमें सफलता-प्राप्ति होगी। खैर, जो हो, वह समय कभी भी आवे, निर्णय यही करना है कि, यह सामान्या ऋग्वेदिक है अथवा द्राविड़ ?

इसके अलावा पुरातत्त्वका कार्य बहुधा पुगने नगरों, मन्दिरों एवं दूसरे प्रकारके साधारण शृङ्गे के पते लगानेमें सहायक होता है। उदाहरणार्थ नासन्द, साम्नाय तथा अन्य स्थानोंके बौद्ध-मन्दिर है। कभी-कभी पुगने मन्दिरोंका पता लगाकर उनके रूपका जीर्णोद्धार भी बहुत कुछ मूल्य रखता है; ऐसा कि, भारतवर्षके बहुतसे स्थानोंमें इस प्रकारके जीर्णोद्धार किये हुए मन्दिर हमें, मन्दिरकी बनावटके अपूर्ण रूपका, दिग्दर्शन करा सकते हैं। यद्यपि इस प्रकारके जीर्णोद्धार कार्य केवल भूमितलके खादा मात्र ही हैं, परन्तु, फिर भी, इस अल्प सहायतासे भी, हमलोग सम्पूर्ण मन्दिरकी बनावटके विषयमें बहुत कुछ अनुमान कर सकते हैं। इन भग्नावशेषोंके (जो केवल अज्ञान-जन्ममें पाये गये हैं)

कार्य उच्च पुगतत्त्व-विभागका ही है। इस विभागने धोते-बुझके विशाल मन्दिरके अध्ययनके सम्बन्धमें एक नियमित रूपसे प्रयत्न किया है। इसने महान् परिश्रमके बाद भी उन लोगोंका कार्य इस मन्दिरके रहस्यकी शुक्ली सुलझानेमें अधिक सफलता लाभ नहीं कर सका है। इसका पता इस विभागके दो पृष्ठ भागोंमें समाप्त होनेवाले विशाल ग्रन्थों और अन्यत्र छपी हुई ४०० पुस्तिकाओंके द्वारा (जो इसी विषय-पर प्रकाशित हुई हैं) लगाया जा सकता है। यह पुरातत्त्वके कार्य और साहित्यके अध्ययनके सम्बन्धका बड़ा जवर्दस्त सदा-हरण *। अतएव इस कीर्ति-स्तम्भका रहस्य तथैवके उचित रूपसे मालूम होना असम्भव है, जबतक कि बौद्ध-धर्मके सभी प्रकारके साहित्यका गम्भीर अध्ययन नहीं किया जाय और उस अध्ययनके द्वारा इस तरहके कीर्ति-स्तम्भोंका अर्थ नहीं लगाया जाय।

पदार्थ भी है, जिनकी ओर हमारा ध्यान, प्रबल रूपसे, माहृत होता है। वर्तमान विष्णु-मन्दिरके ठीक पीछे इस स्थानमें एक बहुत बड़ी खड़ी ढलुकी चटान है। इसके बीचसे, शृष्टि-जलसे घिस जानेके कारण, एक प्रकारका जल-पथ बन गया है। वर्षाका जल, जो दूसरी चटानके शिखापर तथा ऊपरी भागमें प्रवाहित होता है, एकत होकर चटानके इस प्रवाहने भी इस चटानको दो मम भागोंमें विभक्त कर दिया है। शिल्प-मूर्तिकारने इस चटानपर उपदेशमय एक बड़े भव्य चित्रका खोदना आवश्यक समझा। उसने इस चटानपर विविध प्रकारके दृश्य चित्रित कर दिये हैं। जल-तलमें सभी-प्रकारके जल जंतु, नाग-नागनियोकें साथ, यह रहे हैं। किनारेपर अनेक जीव-जन्तु, जल पीनेके हेतु, भाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। पास ही, दूसरी ओर, एक कुटी बनाई है। कुटीके कारण, स्नान-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न कार्य करते हुए, विसी भी हिन्दू-धर्मके तीर्थस्थानके निकट होनेवाले धार्मिक कृत्य करते हुए ये चित्र निस्सन्देह सारे दृश्यके प्रधान भंग हैं। चटानके ऊपर, जल-पथके समिष्ट ही, दाहिने पैरके बैंगूटेपर खड़ी एक शिलामूर्ति है। यह मूर्ति इतनी दुबली-पतली है कि, इसके अस्थि-मंडरक दृष्टिगोचर होते हैं। इसके दोनों हाथ परमात्माकी तपस्या करनेके रूपमें ऊपरकी ओर उठे हुए हैं। इसके ठीक सामने किनी देवताकी एक विराट् मूर्ति है। देवताकी स्वाभाविक जटासे यह भी प्रतीत होता है कि, यह देवादिदेव भगवान् महादेवकी मूर्ति है। उसके ठीक नीचे सगी तपस्वीकी एक दूसरी मूर्ति, एक छोटे मन्दिरके सम्मुख, तपस्या करनेके भावके रूपमें, प्रदर्शित की गयी है। अतएव यह स्पष्ट है कि, यह तपस्विकी शंकरसे वरदान माँगनेके समयकी मूर्ति है। यदि केवल इन्हीं सब भंगोंपर विचार किया जाय, तो यह अनुमान निश्चला जा सकता है कि, इन दृश्यों में नदीकी ही मुख्यतः प्रथमता दी गयी है। परन्तु इस चित्रमें कुछ और

भी बातें हैं, जो विचारणीय हैं। इन सारे चित्रका अर्थ लगानेके लिये एक चित्र प्राप्य है, जो दूसरी जगह है। उष्णक बतोंपर विचार करनेके कारण इसके मुख्य भंगकी ध्यानमें रखकर इस मूर्तिक नाम जो यहाँ “अर्जुनकी तपस्या” के नामसे प्रचलित है, अस्वीकार करने योग्य है और इस मूर्तिक अर्थ “गंगावतरण” ही लगाया जा सकता है। यह मन फेख पुरातत्त्व-विशारद मोन्स गुलबूदा है। पाणिनीयके प्रोफेसर गोविन्द जेनेल और पाश्चात्य पुरातत्त्व-विभागने भी इसका समर्थन किया है। डॉ० आनन्दकुमार स्वामी भी अपनी पुस्तक “भारतीय एवं सुदूर भारत-एशियाई कला” में इस मतका अनुमोदन किया है। इससे यह स्पष्ट है कि, विद्वानोंका बहुमत इसे “गंगावतरण” का चित्र स्वीकार करता है। अतएव इसके प्रचलित नामका आधार (जिसे कोई भी इतिहासक आधार प्राप्त नहीं है) दस्तवयाके सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

इन प्रकार केवल अक्षपत्रप्रमाणके आधारपर ही विचार नहीं किया जा सकता। सबसे पहली बात यह है कि, यहाँ शिलामूर्तिकारका “गंगावतरण”को इस भाँति दिखलानेका क्या उद्देश्य है? दूसरी बात यह है कि, यदि उसने दिखलाया भी, तो वह उचित रूपमें सफलतापूर्वक हो सदा है अथवा नहीं? इस प्रश्नके पूर्व यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि, इस चित्रमें जिनकी बातें हैं, उन सबकी “गंगावतरण”की कहानीके आधारपर व्यवस्था की जा सकती है अथवा नहीं? पहली बात जहाँतक स्पष्ट है, यह है कि, एक मनुष्य उभय तपस्या करता है, भगवान् शंकर दयासे होकर सम्मुख प्रकट होते हैं और उसे दरदान माँगनेकी आज्ञा देते हैं। वहाँ नदीकी उपस्थिति इस बातको स्पष्ट करती है कि, वरदानमें नदीका पृथ्वीपर आना ही माँगा गया है; शिलान् मूर्तियोंका (जो इस शिला-चित्रके मुख्य भंग हैं) चित्रण करना शिल्पकारकी इच्छा प्रकट रूपसे दूसरी बातोंकी दिखलानेकी है। इस मूर्तिकी ठीक बाईं ओर, ठीक उसी समस्त

भूमिपर, जहाँ यह मन्दिर है, और वह तपस्वीलीन है, दो विशालकाय बलिष्ठ मनुष्योंकी मूर्तियाँ हैं। उन दोनोंके हाथोंमें बाणके साथ चढ़े हुए धनुष हैं और ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे किसी शिकारके पीछे हों। उन लोगोंके एक-दूसरे सामने एक विशालकाय जन्तु अपनी शक्तिभर, अत्यन्त तीव्र गतिसे, भागा जा रहा है। उसके कार्य तथा चालसे यह स्पष्ट है कि, वह बड़ा भयभीत है। उसका पथ अन्य स्थानोंमें भी अचिन्त है और अन्तमें उस ध्यान-मग्न तपस्वीके निबट्ट दृष्टकर निकल पड़ता है। जन्तुकी आकृतिसे यह प्लूत्य है कि, वह चराहके सिवा कोई दूसरा जानवर नहीं है। इसका स्वभाव भी प्राचीन भारतकी कृत्रियोंके आसपास रहने-वाले जन्तुओंके स्वभावसे बिल्कुल भिन्न मालूम पड़ता है। यह निस्सन्देह है कि, ये शिकारी इसी शूकरके पीछे लगे हैं और यह यथार्थात् वक्तेके प्रथममें है। यह भाव इतना स्पष्ट एवं प्रधान रूपसे अचिन्त है कि, हम लोग इसे सम्पूर्ण दृश्यका एक गौण अंश मान सकते हैं। इन दूरे दूरवर्ती व्याख्या करनेके समय इस चित्रका भी अर्थ निकालना अत्यन्त आवश्यक है। “गंगावतरण”की कहानीसे इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

“गंगावतरण”में शङ्करा भाग गौण है, क्योंकि गंगा कुछ उनकी श्रमसे नहीं अवतरित हुई है। वे रगमगपर केवल इतलिये युताये जाते हैं कि, गंगाके स्वर्गसे पृथ्वीपर गिरनेके समयकी प्रचलताको वे समझ सकें। उन्होंने यह कला, अंगीरथपर प्रगम होकर, स्वीकार किया था। अतएव उन्होंने गंगाके महान् भारको अपने ही ऊपर रोककर अपनी जड़ोंमें बाँध रखा, पथल पीरे पीरे बँदू बँदू बहने दिया। यह कार्य केवल गंगाकी धाराकी तीव्र गतिसे रोक्ने और गंगा-देवीके गर्वको पूरा करनेके लिये ही किया गया था। “गंगावतरण”के दृश्यमें शङ्कर गर्व इती रूपमें दिखलाये जाते हैं। अन्तर्गतमें इस सम्बन्धके समस्त चित्र इती प्रकारके हैं। अन्त इग सिलचित्रमें महादेव, अपने देवराजे रूपमें, दक्षमु

दाताकी तरह, उस तपस्वीके एक बहुत घोर सकटके समय, उपस्थित किये गये हैं। इसलिये इस चित्रमें नदीकी प्रधानता मानना सरासरी अनुचित है। इस घटनाके सम्बन्धमें दूसरी अनुचित ध्यान यह है कि, नदी एक छुद्र धाराके रूपमें दिखायी गयी है और कहानीमें जो शिवका भाग है, वह यहाँके शिवके भागसे उनकी उपस्थिति, इस सम्बन्धमें, आवश्यक नहीं है। शिवकी उपस्थिति गंगाको पूर्ण रूपसे, अपनी प्रचल धाराके रूपमें, दिखलाना उचित था। साथ ही शिवके गंगाको अपनी जड़ोंमें रोकनेका दृश्य दिखलाना आवश्यक था। यदि यह नहीं, तो वह जड़ोंके एक कोनेसे छुद्र धाराकी गाँठि प्रवाहित ही दिखायी जा सकती थी। इस शिला-चित्रमें इन दृश्योंका प्रायः अभाव है। इसके अलावा दो सृजना करनेवालों और बराहके चित्रोंकी स्पष्टता बिल्कुल ही नहीं होती है। आकाशमें विचरण करनेवाले जो चित्रमें नदीकी ओर जाते हुए दिखलाये गये हैं, इनका अर्थ स्पष्ट है कि, वे सन्ने सब चित्रके ठीक बीचमें अचिन्त भगवान् शङ्करकी मूर्तिका ओर जा रहे हैं। बर-दान देनेके समर्थ ऐसी घटना प्रायः सब कहानियोंमें दिखायी जाती है। यह स्वभाविक है। उनमें बहुतेरे आकर उठर जाते हैं, कुछ आकर शीघ्र ही इस समाजको दूसरोंके पास पहुँचानेके लिये खने जाते हैं और इस प्रकार पितृगण तथा देव-गण विविध भौतिक कार्य करते हैं। नियमानुसार इस चित्रमें भी इनका वही कार्य है। गिनापर शिकारियों और बराहके, चित्र चित्रित हैं। उनकी कहानी ठीक वही है, जो हमें “किता-तर्जुनीय”में उपलब्ध है। नदी कुटोका एक साधारण भग मान है। साथ ही तपस्या-भूमिमें पायी जानेवाली सन्ति प्राप्त है। हाँ, बराहका माना इन स्वभाविक शान्तिमें बाधा डालता है। हिन्दुमतानुसार कोई भी कुटी ऐसी जगहपर सम्भव नहीं, जहाँ विपुल जन प्रतीत अवसर हो। साथ ही यह धारा तो एक स्वभाविक है, जिनमें मूर्तिकारने नदी अचिन्त करनेमें, सुमोहमें, साध ठाढ़ा है। इसके निवा नदीमें कोई साध विशेषता नहीं, जो गंगावतरण की घटनाका चित्र माना जाय।

नदीके चित्रकी इस प्रकार समुत्पत्तिक व्याख्या का प्रयत्न चित्रमें भक्ति शिक्तियों एवम् कराहकी व्याख्याका प्रयत्न करना चाहिये। किताबुनीय ग्रन्थवा महाभारतके किताब-मर्गमें पाठक भर्तृनकी तपस्याका वर्णन पावेंगे।

कहानीमें भर्तृनका भावी युद्धकी तैयारीके लिये पाशुपत-प्राप्तिके प्रयत्न तपस्या, वराहका भागमन, उमका पीड़ा करना, किताबेशी शिवसे युद्ध, वात खुल जानेपर भर्तृनका पश्चात्ताप और क्षमा-याचना, शिवका प्रसन्न होना, वरदान देना आदि बातें विराद रूपसे चित्र-नाभ्यमें वर्णित हैं। कहानीके तीन प्रधान भाग विभिन्न दृश्योंमें शिलान्तर दिखते गये हैं। चित्रपरिशिन्नके किमी भी सिद्धांतमें यह संदेह नहीं रह जाता है कि, यहाँ कलाकारका वास्तविक उद्देश्य केवल यही है ग्रन्थवा कुछ दसगा नहीं। भाग ही इसका और कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि, इसकी व्याख्या किमी दूसरे रूपसे की जाय। चित्रके प्रचलित नामके बदले कोई दूसरा नाम देनेके पूर्व आवश्यकता है कि, प्रचलित नामकी अयोग्यता स्पष्ट रूपसे प्रमाणित की जाय। यह तो निर्विवाद है कि, यह अयोग्यता बिलकुल नहीं प्रमाणित की गयी है और खूबी तो यह है कि, उसके बदले एक नये नामकी सिफारिश की गयी है। इसका आधार नदीको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। इसके अलावा सम-सामयिक साहित्यमें भर्तृनको पाशुपत अस्त्र प्रदान करना वर्णित है। मैंने भी १६१७के "इण्डियन ऐंटेक्वेरी" में इस कहानीको उद्धृत किया है। इसके सिवा यह एक यथार्थ बात है कि, इस चित्रके निर्माण-कालमें पद्म-नरेश सिंह विष्णुकी राजसभामें किराणाजुनीयका प्रचार पृथक्पृथक् था। इस महाकाव्यका लेखक कवि भारवि इनका समकालीन था। प्राप्त चित्र इस कविके काव्यका चित्रावतार है। यह चित्र पाँचों भाइयों (पाण्डवों) मेंसे एक मुख्य भाईके सम्बन्धमें होनेके कारण इस स्थानका नाम भी पण्ड्या पड़ गया है। इसकी दूसरी कोई भी व्याख्या, जब तक ग्राह्यकी सहायता पुरातत्त्वके प्रमाणके लिये न ली जाय,

सम्भव नहीं है। इतिहासके प्रधान पात्रोंके इस प्रकारके उदाहरणका प्रधान उद्देश्य यही है। इन सब बातोंके देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, पुरातत्त्व-सम्बन्धी वस्तुओंके ग्रन्थ लगानेमें भूल होनेकी बड़ी सम्भावना है।

मूर्ति-विद्याके सम्बन्धमें लोगोंकी कुछ ऐसी पृथक्ता है कि, वे मूर्ति-विद्यासम्बन्धी सभी कृतियोंका अर्थ, विकास-वादके सिद्धान्तके सहारे, लगाते हैं, किन्तु वे भूल जाते हैं कि, विकास-वादका सिद्धान्त, जिनका मूर्ति-विद्यामें सम्बन्ध है बहुत कुछ, ग्रन्थ कई कारणोंसे, परिवर्तित हो जाता है। कलाके विकासके सिद्धान्तमें धर्मके आधारपर प्रचलित मूर्तिविद्याकी रीतियोंके कारण बड़ा हेरफेर हो जाता है। कलाका विकास-वाद जब मूर्तिविद्यामें लागू होता है, तब उसमें बहुत कुछ संशोधन लाता है और यदि मूर्तिविद्याकी रीतियोंके आधारमें जो रीतियोंकी विभिन्न कलाएँ हैं, उन्हें ध्यानमें रखें, तभी ग्रन्थ लगानेमें सरलता होगी। ग्रन्थ प्रकाशकी कलाएँ एकदम ही भिन्न वस्तुएँ हैं। इसमें कलामें विकास-वादका सिद्धान्त रचकदत्ताये लागू हो सकता है। अगर इसमें पञ्चाशत्पादक हस्तक्षेपकी कुछ सम्भावना भी है, तो वह केवल उन जातियोंके अनुकरणकी है, जिनके साथ सम्बन्धकी सम्भावना हो और जिसके कुछ प्रमाण हों। यदि ऐसी बात न हो, तो विकासवादका सिद्धान्त मुंदर परिणामके साथ लागू हो सकता है।

लिपि-विद्या और मुद्रा विद्या इस संबंधमें ठीक वसी प्रकारके एक ही आधारपर प्रचलित है। किंतु प्राचीन लिपि-विद्यापर यदि हम केवल सभ्यताशैली विकास-वादकी दृष्टिसे किमी तरह देखें, तो अधिक विश्वास हो सकते हैं। हाँ, यदि केवल इन्हींके आधारपर हम काल-निर्णय करनेका प्रयत्न करें, तो हम भूलकी सम्भावनासे बिलकुल परे नहीं हैं। किंतु इतना अवश्य है कि इस विद्याके समुचित अध्ययनसे अधिक उन्नतिके साथ मुंदर प्रवृत्तियों पर ध्यान सकते हैं। मुद्रा-विद्यामें विशाल-वादका सिद्धान्त लिपि-विद्यामें यदि अधिक नहीं, तो बराबर अवश्य लागू होता है। इसके अलावा इसमें

भूमिपर, जहाँ यह मन्दिर है, और यह तपस्वीलीन है, दो विशालकाय बलिष्ठ मनुष्योंकी मूर्तियाँ हैं। उन दोनोंके हाथोंमें बाणके साथ चढ़े हुए धनुष हैं और ऐसा पूनीत होता है, मानो वे किसी शिकारके पीछे हों। उन लोगोंके एक-दूसरे सामने एक विशालकाय जन्तु अपनी शक्तिमत्, अत्यन्त तीव्र गतिसे, भागा जा रहा है। उसके कार्य तथा चालसे यह स्पष्ट है कि, वह बड़ा भयभीत है। उसका पथ अन्य स्थानोंमें भी अक्रिय है और अन्तमें उस ध्यान-मग्न तपस्वीके निकट दृष्टकर निकल पड़ता है। जन्तुकी आकृतिसे यह पुन्युक्त है कि, वह बराहके सिवा कोई दूसरा जानवर नहीं है। इसका स्वभाव भी प्राचीन भारतकी कृतियोंके अनुसार रहने-वाले जन्तुओंके स्वभावसे बिलकुल भिन्न मालूम पड़ता है। यह निम्नोद्देश है कि, वे शिकारी इसी सूत्रके पीछे लगे हैं और यह यथार्थकि वचनेके प्रथममें है। यह भाव इतना स्पष्ट एवं प्रधान रूपसे अक्रिय है कि, हम लोग इसे सम्पूर्ण दृश्यका एक गौण भग्न मान सकते हैं। इन दूरे दूरकी व्याख्या करनेके समय इस चित्रका भी अर्थ निकालना अत्यन्त आवश्यक है। “गंगावतरण”को कहानीसे इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

“गङ्गावतरण”में राहका भाग गौण है, क्योंकि गंगा कुछ उनकी कृपासे नहीं भवति हुई है। वे गमनवाच केवल इसलिये बुलाये जाते हैं कि, गंगाके स्वर्गसे पृथ्वीपर गिरनेके समयकी प्रवृत्तियोंके वे समझ सकें। उन्होंने यह कला, भगीरथपर प्रपन्न होकर, स्वीकार किया था। अतएव उन्होंने गंगाके महान् भारको भग्न ही ऊपर रोकर अपनी जड़ोंमें बाँध रखा, पयात धारे-बीरे बँदू-बँदू बढ़ने दिया। यह कार्य केवल गंगाकी धाराकी तीव्र गतिसे रोके और गंगा-देवीके गर्वसे पूरा करनेके लिये ही किया गया था। “गंगावतरण”के दृश्योंमें शकर सर्वत्र इसी रूपमें दिखलाये जाते हैं। अन्तर्पर्यन्त इस गमनस्थके गमनस्थ चित्र इनी प्रदर्शक हैं। एतन्तु इस शिलाचित्रमें महान्व, प्रधान देवताके रूपमें, दयालु

दाताकी तरङ्ग, उस तपस्वीके एक बहुत घोर सङ्कटके समय, उपस्थित किये गये हैं। इसलिये इस चित्रमें नदीकी प्रधानता मानना सरासरी अनुचित है। इस घटनाके सम्बन्धमें दूसरी अनुचित बात यह है कि, नदी एक छुद्र धाराके रूपमें दिखायी गयी है और कहानीमें जो शिवका भाग है, वह यहाँके शिवके भागसे उनकी उपस्थिति, इस सम्बन्धमें, आवश्यक नहीं है। शिवकी उपस्थिति गंगाको पूर्ण रूपसे, अपनी प्रबल धाराके रूपमें, दिखलाना उचित था। साथ ही शिवके गंगाको अपनी जड़ोंमें रोक्नेका दृश्य दिखलाना आवश्यक था। यदि यह नहीं, तो वह लड़ाके एक कोनेसे छुद्र धाराकी भाँति प्रवाहित ही दिखायी जा सकती थी। इस शिला चित्रमें इन दृश्योंका प्रायः अभाव है। इसके अलावा दो युग्मा करनेवालों और बराहके चित्तोंकी स्पष्टता बिलकुल ही नहीं होती है। आकाशमें विचरण करनेवाले जो चित्रमें नदीकी ओर जाते हुए दिखलाये गये हैं, उनका अर्थ स्पष्ट है कि, वे सबके सब चित्रके ठीक बीचमें अक्रिय भगवान् शकरकी मूर्तिकी ओर जा रहे हैं। बरदान देनेके समय ऐसी घटना प्रायः सब कहानियोंमें दिखायी जानी है। यह स्वामाधिक है। उनमें बहुतेरे आकर ठहर जाते हैं, कुछ आकर शीघ्र ही उस समाचारको दूसरोंके पास पहुँचानेके लिये खड़े जाते हैं और इस प्रकार भिन्नगण तथा देवगण विविध भौतिक कार्य करते हैं। नियमानुसार इन चित्रोंमें भी इनका वही कार्य है। शिवापर शिकारियों और बराहके चित्र चित्रित हैं। उनकी कहानी ठीक बरी है, जो हमें “क्रिया तात्परीय” में उपलब्ध है। नदी कुछोका एक साधारण भग्न माल है। साथ ही तपस्वी-भूमिमें पायी जानेवाली शक्ति प्राप्त है। हाँ, बराहका माना इस स्वामाधिक शान्तिमत्ता का बालता है। हिन्दुमानुसार कोई भी बुरी एवी जगहपर सम्भव नहीं, जहाँ विपुल जल प्राप्ति सम्भव हो। साथ ही यह धारा तो एक स्वामाधिक है, जिसमें मूर्तिकारने नदी अक्रिय करनेमें, शुभीतेमें, लाम उठाया है। इसके सिवा नदीमें कोई गाय विशेषता नहीं, जो गंगावतरणवत् ही अन्तर्गत चित्र माना जाय।

नदीके चित्रकी इस प्रकार सन्तोषपूर्वक व्याख्या का मन चित्रमें भक्ति शिकारियों एवम् बराहकी व्याख्याका प्रथम करना चाहिये । कितातजुनीय ग्रन्थवा महाभारतके कितात-पार्श्वमें पाठक भर्जुनकी तपस्याका वर्णन पावेंगे ।

कहानीमें भर्जुनका भाषी युद्धकी तैयारीके लिये पाशुपत-प्राप्तिके प्रथम तपस्था, बराहका भागमन, उसका पीड़ा करना, कितातेशी शिवसे युद्ध, घात खल जानेपर भर्जुनका प्रयासाप और जमा-याचना, शिक्षा प्रसन्न होना, वरदान देना आदि बातें विराद रूपमें चित्र-काव्यमें वर्णित हैं । कहानीके तीन प्रधान भाग विभिन्न दूरियों में शिलाग्र दिखये गये हैं । चित्रारिखाननेके किमी भी सिद्धांतमें यह सदेष्ट नहीं रह जाता है कि, यहाँ कलाकारका वास्तविक उद्देश्य केवल यही है ग्रन्थवा कुछ दूसरा नहीं । आप ही इसका और कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि, इसकी व्याख्या किमी दूसरे रूपसे की जाय । चित्रके पृथक्लिता नामके बदले कोई दूसरा नाम देनेके पूर्व आवश्यकता है कि, प्रथमलिता नामकी प्रयोग्यता स्पष्ट रूपसे प्रमाणित की जाय । यह तो निर्विवाद है कि, यह प्रयोग्यता बिलकुल नहीं प्रमाणित की गयी है और खूबी तो यह है कि, उसके बदले एक नये नामकी सिफारिश की गयी है । इसका आधार नदीको छोड़कर और कुछ भी नहीं है । इसके अलावा सम-सामयिक साहित्यमें भर्जुनको पाशुपत प्रख प्रदान करना वर्णित है । मैंने भी १६१७के "इतिहास ऐण्टेक्केरी" में इस कहानीको उद्धृत किया है । इसके सिवा यह एक यथार्थ बात है कि, इस चित्रके निर्माण-कालमें पद्म-नरेश सिंह बिष्टाकी राजसभामें कितातजुनीयका प्रचार प्रवृत्तपसे था । इन महाकाव्यका लेखक कवि भारवि इनका समकालीन था । प्राप्त चित्र इस कविके काव्यका चित्रावृत्त है । यह चित्र पाँचों भाग्यों (पाण्डवों) मेंसे एक मुख्य भाईके सम्बन्धमें होनेके कारण इस स्थानका नाम भी पण्डवों का गया है । इसकी दूसरी कोई भी व्याख्या, जब तक साहित्यकी सहायता पुरातत्त्वके प्रमाणके लिये न ली जाय,

सम्भव नहीं है । इतिहासके प्रधान पात्रोंके इस प्रकारके उदाहरणका प्रधान उद्देश्य यही है । इन सब बातोंको देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, पुरातत्त्व-सम्बन्धी वस्तुओंके ग्रन्थ लगानेमें भूल होनेकी बड़ी सम्भावना है ।

मूर्ति-विद्याके सम्बन्धमें लोगोंकी कुछ ऐसी पृथक्ता है कि, वे मूर्ति-विद्यासम्बन्धी सभी कृतियोंका ग्रन्थ, विकास-वादके सिद्धान्तके सहारे, लगाते हैं; किन्तु वे भूलजाते हैं कि, विकास-वादका सिद्धान्त, जिसका मूर्ति-विद्यामें सम्बन्ध है बहुत कुछ, ग्रन्थ कई कारणोंसे, परिवर्तित हो जाता है । कलाके विकासके सिद्धान्तमें धर्मके आधारपर प्रचलित मूर्तिविद्याकी रीतियोंके कारण बड़ा हेरफेर हो जाता है । कलाका विकास-वाद जब मूर्तिविद्यामें लागू होता है, तब उसमें बहुत कुछ संशोधन लाता है और यदि मूर्तिविद्याकी कीर्तियोंके आधारों में रीतियोंकी विभिन्न कलाएँ हैं, उन्हें ध्यानमें रखें, तभी ग्रन्थ लगानेमें सरलता होगी । ग्रन्थ प्रकारकी कलाएँ एकदम ही भिन्न वस्तुएँ हैं । इसमें कलाओं के विकास-वादका सिद्धांत स्वच्छवृत्तसे लागू हो सकता है । अगर इसमें प्रभावोत्पादक हस्तक्षेपकी कुछ सम्भावना भी है, तो वह केवल उन जातियोंके अनुकरणकी है, जिनके साथ सम्बन्धी सम्भावना हो और जिसके कुछ प्रमाण हों । यदि ऐसी बात न हो, तो विकासवादका सिद्धांत सुंदर परिणामके साथ लागू हो सकता है ।

लिपि-विद्या और मुद्रा-विद्या इस संबंधमें ठीक उसी प्रकारके एक ही आधारपर प्रचलित है । किंतु प्राचीन लिपि-विद्यापर यदि हम केवल उत्पत्तिगत विकास-वादकी दृष्टिसे किमी तरफ देखें, तो अधिक विवरण दे सकते हैं । हाँ, यदि केवल इन्हींके आधारपर हम काल-निर्णय करनेका प्रयत्न करें, तो हम भूलकी सम्भावनासे बिलकुल परे नहीं हैं । किंतु इतना अवश्य है कि, इस विद्याके समुचित अध्ययनमें अधिक उत्पत्तिके साथ सुंदर अवस्थापर पहुँच सकते हैं । मुद्रा-विद्यामें विकासवादका सिद्धांत लिपि-विद्यामें यदि अधिक नहीं, तो बराबर अवश्य लागू होता है । इसके अलावा इसमें

जो कुछ विशेष लाभ है, वह यह है कि, हम मुद्राओंकी क़ारी-गरीबे रूपकी कलाकी सुंदर कृति मान सकते हैं। इसमें एक बहुत बड़ा लाभ यह भी है कि, इनमें कोई भी हेरफेर लाने-वाली ऐसी रीति या प्रथा नहीं है जिसके परिणाम बहुत दूर तक पड़े। इतना होवे हुए भी इसमें विकास-वादके सिद्धांतको लगाते समय अत्यंत सावधानी एवं समयकी आवश्यकता है।

साहित्य-क्षेत्रकी ओर मुझेपर पता चलता है कि, पुरातत्त्व मनुष्य-मस्तिष्ककी अपने सभी भगोंमें सर्वांगपूर्ण एवं प्रथम रूपन है और इसमें हमें उस वस्तुकी प्राप्ति होती है जिससे हम किसी भी दूसरी वस्तुकी अपेक्षा पुरातत्त्व अन्वेष्टनके सम्बन्धमें अधिक लाभ उठा सकते हैं। लेकिन इसमें बहुत भूल हो सकती है, जिसे यत्नेके लिये अत्यंत सावधानीकी आवश्यकता है। इस क्षेत्रमें चेन्नका अनुभव खूबीसे किया जा सकता है। इसी कारण इसमें सभी प्रकारके मनुष्य-मस्तिष्ककी तरंग और व्यक्तिगत समीकरणोंका स्वच्छन्द विचार छोड़ दिया जा सकता है। ग्रंथ लगानेके साधारण सिद्धान्तोंकी कोई भी नियमनद परिभाषा देनी, एकचित्त प्रमाणोंके

आधारकी अपेक्षा, विशेष कठिन है। इसके अलावा हमें जो पुस्तकें प्राप्त हैं, उनकी सचाई और शुद्धतापर हम पूर्णरूपसे विश्वास नहीं कर सकते। परन्तु किसी भी जातिकी सम्भन्ताके इतिहासका बहुत-सी हालातोंमें ज्ञान करानेके लिये पुरातत्त्व सबसे पूर्ण और सुन्दर साधन है। शर्त यह है कि, प्राप्त वस्तुओंकी खाननीन, बहुत सावधानीके साथ, सम्यक् समालोचनाके द्वारा, निर्वायात्मक विचारधे, की जाय। अतएव इतिहास-निर्माण प्राप्त वस्तुओंकी उचित खाननीन करते और उनका समुचित मूल्य देनेपर ही निर्भर करता है। साथ ही यह भी देखता आवश्यक है कि, प्राप्त वस्तुएँ इतिहासके किंग विशेष पूरन या अंगपर अधिक लागू हैं।

जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है, उसने यह स्पष्ट हो गया होगा कि, वास्तविक ग्रंथ लगाकर किसी निर्यदपर पहुँचना कितना कठिन एवं कैसी कैसी भूलोंका समावेश होनेकी आशंका है। तो भी इसमें सफलता प्राप्त करना कोई असम्भव कार्य नहीं है। भले ही वह बहुत उत्तम पूर्णताको प्राप्त न कर सके, किंतु उस श्रेणीकी पूर्णता इसमें अवश्य आवेगी, जो मानव-शक्ति की पहुँचके भीतर है।



भारतीय पुरातत्त्व

भीषुत पी० श्रीनिवासाचार्य एम० ए० (लंडन)

किसी राष्ट्र के निर्माणमें जो मुख्य उपकरण सहायक होते हैं, उनमेंसे उस राष्ट्रकी सांस्कृतिक अनुधृतियों (Traditions) की विशेषताओंका एकीकरण मुख्य स्थान रखता है। राष्ट्रकी आत्मा सर्वदा उसकी संस्कृति, उसकी भावनाओं तथा उसके अतीत कालके आख्यानोंसे अनुप्राणित रहता करती है। उन सभी विषयोंका अद्यत अतीत कालके सभी भौतिक पदार्थोंका विरलेपण, उनका स्पष्टीकरण तथा ग्रन्थेपण ही पुरातत्त्व-विषयका मूल आधार है। यह पुरातत्त्वके साथ ही-साथ इसके सम्बन्धमें सभी विषयों—इतिहास तथा शिलालेख आदि—का सम्बन्ध स्थापित करता है।

भारत सरकार, अपने प्रारम्भिक शासनकालमें, भारतीय पुरातत्त्व-विषयक गवेषणाओंके महत्त्वसे अनभिज्ञ नहीं थी; किन्तु इस बीसवीं शताब्दीमें इस विषयपर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है; क्रमबद्ध छानबीन की जा रही है; पुरा-सांस्कृतिक क्रमिक विकासपर अच्छा प्रकाश पड़ता हुआ दीख पड़ता है।

पिछले इतिहासपर इष्टिपात करनेसे हम कह सकते हैं कि, जार्ज कैनिंग ही भारतीय पुरातत्त्वके जन्मदाता हैं—यद्यपि इनके पहले भी कुछ काम हो चुका था। सन् १८३४ में जनरल कनिंघम तथा सन् १८५३ में मेजर किटोने सारनाथमें कुछ खोदाईका काम किया था; किन्तु उन लोगोंका यह कार्य वैयक्तिक रूप एवं समीप चेतनमें सम्पादित हुआ था। सन् १८६० में जार्ज कैनिंगने *Archaeological Survey of India* की स्थापना की; और, सन् १८६२ में, पुरातत्त्व-विभाग जनरल एलेक्जेंडर कनिंघमको पुरातत्त्व-विभागका डायरेक्टर नियुक्त

किया। इस परिश्रमी विद्वान्ने, सन् १८६२ में १८८४ तक, अथवा परिश्रम किया और अपनी महत्त्वपूर्ण खोजकी रिपोर्टोंको, लगभग २३ खण्डोंमें, प्रकाशित कराया। इनमें सरकारी साधारण वार्षिक रिपोर्टोंसे बड़ी अधिक सखी खबरें, खोजकी विशेषतः एवं पूरे-पूरे विवरण दिये गये हैं। डायरेक्टर जनरल कनिंघमकी दस वर्षोंसे अधिक भ्रमशीलता वस्तुतः उनकी निजी कृति थी; लेकिन सन् १८७४ में डाक्टर बर्नेस मद्रास और यम्बई में सर्वेक्षणोंकी पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजोंके लिये डायरेक्टर जनरल नियुक्त किये गये। ये जनरल कनिंघमकी ही तरह पुरातत्त्व-विभागके ग्रन्थ-पणमें निपुण थे और अन्तमें उनके स्थानमें डायरेक्टर जनरल भी हुए। इन्होंने ३२ खण्डोंमें *Imperial Series* प्रकाशित करायी है, जिसमें कनिंघम साहबकी रिपोर्टोंके साथ सन् १९०२ के पूर्वतकके पुरातत्त्व-सम्बन्धी विवरण भी दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त, मेजर कोल (जो सन् १८८१-१८८४ तक प्राचीन स्मारकोंके अध्यक्ष, *Curator of the Ancient Monuments*, थे) की लिखी "भारतीय स्मारकोंका संरक्षण" (*Preservation of National Monuments of India*) शीर्षक तीन वार्षिक रिपोर्टें और फुटकर लेख उस समय प्रकाशित हो चुके थे।

सन् १८८६ में डा० बर्नेसके अवकाश ग्रहण करनेपर पुरातत्त्वका काम, फाइनेन्स कमिटी (*Finance Committee*) की उदासीनताके कारण, ठीका पड़ गया। सन् १८८६ में जार्ज कैनिंगका ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने लक्ष्यप्रतिष्ठ पुरातत्त्वज्ञान मार्शलकी सन्धता में, सन् १९०२ में, *Imperial Department*

of Archaeology की स्थापना की। इसके बाद तो भारतीय पुरातत्त्वका काम प्रति वर्ष सुचारु रूपसे चलने लगा। भारतवर्षमें ही नहीं, सारे संसारमें इस पुरातत्त्व-विभागका कार्य प्रसिद्धि प्राप्त करने लगा; और, “Indian Archaeological Survey” के रूपमें इसके द्वारा वार्षिक रिपोर्ट भी प्रकाशित होने लगी।

उपर्युक्त वार्षिक रिपोर्टों तथा जनरल कनिंगम, डा० वर्नेस और मेजर फोले के पुराने प्रकाशनमें विशेष विभिन्नताएँ हैं। जैसा कि, पहले कहा जा चुका है, पहले के प्रकाशनमें जहाँ पुरातत्त्व-विषयक प्रमाणोंका विस्तृत समावेश है, वहाँ इन रिपोर्टोंसे पुरातत्त्व विषयक वस्तुएँ प्रायः अपना इस प्रकार परिचय देती हैं, मानो इनपर विशेष मननशील अध्ययन नहीं किया गया है, और, इनके तत्त्वोंकी जानकारी जिज्ञासु पुरुषोंपर ही छोटी दी गयी है।

पुरातत्त्व सम्बन्धी प्राचीन और नवीन प्रकाशनोंमें स्वभावतः अन्तर होना अनिवार्य था, क्योंकि पहले इस विषयके विद्वानों और प्रेमियोंकी संख्या बहुत कम थी, साथ ही इस विभागमें उसनी डोसगी भी नहीं आयी थी। लेकिन बादमें जो वार्षिक रिपोर्टें प्रकाशित हुईं, उनसे आशा हुई कि, उनमें विद्वतापूर्ण विवरण मिलेंगे, किन्तु न वे प्राप्य ही हैं, न विशेषज्ञोंके वे इसका परिचय ही देवी हैं कि, फौन-कौनसे नये आविष्कार हो चुके हैं! अतः पुरातत्त्व-विभागका मुख्य ध्येय, नयी खोज और खोदाइयोंके बदले, प्राचीन संस्मरणोंकी रचा करना हो गया।

खोदाइयोंके काममें बहुत कम उन्नति होनेके कारण लगभग सन् १९२५ में इस विभागमें कुछ (नाम मात्रको) परिवर्तन हुआ। चूँकि सब विदेशी और गैर-सरकारी लोगोंको खोदाई करनेकी सक्त मनाही थी, इसलिये खोज और खोदाइयोंके कामोंमें विशय उन्नति नहीं हुई। सन् १९२५ में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण खोज और खोदाइयों

काम हुए, जिनसे इस और भारत सरकारका ध्यान, विशेष रूपसे, आकृष्ट हुआ; और, सिर्फ खोदाइयोंके लिये ही उसने वार्षिक बाई लाखकी मंजूरी भी दे दी। अन्वेषणके कार्यके लिये, आपरयक सहकारी कार्यकर्त्ताओंके साथ, एक डाइरेक्टर जनरलकी नियुक्ति हुई। इसके अतिरिक्त भार्य अन्वेषण और खोदाइयोंके कार्याधिन्यको अनुभव कर, सरकारी कार्यकर्त्ताओंकी सफलताकी दृष्टिसे, खोज या खोदाई करनेवाली याहरी या गैर-सरकारी सोसाइटियोंको भी देशमें खोज और खोदाई करनेके अधिकार दे देनेकेका भारत सरकारने निश्चय किया। भारत सरकारने ऐसा इसलिये किया कि, डाइरेक्टर जनरल जान मार्शलको—जिनके कर्णोंपर सारा भार लदा रहता था—अपने पुरातात्विक जीवनकी अनुभूति तथा मनोरञ्जक और महत्वपूर्ण बातें लिखनेका अवसर मिलता रहे।

सरकारके द्वारा कुछ संरक्षणके काम भी हुए थे, जो भी प्रारम्भमें पुरातत्त्व विभागका मुख्य काम केवल माप और अन्वेषण ही था। यद्यपि सन् १९०२ से सन् १९२६-२७ तक पुरातत्त्व-विभागका मुख्य काम प्राचीन संस्मरणोंकी रचा करना ही रहा, तो भी पुरातत्त्व-विभागके द्वारा, दूसरी दिशामें, कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कार्य भी हुए, जिनसे पुरातत्त्वज्ञोंके हृदयमें, भारतीय पुरातत्त्वके प्रति, विशेष जिज्ञासा और कौतूहल उत्पन्न हुआ। भारत सरकार इस और जितनी थोड़ी रकम खर्च करती आ रही है, उसीसे अब वह पुरातत्त्वके सभी छोटे छोटे विभागोंके लिये उचित व्यवस्था करनेकी चेष्टा कर रही है, और, अर्थाभावके कारण, खोज और खोदाइका जो काम, अपने दूतेपर, उससे नहीं चल सकता, उसके लिये वह याहरी या गैर-सरकारी सहायता प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रही है।

पुरातत्त्व-विभाग द्वारा अबतक किये गये संरक्षण, खोज और खोदाइका विवरण सधेयमें लिखना कठिन है। संरक्षणके विषयमें हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि,

भारतीय या विदेशी—जो भारतीय-पुरातत्वमें कुछ भी अनुशासित रहते होंगे—योजिगेंने प्रत्यक्ष देख होगा और वे खूब जानते होंगे कि, देशमें कोई भी ऐसा कीर्ति-सम्भवा या स्मारक नहीं—चाहे वह किसी भी धर्म या समाजका हो—जिसकी सहितक पुरातत्व-विभाग न पहुँचा हो और जिसकी देख-रेख वह भली भाँति न करता हो।

सरकारको यह आशा बची थी कि, किसी-न किसी उपायसे पुरातत्व-विभाग अपना काम कभी-न-कभी अवश्य समाप्त कर दालेगा; किन्तु इसका ठीक उलटा ही हो रहा है—जितनी ही मुस्लिमोंके साथ काम किया जा रहा है, उतनी ही मात्रामें सफलता दूर भागती जाती है। मुख्यतः इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि, संरक्षणका काम एक घर या एक दिनका नहीं, चिरस्थायी है। दूसरी बात यह है कि, भारतवर्ष जैसे देशमें, यदि ऐसे-ऐसे दस विभाग भी लगावार काम करें, तो दो सौ वर्षोंके बाद भी, सहस्रों पञ्चाशद्वारोंकी छान-बीन अथवा खोज-खोदाइयों बाकी ही रह जायेंगी !

साधारणतः इस कार्यका तत्त्व अथ तो भली भाँति मालूम हो गया है और काम भी सुचारु रूपसे चल रहा है। सर जान मार्शलका कहना है कि, प्राचीन स्मारक या कीर्ति-सम्भवा, महत्त्वपूर्ण अन्तर और भाषोंके विचारसे, दो भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। मुसलमानोंकी वस्तु निर्माणशैलीमें—जो सरनेनी शिल्पकलासे बहुत-बहुत मिलती-जुलती है—जोहेके जोड़ या लकड़ीका व्यवहार नहींके बराबर मिलता है। वस्तुनिर्माणमें वे जोहे और लकड़ीपरकी नक़्शियोंपर कम ध्यान देते थे। ईंटोंकी दीवारोंपर ही नक़्शों की जाती थी और इसके कारण गुम्बजों या मेहराबोंके एक घर फट जानेपर उनकी खूबसूरती—वर्णना नक़्शों—खराब हो जाती है। प्राचीन मुस्लिम वस्तु-निर्माणशैलीमें एक और बात है। सम्भवतः अपने स्मारकों या मीनारोंका निर्माण करनेकी उनकी एक

ही शैली होती थी, और, उनकी ऐसी चाल बहुत प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। अतः ऐसी दशमें, सरनेनी स्मारकोंके आकार-प्रकारका पता लगाना उतना असम्भव नहीं जान पड़ता; क्योंकि वे एक ही आदर्श, आकार, संस्कृति और विचारसे तैयार किये जाते थे; उनमें बहुत कम अन्तर होने पाता था।

हिन्दुओंके स्मारकों या कीर्तिस्तम्भोंमें ठीक इससे उलटी बात पायी जाती है। सर जान मार्शलने कहा है कि, हिन्दुओं और मुसलमानोंके स्मारकोंमें विशेष यही अन्तर है कि, हिन्दू शिल्पकार पत्थर या स्लेटकी पट्टियों और काठपर नक़्शों करते थे, इसलिये वे बहुत सुन्दर और टिकाऊ होते थे। दीवारोंके फट जानेपर भी उनकी निजी सुन्दरता बिगड़ने नहीं पाती थी और वे यथास्थान फिर लगा दिये जा सकते थे। इमारतोंके गिर जानेपर भी वे जिस दशमें मिले हैं, उससे उनकी वास्तविक सुन्दरता और कुशल शिल्प कृतिके विषयमें बहुत कुछ जाना जा सकता है। वर्षा, भूकान आदिका टनपर कुछ-न-कुछ अवश्य प्रभाव पड़ा है, वो भी मुस्लिम-शिल्पकलाकी अपेक्षा अतीत-कालीन भारतीय शिल्पकलापर उनके पञ्चाशद्वारोंसे अधिक प्रकाश पड़ता है, और, उनसे बहुत-सी नयी-नयी बातोंका पता भी चल जाता है।

उपर्युक्त विवरणोंसे पता चलता है कि, पुरातत्व-सम्बन्धी खोज और खोदाइयाँ काम अभीतक बहुत थोड़ा ही हो पाया है; इस कामका बड़ा भाग अभी बाकी ही है। पैमाइश, खोज और खोदाइयें काम इन दिनों साध-साध हो रहे हैं। बात तो यह है कि, जितनी ही अधिक खोदाई हो रही है, उतना ही पैमाइशका काम बढ़ता जा रहा है। कैलिथोलिथिक युग (Chalcolithic Age) के कुछ स्थानोंकी खोदाइयें कारण वस्तुनिष्ठानके कुछ भागोंकी पैमाइश और गोज़ करनी पड़ा है। वहाँ लगभग २० ऐसे स्थान दूँद निकाले गये हैं, जो कैलिथोलिथिक

युगसे सम्बन्ध रखते हैं। धर्तार आजतक की गयी जिन भारतीय खोजों और खोदाइयोंसे प्राचीन इतिहासके प्रेमियोंके हृदयमें झलचल-सी मच गयी है, उनका पूरा-पूरा विवरण देना यिलकुल असम्भव है। फिर भी, दरप्पा, मोहजोदरो, सचसिजा, नालन्द, पाटलिपुत्र, सारनाथ, नागार्जुनीकुण्ड, टिनेवेलो जैसे स्थानोंकी खोदाइयों और खोजोंके विषयमें थोड़ा बहुत प्रायः सभी शिक्षित जानते हैं। तो भी, खोज और खोदाईकी भोटी-भोटो धातोंकी जानकारीके लिये कुछ ऐसे-ऐसे मुख्य स्थानोंकी एक सूची इस लेखके अन्तमें दी गयी है, जहाँ सरकारी या गैरसरकारी विभागों द्वारा खोदाईके काम हुए हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोंकी खोदाईके सम्बन्धमें कुछ विचार करनेके पहले पुरातत्त्व-विषयक कामोंके अर्थके सम्बन्धमें कुछ ध्यान देना आवश्यक जान पड़ता है।

भारतीय पुरातत्त्व-सम्बन्धी पैमाइश, खोज और खोदाइमें लगी हुई रकमकी ठीक-ठीक ज़ादाद बताना तो कठिन है, तो भी हम यथासाध्य केन्द्रीय सरकार, प्रांतीय सरकारों तथा अन्यान्य लोगोंके द्वारा लगी हुई रकमका ज़्यादा आगे चलकर देनेकी चेष्टा करेंगे।

भारतीय पुरातत्त्व कई विषयोंसे सम्बन्ध रखता है। इनमें मुख्य-मुख्य विषय ये हैं—फला तथा शिल्प, पेलियोग्राफी तथा पाषाण शिजाखेखन, मुद्रा-विद्या, समयताका इतिहास, मानवजाति-शास्त्र, प्राचीन भूविद्या और वनस्पतिशास्त्र (*Geophysics*)। इन विषयोंसे पनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी नृवशविद्या तथा शब्द-व्युत्पत्ति-सम्बन्धी आदि विषयोंपर भी पुरातत्त्वका बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। अगर इन विषयोंमें प्रत्येकको लेकर यारी बारीसे, विस्तृत रूपसे, विवेचन किया जाय, तो प्रत्येकका एक-एक बड़ा पोथा तैयार किया जा सकता है। यहाँ परिचय मात्रके लिये हम एक या दो विषयोंका ही आधार प उदाहरण देंगे।

फलाके उदाहरणस्वरूप अजन्ता और अमरावतीकी चीजें यद्दे महत्त्वकी हैं। इनसे विश्व-जलापर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है। इनसे ही दो नवीन शैलियोंकी उत्पत्ति हुई है—आंध्रशैली और बंगाली शैली। मुद्राविद्याके अनुसन्धानका महत्त्व तो सब मालूम होता है, जब हम यह अनुभव करते हैं कि, प्राचीन या अर्वाचीन फालके भारत-वर्षके कई महत्त्वपूर्ण भाग मुद्राओंके ही आधारपर लिखे जा सकते हैं। उदाहरणस्वरूप छत्रपों या कुषाणोंका ही इतिहास ले लीजिये। इन दोनोंमें किसी एककी भी शल-वंशावली तैयार करनेके लिये हम यदि एतत्-सम्बन्धी मुद्राओंका सहारा न लें, तो इस कार्यमें पूरी सफलता मिल ही नहीं सकती। कारण यह है कि, बिना इनकी मुद्राओंके फाल-सम्बन्धी स्पष्ट एवं प्रामाणिक ज्ञान हमें हो ही नहीं सकता—सिजसिलेके साथ हम चल ही नहीं सकते। इस विषयकी दृष्टिसे *Dr. Hultsen* और प्रो० *इ० जे० रैप्सन*की खोजें बड़ी मूल्यवान् हैं।

मुद्रा-सम्बन्धी महत्त्वका जाँचके लिये हम कुषाणोंकी वंशावली लेते हैं। डा० फ्लीट और केनेडीके मतानुसार सम्राट् कनिष्कने, कर्हिस प्रथम और कर्हिस द्वितीयके बाद नहीं, पहले ही राज्य किया था; और, यही विक्रम-संवत्का जन्म देनेवाला भी था। डा० डामस इस सिद्धांतको नहीं मानते थे। किन्तु पेशावर स्थित चेर-स्तूपमें पुरातत्त्व-विभाग द्वारा किये गये अनुसन्धानोंसे वास्तविक बातोंका पता लग गया है। सर जान मार्शलने सिद्ध कर दिया है कि, स्तूपके ऊपरी भाग वास्तुदेव तथा पश्चात्-कालीन कुषाणोंके बनाये हुए हैं; और, स्तरण तथा करीगरीके काम कनिष्क, उसके उत्तराधिकारियों तथा कर्हिस प्रथम और द्वितीय द्वारा हुए हैं। निम्न भागके स्तरणका काम शकों और पल्लवोंके समयमें समाप्त हुए हैं। पेशावरके आसपास, सिरुप नामक नगरमें भी, ठाक ऐसी ही, एक पुरानी इमारतका ध्वंसावशेष मिला है। इस

ध्वसावशेषकी खोदाईसे पता चलता है कि, जब इस पुरानी इमारतकी दो मंजिलें उठ चुकीं, तब हमे लोगोंने सूना छोड़ दिया। इन दो मंजिलोंमें जो प्राचीन वस्तुएँ मिली हैं, वे पबलवी राजाओंके ही समयकी हैं। इस ध्वसावशेषमें तितनी सुदाएँ मिली हैं, वे कनिष्क या उसके उत्तराधिकारियोंकी नहीं, बल्कि उसके पूर्ववर्ती राजाओंकी ही हैं। ये सुदाएँ इस बातके स्पष्ट प्रमाण हैं कि, कर्म्मम प्रथम और द्वितीयके बाद ही कनिष्कका यहाँ प्रादुर्भाव हुआ था।

भारतीय पुरातत्त्वके मध्यको सिद्ध करनेके लिये सिन्धु-नदीकी दूरी और दक्षिण पंजाबकी ही खोदाइयाँ काफी हैं। हरप्पाकी खोदाइयोंसे ऊँची ऊँची अट्टाजिका-धोवाली विशाल नगरोंका पता चलता है। इमारतोंपर इमारतें बनी पायी गयी हैं। मोहनजोदड़ोंके ध्वसावशेषमें मिली हुई वस्तुएँ, पुरातत्त्वकी दृष्टिसे, हरप्पाकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् सिद्ध हुई हैं। वहाँकी सुहरों, सोलों, सुदाओं और मूर्तियोंसे पता चलता है कि, वे सुमेरियनोंकी प्राचीन सभ्यतासे बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं, जो ईस्वी सन् ३००० वर्ष पूर्वकी मानी जाती हैं। सुमेरियनोंकी संस्कृति नागरिक जीवनमें अत्यंत प्रगत है। कुछ लोगोंका विचार है कि, सुमेरियन जाति मेसोपोटामियाके आस-पाससे आयी। यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि, किसी समय सुमेरियनोंका सिन्धु निवासियोंके साथ सम्बन्ध रहा होगा—वे यहाँ आते-जाते होंगे। कतिपय लोगोंका तो विचार है कि, यदि सुमेरियनोंकी मेसोपोटामियाके आस-पाससे आनेकी बात सम्भव है, तो क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि, उनकी सभ्यताका मूल स्थान सिन्धु-नदीकी दूरी है और उनका मूल निवासस्थान यही (सिन्धु उपत्यका और पंजाब) है? पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज और खोदाई होनेके पहले ईस्वी सन् ३००० वर्ष पहलेकी संस्कृति या सभ्यताकी हम वेदों, सूत्रों तथा पुराणों

आदिमें ही ढूँढ करते थे और तज्जिहित विवरणोंकी ही प्रामाण्य समझा करते थे, उस समय हमें कोई भी वास्तविक—स्पष्ट—प्रमाण नहीं मिलता था। लोकमान्य तिलक और जैजोयी महोदयके मतानुसार अश्वेदिक काल ईस्वी सन् ४००० वर्ष पूर्व होना चाहिये। यदि यह काज निर्धारण ठीक है, तो भारतवर्षमें आनेके बाद त्रिन भारतीयोंसे नवानत धार्योंका युद्ध हुआ था, वे इन्हीं विशाल नगरोंके निवासी रहे होंगे। किन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि, सिन्धु-निवासियोंका जीवन, उनके आचार-विचार, रीति-रिवाज अश्वेदिक धार्योंसे नहीं मिलते। इसके सिवा खोदाईमें मिली हुई वस्तुओंकी जाँच करनेसे तो पता चलता है कि, वे अश्वेदिक धार्योंसे मिलकुल भिन्न पुरुष थे, इनसे उनका कुछ सम्बन्ध ही नहीं था ! अश्वेदिके सूत्रोंसे पता चलता है कि, सिन्धु-उपत्यकाके प्राचीन निवासियोंके साथ नवानत धार्योंका घोर संपर्क हुआ, जो (सिन्धु उपत्यका निवासी) भौतिक सभ्यतामें इनसे कहीं बढ़े-चढ़े थे, और, आयोंने उनके नगर, दुर्गोंदिक् घेर कर धाला या उनके विनाशके कारण बने। इनके देवादि-देव इन्द्र “पुराग्र” कहलाते थे। एजियन (Aegean) जैसे प्रागैतिहासिक नगरोंमें जब धार्यभाषा भाषी धार्योंकी दूसरी टुकड़ियोंका आधिपत्य हो गया, तब सिन्धु उपत्यकाका क्या पड़ना? वे अपने आक्रमणकारियों—धार्योंका सामना न कर सके। फलतः धार्योंके पैर यहाँ लम गये।

सुमेरियन जाति समुद्र तटवर्तनी जाति थी, और, सम्भवतः ईसासे ३००० वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया और भारतमें सासुद्रिक आवागमन प्रचलित था। उनकी सांस्कृतिक सदाशयता धार्योंके आनेके पूर्व ही भारतके प्राचीन निवासियोंके हृदयमें स्थान पा चुकी थी।

भारतकी द्राविड जातियों और मेसोपोटामियाके निवासियोंके आचार-व्यवहार आदिमें कहाँतक सादृश्य है, यह विचारनेकी बात है। प्राक् धार्यकालमें मेसो-

पोटाभियाकी सभ्यतासे भारतका सम्बन्ध, जल और स्थल, दोनों मार्गों द्वारा था। इसका पक्का प्रमाण यही है कि, सुमेरिया और भारतवर्षकी कई खोदाहूयोंमें बहुत-कुछ ऐसी वस्तुएँ मिली हैं, जो परस्पर मिलती-जुलती हैं।

उपयुक्त सिद्धान्त हरष्या और मोहञ्जोदारोकी खोज और खोदाहूमें पायी गयी वस्तुओंके पुरातात्विक अध्ययनका फल है। खोजकी वर्तमान अवस्थामें यह कहना असम्भव है कि, उपयुक्त सिद्धान्त बिल्कुल ठीक ही है। सम्भव है, आगेकी खोज और खोदाहूमें कुछ ऐसे प्रमाण मिल जायें, जिनसे कुछ दूसरा ही सिद्धान्त निकाला जा सके। हमें अभी केवल भारतवर्षकी ही नहीं, बल्कि संसार-भरकी खोजों और खोदाहूयोंपर ध्यान रखना चाहिये, जिनसे हमारी आधुनिक विचार-धाराके बदल जानेकी सम्भावना है।

सन् १९२४-२६ ई० में पुरातत्त्व-विभागके व्ययकी तालिका यह है—

स्थान	व्ययकी रकम
१ पुरातत्त्व-विभागके डाइरेक्टर जनरल	१,६८,८६१
२ मुसलिम और ब्रिटिश स्मारकोंके सुपरिन्टेन्डेंट (दिल्ली म्युजियम और फोर्ट गार्डनके कार्यकर्ताओंके साथ)	५०,६३०
३ हिन्दू और बौद्ध स्मारकोंके सुपरिन्टेन्डेंट	४१,४४०
४ पश्चिमोत्तरीय केन्द्र	२६,६४०

ऊपर तालिकामें नीचे लिखे सभी तरहके व्ययकी रकम सम्मिलित कर दी गयी है—

१ कार्यकर्ता

(क) आफिसरोंका वेतन।

(ख) नौकरोंका वेतन (संरक्षणके लिये सहायक, मन्थी, भिरानी, पक्काबन्ध, फोटोग्राफर, नक्काशगर्ह और खपतासी आदि)।

(ग) ऐसी रकमें, जो पुरातत्त्वके डाइरेक्टर जनरल

५ पश्चिमीय केन्द्र	६१,६६४
६ केन्द्रीय स्थान (Central circle)	३६,३६३
७ पूर्वीय केन्द्र	२५,८८०
८ दक्षिणी केन्द्र	२४,३६७
९ वर्मा-केन्द्र	३८,६२७
१० भारतवर्षके सरकारी एपिग्राफिस्ट	४३,६०६
११ दक्षिणी केन्द्रके सरकारी असिस्टेंट एपिग्राफिस्ट	२७,६१६
१२ भारतीय पुरातत्त्व-विभागके केमिस्ट	१६,६०८
१३ दिल्ली-स्थित एशियाई पुरातत्त्वका केन्द्रीय म्युजियम	२०,५८२
१४ इण्डियन म्युजियमके पुरातत्त्वविभागके सुपरिन्टेन्डेंट	३१,६१२

कुल ६,६६,६६०

संरक्षण आदिके कामोंमें खर्चका ध्योरा—

प्रान्त	व्ययकी रकम
मुक्तप्रान्त—	
मुसलिम और ब्रिटिश स्मारकोंमें	१,३२,०३३
हिन्दू और बौद्ध स्मारकोंमें	१६,०३६
पंजाब (दिल्ली)—	
मुसलिम और ब्रिटिश स्मारकोंमें	२७,१६२
हिन्दू और बौद्ध	३२,६२२

द्वारा विद्याधियोंकी वृत्ति-स्वरूप दी जाती हैं; ऐतिहासिक इमारतों और मुसलिम तथा ब्रिटिश स्मारकोंके सुपरिन्टेन्डेंटोंका वेतन आदि।

२ म्युजियम और डाकघरोंके।

३ फोटोग्राफी और तस्वीरोंकी वस्तुएँ।

४ लाइब्रेरी (पुस्तकोंकी खरीद भी इसमें सम्मिलित है)।

५ कन्टिंगेन्सी (Contingency)

६ भत्ता (Allowances)।

पश्चिमोत्तर प्रान्त	३,६६१
बम्बई	८४,२२१
बिहार और उड़ीसा	१८,०६६
मध्यप्रदेश और बरार	२४,७६६
बंगाल	२६,६२१
आसाम	७,६८४
मद्रास	२१,६१६
कुर्ग	३२२
बर्मा	६३,१६०
अजमेर	६,६४२
छत्तरपुर-राजप	३,०००

कुल ६,८४,२६७

मुख्य २ स्थानोंकी सूची, जहाँ खोदाई की गयी है—

आदिचनाटूर	दहपार्वतीय	पागन
अजन्ता	गुम्फाबिदुल	पहाड़पुर
असलूरू	हरप्पा	पैकोर
अमरावती	गड़ौला	पाटलीपुत्र
बलुचिस्तान (अनेक स्थानोंमें)	जमालगढ़ी	पेहमुडियम्
बसाढ़	मुकर	पेरमवैर
बलुआ	कसिया	राजगृह
बासनगर	कोसम	सहेट-महेट
भैरवकुण्ड	कुरुचेत्र	सैदपुर
भीरमार्डट	महाबलीपुरम्	साँची
भीटा	मन्दोर	सारनाथ
बिलसर	माट	शाह-जी-की-ढेरी
महासयाबाद	मासलाया	शानवरवाडा
मुलन्दीबाग	मोहज्योदारो	सिरकप
चम्पावत	नागार्जुनीकुण्ड	तपतेबाही
धारसद	नागौर (मारवाड)	तण्डिलाला
चटगाँव	नालन्द	उन्नकोटि

उल्लेखनीय कार्य किया है। इनमें साधारण कार्यकर्ताओंके

नाम, स्थानाभावके कारण, नहीं दिये गये हैं—

एफ० एच० पेंडूज	ए० एच० लॉगहर्स्ट
एल० सी० धर्नेट	एच० लूटर्स
बी० एम० धर्या	इ० जे० एच० मैके
भागवानजाल इन्द्रजी	सर जान मार्शल
डो० थार० भायदारकर	एन० जी० मजूमदार
जे० एफ० ब्लैकिस्टन	मीलकंठ शास्त्री
टॉमस ब्लॉश	एफ० ओ० आर्टल
जे० जी० सुह्लर	टी० ए० पेज
जे० बर्जेस	जे० प्रिसेप

एच० एच० कोल

सर एलेक्जेंडर कनिंघम

के० एन० डीचित

जे० फार्गुसन

जे० एफ० फ्लीट

ए० फुलर

एच० हार्मीन्ज

हीरानन्द शास्त्री

ई० हल्डज

वी० एच० जैक्सन

के० पी० जायसवाल

डी० जी० जाँविन

एफ० किल्डॉन

एम० कीटो

स्टेन कोनो

एच० कृष्णशास्त्री

पुस० कृष्णशक्ती आर्यगर

मुहम्मद हमीद कुरैशी

राजेंद्रलाल मित्र

रामप्रसाद चन्दा

जे० रामस्व्या

ई० जे० रैप्सन

ए० री

पी० एल० राहस

राय बदादुर दयाराम साहनी

ई० सेनार्ट

थार० सिवेल

वी० ए० स्मिथ

सर थारेल स्टीन

डी० वी० स्फ़नर

एफ० डब्ल्यू० टामस

माधवस्वरूप वरस

वी० वेंकय्या

जे० पी०-एच० बाजेज

एल० ए० वैडेज

वी० यजदानी

नीचे उन पुरातत्त्व-विज्ञों तथा शिलालेख-निरूपकोंके नाम दिये जाते हैं, जिन्होंने इस विभागमें अथवा

खां बहादुर मौज्यो जाफर हसन

भारतीय पुरातत्त्वका पूर्वतिहास

आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी

पुरातत्त्व संस्कृत शब्द है। यह ग्रंथो की शब्द *Antiquity* के अर्थमें व्यवहृत होता है। पुरागी वस्तुओंका सारा जानना, उनकी रक्षा करना, उनके विषयमें गवेषणा करना, उनके सम्बन्धकी भूलों और भ्रमोंका निरसन करना आदि इस शास्त्रके जाननेवालोंका काम है।

यद्यपि हमारे पूर्वजोंका लिखा हुआ यथार्थ इतिहास उपलब्ध नहीं; तथापि उनकी निर्माण की हुई ऐसी सामग्री विद्यमान है, जिसकी सहायतासे हम प्राचीन समयकी घटनाओंका बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त कर उस समयके इतिहासकी रचना भी कर सकते हैं। यह सामग्री प्राचीन ग्रन्थ, शिलालेख, ताम्रपत्र, कीर्तिस्तम्भ, सिंका, मन्दिर, स्तूप, किला, मासाद आदिके रूपमें विद्यमान है। परन्तु इतिहासके मद्द्ष्टसे अनभिज्ञ होनेके कारण हमलोगोंने इस सामग्रीसे भी लाभ नहीं उठाया—अपने आप इतिहास-रचनाका सुदृढपात तक नहीं किया ! भारतके प्राचीन इतिहासके निर्माणका पाठ हमें पढ़ाया है सात समुद्र पार रहनेवाले पश्चिमी देशोंके निवासियोंने। उन्होंने इसका पाठ ही हमें नहीं पढ़ाया, इतिहासका कुछ अंश स्वयं ही निर्माण करके हमारे सामने रख भी दिया है। इसके आरम्भका श्रेष्ठ इतिहासकारकी निवासिनी ग्रंथेजजातिको है; अतएव इस विषयमें हम लोग उसके हतश हैं।

पलासीके युद्धके बाद ग्रंथेजोंकी ईस्ट इण्डिया कम्पनीका प्राबल्य इस देशमें बढ़ने लगा। १७७४ ईस्वीमें, उसने बंगालके तत्कालीन नवाबको पदच्युत करके, उस प्रान्तका स्वयं अपना गवर्नर जनरल नियत करके, उसके हाथमें दे दिया। अतएव ग्रंथेज-कर्मचारियोंकी संख्या-वृद्धि होने लगी। इन कर्मचारियोंमें कितने ही विद्वान् भी सुसिद्धित

थे। उन्होंने पहले-पहल भारतवर्षके पुरातत्त्वके निर्माणका श्रीगणेश किया। पोट्टे से फोस, जमनी और आस्टिवा आदि देशोंके निवासियोंने भी इस काममें हाथ लगाया और ग्रंथेजोंकी अपेक्षा इन्हीं लोगोंने भारतीय इतिहासका अधिक प्रचार किया। परन्तु कामका आरम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनीके ग्रंथेज-कर्मचारियोंने ही किया और उसकी सफलताके बहुत-बहुत साधन भी उन्होंने लोगोंने प्रस्तुत किये।

सर विलियम जोन्स पहले ग्रंथेज थे, जिन्होंने संस्कृतभाषाका ज्ञान-सम्पादन किया। इस काममें उन्हें बड़ी-बड़ी बाधाओंका सामना करना पड़ा। पण्डितोंको इष्टिमें वे श्लेष्य थे। श्लेष्यको संस्कृत पढ़ाकर भला कौन धर्म-भीरु पण्डित अपनी धर्महानि करेगा ? परन्तु इङ्गलिज होनेके कारण सभी आगत विघ्नोंको पार जाकर जोन्स साहबने काफी संस्कृत-ज्ञान प्राप्त कर लिया। संस्कृत सीखकर इन्होंने शकुन्तला नाटक और मनुस्मृतिका अनुवाद, ग्रंथेजीमें, प्रकाशित किया। उसे देखकर यूरोपके विद्वानोंमें खलबली मच गयी। उन्होंने कहा, जिस जातिके ज्ञान-भाण्डारमें ऐसी-ऐसी पुस्तकें विद्यमान हैं, उसका भूत काल बढ़ा ही उज्ज्वल रहा होगा; उसमें ऐसे-ऐसे न मालूम और कितने ग्रन्थ-रत्न पड़े होंगे; अतएव इस जातिके पूर्वतिहाससे परिचय प्राप्त करनेसे अनेक लाभ होनेकी सम्भावना है।

इस प्रकारकी सम्भावनासे प्रेरित होकर कई ग्रंथेज इस देशके पुराने ग्रन्थोंका पता लगाने और उनके अनुशीलनमें प्रवृत्त हो गये। इस प्रवृत्ति—इस ज्ञान-लिप्साका फल यह हुआ कि, सर विलियम जोन्सने, तत्कालीन गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्सकी सहायतासे, कलकत्तेमें,

गङ्गाका “पुरातत्त्वाङ्क”



“गंगा”के अग्र्यत—
पण्डित गौरीनाथ झा, व्याकरण-सीर्यं

१६ जनवरी १७८४ को, "एशियाटिक सोसायटी" नामकी एक संस्थाकी स्थापना की। इस संस्थाने एशिया-एशिया के इतिहास-साहित्य, स्थापत्य, धर्म, समाज और विज्ञान आदि विषयोंके सम्बन्धमें खोज करना अपना उद्देश्य निश्चित किया। यस, इस सभाकी स्थापनाके साथ ही भारतवर्षके इतिहास अर्थात् पुरातत्त्वके भव्यपणका शुभ काम आरम्भ हुआ। परन्तु इस कार्यारम्भके पहले ही सैकड़ों प्राचीन इमारतें नष्ट-भ्रष्ट हो गयीं, सैकड़ों शिला लेखोंकी सीखें और जोड़े बन गये; सैकड़ों शिलालेख मकानोंकी दीवारोंमें चुन दिये गये, सैकड़ों दानपत्रोंके ताम्ररुलक गलाकर घड़े, लोटे तथा यर्तन बना डाले गये! प्राचीन ग्रन्थ कितने गले, कितने काटभय भये, कितने पंसारिपोंकी वृक्षानोंमें पहुँचे, इसका तो कुछ दिसाया ही नहीं। खैर, भाग्यके सौभाग्यसे इस नयी संस्थापित संस्थाने पुरानी वस्तुओंकी रक्षाका सूत्रपात का दिया।

सर विलियम जोन्स इसके अगम्यर चार्ल्स विलकिन्सने संस्कृत-भाषा सीखी। उन्होंने प्रयत्नसे देवनागरी और बंगला टाइप तैयार हुए। उन्होंने कुछ पुराने लेख भी ढूँढ़ निकाले और उनपर विवेचनापूर्ण नोट भी लिखे। भगवद्गीताका अंग्रेजी अनुवाद भी उन्होंने किया।

एशियाटिक सोसायटीने "एशियाटिक रिसर्च" नामकी एक पुस्तकालय निकालना आरम्भ किया। १७८८ से १७९० ईस्वीतक इस मालाके पाँच भाग निकले। जो मिल-मिश्र विद्वान् पुरातत्व-विषयोंके अभ्य-यनमें लगे हुए थे, उनके लेख इसी मालामें निकलते रहे। इसकी वही कदर हुई। इसके कई संस्करण इंग्लैंडमें भी निकले। एक फ्रांसीसी विद्वान्ने इसका अनुवाद, अपनी भाषा में, प्रकाशित किया। इस प्रकार भारतीय पुरातत्त्वके सम्बन्धमें यूरोपवालोंने भी योगदान आरम्भ कर दिया। नये-नये पुरातत्त्वज्ञ पैदा हो गये और यह काम आपटेले होने लगा।

सर विलियम जोन्सकी मृत्युके बाद, १७९४में, उनका स्थान हेनरी कोलम्युकेने ग्रहण किया। वे भी अच्छे संस्कृतज्ञ थे। उन्होंने इस देशके सम्बन्धमें अनेक ग्रन्थ और लेख लिखे। "हिन्दुओंके धार्मिक रीति-रिवाज", "भारतीय वर्णव्यवस्थाकी उत्पत्ति", "संस्कृत और प्राकृत-भाषा", "संस्कृत और प्राकृत-छन्दःशास्त्र" आदि बड़े ही महत्वपूर्ण लेख उन्होंने प्रकाशित किये। वेद, संहिता, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, कृषि, वाणिज्य, समाज-व्यवस्था, कानून, धर्म, गणित, ज्योतिष आदि अनेक विषयोंपर भी बड़े ही भव्यपणपूर्ण लेख, उन्होंने, लिखे। इन लेखोंमें निर्दिष्ट बातों और सिद्धान्तोंको उनके परवर्ती विद्वान् आत्मिक सम्मानकी दृष्टिसे देवते हैं। कोलम्युकेने देहलीके स्तम्भपर उत्कीर्ण विशालदेवकी संस्कृत प्रशस्तिका भी अनुवाद, अंग्रेजीमें, किया। १८०७ ईस्वीमें वे एशियाटिक सोसायटीके सभापति हुए और उसी साल, उन्होंने, भारतीय ज्योतिष और खगोल-विद्यापर एक महान् ग्रन्थ प्रकाशित किया। भारतसे ले जानेपर उन्होंने इंग्लैंडमें रायल एशियाटिक सोसायटीकी स्थापना की और संस्कृत-भाषा सीखने तथा भारतीय पुरातत्त्वका ज्ञान-सम्पादन करनेके विषयमें लोगोंको ऐसा आकर्षण दिया कि, दिन-पर-दिन नये-नये संस्कृतज्ञ और पुरातत्त्वज्ञ पैदा होने लगे। यदि कोलम्युकेके सदृश प्रकारसे परिचित इस और इतना ध्यान नहीं देने, तो यूरोपमें संस्कृत-भाषाका इतना प्रचार शायद ही होता।

कोलम्युके साहबके साथ ही भारतमें अन्य अंग्रेज भी पुरातत्त्व-विषयक काममें लग गये थे। डा० बुकननसे, मैसूर प्रान्तमें, वहाँके प्राचीन पक्षियोंके विषयमें, बहुत कुछ ज्ञान-सम्पादन किया। इस बातसे सन्तुष्ट होकर ईस्ट इंडिया कम्पनीने, १८०० ईस्वीमें, उनको एक विशिष्ट पदपर नियुक्त किया। उसपर रहकर उन्होंने बंगाल, आसाम और बिहारके कितने ही जिलोंमें दौर करके वहाँके

पुरातत्त्वकी खोज की और अनेक यज्ञात ऐतिहासिक बातोंका पता लगाया। इधर पश्चिमी भारतमें साह्य साहयने कनेरी-गुफाघोंका और रस्किन साहयने हाथी-गुफाघों (*Elephanta caves*) का वृत्तान्त लिखा। ये वर्णन "बाम्बे ट्रान्झैक्शन्स" (*Bombay transactions*) नामकी पुस्तकके पहले भागमें प्रकाशित किये गये। इसी पुस्तकके तीसरे भागमें साहय साहयका लिखा हुआ योनापुरका ऐतिहासिक वर्णन प्रकट हुआ। दक्षिणी भारतमें पुरातत्त्वके वर्णन तो कई विद्वानोंने प्रकाशित किये। इस कामका आरम्भ टामस डानियलने किया। कर्नल मेकंजीने सैफ़्दो प्राचीन ग्रन्थ और शिलालेख दू-दू-दू-दूकर एकत्र किये। राजपुताने और मध्य भारतकी पुरानी बातोंको खोज निकालनेमें कर्नल टाडने बड़ा नाम पाया।

इस प्रकार पूर्वी, पश्चिम और दक्षिण भारतमें, पुरातत्त्व-विषयक ज्ञान और सामग्री प्राप्त करनेमें, कितने ही विद्वान् लग गये। उनके जेखों और ग्रन्थोंके प्रकाशनसे अनेक यज्ञात और विस्तृत वस्तुओंके ज्ञानका उद्धार हुआ।

इस प्रणालीसे थोड़ा बहुत काम तो अवश्य हुआ, पर पुराने शिलालेख और ताम्रपत्र आदि, जो अवतक मिले थे, वैसे ही, बिना पढ़े, पढ़े थे; क्योंकि उनकी लिपि पुरानी होनेके कारण पढ़ी नहीं जा सकती थी। जिस लिपिको हम देवनागरी कहते हैं, वह विकसित लिपि है। यह तीन रूपान्तर प्राप्त करनेके अनन्तर अपने वर्तमान रूपमें आया है। उसका पहला रूप माह्वी कहा जाता है। यह सन् ईस्वीके ५०० वर्ष पहलेसे लेकर प्रायः ३५० ईस्वीतक पाया जाता है। इसके अनन्तर उसे जो रूप मिला, वह गुप्त-लिपिके नामसे अभिहित है। यह विशेष करके गुप्त-वंशीय नरेशोंके शासन-समयमें—अर्थात् सन् ईस्वीके पाँचवें शतकतक—प्रचलित थी। उसके बादका उसका विकसित रूप कटिल-लिपिके नामसे उल्लिखित है। उनका प्रचार ईसाके छठेसे तेकर दसवें शतकतक माना

जाता है। इससे पाठकोंको ज्ञात हो जायगा कि, हमारी वर्तमान देवनागरी-लिपिके पुराने तीनों रूपोंसे परिचित हुए बिना पुराने ग्रन्थों और उत्कीर्ण लेखोंका पढ़ा जाना असम्भव है। ये रूप धीरे-धीरे दुर्बोधतासे सुबोधताकी ओर पहुँचते गये हैं। जो लिपि जितनी ही अधिक पुरानी है, अपरिचित होनेके कारण, वह उतनी ही दुर्बोध भी है।

पहले-पहले चार्ल्स विलकिन्सने पुरानी लिपिमें लिखे गये अर्थात् उत्कीर्ण लेख पढ़नेकी चेष्टा की। दिनाजपुर जिलेमें एक स्तम्भके ऊपर खुरे हुए राजा नारायण पालके समयके एक लेखका उद्धार, उन्होंने, १७८२ ईस्वीमें, किया। परिश्रम भाषाकास्त शर्माने देहलीके अशोक-स्तम्भके ऊपर उत्कीर्ण तीन लेख पढ़े। ये लेख चौहान राजा बीरल देवके थे। इनमेंसे एकका समय "संवत् १२२० वैशाख सुदी ५" ज्ञात हुआ। जे० एच० हैरिंग्टनने भी कई पुराने लेखोंको पढ़ा। इन सबकी लिपि बहुत पुरानी न थी। इससे ये लेख थोड़े ही परिश्रम और मनोयोगसे पढ़ लिये गये। विशेष कठिन लिपि है गुप्त-कालीन देवनागरी। चार्ल्स विलकिन्सने उसके पढ़नेके लिये कोई चार बार सत्रह परिश्रम किया। अन्तमें उन्होंने इस लिपिकी प्रायः आधी वर्षमाला-से परिचय प्राप्त कर लिया। उधर और लोग भी पुरानी लिपियों, पढ़नेकी चेष्टामें सतत लगे हुए थे। उनमेंसे कर्नल जेम्स टाड, मि० जी० जी० बैचिग्टन, वाल्टर हलियट, कैप्टन ट्रायर, डा० मिल डब्ल्यू० एच० वाथके नाम सबसे अधिक उल्लेख योग्य हैं। किसीने राजपुतानेके कुछ पुराने लेख पढ़े, किसीने ब्रह्मगीके, किसीने प्रयागके, किसीने और माल्गोंके। बैचिग्टन और हलियटने प्राचीन तामील और कनाड़ी-लिपियोंकी वर्षमालाघोंका अधिकांश ज्ञान सन्पादन करके उन लिपियोंमें उत्कीर्ण कितने ही शिलालेख पढ़ दाने। हम प्रकार १८२३ ईस्वीतक बहुतसे पुराने लेखोंका उद्धार हो गया। इस काममें जेम्स प्रिंसेप नामके एक विद्वान्ने बड़ा काम किया। उन्होंने देहली, कमाऊँ और एरण्के

स्तम्भोंके ऊपरके, सार्थी और अमरावतीके स्तूपोंके ऊपरके और गिरनार पर्वतके ऊपरके अनेक लेख पढ़ ढाके और उनके अनुवाद भी, विवेचनासहित, प्रकाशित कर दिये। सो, इन अनेक विद्वानोंके सतत परिश्रमका फल यह हुआ कि, गुप्त-कालीन लिपिका सारा भेद खुल गया, वह हस्ताम-लकृत हो गयी। उसमें उत्कीर्ण लेख अच्छी तरह पढ़ लिये जाने लगे। रवे कुटिल-लिपिमें लिखे गये या उरकीर्ण ग्रन्थ और शिलालेख आदि। सो, यह लिपि वर्तमान देव-नागरी लिपिसे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इससे उनके पढ़े जानेमें विशेष कठिनाता न हुई। वे सहज ही पढ़ लिये गये।

पुरातत्त्वज्ञ विद्वानोंने जब कुटिललिपि और गुप्त-लिपिको आयात कर लिया, तब सन् ईस्वीके चौथे शतकके उत्तरार्द्धसे लेकर दसवें शतकतकके प्राचीन भारतके इति-हासका बहुत कुछ अंश अँधेरेसे बजेलेमें आने लगा। सैकड़ों शिलालेख, ताम्रपत्र और सिके पढ़े जाने और उनपर विवरणरूपक लेख प्रकाशित होने लगे। जिन अनेक प्राचीन गजों और राजवंशोंके नामतक ग सुने गये थे, उनके ऐतिहासिक वृत्तान्त प्रकाशित होने लगे।

परन्तु भारतकी सबसे पुरानी ब्राह्मीलिपिको सबतक भी कोई न पढ़ सका था। इस लिपिमें खुदे हुए लेख १७६६ ई. में ही मिल चुके थे; पर उनमें क्या है, यह कोई नहीं बता सका। उनमेंसे कुछकी नकल मेजर मिल-फर्डको भेजी गयी। वे उस समय काशीमें थे और काशी उड़ी पण्डित-राजोंको खान। खयाल यह हुआ कि, वहाँ कोई-न-कोई पण्डित उन्हें जरूर पढ़ लेगा; और भगवती अन्नपूर्णाके कृपाकटाक्षसे, वहाँ, एक पढ़नेवाले निकल भी आये। उन्होंने उनको पढ़कर बताया कि, ये पाण्डनोंके गुप्त लेख हैं। अज्ञातवास और वनवासके समय, जब वे वन-वन मारे-मारे फिरते थे, तब उन्होंने अपने पचपा-तिपोंको जाशकरीके लिये, अज्ञात लिपिमें ये लेख गुफाओं

और शिलालेखोंपर खोद दिये थे। उन्होंने वे सि-पैरका उनका आराप भी बता दिया। पण्डितजीने एक पुस्तक भी हाजिर कर दी, जिसमें उन्होंने भारतकी कितनी ही गुफा की लिपियोंकी वर्णमाला पूर्व लिखी बतायी। इसपर उन्हें खूब इनाम मिला। इधर पुरातत्त्ववेत्ता खुशीसे नाच उठे। उन्होंने धीके दिये जलाये और कहा, अब क्या है, अब तो पुरानेसे भी पुराने लेख पढ़ लेंगे।

यह सब उस पण्डितकी जालसाजी और धूर्तता थी। यह बात धीरे-धीरे पुरातत्त्वज्ञोंको मालूम हो गयी और मूढ़ मादर वे लोग फिर उन लेखोंको पढ़नेकी चेष्टा में लग गये। वे लेख गुफाओंकी गुफाओंमें उत्कीर्ण लेख थे। इसके बाद ब्राह्मी-लिपिमें उत्कीर्ण और भी अनेक लेख मिलते गये।

इन लेखोंको पढ़ लेनेकी ससे अधिक जिज्ञासा लेख प्रिसेपके हृदयमें उत्पन्न हुई। उन्होंने अनेक लेखोंकी छापें मँगाकर सामने रखीं और लगे सबको परस्पर मिलाने। धीरे-धीरे उन्हें कुछ वर्षों, रूपमें एकसे ही, मालूम हुए। उनको वे अलग करते गये और अन्तमें, वे इस लिपिके स्वरोंसे परिचित हो गये। इससे उनका उत्साह बढ़ा। वे और व्यर्थोंको भी पहचाननेकी चेष्टा करने लगे। गुप्त-लिपिके वर्णोंसे मिश्रण करके उन्होंने कितने ही व्यञ्जनोंसे भी परिचय प्राप्त कर लिया। इस काममें पाद्री लेख स्टीवन्स आदिने भी उनकी कुछ सहायता की। उन्होंने भी कुछ वर्ष पढ़ाये। इस प्रकार अनवरत उद्योग करते-करते प्रिसे-पको इस लिपिका पूरा ज्ञान प्राप्त हो गया और उन्हें यह भी मालूम हो गया कि, इस लिपिमें खुदे हुए अक्षरोंके समर्थके इन लेखोंको भाषा संस्कृत नहीं, प्राकृत है। इत्या-हावाद, सार्थी, गिरनार, धौली आदिके अशोक-स्तम्भोंके लेखोंको पढ़ लेनेपर उन्होंने यह पुरातत्त्व निष्कर्ष निकाला, जो सर्वथा सच था। इस वर्णमालाका ज्ञान हो जानेपर ब्राह्मीलिपिके लेख धराधर पढ़े जाने लगे और सन्

ईस्वीके पक्षके भी भारतीय इतिहासकी घटनाएँ प्रकारमें आने लगीं। यह बहुत पुराना काम हुआ। इसका सारा श्रेय जेम्स प्रिंसेपको मिला।

यम, अथ भारतकी पुरानी लिपियोंमें से केवल एक लिपिका ज्ञान-सम्पादन करना शेष रहा। उसका नाम है खरोष्ठी। यह लिपि पुराने जमानेमें केवल पंजाब और उसके आगे गान्धार देशके ही लोगों आदिमें, सन् ईस्वीके तीन-चार सौ वर्ष पहले तक, प्रयुक्त हुई थी। पैमिडूवग, ग्रीक, शक, क्षत्रप आदि राजवंशोंके समयके सिक्कोंपर यह लिपि व्यवहृत हुई थी। अफगानिस्तानकी सीमा और उस देशके भीतर भी पाये गये खरोष्ठीके कई अभिलेख भी इसी लिपिमें हैं। इसे पहले कोई ससेनियमलिपि कहता था, कोई पहलवी, कोई ब्राह्मीका ही पूर्वं रूप, कोई कुड़, कोई कुड़, पर पद कोई नहीं सका। उधर मिले १५ सिक्कोंपर एक और ग्रीक और दूसरी और खरोष्ठी-लिपिको देखकर मेसन साहबने अन्दाजन कुछ नाम पड़े; यथा मिर्नंदो, अगोलोदीटी, अरमादयो आदि। ग्रीक नाम पढ़कर, कुछ-कुछ अक्षर-साम्यके आधारपर, उन्होंने इस तरहका अन्दाज लगाया। उन्होंने इस विषयमें प्रिंसेप साहबसे लिखा-पढ़ी की। उन्होंने कई नामों और कई पदविषयोंको पढ़ लिया। इस प्रकार खरोष्ठी-लिपिके कई अक्षरोंका उद्घाटन हो गया। साथ ही यह भी मालूम हो गया कि, यह लिपि शरबी-फारसी-लिपिके सख्त दाहिनी तरफसे बाईं तरफको लिखी जाती है और सेमेटिक-ब्रांकी है; पर इस लिपिमें लिखी हुई भाषा कौन-सी है, इसका पता सचतक भी नहीं लगा। १८३८ ईस्वीमें बेजिप्ताके ग्रीकोंके कुछ सिक्कोंपर पालो-भाषाके लेख मिले। इसपर यह सन्देह हुआ कि, खरोष्ठी लिपि-पालो लेखोंकी भी भाषा हो-न-हो पाली ही होगी। यह अनुमान तब निकला। अतएव इस लिपिमें लिखी हुई भाषाका पता लग गया। इस भाषा-ज्ञानकी सहायतासे

प्रिंसेप साहबने खरोष्ठीके १० अक्षर पढ़ लिये। अथवाष्ट अक्षरोंमेंसे कुछ गान्धिव साहबने और कुछ जनरल कनिंघम-ने पड़े। इस तरह इस वर्णमालाका भी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया और भारतके प्राचीन इतिहासकी जानकारी प्राप्त करनेका मार्ग यथेष्ट खुल गया।

"एश्वर्यं इंदियन अफघानिस्टान" नामकी पुस्तकमें इस विषयका बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन है। कितनी कठिनाई-योंको पार करके और कितने अज्ञ प्रयोग करनेके अनन्तर प्राचीन लिपियोंको पढ़नेमें सफल हुए, इसका अद्भुत पूर्वोक्त लेख पढ़नेपर ही हो सकता है। इस काममें सपसे अधिक मकसूतता प्रिंसेप साहबको ही हुई। अतएव हम भारतवासियोंको उनका विशेष कृतज्ञ होना चाहिये। यही मत जनरल कनिंघमका भी है। जनरल साहबने जो पुरातत्त्व विषयक पुस्तक-माला लिखी है, उसके भी पहले भागमें उन्होंने इस विषयका बड़ा मनोरञ्जक वर्णन किया है। सम्भव है, मूल लेखकने अपने लेखका अधिष्ठाता उसीकी सहायतासे लिखा हो।

प्रिंसेपके बाद कोई तीस वर्षतक जेम्स फर्गुसन, मेजर किटो, एश्वर्य टागोर, जनरल कनिंघम, वास्टर इलियट, मेडोज टेलर, टोबन्स आदि कितने ही विद्वानोंने भारतीय पुरातत्त्वके कामको आगे बढ़ाया और नये-नये ऐतिहासिक तत्त्वोंका उद्घाटन किया। किसीने उत्तरीय भारतमें काम किया, किसीने पश्चिमीयमें, किसीने दक्षिणीयमें। फर्गुसनने पुरातन-वास्तु विद्या (*Ancient Architecture*) का ज्ञान प्राप्त करके पुस्तकें लिखीं। टागोरने पुराने सिक्कोंको ज्ञान प्राप्तिके लिये परिश्रम किया। मेजर किटोने पुरानी चित्रविद्याके उद्घाटनकी चेष्टा की। टेलरने ग्रीक-निर्माण-विद्यापर पुस्तक-प्रकाशन किया। जनरल कनिंघमने माथी, खरोष्ठी, गुप्तकालीन—सभी लिपियोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करके सैम्बर्-हमरों शिलालेखों और वानपत्रोंको, चित्र-पुस्तक, प्रकाशित किया। इन लोगोंकी देखादेखी

भारतीय विद्वान् भी ज्ञान-सम्पादनकी इस शाखाकी ओर मुझे थोड़ा पढ़ते-पढ़ते यमराईके डाक्टर भाऊराजीने कितने ही नवीन शिलालेखोंका प्रकाशन करके उनपर गवेषणापूर्ण लेख लिखे। साथ ही काठियावाड़के निवासी पं० भगवान-लाल इन्द्रजी और बहाली विद्वान् डा० राजेन्द्रलाल मित्रने भी भारतके भूले हुए इतिहासके अनेक पृष्ठोंपर प्रकाश डाला। यह सब काम इन लोगोंने निजके तौरपर, बिना किसीकी आर्थिक सहायताके, किया।

१८४४ ई० में लन्दनकी रायल एशियाटिक सोसाइटी ने ईस्ट इंडिया कम्पनीने सिफारिश की कि, इस इतने महत्त्वके कामके लिये, उसे मदद देनी चाहिये। इस बातकी उसने मान तो लिया; पर कुछ किया-कराया नहीं।

उस समय जनरल कनिंघम संयुक्त प्रान्तके चीफ इंजिनियर थे। पुरातत्त्वसे उनको प्रेम पढ़लेसे ही था। उनसे कम्पनीकी यह शिथिलता नहीं देखी गयी। उन्होंने एक योजना (स्कीम) तैयार करके गवर्नमेंटको भेजी और लिखा कि, यदि यह काम गवर्नमेंट न करेगी, तो फूँच या जर्मन करेंगे। ऐसा होनेसे गवर्नमेंटकी बड़ी बदनामी होगी। तब कहीं गवर्नर जनरलकी सुपुर्ति भंग हुई। उन्होंने उस योजनाको मंजूर किया और १८४२ ई० में पुरा-तत्त्व-विभाग (*Archaeological survey*) की स्थापना हुई। कनिंघम ही उसके डाइरेक्टर नियुक्त हुए और इस कामके लिये टर्न्ड २५०) महीना छलास मिलने लगा। यह बन्दोबस्त खर्च-खोज समझा गया और भी बरसोंतक जारी रहा। इस बीच कनिंघम साहयने पुरातत्त्व-विषयक नौ रिपोर्टें लिखकर प्रकाशित कीं। इन रिपोर्टोंका सम्ग्रह केवल उत्तरीय भारतमें है। गवर्नमेंटका सचास था कि, यह काम थोड़े ही समयमें समाप्त हो जाएगा; पर कनिंघम साहबकी रिपोर्टें देकर उसकी धाँस सुन गयी। उसे मालूम हो गया कि, यह काम तो बड़े महत्त्वका है और शीघ्र समाप्त होनेवाला

नहीं! तब, १८७२ ई० में, गवर्नमेंटने सारे भारतमें पुरातत्त्व-विषयक खोज करानेका निश्चय किया और कनिंघम साहबकी ही डाइरेक्टर जनरल बनाया। उनकी मददके लिये उसने और विद्वानोंको भी नियत किया। अतएव डा० बर्नेसकी भी यही काम दिया गया और, १८७४ ई० में, वे दक्षिणी भारतमें खोज करने लगे।

१८८० ई० तक पुरातत्त्व-विभाग प्राचीन खोज तो करता रहा; पर प्राचीन इमारतोंकी रक्षाका भार प्रांतीय गवर्नमेंटोंपर ही था। उन्होंने इस काममें बड़ी शिथिलता की। परिसाम यह हुआ कि, पुरानी इमारतें नष्ट होने लगीं। तब उनकी रक्षाके लिये एक ब्यूरोटर नियत हुआ। उसने (मेजर कोलने) १८८१ से १८८३ तक "मिजवेशन थाफ नेशनल मान्यूमेंट्स" नामकी तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं।

१८८२ ई० में जनरल कनिंघमने पेंशन ले ली। तबतक वे पुरातत्त्व-सम्ग्रहणी २४ रिपोर्टें निकाल चुके थे। ये रिपोर्टें बड़ी बड़ी जिल्दोंमें हैं। इनकी पुरातत्त्व-विषयक ज्ञानकी बहुत बड़ी गिंथि सम्प्रभता चाहिये। ये कनिंघम साहबके अलौकिक परिश्रम, उद्योग और योग्यताका अथर्व साक्ष्य दे रही हैं। बिना इनका साक्षात् पाठ किये कोई भी साचर मनुष्य भारतीय पुरातत्त्वके इतिहासका पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

कनिंघम साहबके बाद उनकी जगह डा० बर्नेसकी भिजी। तब खोजके साथ ही संप्रपञ्च भी काम इसी महत्त्वके दिया गया। उसका विस्तार बढ़ाया गया, माता भारत पाँच भागों का इन्हींमें बाँटा गया। अनेक भागके लिये एक-एक सर्वेयरकी योजना की गयी। प्राचीन लेख पढ़नेके लिये एक विज्ञायसी परिद्वन रखा गया और उसकी सहायतासे लिये देशी विद्वानोंकी भी योजना हुई।

१८८८ ई० में बर्नेस साहब अपने घर गये। तब इस महत्त्वकी कत्ता उठाने लगे। इसके खर्चकी जाँच-पड़ताल करनेके लिये एक कमिटी बनायी गयी। उसने सबमें बहुत

कुछ कतरावोंत करनेकी सिफारिश की। यह स्वीकार हुई। कुछ सर्वेयर निकाले गये। डाइरेक्टर जनरलका पोस्ट तोड़ दिया गया। सरकारने कहा—बस, पाँच वर्षोंमें इसका काम खतम कर दिया जाय; पान्थु काम कुछ हुक्मके अधीन छोड़े ही रहता है। यह बातम नहीं हुआ; उसका बहुत दिवाड़ा दिया। तब गवर्नमेंटने हुक्म निकाला कि, खोज। काम बन्द किया जाय, केवल संरक्षणका काम जारी रहे। तदनुकूल ही कार्यवाही होने लगी। यह उत्तरदी कला ६०० ई० तक रही।

हमो बीच लाई ब्रजंन गवर्नर जनरल होकर भारत आये। उन्होंने पुरातत्त्वके काममें बड़ी दिलचस्पी दिखायी और एक लाख रुपये वार्षिक खर्च मंजूर किया। १६०२ में सर जान मार्शल साहय मिलायतसे बुलाये गये और डाइरेक्टर जनरल नियत हुए। तबसे इस महकमेका काम बहुत फपाटेसे हो रहा है। इन दिनों इस विभागमें डाइरेक्टर जनरल राय बहादुर प० दयाराम साहनी प० ६० ई०।

गवर्नमेंटकी देखादेखी कई देशी रियासतोंने भी अपने बहाँ पुरातत्त्व-विभाग खोल दिये हैं और अलायबधोकी भी स्थापना की है। भावनगर, माहसोर, हैदराबाद, टाउनकोर आदि राज्य इस विषयमें सबसे आगे हैं। सारनाथ, मथुरा, नागपुर, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लाहोर, अजमेर आदिमें जो अज, बचवर हैं, उनमें पुराने सिक्कों, सिन्नों, शिलालेखों, ताग्रत्रों और अन्य य प्राचीन वस्तुओंके संग्रहको देखकर प्राचीन

भारतकी अमन्य ऐतिहासिक घटनाओंका रूप नेत्रोंके सम्मुख आ जाता है। जम्बूनमें भी एक बहुत बड़ा प्राचीन पदार्थ संग्रहालय है।

भारतके पुरातत्त्वकी खोज करनेके लिये अब तो फ्राँस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, रूस आदिमें भी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ खुल गयी हैं और अनेक सामयिक पुस्तकें निकल रही हैं। उनमें बड़े ही गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। ये संस्थाएँ सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थोंका भी उद्धार कर रही हैं। इस विषयमें जर्मनीके विद्वानोंने सबसे अधिक काम किया है और बराबर कर रहे हैं।

इस समय पुरातत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक सामयिक पुस्तकें निकलती हैं। प्राचीन शिलालेखों और ताग्रत्रों आदिके प्रकाशनके लिये भी—इरियन ऐंटीक्वेरी, इपीग्राफिया इटिका, इपीग्राफिया क्यूरटिका आदि—कई सामयिक पुस्तकें हैं। एक पुस्तक मग्न देशके प्राचीन लेख प्रकाशित करनेके लिये अलग ही है।

इस महकमेने भारतकी प्राचीन कीर्तिकी जितनी रचा की है, उतनी और किसीने नहीं की। इसीकी बदौलत अनन्य स्तूपों, मन्दिरों, मसजिदों और ऐतिहासिक इमारतोंकी रच/ हुई है। यदि यह महकमा अक्षितवमें न थाता, तो सहस्रशः प्राचीन नरेशोंका नामतक सुननेको नहीं मिलता और अनेक प्राचीन राजवंशोंके अस्तित्वतकका पता नहीं लगता। +

+ आचार्य द्विवेदीजीका पूर्व-लिखित लेख। —“गङ्गा”—संपादक।



भारतीय-पुरातत्त्व-अन्वेषण

प० शशिनाथ चौधरी वी० ए०

इस देशके पुरातत्त्व विभागके मुख्यतः दो प्रकार-
के कार्य हैं—खोज और संरक्षण। १८७० ई० से पूर्व
गवर्नमेंटने इस सम्बन्धमें कोई महत्त्वपूर्ण कार्य
नहीं किया था। कप्तान सर एलेक्जेंडर कनिंघम-
की अध्यक्षतामें भारतीय पुरातत्त्व-अन्वेषणका कार्य
प्रारम्भ हुआ। तीन वर्षके बाद बम्बई और मद्रासमें
कार्यारम्भ हुआ। इस योजनाके काममें उस समय
प्राचीन वस्तुओंका अन्वेषण तथा स्मारकोंका
वर्णन करना था। संरक्षण अथवा प्राचीन वस्तुओंके
सुरक्षित रखनेका कार्य स्थानीय सरकारके हाथमें
रहा। इस कार्यके लिये दक्ष कार्यकर्ता नियुक्त
नहीं किये जाते थे और न उसके सञ्चालनका कोई
समुचित प्रबन्ध हो था। यथार्थतः १८७८ ई० से ही,
लार्ड लिटनके समयमें, इस ओर ध्यान दिया गया।
सरकारने संयुक्त प्रान्तके प्राचीन स्मारकोंको सुर-
क्षित रखनेके लिये ३॥ लाख रुपये मंजूर किये।
मेजर कोलने, तीन वर्षतक, इस महत्त्वपूर्ण कार्यका
सम्पादन किया। इसके अनन्तर एक नया धारा-
प्रवाह रहा। मेजर साहयका स्थान तथा अध्यक्ष
(Director General) का पद उठा दिया गया।
लार्ड कर्जनके समयमें संरक्षणका नियमितरूपसे
काम होने लगा। आठ फेडर बनाये गये। साथ ही यह
भी प्रबन्ध किया गया कि, इन आठों फेडरोंके कार्य-
कर्ता एक अध्यक्षकी अधीनतामें कार्य करें।
संरक्षणके कार्यके लिये, आवश्यकता पड़नेपर,
सरकार द्वारा द्रव्य मिलनेका भी प्रबन्ध हुआ। एक
कानून बना, जिससे ऐतिहासिक स्मारकों और

चिन्होंकी रक्षा हो। यह कानून विशेषतः वैयक्तिक
रूपसे अधिष्टत ऐतिहासिक वस्तुओंकी रक्षाके लिये
ही बना। इसके साथ ही इसका उद्देश्य यह हुआ
कि, प्राचीन स्थानोंकी खोदाई और प्राचीन वस्तुओं-
की खोजके लिये सरकार द्वारा कार्य हो। सर जान
मार्शल, सी० आई० ई०, की अध्यक्षतामें पुरातत्त्व-
सम्बन्धी कमरद कार्य, विशाल रूपसे, होने लगा।
खोदाई और मरम्मतके कार्य भी होने लगे। फल यह
हुआ कि, प्राचीन ऐतिहासिक इमारतोंके फिस्से
बननेके कार्य प्रारम्भ हो गये और खोदाईके काम
वैज्ञानिक रूपसे होने लगे। तक्षशिला, पाटलिपुत्र,
साँची (भोपाल स्टेट), सारनाथ (काशीके समीप),
नालन्दा (बिहार), पहाड़पुर (बङ्गाल), नागार्जु-
नीकोण्ड (मद्रास), हरप्पा (पञ्जाब) और मोहजो-
दारो (सिन्ध) में खोदाईके महत्त्वपूर्ण कार्य हुए।
सरसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मोहजोदारोमें
हुआ है, क्योंकि वहाँ ऐतिहासिक फाटके बहुत पहले
(ईसाके जन्मके ३००० वर्ष पहले) के चिह्नोंको
खोदकर निकाला गया है। म्युजियमों (अजायबघरों)
की स्थापना प्रायः उन सर स्थानोंमें हुई है, जहाँ
खोदाईका काम हुआ है। तक्षशिला, नालन्दा और
सारनाथमें स्थानीय अजायबघर हैं। इन स्थानोंमें
ही निकली हुई चीजोंको सुरक्षित रखनेका उद्देश्य
यह है कि, यहाँ जो कुछ वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, उनके
रूपका टोक-टीक भरण, प्राचीन विशाल भवनोंको
भट्ठी प्रकार देगबर, लगाया जा सके। जमीनमें
निकले हुए किसी अंगका बना लगानेमें, धनुषों-

के हटा लिये जानेपर, बड़ी कठिनाता उत्पन्न होती।

पुरातत्त्व विषयक रोजसे एक लाभ यह भी हुआ कि, इसके द्वारा कितने ही वंशोंके क्रमबद्ध इतिहासकी अधिक प्रामाणिकता प्राप्त हुई। शिला-लेख-सम्यन्धी कितनी ही पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। १६ वां भाग छप रहा है। अशोककी लेख-सम्यन्धी पुस्तकका द्वितीय संस्करण, अभी अभी, हुआ है। अशोककी पश्चात्-काल-सम्यन्धी पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होगी।

भारतकी प्राचीन स्मृतियाँ अनेक प्रकारकी हैं, और, उनके श्रेणी-विभाग भी अनेक हैं। फई वर्ष पूर्व जो प्राचीनतम सामग्री उपलब्ध थी, वह मौर्य-कालकी ईंटें और प्रस्तर थी। इसके अतिरिक्त लौह-यानन्दनगढ़के स्तूप भी प्राप्त थे, जो वैदिक कालकी अन्वेषि-क्रियाके सूचक थे। ये ईसाके जन्मके पूर्व ७ वीं और ८ वीं शताब्दियोंके कहे जाते हैं। राजगृह-नगरमें भी पुरानी प्रस्तरकी दीवारें पायी गयी हैं, जो इसी कालकी मानी जाती हैं। पूर्व कालके गृहनिर्माण-कला-सम्यन्धी चिह्नोंके अभावका कारण यह बतलाया जाता था कि, पहले लकड़ीके मकान बनाये जाते थे, जो सर्वथा नष्ट हो चुके हैं। परन्तु अभी अभी जो मोहजोदारो (सिन्ध) और हरप्पा (पंजाब) में खोदाईयाँ हुई हैं, उन्होंने लोगोंकी इस झूठी धारणाको दूर कर दिया है। अब लोगोंके विचारमें विशाल परिचर्तन हो गया है। अब पाश्चात्य निवारणालोंको भी इस बातका निश्चयपूर्ण प्रमाण मिल गया है कि, ईसाके जन्मके पूर्व ३ वीं और ४ वीं सहस्राब्दियोंमें, अथवा इनसे भी पूर्व, भारतवर्षमें उच्च कोटिकी सम्यताका अस्तित्व था, यहाँ बड़े-बड़े नगर थे, जिनकी जन-संख्या असंख्य थी, मकान सुन्दर और सुदृढ़ थे, मन्दिर और

सार्वजनिक गृह ईंटोंके थे। तात्पर्य यह है कि, मेसोपोटामिया और ईजिप्सके नागरिक जितने प्रकारके सौव्यका उपभोग करते थे, ठीक उसी समयमें, भारतवासी भी उतने ही प्रकारके सुखका जीवन बिताते थे। मोहजोदारो और हरप्पामें सात या छ नगरोंके भग्नावशेषोंके अस्तित्वका पता लगा है, जो एकके बाद दूसरे एवं एकके ऊपरसे दूसरे बने हुए माने जाते हैं।

मोहजोदारोमें जो मकान दीप पड़े हैं, वे तीन नवीनतम गृहोंके अंश हैं। इनमें तीसरा, जो इन तीनोंमें प्राचीनतम है, सबसे अधिक सुन्दर है। इनमें अधिकांश रहनेके मकान अथवा डूकानें हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो मन्दिरके समान मालूम होते हैं। एक विशालकाय भवन है, जो बड़ा स्नानागार-सा प्रतीत होता है, जिसमें चारो ओर भरोखोंवाली सीढ़ीदार बैठक/और सभाभवन (हॉल) है। ये अच्छी रीतिसे पकी ईंटोंके बने हुए हैं। इनमेंसे अधिकांश दोतले मकान थे, जिनपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। इस स्थलमें तथा इस स्थानके समीपमें अन्य भी कितने ही प्राचीन चिह्न पाये गये हैं। सोने और चाँदीके आभूषण, प्रस्तर और हार्पी दाँतकी छोड़ी हुई मुहरें, तबिके औजार और वर्तन, पकी मिट्टीके वर्तन और खिलौने, हड्डी और घोंघरे गहने तथा मिट्टीके सादे और रंगदार वर्तन आदि मिले हैं।

इस आधिष्कारका फल यह हुआ है कि, सिन्ध तथा पंजाबमें, कम से कम ३ वीं और ४ वीं सहस्राब्दियोंमें (ईसाके पूर्व), उच्च कोटिके नागरिक-जीवनके अस्तित्वका यथेष्ट प्रमाण मिला है। कितने ही घरोंके भीतर कुपों, स्नानागारों तथा नालियोंके होनेके कारण इस बातका प्रमाण मिलता है कि, किसी समय यहाँका सामाजिक जीवन उसी प्रका-

रका था, जिस प्रकार सुमरदेशमें, जो तत्कालीन ईजिप्ट और बेबिलोने के नागरिक जीवनसे उत्कृष्ट समझा जाता था। यह कि अधिकांश लोगोंका व्यवसाय खेती था। एक कौतूहलपूर्ण बात यह है कि, मोहबोदोरो के गँहोंका जो नमूना प्राप्त हुआ है, वह पंजाबके वर्तमान कालमें उपजनेवाले गँहोंसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। खेतीके अतिरिक्त तत्कालीन निवासी गो-मांस, भैंसका मांस, सूअरका मांस, फण्डूका मांस, पण्डूका मांस, घड़ियालका मांस, सिन्धुनदीका ताजी मछलियों और समुद्रकी सुनी मछलियोंका मांस आदि भोजन करते थे। साँड़, बैल, भैंस, सूअर, कुत्ता, घोड़ा और हाथी पाले जाते थे। सोने और चाँदीके अतिरिक्त, वे ताँगा, टीन, रौंदा और शीशा आदिका व्यवहार करते थे। सूत फातने और कपड़ा धुननेके काम वे जानते थे, वे कपासकी खेती करते थे। जौंदरी और कुम्हारके कार्योंमें वे दक्ष थे।

उनकी लिपिकी फलाने अधिक विकास पाया था, क्योंकि पुस्तकें हजारोंसे अधिक टुकड़ोंपर सुन्दर-सुन्दर जानवरोंके चित्र पाये गये हैं और एक अत्रेय-लिपिमें (जिसे कोई नदी पड़ सका है) प्रत्नरके टुकड़ोंपर चित्र-कहानी लिखी हुई मिली है। मोहबोदोरोको धन्येष्टि-क्रियाकी पुजाली स्पष्ट रूपसे मालूम नहीं होती, परन्तु हस्पातमें दो पुकारकी क्रियाओंका प्रमाण मिलता है। पुषम शरणे पूर्ण रूपसे गाड़े जानेकी पुजाली और द्वितीय अधिकांश रूपसे शरणे गाड़े जानेकी पुजाली। दूसरी विधि की २७ समानियोंकी आज्ञा हुई है, जहाँ शरणे गोपद्विषा और हृद्विषा मिली है।

मिन्धुदेशीय सभ्यताका पुनार भग्नाव्य जितने कम नगरवत्क पाया गया है, जो एक प्रकारसे

सतलज और यमुना नदी तक पहुँचा है। भागी पुनारतत्त्वान्वेषणके कार्यसे इस सभ्यताका पुनार और पुनार गङ्गानदीकी उपत्यकाओंमें भी पाया जायगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। भारतवर्षके हजारों वर्षोंका इतिहास अन्धकारमें पड़ा है, जिसके निषयमें अतक कुछ भी शक्त नहीं हुआ, परन्तु यह आशा की जाती है कि, भविष्यमें जो पुरातत्त्वसन्तन्धी खोजें होनेवाली हैं, उससे इस अन्धकार-कालपर अवश्य प्रकाश पड़ेगा। मौर्यकालसे (अर्थात् ईसासे पूर्व ३री शताब्दीसे) भारतवर्षकी गृहनिर्माण-कला और रूप-कला (formative Art) का स्वरूप तो अच्छी प्रकार प्रकट हो गया है, जिसके निषयमें निस्संदिग्ध होकर सम्मति दी जा सकती है।

मौर्यकालकी चौथी शताब्दीसे अतक जितने स्मारक प्राप्त हो चुके हैं, उनमें गुफाओंके अतिरिक्त ४ थी शताब्दीकी (ईसाके जन्मकालके पूर्वकी) लकड़ोंके घरे हैं, जो प्राचीन पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) नगरकी चारों ओर थे और जिनके अधिक अंशका ज्ञान लोगोंको प्राप्त हो चुका है। इनके अनन्तर अशोकके शिला-लेखों और स्तम्भ-लेखोंकी गणना है। अशोकके पनपाये हुए पाटलिपुत्रके मना-भवनके स्तम्भका भाग्यशायी, चितने ही ईद-नूप आदि भी, कम प्रख्यात नहीं है। अशोकके कुछ वारह स्तम्भोंका ज्ञान लोगोंको है। इनमें दमपर लेग खुदे हुए हैं, जिनमें लौरियानन्दनगद्वारा स्तम्भ, जो नम्पारन जिलेमें है, प्रमुख सुखित है। पुष्यक स्तम्भका पुषान भाग एक ही टुकड़ेका था, जो शक तीरके समान था। इनके तीन भाग थे। उपरका भाग, मीचेका भाग और मध्य भाग, जिनमें दम्भ-बारीकी गहराई थी। अशोकके स्तम्भका सर्वोत्तम स्तम्भ यह है, जो स्तम्भनाममें पुनार हुआ है। इनमें

चार सिंह खुदे हुए हैं, जिनकी कमर एक दूसरेसे मिली हुई है। सिंहोंके ऊपर एक स्तम्भ है, जो कारी-गरीका जीता-जागता नमूना है। यह स्तम्भ एक पहियेपर आश्रित है, जो भगवान् बुद्धके उपदिष्ट धर्मका द्योतक है। इस पहियेके कितने ही अंशोंका पता लगा है। यह सारनाथके अजायबघरमें सुरक्षित है। ईसाके जन्मके १५० वर्ष पूर्वका एक स्तम्भ, वेसनगरके उत्तर-पूर्वमें, ग्वालियर-राज्यमें है। ईसाकी मृत्युके ७० वर्ष बादका एक स्तम्भ कालोंकी गुफाके सम्मुख है। ५ वीं शताब्दीका एक तृतीय स्तम्भ एरनमें (मध्य प्रान्तमें) है। इनमें एक लोहेका है, शेष प्रस्तरके हैं। यह लोहेका स्तम्भ दिल्लीमें, कुतुबमीनारके समीप, है। इसपर जो लेख है, उससे पता चलता है कि, इसका निर्माण गुप्तवंशके चन्द्र (सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय, जो ३७५ ई० में हुए थे) द्वारा हुआ था। यह एक आश्चर्यकी बात है कि, उस समय भी हिन्दू लोहेका इतना बड़ा स्तम्भ बना सकते थे, जितना बड़ा स्तम्भ अब भी अकस्मात् ही तैयार होता है। उससे पश्चात् कालके स्तम्भ समस्त भारत-वर्षमें, विशेषतः मद्रास प्रान्तमें, पाये जाते हैं। कमसे कम ऐसे बीस स्तम्भ दक्षिण कनाड़ा जिलेमें प्राप्त हुए हैं। मैंगलोरके समीप ही, मुदाविट्रीमें, एक जैन-मन्दिरके सम्मुख, इसका प्रत्यक्ष और सुन्दर प्रमाण मौजूद है।

उत्तर भारतवर्षमें जिसे हम स्तूप कहते हैं, लट्ठामें यह 'दगबस'के नामसे विख्यात है। यह किसी के स्मृति-चिह्नको सुरक्षित रखनेके लिये बनाया जाता है, जो स्तूपके नीचेके भागमें रखा जाता है। बौद्धों और जैनोंकी दन्त-कथाओंमें कथित किसी प्रसिद्ध घटनाके स्मरणार्थ भी यह निर्मित किया जाता है। जैनों भी स्तूप बनवाये थे, परन्तु उनके

स्तूप उपलब्ध नहीं हैं। कुछ समय पूर्वतक इस प्रकारका एक स्तूप काँकाली तिलामें (मथुरामें) था; जिसमें जैन-कलाकी कुशलताके अच्छे प्रमाण पाये जाते थे और जो अब संयुक्त प्रान्तके अजायबघरमें सुरक्षित हैं। बौद्धोंसे सम्बन्ध रखनेवालोंमें साँचीका स्तूप सर्वोत्तम समझा जाता है। यह दोप-युक्त नहीं जान पड़ता। देखनेमें वृत्ताकार ढोलके समान है, जो बहुत ऊँचा नहीं है। इसपर अर्द्धवृत्त गुम्बज आश्रित है, जिसका व्यास नीचेवाले ढोलसे कम है। इस ढोलकी चारो ओर खुला मार्ग है, जहाँ लोग घूम-फिर सकते हैं। यह अंश पुस्तरकी भिल-मिलीसे घिरा हुआ है। ठीक केन्द्र-स्थानके सम्मुख एक बड़ा फाटक है, जो केवल लकड़ीका बना हुआ है और जिसमें बाहर और भीतर सुन्दर एवं विशाल खोदाईका काम किया हुआ है। इस स्तूपकी मौलिक बनावट ईंटोंकी थी, जिसका व्यास पूर्वमें वर्त्तमान-कालीन व्यासकी अपेक्षा आधा ही था। यह अशोकका बनवाया हुआ है और सम्भवतः उसी समयका जान पड़ता है, जिस समय दक्षिण फाटकपरका सिंह मुख-स्तम्भ प्रस्तुत किया गया था। परन्तु जान मार्शलने अपने नये आनिष्कार द्वारा यह प्रमाणित किया है कि, इसके ऊपरका पुस्तरवाला ढक्कन, घेरा और सिंहद्वार, कमसे कम, १५० और २०० वर्ष पीछेके हैं। दूसरे प्राप्त बौद्ध स्तूपोंमें सारनाथ, प्रयाग और जब्बलपुरके बीच मरहट, अमरावती (मद्रासमें) और पिपल्हवा (नेपालकी सीमापर) में हैं। गाल मरहटका स्तूप एक प्रकारसे टुट प्राय है; क्योंकि उसकी सामग्रीको गाँववालोंने, घर बनानेके काममें, व्यवहृत किया है। शहतीरका यह अंश, जो बन गया था, पल्लवत्तके अजायबघरमें सुरक्षित है। इस शहतीरपरके उमरे हुए निच (जिसमें कुछ लेख

भी हैं) बहुत उपयोगी प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध जातक अथवा बुद्धकी जन्म-कथासे है। अमरावतीका स्तूप भी अब अप्राप्य है। इसके शहतीरके कुछ अंश, जो विशालता और कलाकी दृष्टिसे अद्वितीय हैं, ब्रिटिश और मद्रास म्युजियमोंमें रखे हुए हैं। मिस्टर डब्ल्यू० सी० पेपीने पिपर-हवाके स्तूपको १८६८ ई० में खुदवाया था। एक शिलाका पेसा टुकड़ा मिला था, जिसपर कुछ लिखा हुआ था। कितने ही विद्वानोंकी सम्मति है कि, इसमें बुद्ध भगवान्‌के विषयका कोई चिह्न रहा होगा, जिसे उनके सम्बन्धी शाक्योंने स्तूपके भीतर सुरक्षित कर रखा था। यदि यह कथन सत्य हो, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि, यह पैसोंमें है, जिनमें बुद्ध भगवान्‌का शय-भस्म, उनकी मृत्युके पश्चात्, लाया गया था। *

पुरातत्त्वकी वस्तुओंमें गुफाओंकी भी गणना होती है, जो पहाड़ों अथवा चट्टानोंमें खोदी जाती हैं। पश्चिम भारतमें इनकी संख्या अत्यधिक है—प्रत्येक १० गुफाओंमें ६ इसी भागमें पायी जाती हैं। इनमें सर्वप्रसिद्ध गुफाएँ भाज, वेदसा, फाली, फनेरी, जुनार, नासिक, पल्लोरा, अजन्ता, वराणर, नागार्जुनी, उदयगिरि और सण्डगिरिमें हैं।

गुफाएँ तीन धर्मियोंमें विभक्त की जा सकती हैं, बौद्ध, हिन्दू और जैन। अत्यन्त जिन प्राचीनतम गुफाओंका पता लग सका है, वे वराणर और नागार्जुनीकी हैं, जो अशोक और उसके पौत्र दशरथ द्वारा खोदायी गयी थीं। ये आज्ञाशक्तोंको समर्पित कर दी गयी थीं। यह आज्ञाशक्त-सम्प्रदाय दिगम्बर

(वस्त्रहीन) था, जिसकी प्रतिष्ठा मञ्जुलीपुत्र गोसलने की थी। इसके अनन्तर प्राचीन गुफाओंकी नामावलीमें भाज, पितलखोरा और अजन्ताके ६ नम्बरवाले एवं नासिकके १६ नम्बरवाले खोहोंकी गणना होती है। फरगुसन तथा डाक्टर बर्जैसेके मतसे ये ईसाकी मृत्युके २०० वर्ष पूर्वके हैं। परन्तु सर जान मार्शलकी नवीन खोज तथा शिलालेख द्वारा इस बातका दृढ़तर प्रमाण मिल रहा है कि, ये उतने प्राचीन नहीं हैं। बौद्ध गुफाएँ दो प्रकारकी हैं; चैत्य और विहार। चैत्य साधारण मन्दिरके समान होता है; विहार भिक्षुके रहनेका स्थल है। चैत्य देगनेमें धनुषाकार गुम्बजवाला होता है; सिंहद्वारपर अर्द्ध चन्द्राकार सिड़की रहती है; ठीक बीचमें रास्ता रहता है, जिसकी दोनों ओर गुफाके समान छोटी-छोटी फोटरियाँ रहती हैं; अन्तर्झूमें वृत्ताकार एक स्तूप रहता है। यह देगनेमें गिरिजाधरके समान होता है। विहारकी चारों ओर छोटी-छोटी फोटरियाँ रहती हैं। पश्चात् कालके बने विहारमें एक, एकान्त वास करनेके योग्य, पिछली दीवारके बीचमें, उसके साथ ही, सटकर, फोडरी बनायी जाती थी, जिसमें भगवान् बुद्धकी विशाल मूर्ति स्थापित की जाती थी। *

शायद ही ऐसा कोई “चैत्य” मिलेगा, जिसके समीप विहार न हो। हिन्दुओंके गुफा-मन्दिरोंका नमूना पम्प्राँके निकट एलिफेन्टामें है। यह शिवायित किया हुआ है और ७वीं शताब्दीसे पूर्वका नहीं है। परन्तु इन सर्वोपे पहाँ अधिक प्रसिद्ध मन्दिर पल्लोराका कैलास-मन्दिर है। यह ठीक मन्दिर-सा प्रतीत

* भगवान् बुद्धकी मृत्युके बाद दण्डा रुन उठाया गया था। भस्म भाज स्थित हो गये थे। इन्हें वेद सत्यनेन ने अपने भीषण शस्त्रार्थ बाद भस्म तथा गदा से ।

* पुरातत्त्वकी मूर्ति ठीक इसी प्रकारकी है।

होता है—इसकी बनावट ही ऐसी है। परन्तु यथार्थतः यह एक चट्टानको ही खोदकर बनाया गया है। यह भी शिवार्पित है। यह राष्ट्रकूटके राजा कृष्ण द्वारा ७६८ ई० में खोदा गया था। इस राजाका चित्र अब भी मन्दिरके ऊपरकी छतपर खुदा हुआ दीख पड़ता है। जैनोंकी गुफाओंमें खण्डगिरि और उदयगिरिके खोह प्राचीनतम हैं। मध्यकालीन खोहका नमूना इन्द्रसभा है, जो एलोरामें प्राप्त है; नवीनतम खोह नासिकका है, जो अनकाईमें है। इनमें अधिकांशकी छतें किसी समय विशेष रूपसे चित्रित थीं। इस प्रकारके सुरक्षित खोहोंमें अजन्ताका है, जो ३५०-६५० ई० तकके बीच प्रस्तुत किया गया था। इसकी प्रशंसा, कलाकी दृष्टिसे, बहुत अधिक हुई है। इसकी प्रतिलिपि सर्वप्रथम मेजर जिलने की थी; परन्तु वह १८६६ ई० में क्रिस्टल पैलेसके जल जानेसे नष्ट हो गयी। इस प्रकारसे नष्ट हुए चित्रोंकी प्रतिलिपि पुनः जान ग्रिफिथ्सने ली, जो बर्म्यर्थके “आर्ट्स स्कूल” में रहते थे। इनकी आधी प्रतिलिपि भी अश्विसे कॅनसिङ्गहममें नष्ट हो गयी। इनकी अन्तिम बार नकल लेडी हेरिङ्गहमने १९०६-११ ई०में की थी। उस भद्र महिलाका एक चित्र सम्पूर्ण है; जो विकटोरिया और अल्बर्ट स्म्युजियमके भारतीय विभागमें सुरक्षित है। “इण्डिया सोसाइटी” नामकी एक संस्थाने इन्हें पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया है। एक दूसरे प्रकारकी चित्ताकर्षक खोह, जो उचित रीतिसे सुरक्षित नहीं हैं, ग्वालियर-राज्यके ‘धाघ’-स्थानमें प्राप्य हैं। इन गुफाओंपर “इंडिया सोसाइटी” का ध्यान है, जो अध्ययन कर रही है।

सोमपुरान्तमें एक प्रकारके ऐसे भग्नावशेष पाये जाते हैं, जो प्राचीन कालमें गान्धारके नामसे विख्यात थे। ये विनष्ट विदार्य तथा जमीनके भीतर

गड़े हुए स्तूपोंके अंश हैं। इनमें बौद्ध मन्दिर (चेत्य एवं विहार) तथा बुद्धकी प्रतिमाएँ हैं। कोरन्थि-देशीय परोटसका, हाथमें एक बड़ी-सी पुष्पमाला लिये हुए, नग्न चित्र, पक्षवाले एटलांटसके अनेक चित्र तथा और भी अनेक चित्रकारीके नमूने इस बातका यथेष्ट प्रमाण हैं कि, भारतवर्षपर यूनान देशकी गृहकलाका प्रभाव अवश्य पड़ा था। १९०६ ई० में, पेशावरमें, स्तूपाकार मिट्टीकी एक ढेरकी खोदाई हुई थी, जिसे लोग “शाहजी-की-ढेरी” कहते हैं। इस खोदाईसे गान्धार-कालकी गृहकलाके कितने ही नमूने प्राप्त हुए हैं; रंगिके छोटे-छोटे वाक्स आदि। रंगिके वाक्स परके लेखसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि, यह स्मारक कनिष्क द्वारा निमित्त हुआ था। इसे लार्ड मिंटोकी सरकारने वर्माके बौद्धोंको उपहारमें प्रदान किया था और इस समय यह मंडालेमें सुरक्षित है। लगभग इसी कालका एक स्तूप मणिकालमें (पञ्जाबमें) है, जिसकी खोदाई महाराज रणजीत सिंहके फ्रांसीसी कप्तान चेंदुरा और कोर्टने, १८३० ई० में, की थी। कितने ही स्तूपोंमें कनिष्कके समयकी मुद्राएँ मिली हैं।

वाराह-मन्दिरके नामसे एक गुप्तवंश-कालीन मन्दिर प्रसिद्ध है, जो देवगढ़ (भांसी) में है। इसी समयका एक मन्दिर साँचीमें है और दूसरा ईंटका बना हुआ मिठार गाँव (कानपुर) में है। इससे पश्चात् काल में एक मन्दिर टिगोवा नामक स्थानमें, मध्य प्रान्तमें, है। दक्षिण-भारतमें दो और मन्दिर हैं लद्दाखी और दुर्गामिन्दिर, जो अब्कोले नामक स्थानमें, बीजापुरमें, हैं। यह दुर्गा-मन्दिर आठवीं शताब्दीका है। इन दोनोंमें समानता इतनी है कि, उनकी छतें चिपटी हैं और किन्हींमें किसी प्रकारका घुमाव (मोर्टीके समान) नहीं है। नय प्रकारसे ये दोनों

एकदम भिन्न हैं। यहाँ हम स्पष्ट रूपसे उन दो प्रकारकी बनावटोंका प्रारम्भ देखते हैं, जो “इंडो एशियन” तथा “द्राविडियन” के नामसे विख्यात हैं। इनकी विभिन्नता ७ वीं शताब्दीमें और उसके पश्चात् और भी स्पष्ट हो जाती है। “आर्य-मन्दिर” का भुजाव “लम्बा” और “द्राविड़” का “पट्टी लकीर” के समान होता है। पहले का चिह्न यह है कि, यह सीधा नहीं होता ! दूसरा देखनेमें “पिरामिड” की तरह होता है अर्थात् पहले प्रकारका लम्बा होता है, जिसका अधो-भाग अधिक चौड़ा नहीं होता और दूसरे प्रकारका ऊँचा तो अधिक नहीं होता; पर उसके नीचेके अंश की परिधि अधिक होती है। उड़ीसामें भुवनेश्वरका मन्दिर, बुन्देलखण्डमें खजुराहो का मन्दिर, जोधपुरमें ओसियाका मन्दिर, आवू पहाड़पर दिलवराका मन्दिर “आर्य-श्रेणीके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। “द्राविड़-श्रेणीका उदाहरण मद्राससे दक्षिण, समुद्रके तटपर, “ममल्लपुरम्-रथ” का मन्दिर है। यह देखनेमें नाम मात्रा रूपके समान है, यथार्थतः इसका रूप मन्दिर जैसा है। यह “द्राविड़-श्रेणीका प्राचीनतम उदाहरण है, जो ७ वीं शताब्दीका है। कैलासनाथका मन्दिर (जो काञ्चीवरममें है) उसी कालका है। उसके पश्चात् कालके उदाहरणमें बीजापुरके “अपहोले और पत्तदफल” के मन्दिर हैं, जो बम्बई प्रान्तमें हैं। एल्लोराका कैलास-मन्दिर इसीका एक नमूना है। “द्राविड़-श्रेणीके पश्चात् कालके उदाहरणोंमें त्रिचनापल्लीके श्रीरङ्गमूका मन्दिर और तञ्जोरका मन्दिर हैं।

यो तो भारतवर्षमें अतकके मिले हुए लेख अनेक पदार्थोंपर लिखे गये हैं; परन्तु विरोधत प्रस्तर और तबियत ही हैं। लिपियाँ दो प्रकारकी हैं :—ब्राह्मी और खरोष्ठा। खरोष्ठा भारतवर्षके

उत्तर-पश्चिम भागोंमें प्रायः प्रचलित थी। ब्राह्मी चाई ओरसे दाहिनी ओर लिपी-पट्टी जाती थी और इसीसे भारतवर्षकी सभ आधुनिक लिपियोंकी उत्पत्ति हुई है। खरोष्ठी दाहिनीसे चाई ओर लिपी जाती थी, जो भारतवर्षमें इसीके पूर्व, ५ वीं शताब्दीमें, फारसदेशीय प्रभावके कारण, पञ्जाबमें प्रचलित हुई थी। यह प्राचीन “अरमी” का परिवर्तित रूप है। इस लिपिका प्रचार ४ वीं शताब्दी (ईसाकी मृत्युके बाद) तक था; ब्राह्मीने इसके स्थानको पीछे ग्रहण किया। सबसे प्राचीनतम लेख, जिसके विषयमें निश्चित तिथिज्ञात है, अशोकके प्रसिद्ध लेख हैं। इनकी दो श्रेणियाँ हैं, प्रथम शिला लेख, द्वितीय स्तम्भलेख। ये लेख पेशावरसे ४० मील उत्तर-पूर्व शाहवाज़-गढ़ीसे लेकर नेपालकी तराईके निगलिय नामक स्थान तकमें, काठियावाड़के गिरनारसे उड़ीसाके धौली तकमें, हिमालयकी नीची उपत्यकाकी कलसीसे लेकर मैसूरके सिद्दापुर नामक स्थान तकमें पाये गये हैं। इससे यह भी पता चलता है कि, अशोकके राज्यका विस्तार कितना था। इन शिला-लेखोंमें यूनान देशके पाँच राजाओंके नामोंका उल्लेख है :—एनटीओकस द्वितीय, जो सिरियाका राजा था, टालेमी, फिलाडेल्फ आदि। ये कौतूहल-वर्द्धक हैं और इनसे यह सिद्ध होता है कि, ईसाके जन्मके २६६ वर्ष पूर्व अशोकका राज्याभिषेक हुआ था। एक स्तम्भ लेखके आविष्कारसे बुद्ध भगवान् के जन्म-स्थानका पता, निश्चित रूपसे, लगता है, जो पहले बहुत समय तक विवादप्रस्त विषय था। दूसरा उपयोगी लेख बेसनगरके स्तम्भपरका है। इस स्तम्भका पता बहुत समय पूर्वसे ही था; परन्तु इसके लेखका पता सर जान मार्शलको लगा। इसमें एक गरुड-स्तम्भ है, जिसे भगवान् वासुदेवके

स्मरणार्थ “डायन पुत्र हेलियोडोरस” ने स्थापित किया था। यह तक्षशिला के राजा एण्टिअल-किड्सका दूत था। इसमें हेरियोडोरस “भागवत” कहा गया है, जिससे यह प्रकट होता है कि, यद्यपि यह यूनानी था, तो भी इसने हिन्दू-धर्मको ग्रहण किया था। यह वैष्णव था। नासिक के १० नम्बर की गुफाको दान करनेवाला उपवदेव अपनेको शक-जाति बतलाता है, वह इंडो-सीथियन था। उसने ३ लाख गौओं और १६ ग्रामोंको देवताओं और ब्राह्मणोंको प्रदान किया था, जो प्रतिवर्ष एक लाख ब्राह्मणोंको भोजन कराता था। यह एक दूसरा उदाहरण है कि, परधर्मावलम्बीने हिन्दू-धर्मको ग्रहण किया था। इस प्रकार भारतवर्षके भिन्न-भिन्न समयका राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक इतिहास जाननेके लिये ये लेख बहुमूल्य सामग्री हैं। इनके अतिरिक्त कोई दूसरी विश्वासपात्र सामग्री है ही नहीं। इनके अभावमें हमारा काम नहीं चल सकता और हम एक अन्ये मनुष्यके समान होंगे, जो हताश होकर चारों ओर टटोलता फिरता है।

मुसलमानी गृह-कला-सम्बन्धी कार्य भारतवर्षमें, १३ वीं शताब्दीमें, जब मुसलमानोंके रहनेकी रीयरता हो गयी, प्रारम्भ हुआ। इनकी प्रथम मसजिद हिन्दू और जैन मन्दिरोंकी सामग्रीसे ही बनी है। फर्मी फर्मी ऐसा भी हुआ है कि, मन्दिरमें फेरल किञ्चित्मात्र परिवर्तन करके ही मसजिदका निर्माण कर दिया गया है। अजमेरकी “अठ्ठाई दिनका भोपडा” नामकी मसजिद और गुनुथमीनारके समीप की मसजिद इस बातके प्रमाण हैं। भारतवर्षमें मुस्लिम गृह निर्माण-कार्य भिन्न भिन्न समयमें, भिन्न भिन्न वंशोंकी अधीनतामें, भिन्न भिन्न रूपसे

हुआ है। पठान बादशाहोंके समयकी इमारतोंकी यह सूची है कि, ये बड़ी लम्बी-चौड़ी और कामदार होती थी। कुतुबमीनार, अलतमश और अलाउद्दीन गिलजीके मकबरे इसके अच्छे नमूने हैं। शरकीयाओं इमारतके तीन नमूने हैं, जो जौनपुरमें पाये गये हैं और जहाँ कितने ही मकबरे हैं। मण्डूमें, जो धार स्टेटमें हैं, एक तीसरे प्रकारका नमूना निकल पड़ा। हुसङ्ग-का मकबरा और जामा मसजिद, जहाज महल और हिंडोला महल पठान बादशाहोंके समयके धार्मिक और सामाजिक गृह-निर्माणकलाकी गवाही दे रहे हैं। बङ्गालके मुसलमानोंकी प्रणाली (गृह-निर्माण-सम्बन्धी) एक स्वतन्त्र रूपकी ही थी। पण्डुआ, मालदह और गौड़देशीय मकान इसके उदाहरण हैं। इनमें जदीना मसजिद (जो सिकन्दरशाहकी है), एक लाखी मसजिद, कदम्व रसूल मसजिद आदि प्रसिद्ध हैं। गुलबर्गा और विदर्भके “बाहमनी” वंशजाले भी इमारतोंके प्रेमी थे; इनकी राजधानीमें कितने ही प्रसिद्ध भवन बने हुए थे। गुलबर्गाकी मसजिद (जो भारतवर्षकी सत्र मसजिदोंसे भिन्न प्रकारकी है) में यह विशेषता है कि, जहाँ एक भी गुम्बजको आवश्यकता दूसरी मसजिदोंमें प्रतीत नहीं हुई, वहाँ इसमें ६३ गुम्बज बने हुए हैं। फरगुसन साहब कहते हैं कि, “इन सत्र मुस्लिम इमारतोंमें अहमदाबादकी इमारतें सबसे अधिक सूक्ष्म हैं।” सिद्दी सैयदकी मसजिद जिसमें पत्थरके फरोसेके मेहराब, गुम्बज और छत इस तरह सुन्दर हैं कि, इनका जोड़ा किसी भी जगहमें या किसी भी समय-में मिलना दुश्गार है। मुस्लिम फारोगरीमें इतना अधिक हिन्दूपन फर्मी भी नहीं है - एक प्रकारसे यह हिन्दू-रूति ही है। इसके ठीक विपरीत यीजापुरके आदिलशाहके वंशजोंकी इमारतें हैं। इसमें हिन्दूपन

का नाम-निशान भी नहीं है—न तो इसके आकार-प्रकारमें अथवा न इसके किसी खास काममें। बीजा-पुरमें जो इमारतें अब बच रही हैं, वे ये हैं, जामा मस्जिद, गङ्गामहल और मोल गुम्बज। पठानोंके समान ही मोगल बादशाह बड़े शौकीन थे। इनका खास अपना ढङ्ग, अकबरके समयमें, हिन्दू और मुस्लिम कलाके सम्मिश्रणके रूपमें, प्रारम्भ हुआ। सम्राटोंकी इमारतोंमें हुमायूँ की कब्र और फतहपुर-सिकरी तथा आगराके प्रासाद प्रसिद्ध हैं। जहाँगीरके समयकी

उसकी लाहौरकी मस्जिद और इतमद-उद-दौला-की कब्र अच्छे नमूने हैं। शाहजहाँके समयमें सजावट-के काममें बहुत उन्नति हुई, जो इमारतके प्रेम और मौलिकताका फल है। यह उसके समयकी ही बात है कि, जगत्प्रसिद्ध “ताजमहल”, जो उसकी स्त्री मुमताजमहलका स्मारक है, आगरा में बना। उसके समयका दूसरा प्रसिद्ध और सुन्दर स्मारक मोती मस्जिद है, जो आगरा जिलेके भीतर है।

पुरातत्त्वकी बातें

शा० मोतीचन्द्र एम० ए० (लंडन)

भारतीय तथा एशियाकी सभ्यता-सम्बन्धी खोजका धीमे-धीमे एशियाटिक सोसाइटी नामकी संस्थासे होता है। यह १६ जनवरी, सन् १७८४ ई० में, कलकत्ता नगरमें, स्थापित हुई थी। २२ जनवरी, सन् १७८४ ई० को इस संस्थाने के सदस्यों ने तत्कालीन गवर्नर जनरल कारेन हेस्टिंग्स तथा कौन्सिलके अन्य सदस्योंके नाम इस संस्थाकी संरक्षकता स्वीकार करनेके लिये एक पत्र भेजा। वह पत्र यह है—“Application !

“To the hon'ble Warren Hastings Esq. Governor General, President; Edicard Wheeler, John Macpherson, and John Stables, Esquires, Members of the Council of Fort William in Bengal.

“Honourable Sir and Gentlemen,

“A society, of which we are members, having been instituted for the purpose of inquiring in to the History Civil and Natural, the Antiquities, Art, Scie

nces and literature of Asia, We are desirous that you will honour us with accepting this title of our patrons and request you to consider this application as the token of the great request. With best wishes we are.

Hon'ble Sir and Gentlemen
Your most humble Servants

John Hyde, Thomas Low,
William Jones, Charles Wilkins,
John Carnal, John David Paterson,
David Anderson, Charles Chapman,
William Chambers, Charles Hamilton,
Francis Gladwin, George Harild
Gonathan Duncan, Barlanc.

Calcutta, January, 22, 1784.”

सन् १७८४ में “आन्टिक्वरी सोसाइटी” के सदस्यों ने कारेन हेस्टिंग्स तथा एडवर्ड व्हीलर, जॉन मैकफर्सन और जॉन स्टेबल कोर्ट विलियम, कौन्सिलके सदस्योंकी सेवामें।

“मान्यवर महोदय तथा सज्जनगण !

“एक सभा, जिसके कि, हम सदस्य हैं, एशियाके राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक अन्वेषण तथा कला, पुरातत्त्व, विज्ञान एवम् साहित्यकी खोजके लिये खोली गयी है। हम लोगोंकी इच्छा है कि, आप सज्जनगण इस सभाकी संरक्षता स्वीकार करें तथा इस पत्रको हम लोगोंके आदरका चिह्न जानकर विचार करें।

आपके इत्यादि।”

इस पत्रका उत्तर वारेन हेस्टिंग्सने इस प्रकार दिया था—

“Gentlemen,

“We very much approve and applaud your endeavours to promote the extension of knowledge by the means, which local advantages afford in a degree, perhaps, exceeding those of any part of the globe; and we derive Great hopes of your attainment of so important an end from our personal Knowledge of the abilities and the talent of the Gentlemen, whose names we read in the subscription to your address.

“We accept the title you have been desirous of Conferring upon us of Patrons to your Society, and shall be happy to avail ourselves of any occasion that may occur of contributing to its success.

We are, Gentlemen,
your most obedient
humble Servants

Warren Hastings,
Edward Wheeler,
John Macpherson,
John Stabler.

पत्रका फल यह हुआ कि, हेस्टिंग्स तथा अन्य सदस्योंने एशियाटिक सोसाइटीकी सदस्यता स्वीकार कर ली तथा उसके कार्यमें सहायता देनेका वचन दिया। इस प्रकार भारतवर्षके इतिहासमें वैज्ञानिक रीतिसे पुरातत्त्वकी खोजका सूत्रपात हुआ।

सोसाइटीके संस्थापकोंमें मुख्य सर विलियम जोन्स समापति बनाये गये।

प्रथम समापतिकी हैसियतसे सर जोन्सने जो व्याख्यान दिया था, वह बड़े ही मार्केका था। उसमें उन्होंने एशियामें पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजकी बड़ी ही आवश्यकता बतलायी थी। पाठकोंकी सेवामें भाषणका एक भंश उपस्थित किया जाता है—

“सज्जनो,

“इस देशको देखनेकी इच्छा मुझमें सदासे बड़ी ही प्रबल थी। विगत वर्ष मैं इस देशके लिये यात्रा कर रहा था कि, मुझे एक दिन एकाएक भारतवर्षा विस्तृत देश दीख पड़ा। बाईं ओर फारस तथा अरब देशकी रेतीली हवा जोरोंसे चल रही थी। यह दृश्य इतना सुहावना था कि, इतने मेरे हृदयमें एक नवीन जागृति उत्पन्न कर दी; क्योंकि मेरा चित्त सर्वदा पूर्वीय देशोंके इतिहास तथा पुरातत्त्वका संस्मरण किया करता था। मुझे इस पत्रका अत्यन्त हर्ष हुआ कि, मैं उस देशमें आ गया, जिनका कि, विस्तृत भाग एशियाके, और हिस्सेसे बिरा हुआ है। मैंने सोचा कि, वह एशिया, जो सर्वदा विद्वानोंकी परितो, लाभदायक-कलाओंकी जननी, सोदाओंकी धर्मभूमि, विद्वानोंकी जन्मभूमि, प्राकृतिक दृश्योंसे श्रुति, मित्र मित्र धर्मो, राज्यप्रबन्ध, कानून, आचार-विचार, रदन-रचन, भाषाओं तथा विभिन्न प्रकारके मनुष्योंकी निवास-भूमि है, भूमण्डलका विराल स्रोत है, भयभीति विना गोजके पड़ा है और कितनी ही लाभदायक वस्तुएँ उसमें यों ही घेराव पड़ी हैं। यह गोचनेपर मुझमें नदी रहा गया। मैंने विचार कि, इस मरिया, चपभंग तथा

परिमित जीवनमें तभी ऐसे कार्य हो सकते हैं, जब कि, बहुत-से मनुष्योंकी शक्तियाँ एकत्र होकर इस कामको हाथमें लें। मुझे इस बातकी प्रसन्नता है कि, मेरे बह्नाल-निवासी भाइयोंमें यह बात मौजूद है। इत्यादि।” छे

एशियाटिक सोसायटीने “एशियाटिक रिसर्चेंज” नामका एक पत्र भी निकाला, जो सन् १८३६ ई० तक चलता रहा। इसमें भारतवर्षके सम्बन्धमें बहुत महत्वपूर्ण लेख निकलते रहे। आरम्भमें शिलालेखोंके सम्बन्धमें विलकिन्स तथा मूर्ति-योंके सम्बन्धमें चेम्बर्सके अच्छे लेख निकलते रहे। महा-बलीपुरम्की मूर्तियोंका सुन्दर विवरण चेम्बर्सने “एशियाटिक रिसर्चेंज”के पहले भागमें किया है। यद्यपि इन लेखोंमें बहुत-सी भूलें हैं, परन्तु उस समयकी परिस्थिति तथा साधनोंको देखकर यही कहना पड़ता है कि, इन लोगोंका प्रयत्न सराहनीय था।

प्येपण-परायण सर विलियम जोन्सके प्रयत्नसे परिवर्तनीय देशोंमें संस्कृत-भाषाका अच्छा प्रचार हुआ। आपने अंग्रेजीमें मनुस्मृति तथा शकुन्तलाका अनुवाद किया और संस्कृत-भाषाके ध्युतपराके छप्पानेका भार भी आपने ही प्रथम लिया था।

कोलनुक तन महागुमारोंमें हो गये हैं, जिन्होंने अपना तन, मन, धन, सब संस्कृत भाषा तथा संस्कृतिके प्रचारार्थ न्योछावर कर दिया है। आपने ही सर्वप्रथम संस्कृत-भाषाको वैज्ञानिक रीतिसे सीखनेकी प्रथा चलायी। आपने संस्कृत-भाषाके प्रायः प्रत्येक अंगपर अच्छा प्रकाश डाला। हेमिल्टन-का नेपोलियन द्वारा फ्रांसमें पकड़ लिया जाना भी संस्कृत-भाषाके लिये बड़ा ही उपकारप्रद सिद्ध हुआ। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् शेलजेलने इनसे संस्कृत सीखी और “On the language and wisdom of Indian” नामकी पुस्तक प्रकाशित की। भाषाविज्ञानकी नींव भी सं० १८१६ ई० में फ्रांस बोपने डाली।

वेदोंके सम्बन्धमें भी सर्वप्रथम कोलनुकने ही लेख लिखे। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् रोसेनने ऋग्वेदके आठ अध्याय प्रकाशित किये। रायने भाषाविज्ञानपर “On the Literature and History of Veda” नामकी पुस्तक, १८४६ ई० में, लिखी। मेक्समूलरका नाम और वाम तो प्रत्येक संस्कृत साहित्यके विद्यार्थीको सर्वदा स्मरण रहेगा।

तिलक, जेकोबी तथा और बहुतसे नाम ऐसे लिये जा सकते हैं, जिन्होंने संस्कृत-साहित्यके लिये बहुत कुछ किया।

शिलालेखोंके सम्बन्धमें सर्वप्रथम लेख लिखनेवाले विलकिन्स हैं। आपके बाद कोलनुकने शिलालेखोंके सम्बन्धमें अनेक लेख “Transactions of the Royal Asiatic Society” में प्रकाशित किये। अगर हम मिन्सेपको भारतीय शिलालेखोंको ठीक-ठीक पढ़नेका प्रयत्न करनेवालोंका समर्थी मानें, तो भ्रम्युक्ति न होगी। प्रेम्सेफने बहुतसे शिलालेखोंका, खासकर अशोकके लेखोंका, अनुवाद कनेका सराहनीय कार्य किया। आपकी पुस्तक “एसेज ग्रीन ऐन्टिक्वेटीज” अपने ढंगकी एक ही है। “Indian Antiquary” नामके पत्रकी स्थापना सन् १८७२ ई० में हुई। इसमें हजारों शिलालेख, टिप्पणियोंके साथ, प्रकाशित हुए हैं, जिनसे भारत वर्षके विभिन्न समयके इतिहासपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। “Epigraphica Indica” की स्थापना सन् १८८८ में हुई। इसके सम्पादक अपने कार्यमें निपुण निपुण किये जाते हैं और इनका यह कर्तव्य होता है कि, शिलालेखोंको प्रकाशित करें तथा इस विषयमें लोगोंका उत्साह बढ़ावें। जहाँतक हो सकता है, इसके सम्पादक शिलालेखोंके सम्पादन तथा समन्वयमें लोगोंकी मदद करते रहते हैं। पहले शिलालेख इस पत्रमें छपते हैं और अन्तमें पूर्यतया ठीक हो जानेपर “Corpus Inscriptionum Indicarum”, में अपने समयके शिलालेखोंके साथ जोड़ कर छापे जाते हैं।

शिलालेखोंके छापने और लिपियोंके पढ़नेमें अनेक पाश्चात्य पण्डितोंने घोर परिश्रम किया है।

इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम कर्निघमका आता है। आपकी “*Archaeological Survey of India*” टेईस भागोंमें प्रकाशित हुई है। जहाँ-जहाँ आप का शिलालेख मिले, आपने उनको अपनी रिपोर्टोंमें स्थान दिया। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, मेरी समझमें, सर्वप्रथम भारतीय है, जिनका नाम पुरातत्त्वकी खोजमें चिर स्मरणीय होगा। आपने बुद्धगयाके शिलालेखोंका विवरण अपनी “बोधगया” नामकी पुस्तकमें दिया है। डाक्टर फ्लीट तथा Dr. Hultzsch के नाम हम लोगोंको कभी भी विस्मृत न करने चाहिये। फ्लीटने कनाड़ी भाषाके शिलालेखोंका अनुवाद करके इतिहासके हर एक विद्यार्थीका बहुत ही बड़ा उपकार किया है। Dr. Hultzsch ने “*South Indian Inscriptions*” द्वारा भी दक्षिण भारतके इतिहास-लेखकोंका काफी उपकार किया है। राइस द्वारा सम्भावित “*Epigraphica Carnatica*” का भी उल्लेख इस सम्बन्धमें आवश्यक है। खरोष्ठी-भाषाके इने-गिने जानने वालोंमें डा० स्टेन कोनो तथा प्रोफेसर रेप्सन्के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

डाक्टर भागशरकर, रामप्रसाद चन्दा, राय बहादुर दया राम साहनी, काशीप्रसाद जायसवाल, राखालदास बनर्जी, होरा नन्द शास्त्री इत्यादि भारतीय विद्वानोंने भी बहुत बड़ा काम किया है। विस्तार भयमें विवेचन नहीं हो सकता। डाक्टर यजदानी द्वारा सम्पादित “*Epigraphica Indo-Moslemica*” मुसलमान-कालीन भारतपर अच्छा प्रकाश डालती है।

प्राचीन मुद्राओंकी खोजमें पिता उपकार भारतवर्षका हुमा दे, राजा रायदे ही किसी देशका हुमा होगा। यहूदोंने शिष्टों द्वारा उन राजाओंका नाम रखा होता है, जिनका उल्लेख बही भी नहीं मिलता। यंशाली इत्यादि टीक करनेमें भी

सिक्कों द्वारा बहुत बड़ी सहायता मिलती है। इस सम्बन्धकी खोजका भारम्भ मार्सडनकी “*Numismata Orientalia*” नामकी पुस्तकके प्रकाशनमें होता है। इस पुस्तकके बाद कितनकी “*Ariana Antiqua*” नामकी पुस्तक छपी। ग्रिन्लेफने इस सम्बन्धमें भी कुछ कार्य किया। आपकी पुस्तक सन् १८२८ ई० में प्रकाशित हुई। टामसकी “*Ancient Indian weights*” नामकी पुस्तक भी, मुद्राओंके तौल इत्यादिके सम्बन्धमें, एक ही है। भारतीय पुरातत्त्व-वेत्ताओंमें जनरल कर्निघमका नाम सर्वोच्च है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रत्येक विषयमें आपकी प्रतिभा पायी जाती है। आपकी “*Coins of Ancient India*” नामकी पुस्तक अब भी अपने विषय की अनूठी है। प्रो० रेप्सन्की “*Indian Coins*” नामकी पुस्तक सन् १८६८ ई० में प्रकाशित हुई थी। आप अब भी अपने कार्यमें दत्तचित्त हैं। विन्सेन्ट स्मिथका नाम भारतवर्षमें स्कूलके विद्यार्थियोंसे लेकर बड़े-बड़े विद्वानोंतकमें प्रचलित है। आपकी “*Catalogue of Coins in the Indian Museum, Calcutta, including the Cabinet of the Asiatic Society of Bengal*” भी एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। बैक्ट्रियन, इण्डो-पार्थियन, इण्डो सिथियन तथा कुषाणोंके सिक्कोंके सम्बन्धमें फोन सालेट, गार्डनर तथा कर्निघमने अच्छा कार्य किया है।

एक बात और। भारतवर्षमें एक बड़ी भारी गुराई है। वह है पुरानी लकड़ी पीटते रहना। हम लोग अब उन्हीं बातोंको उदाहरणार्थ उल्लिखित करते हैं, जिनका कि, वर्णन किसी व्यक्ति-विशेषमें तेजहो वर्ष पहले किया है। आधुनिक मरार बड़ा ही परिवर्धनशील है। कल आ पाँच हो चुकी हैं, वे आज ही पुरानी पड़ जा सकती हैं। पुष्यतत्त्वकी खोज भी १० सालमें बहुत कुछ उन्नत हो चुकी है। इसलिये हम लोगोंको उचित है कि, भाग्येयन्दर पुराने लेखकोंको एवम् प्रमाण न मानकर आधुनिक खोजोंका अध्ययन करें। तब अपनी सुधि द्वारा जो उचित जान पड़े, उस प्रथम करें।

भारतमें ऐतिहासिक अन्वेषणका कार्य

कान्यतीर्थ प्रो० लौट् सिंह गौतम एम० ए०, एल० टी०

आजमे सौ वर्ष पहले भारतीय इतिहासका प्राचीन अंश अनेक दन्त कथाओं तथा आख्यायिकाओंकी गुहा-ओंमें छिपा था। दूरकी याद जाने दीजिये, कारीके पास ही सत्तार प्रसिद्ध सारनाथके अनेक ऐतिहासिक पदार्थोंका नामकरण मूलमुलैया ढगसे हुआ था। जिसके पास ही भगवान् बुद्धने अपने शिष्योंको प्रथम उपदेश दिया था और जहाँपर बौद्धधर्मके 'चत्वारि आर्यसत्यानि' का प्रथम परिष्कार हुआ था, वह चौखण्डीस्तूप नामका स्थान "सीता जीकी रसोई"के नामसे प्रसिद्ध था तथा धर्मस्तूप 'लौकिकी कुदानवाचा टीका' कहा जाता था। अट कलने घटनाओंका ऐसा नक्की प्रसाद खड़ा किया था कि, अधिकांश लोग अममें पड़ गये। बी० एन० डबल्यू० रेलवेके सारनाथ स्टेशनसे दोनों स्तूप आपकी दिशाई देंगे। पहला "चौखण्डी स्तूप" है। उससे अनुमानत आधी मीलपर प्रधान मठ और "धमेख" जगवा 'धर्मस्तूप' है। "धमेख" स्तूप और "चौखण्डी" स्तूपमें आधी मीलका फासला है। कहा जाता है कि, कोई "लोरक" नामका अहीर दूधवा पत्र लेका 'चौखण्डी' स्तूपसे 'धमेख' स्तूप तक आ जाता था और कि धमेखमे चौखण्डी स्तूप तक। इन्हीं स्थानोंमें उसकी गाएँ चरा जाती थीं। मार्गें वह कलसुगी "क्षुमान" था। इस प्रकारकी अनेक दन्त-कथा-ओंमें ऐतिहासिक घटनाओंकी छिपा रखा था। किन्तु अब ऐतिहासिक अन्वेषण द्वारा ऐसी आधारहीन कथाओंका निराकरण हो रहा है। भारतमें यों तो कुछ यूरोपीय विद्वानोंने दूसर-उधर ऐतिहासिक अन्वेषणका कार्य प्रारम्भ किया था, किन्तु प्रथम ब्राह्मेन्द्र जनरल सर ए० कनिंघमके समयसे अन्वेषणका कार्य सुगमवर्तित रूपसे होने लगा। तथापि अर्थ-कष्टसे इस कार्यमें बाधा पड़ती थी। बाद

अर्जन महोदयने "आर्कियालाजिकल डिपार्टमेंट" (पुरा-तत्व विभाग) का जन्म दिया। इसके जिये वे धन्यवादके पात्र हैं। उक्त विभागके ब्राह्मेन्द्र जनरल सर लान मार्शल-की अध्यक्षतामें खोदाई और अन्वेषणका कार्य बिजले तीस वर्षोंमें, सारे भा व घोर सर्मांमें, हुआ है और बहुत-सी नयी बातें बिदित हुई हैं। उनमेंसे कुछका अत्यन्त सत्तिष चर्चन किया जायगा। आजकल "मोहजोदारो" तथा "हरप्पा"के अन्वेषण कार्यकी सत्तारमें ख्याति है। सिन्धके "लरकाना" जिलेमें 'मोहजोदारो' है। इसके अन्वेषण-कार्यका श्रेय इन पत्तियोंके लेखकके इण्डियासगुरु प्रसन्नजीन आचार्य रासालदास चन्धोपाध्याय एम० ए० को है।

पुरातत्वकी १९२५-२६ वाली वार्षिक रिपोर्टके ७२-७३ पृष्ठोंपर उल्लेख है—"*The operations at Mohenjodaro in the Larkana district of Sindh were conducted during the winter of 1925-26 on a scale larger than any essayed in this country As stated in the previous reports, the discovery of this remarkable site was made by Mr R D Banerjee (the Archaeological Superintendent in the Western Circle 1922) and during the following years excavations were carried out both by him and his successors*" अर्थात् "सिन्ध देशके 'लरकाना' जिलेमें 'मोहजोदारो'के स्थानमें खोदाई आदिका कथ सन् १९२५-२६ के जाड़ेमें एते बड़े पैमानेमें किया गया, वैसे इस देशमें नहीं हुआ था। वैसे कि, पहली रिपोर्टमें भी कहा जा चुका है कि, इस स्थानकी जोन पुरातत्व-विभागके

पश्चिमी प्रायत्वे सुपरिन्टेन्डेन्ट महाशय धार० बी० बनर्जीने सन् १९२२ में की थी। तबसे आजतक महाशय बनर्जी और उनके पीछे अन्य फर्मचारियोंने इस कार्यको बढ़ावा है।" अस्तु। आइये इस "मोहजोदारो" की कुछ राम-फहानी सुनिये।

इस फहानीके पहले यह जानना आवश्यक है कि, डा० स्पेनर सन् १९१६ में, पाटलिपुत्रकी छोटाईके समय, कुछ ऐसे गढ़े हुए भवन पाये, जिनका सादर्य फारस देशकी राजधानी "सुस" के गृहोंसे था। यस, आपने एक जगह सिद्धान्तका प्रतिपादन कर डाला। आपने सिद्ध करना चाहा कि, मौर्यसम्राट् सोलहो शाने नहीं तो, बारह शाने पारसी अवश्य थे। आपने इस सिद्धान्तका खण्डन तो अवश्य हुआ, किन्तु कुछ लोगोंके मस्तिष्कमें यह बात अवश्य नाचती रही कि, हो-न-हो भारतवर्ष फारसका श्वशी है। अतः जब "मोहजोदारो"में कुछ और बातें मिलीं, तब ऋतु लोगोंने इन सबको "भारतीय-मुस्तेरियन-संस्कृति"के अन्तर्गत निहित किया। किन्तु इन दस वर्षोंमें इतनी नयी चीजें मिली हैं कि, विद्वानोंने इसे "सिन्धु-संस्कृति" का नाम दिया। यद्यपि सिन्धु, फारस और मेसोपोटामियाकी संस्कृतियोंमें कुछ सादर्य है अवश्य, तथापि "सिन्धु-सभ्यता" एक निराली चीज है। इन देशोंकी संस्कृतियोंका सादर्य होना भी सहजमें ही समझा जा सकता है; क्योंकि चन्द्र-गुप्त द्वितीय विक्रमादित्यने बाल्लीक और फारसकी विजय की थी तथा वहाँ गुप्त-कालीन राजाओंके समयमें भारतीय संस्कृतिका प्रवेश हुआ था।

अभी कहा जा चुका है कि, कुछ वर्षोंमें ऐसी निराली चीजें मिली हैं, जिनसे तत्कालीन सिन्धु-संस्कृतिका अच्छा पता चलता है। "मोहजोदारो" से ४५० मील दूर पंजाबके मोटोगेमरा जिलेमें "हरप्पा" नामक स्थान है। वहाँ भी छोटाई हुई है। वहाँ भी ऐसी ही निराली चीजें मिली हैं। आजकल ये दोनों स्थान प्रसिद्ध हो रहे हैं। अर्थात्,

सिन्धु-संस्कृतिका अनुमान कीजिये। अनुमानतः ११ एकड़ जमीनकी पूरा खोदाई हुई है। नीचे तीन नगरोंके भग्नावशेष पदार्थ मिले हैं। उनमेंसे सबसे विशिष्ट एक "बौद्ध मन्दिर" है। उसके पास ही एक छोटा-सा स्नानागार है। गृह बड़ी ही मजबूतीसे बनाये गये थे। गृहों और दूकानोंके निरीक्षणसे पता चलता है कि, जीवनकी सुखद सामग्रियाँ ऐसी वहाँ थीं, वैसी न तो येजिलोनिया, न मेसोपोटामिया और न नील नदीके किनारे मिश्र देशमें ही पायी जाती हैं। "हरप्पा"में जो पदार्थ मिले हैं, वे इससे भी प्राचीनतर हैं। एक वहाँ भी ताम्रपत्र मिला है। उसमें ताम्रके सिक्के, कुछ अस्त्र-शस्त्र मिले हैं—कुल्हाड़ीयाँ, तलवार, भाले इत्यादि। ये मोहजोदारोके पदार्थोंसे प्राचीनतर हैं। ज्ञात होता है कि, इन नगरोंकी सभ्यता ईसासे २५०० वर्ष पूर्व और ४५०० वर्ष पूर्वके बीचकी है।

मोहजोदारो और "हरप्पा"के प्राप्त पदार्थोंसे निष्कर्ष निकलता है कि, इन नगरोंमें कृषि अवश्य होती थी। कृषिमें कौन-कौन-हथियार प्रयुक्त होते थे, कौन-कौन-सी फसलें होती थीं, इसका सविस्तर पता नहीं मिलता। इतना अवश्य पता चलता है कि, उस समयका गेहूँ आजकलके पंजाबी गेहूँ जैसा होता था। उस समय सिन्धुमें दो नदियोंका पानी जाता था "सिन्धु" और "मिर्रास" या "हकरा"। आजकी थपेला वर्षा भी अधिक होती थी। लोग प्रायः रोटी और दूध खाते थे। कभी-कभी मांस भी खाते थे। "खाद्य जन्तुओं"की हड्डियोंसे पता चलता है कि, वे शूकर और कछुवा आदि खाते थे। इनके अनुसन्धानमें महाशय R. B. Sewell I. M. S. से बड़ी सहायता मिली।

घरेलू जानवरोंमें प्रायः बैल, साँद, भैंसेका होना पाया जाता है। बिल्लीका पता नहीं चलता। कुत्ता बड़ा विचित्र था। यूनानी Aelian लिखता है—"जब कुत्ता शेरके किसी बंगको पकड़ लेता था, तब उसकी टाँग काटने

पर, जय बहमर जाता था, तब उसकी पकड़ छूटती थी।" चरखे और कपड़ेका परा प्रचार था। पुरुष दो वस्त्र रखते थे—धोत और उत्तरीय। वे छोटी-छोटी दाढ़ियाँ और गजगुच्छा भी रखते थे। पुरुष और स्त्री, दोनों आभूषण पहनते थे। लोग सोने-चाँदीके आभूषण पहनते थे। खोदाईमें सोनेका फव्वे किया हुआ आभूषण भी मिलता है। वे सिन्धु-संस्कृतिवाले पुरुष सोमा, चाँदी, ताँबा, रीन और शीशा आदिकी भी जानकारी रखते थे। उन्हें लेखन-कलाका भी ज्ञान था। उस समय मुर्तियोंको समाधि देने और जलानेका भी प्रमाण मिलता है। वे लोग किस जाति या वंशके थे, इसका पता अभी निश्चित रूपमें नहीं चलता है।

वे लोग शिव और पृथ्वी माताके उपासक थे। पवित्र जलनों और पृथ्वीकी भी पूजा करते थे। पता चलता है कि, शक्तिकी उपासना अधिक करते थे। इसी शक्तिकी उपासना पश्चिमी एशिया भरमें होती थी। यह सिन्धु-संस्कृति उस बड़ी संस्कृतिके अन्तर्गत है, जो पृथ्वीशक्ति समुद्रमें जापानतक विस्तृत थी।

ऐसा मान्य होता है कि, मेसिलोनिया और इस सिन्धुकी संस्कृतिमें बड़ा सारगर्भ है। इन दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। सम्भवतः उसी भारतके लोग अपनी सम्पत्ता लेकर पाश्चिमी एशिया तक पहुँचे हों, किन्तु इस विषयमें निर्विवाद सिद्धांतका उल्लेख करना असम्भव है। जो हो, परन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि, भारत अपनी संस्कृतिके लिये अन्य देशोंका उत्तना बदवी नहीं है, जितना वह १६२२ के पहले माना जाता था। अनुमान तो यही कहता है कि, भारतने ही अन्य देशोंमें अपनी संस्कृति फैलायी।

पञ्जापका लघुशिला या "टोहमिना" सिन्धुनदीके समतलक बसा हो प्रसिद्ध नगर था। यहाँ भी खोदाई हुई है। इसमें जम्बेदन्त-आद्यमें बसे सदायवा निवा

हैं। पाणिनिने सरशिलाके विरविशालयमें शिक्षा पायी थी। यहाँपर कुशान-वंशीय नृपतियोंके सिक्के "स्तुप-समूहों"में पाये गये हैं, जिनमें महाराज कनिष्कका अधिकांश इतिहास निश्चितप्राय हो गया है। महाभारतमें जिस जम्बेदन्तके यज्ञका वर्णन किया गया है, उसका प्रारम्भ इसी नगरमें हुआ था। आशय यह है कि, महान् सिन्धुनदीके आश्रमगतक यह नगर पश्चिमी पञ्जाब प्रान्तकी राजधानी था। यूनानी लेखकों और चाजकलके जम्बेदन्तोंने सिद्ध कर दिया है कि, यह नगर वैदिक संस्कृतिका एक प्रधान केन्द्र था।

संयुक्त प्रान्तमें अनेक ऐतिहासिक स्थान हैं, जिनकी खोदाईसे ऐसे ऐतिहासिक रत्न प्राप्त हुए हैं, जिनमें भारतीयोंका मस्तक ऊँचा हो सफल है। प्राचीन स्थानोंमें सारनाथ, मथुरा, कसिया, सदेह, मिनारी (गालीपुर) अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे यदि एक-एकपर सविस्तर लेख लिखा जाय, तो "गंगा"के किनारेोंके लिये पर्याप्त होगा। अतः स्थानाभावे सेवल दिग्दर्शन भर कराना होगा।

संसार-प्रसिद्ध सारनाथ काशीसे चार मील, यरणा नदीके उस पार, है। इसका शुद्ध नाम "शारङ्गनाथ" है। इसे बौद्धमार्गधर्म में अश्विनाथ या इसिनाथ और मृगनाथ भी कहते हैं। बौद्ध धर्मके चार महातीर्थ हैं, जिनका सम्बन्ध भगवान् मुद्रमे है। अश्विनाथमें भगवान् मुद्रका चक्रवर्त हुआ था, यथामें भगवान्ने क्षामग्योतिष्का दर्शन किया था, सारनाथमें धर्मचक्रप्रवर्तन किया था और कुशीनगरमें पतिनिर्वाण प्राप्त किया था। प्रत्येक बौद्ध सारनाथको "अश्विनाथ" या इमिनाथ कहता है; क्योंकि गौतम मुद्रके चक्रवर्त प्रदण्य कर हैं नेपर एक बाधिमरने यहाँपर निर्वाण प्राप्त किया था। बौद्ध पुराणकारों इसे "मृगनाथ" भी कहते हैं; क्योंकि किसी एक जन्ममें गौतम मुद्र की रजके बच्चे भाई देवदत्त को मृगमूष के भातक थे।

गौतम बुद्ध के महाप्रस्थान के अनन्तर बौद्ध भिक्षुक पर्याशालाएँ बनाकर यहाँ रहते थे। उस समय बुद्धकी मूर्तियाँ नहीं बनती थीं। अशोक के समय सारनाथका सिलारा घमका ! मठ और विहार बनाये गये। पहले हूणों ने छठी शताब्दी में और मुसलमान महम्मद ने ११ वीं शताब्दी में इस ऐतिहासिक स्थानों को धष्ट-धष्ट किया। परन्तु १२ वीं शताब्दी के अन्त में गौरी और उसके दास कुतुबुद्दीन ऐबक ने यहाँ के शयशिव स्थानों को पुनर्निर्माण कर जला दिया। आज सात सौ वर्षों तक सारनाथ में सारनाथ महादेवकी स्मृति और बौद्ध महातोर्थ के अविरत यहाँ कोई विशेष ऐतिहासिक पदार्थ न बचे थे। १८१५ में कर्नल लो० मैकडोने कुछ खोदाईका कार्य कराया और प्राप्त पदार्थों को पश्चिमाटिक सोसायटी, बंगाल, को भेंट किया।

जनरल सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने १८३४-३६ में अपने पासके पैसे से यहाँ की खोदाई की और "धमेख स्तूप" तथा "बौद्धचर्च स्तूप" को बाहर निकाला। १८५१—५८ में मारखम किटोने भी खोदा-सा कार्य किया। इसके पश्चात् खोदा-पुस्त कार्य कई लोगों ने किया। १९०५ से आज तक पुरातन विभाग के अन्तर्गत सारनाथ-अन्वेषणका कार्य जारी है। विगत वर्ष अनागरिक धर्मपाल ने संसार भरके बौद्धोंकी सभा कर "मूलगन्ध-कुटी विहार" का प्रवेशोत्सव किया। कहा जाता है कि, कनिष्क के पश्चात् बौद्धोंकी दूसरी सभा इस जोड़की नहीं हुई थी।

आजकल सारनाथका "अजायबघर" विशेष दर्शनीय है। सर जान मार्शल ने सन् १८२५-२६ में "चलवाति धाय-संस्थान" का उपदेश एक प्रस्तरपर खुदा हुआ, प्रधान मन्दिर के पश्चिमकी ओर, पाया।

"बौद्धचर्च स्तूप" (जिसके पास भगवान् बुद्धने पाँच शिष्योंको प्रथम उपदेश दिया था), "प्रधान मन्दिर"

(जो अशोक के विहारोंके बीचमें है), अशोकका शिलालेख (जो बौद्ध धर्ममें सम्प्रदाय निकालनेवालेके विरुद्ध है), "धमेख" अथवा "धर्मेश्वरूप", गहरवार-नरेश गोविन्दचन्द्रका शिलालेख और उनकी रानी कृपादेवीका बौद्ध विहार, कनिष्कका शिलालेख आदि आदि महत्त्वके पदार्थ सारनाथमें हैं।

भारतकी हिन्दू-सम्प्रदायका यह केन्द्र है। सारनाथ महादेवका मन्दिर, जैनियोंके ११ वें तीर्थंकर श्रीश्वरका मन्दिर और जिस पर्याशालामें भगवान् बुद्ध रहते थे (जिसे आजकल प्रधान मन्दिर (main shrine) कहते हैं)—ये सब यहाँ हैं। अतः सारनाथ विशेष द्रष्टव्य है। इसे इतिहासके अन्वेषणमें बड़ी सहायता मिली है। जिन्हें संसारम्पारी बौद्ध-सम्प्रदायका आनन्द जेना हो, उन्हें यहाँ आकर सारनाथकी रजसे अपने शरीरको पवित्र करना चाहिये। आज भी वर्षके चारहों महीनों और प्रत्येक दिवस बौद्धभक्तों तथा ऐतिहासिक छात्रोंकी मण्डलियाँ सारनाथके पवित्र स्थानको सुशोभित करती दिखायी देती हैं एवम् प्रत्येक धर्मवालोंके मुँहसे एक बार भगवान् बुद्धके लिये "धन्य-धन्य" शब्द निकल पड़ते हैं। 'गमो शुद्धाय बुद्धाय' का जप करनेवाले लड़का और व्रत देशोंके भिक्षु, जो यहाँ रहते हैं, हमारे पूर्वजोंकी महत्ताके मूर्तिमान् स्वरूप हैं।

आजकल जिन्हे कसिया कहते हैं, यही सम्भवतः कुशीनगर था। वहाँपर भगवान् बुद्धने निर्वाण लिया था। वहाँ निर्वाण-रूप भी है, जहाँ बौद्ध लोग दर्शनायें जाते हैं। यह स्थान भी दर्शनीय है। धावली, जिसे आजकल सदेठ कहते हैं; परन्तु जो अभी तक विवादास्पद है, प्रसिद्ध स्थान है। गाजीपुरके भितरी ग्रामके शिलालेखसे गुप्त-कालीन भारतवर्षीय इतिहासमें बड़ी सहायता मिली है। सयुक्त प्रान्तमें आगरा, कलकत्ता-सिकरी, चुनार, अजीमगढ़, मेरठ, सिकन्दरा, कालपी, इरावा आदिमें प्राप्त मध्य

कालीन भारतकी चीजोंसे भी अन्वेषण-कार्यमें सहायता मिली है। इनका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता।

विहार प्रान्तमें ऐतिहासिक अन्वेषणके कार्यमें पाटलि-पुत्र, नालन्दा, राजगृह, पालामऊ, मुँगेर, रोहितासगढ़, कटक, भुवनेश्वर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पाटलि-पुत्रकी खोदाईसे सौर्य सम्प्रदाय और पारसी सम्प्रदायका सम्बन्ध मालूम हुआ है। इन खोजोंसे वाण्यक्यके शर्य-शास्त्र तथा यूनानी लेखक मेगास्थनीजके लेखोंका समर्थन हुआ है। मि० स्पेन्सने यहाँपर खोदाईका कार्य सम्हाला। आपके नये सिद्धान्तका हवाला दिया जा चुका है। विहार-प्रान्तीय अन्वेषणका कार्य अभी चल रहा है। कलिंगके "स्वारवेदन"के शिलालेखोंसे विहार और कलिंगका सम्बन्ध स्थापित हुआ है। अब भी अनेक रहस्य विप्रे हैं, जो पीछे उद्घाटित किये जायगे। सारे विहारमें बौद्ध धर्मका पूरा प्रचार था। इतने बौद्ध "मठ" और इतने "विहार" बने थे कि, सारे प्रान्तका नाम ही "विहार" पड़ गया। यहाँ "पालयशो" नरेशोंने "बौद्धधर्म"का पुनरुद्धार किया था, किन्तु तान्त्रिक "बौद्धधर्म"ने समाजको नष्ट भ्रष्ट कर दिया था, अतः वह भी भारतसे भगाया गया।

६ वीं शताब्दीमें "नालन्दा"का प्रसिद्ध स्थान विहार ही था, समस्त भारतवर्षका भूषण था। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांगने सातवीं शताब्दीमें इसका विस्तृत वर्णन किया था। यहाँ प्रसिद्ध बौद्ध विरवविद्यालय था। पृथिव्याके भिन्न-भिन्न देशोंके छात्र यहाँ अनेक शास्त्रोंका अध्ययन करने आते थे। नालन्दामें अबतक जिन विहारोंमें खोदाईका कार्य हो चुका है, उनमें दस भवन स्थित हैं। नगरदरवां मठ भी दिखाई पड़ता है, जो यहणोंव आमकी ओर है। अनुमान है कि, यह ग्राम भी नालन्दा विरवविद्यालयके अश्वमेधके अन्तर्गत था। नालन्दाके उद्घाटनसे बहुत-सी बातोंका पता लगा है, किन्तु अभी बहुत कार्य अवशिष्ट है।

राजगिरि बौद्ध-इतिहासमें इसलिये प्रसिद्ध है कि गौतमबुद्ध आकर यहाँ ठहरते थे। आजकल जिसे जरा सन्धकी बैठक कहते हैं, वह वही गुफा थी, जिसमें गौतम बुद्ध विश्राम लिया करते थे। पुरातत्त्व विभाग इसकी रक्षा करता है।

पलामू या पालामऊमें "चेरोगढ़" प्राचीन निवासियोंकी ऐतिहासिक स्मृति है। घने जंगलमें यह गढ़ सुरक्षित रखा गया है।

मुँगेरका किङ्ग मीरकासिमकी कृति है। उसकी भी सुरक्षाका भार पुरातत्त्व विभागके हाथमें है। आजकलके आङ्ग्ल-इतिहासमें मुँगेर एक विशिष्ट स्थान रखता है।

शाहजगढ़ने जिन्हेमें रोहितासगढ़ प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। मध्यकालीन भारतमें इसका नाम अफगान-सम्राट् शेरशाह सूरीसे सम्बद्ध है। कहा जाता है कि, उसकी विजय-लक्ष्मीकी कुँजी यही गढ़ है। शेरशाहने वहाँ पड़तासे चूडामणि मात्स्यको मिलाकर यह कार्य किया था। "मानसिंह प्रताप", "श्रीशमशूल" आदि दर्शनीय भवन हैं।

कटकका "परवती गढ़" ऐतिहासिक दृष्टिसे अत्यन्त दर्शनीय है।

भुवनेश्वरका मन्दिर कङ्गा और साहित्यकी दृष्टिसे समस्त भारतमें निराला है। इस मन्दिरका निर्माण इतनी अच्छी शैलीसे हुआ है कि, इसके अध्ययन द्वारा वगीय कङ्गा और स्यामल-शास्त्रका मार्मिक रहस्य मालूम हो सकता है। अधिक न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त है कि, इस स्थानपर हिन्दू-धर्म और तान्त्रिक बौद्ध-धर्मका संयोग मालूम पड़ता है। चार मूर्तियाँ (बोधिसत्ववर्णपरिण, वामुपदा देवी, इन्द्राणी और वाराहोकी) अच्छी दर्शनीय हैं।

बौं हो भगवान् प्रान्तमें कई स्थानोंमें अन्वेषणका कार्य हुआ है (जैसे रामनाथ, कदिराष्ट्र, डाका आदि आदि)।

किन्तु “पहाड़पुर” विशेष प्रसिद्ध है। पहाड़पुरमें एक ऐसा अथवा मन्दिर मिला है, जो समस्त भारतमें अपना जोड़ नहीं रखता। इस मन्दिरमें हिन्दू-बौद्ध-संस्कृतिका अथवा समिश्रण किया गया है। “भूमिस्वरो-सुदा” और “व्याख्यान-सुदा” की अवस्थामें भगवान् बुद्धकी मूर्तियाँ हैं। गोवर्द्धनधारी चतुर्बाहु कृष्ण और चलरामकी मूर्तियाँ, यम और यमुनाकी मूर्तियाँ, बालि, सुग्रीव, तारा, योधि-सत्त्वपद्मराशि आदिकी मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। पहाड़पुरके शिलालेखोंने ऐतिहासिक घटनाओंपर बड़ा प्रकाश डाला है। फला और इतिहास, दोनों दृष्टियोंसे पहाड़पुर प्रसिद्ध है। अभी यहाँ बहुत-सी ऐतिहासिक बातोंका अनुसन्धान होना बाकी है।

यों तो मद्रासमें भी अनेक ऐतिहासिक स्थान पाये गये हैं, किन्तु उनकी प्रसिद्धि प्रायः मध्यकालीन भारतमें हुई। ये स्थान हैं—पसुलीपट्टम्, पुत्तलीकट्ट, कोचीन, पोर्टोनेके, तूलीकोरन प्रभृति। किन्तु विशेष प्रसिद्ध हैं—महाबली-पुरम्, पुष्पगिरि, चल्लुरु, गुम्फिदुरु और नागार्जुनीकोयड, विष्णुले तीन स्थानोंमें अन्वेषणका कार्य पूर्वाप्त हुआ है। अचलुरु और गुम्फिदुरु कृष्णा जिलेके ग्राम हैं, जहाँ कुछ बौद्ध स्तूप हैं। नागार्जुनीकोयड भी स्तूप हैं। देशी राज्योंमें भीगोलके अन्तर्गत सौचीका स्तूप बहुत प्रसिद्ध है। छत्रपुरमें खजुराहोका मन्दिर और धार राज्यमें “मण्डू” आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान हैं। इन सब स्थानोंसे अनेक ऐतिहासिक तथ्योंका निष्पन्न हुआ है।

मद्रास प्रदेशमें पैगन, होम्रा, कजगुड, प्रोम आदि नगरोंमें खोदाई और अन्वेषणका कार्य हुआ है, जिससे बौद्ध इतिहासकी बहुत-सी विवादास्पद समस्याओंपर पूर्वाप्त प्रकाश पड़ा है।

यह तो हुआ आधुनिक सचित्र विवरण। भारतके ऐतिहासिक अन्वेषणके कार्योंका एक अंश मात्र हो पाया है। अभी तो असीम क्षेत्र अवशिष्ट है। इस विषयमें सर जान

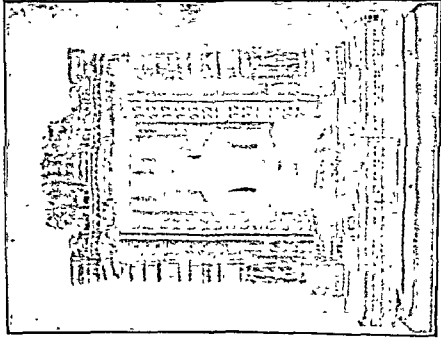
मार्शल, जो पुरातत्त्व-विभागके डायरेक्टर जनरल थे, की सम्मति सुनिये—

“Every couple of acres (in Balochistan) that are cleared up to their full depth involve in the difficult conditions as to labour and climate in Balochistan, a whole seasons' work; thus, if a site is no more than two hundred acres in extent, it is likely to take a century to explore. What is true of Balochistan is equally true of the rest of the Indian empire.”

मतजब कि, यदि दो एकड़की पूरी खोदाई हो, तो मजदूरी और जजवायुका विचार कर पूरे एक वर्षका समय लगेगा। इस प्रकार दो सौ एकड़की खोदाईमें २०० वर्ष लग जायेंगे। और, जो बात ब्रिजोचिन्तानपर लागू है, वही भारतीय साम्राज्यके अवशिष्ट भागोंपर।

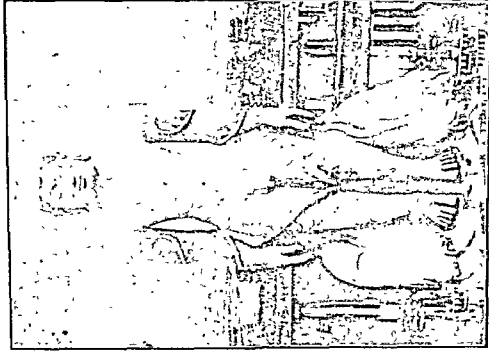
भारतवर्षमें ऐतिहासिक अन्वेषणके कार्यका क्षेत्र वस्तुतः असीम है। इतारो वर्षोंके परचाव भी बहुत कार्य बच रहेगा। ग्राम-ग्राममें अनेक ऐतिहासिक मसाल पड़े हैं। अनेक पुराने स्तंभ भी भरे पड़े हैं। भला हो पारशास्त्र विद्वानोंका, जिनकी सहायतासे इतिहास शास्त्रके विधानमें सार-पूर्ण कार्य हुआ है। यह सत्य है कि, परिवर्तनीय विद्वानोंमें प्रथमतः पद-पदपर शक्तियों का, कि तु प्रधानतः उन्हींके प्रोत्साहनसे अनेक देशी विद्वान् इस क्षेत्रमें आ उतरे। इन्हींके परिश्रमसे भारतीय इतिहासमें इसका स्वर आया। जो लोग पहले नारत्योंके प्राचीन पुराणोंको “अतम्य शैशवावस्था”में मानते थे, वे भी ऐतिहासिक तथ्यके आगे नव-मरतक हैं। भगवान् विश्वनाथसे प्राप्ता है कि, हम भारतीय अपने इतिहास-शास्त्रका

“गंगा”



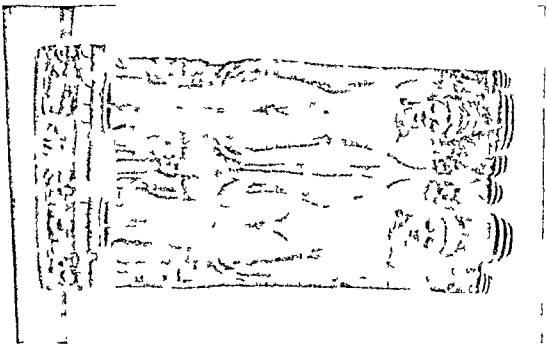
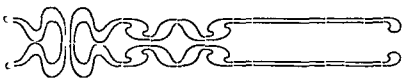
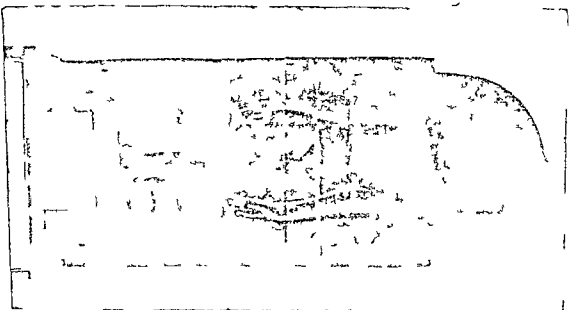
श्रीचन्द्रमनो (८ म तीर्थङ्कर)

(विस्तारित गङ्गा अर्वाट्टं पृथिव्या, एतन्मयी प्राप्ताते । जयपुरी कारीणी ।)



श्रीचन्द्रमनो गोमट स्वामी, श्रवण धेलगोला ।





श्रीपादनाथजी

(विन्होस्त्रिा ऐव प्रलवर्दं म्युजिस्त्र, खन्वल्की प्राग्रास)

श्रीमृणम मन्ना नार धामरपाद र्थना

(विदिष्टा म्युजिस्त्र दन्वल्की मद्रव)

सच्चा विधान कर सकें, जिससे हम अपना ऐतिहासिक ऐहिक और पारलौकिक सुख मिलता है। सचमुच २ ही स्थान फिर भी प्राप्त कर सकें। इतिहासके सच्चे ज्ञानमे मानव-जीवनका अन्तिम स्वेय है ।

ॐ इस निबन्धको तैयार करनेमें सर जान मारशल, दयाराम साहनी, एन० के० दीक्षित, वण्ड, माधोस्वरूप वर्मा तथा पूज्यवरण ब्रह्मन्तीन आचार्य राखालदास बन्धोपाध्यायके लेखों एवम् अनेक विद्वानोंके ग्रन्थोंसे सहायता मिली है। अतः लेखक सबका कृतज्ञ है ।



भूगर्भशास्त्र और पुरातत्त्व-विज्ञान

प्रोफेसर श्याकुमार माथुर बी० एस-सी० (लंडन), ए० आर० एम० एम०

(भूगर्भशास्त्र और पुरातत्त्वविज्ञान—मौगर्भिक-काल-विभाग—मौगर्भिककालका वर्षोंमें अनुमान—मनुष्यका पशु-संसारमें स्थान—तृतीय और चतुर्थ कल्पोंमें वानरजातिके चिह्न—पंजाबकी नमककी पहाड़ी और हिमालयमें बन्दराक अस्थिशोष—तृतीय कल्पमें हिम लयका जन्म—चतुर्थ कल्पके शिलासमूहमें मनुष्यके चिह्न—भारतीय शिलासमूहमें मनुष्यके चिह्न—अग्निनाशचन्द्रदास और वैदिक काल ।)

इस पृथ्वीका और पृथ्वीपर रहनेवाले पशु तथा वृक्ष आदिका इतिहास भूगर्भशास्त्रका विषय है। पृथ्वीको बने हुए मायः दो-दोई अरब वर्ष हुए। अनेक युगोंमें ओमिथी-की वहाँ पानीमें डूबी हैं, उनमें उता समयके मरे हुए जंतु और वृक्ष भी ढकसरा दब गये हैं। पीछे यह तहें, बाबके कारण, बहोर होकर शिला बन जाती हैं। भूगर्भ होनेपर पानीसे ऊपर निकल आती हैं। उनकी धाँच करनेसे उनके

रचना-कारके इतिहासका पता लगता है। पुरातत्त्वविज्ञान-का विषय मनुष्य है। भूगर्भ-शास्त्रका जितना मनुष्यके विकास और इतिहाससे सम्बन्ध है, उतना ही सम्बन्ध दूसरे जन्तुओं और वृक्षोंके विकाससे है। पुरातत्त्व वैज्ञानिकके लिये मनुष्यप्रधान विषय है; दूसरी वैज्ञानिक परमाणु केवल सहायकस्थ है।

सारिणी न० १

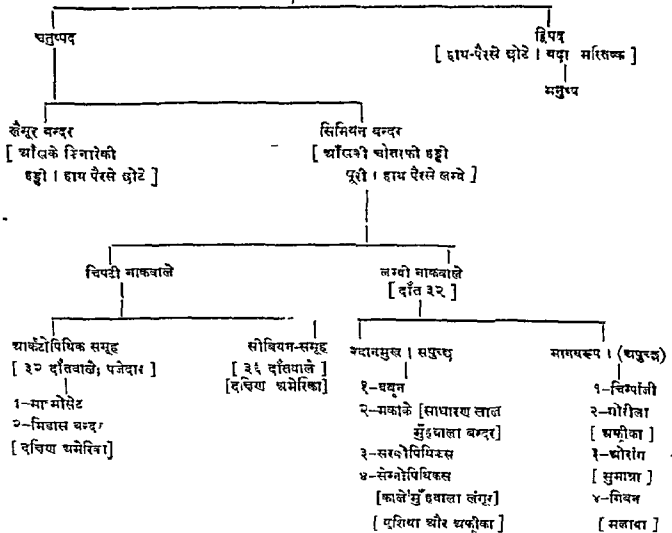
भौगर्भिक कल्प और युग	वर्षोंमें अनुमान किया हुआ समय	जीवन-विकास						प्रधान जीवन
चतुर्थ कल्प(२य युग)	१,२४,०००							मनुष्यजाति
तृतीय कल्प ४य युग)	४,००,००,०००						मनुष्य	जरायुज जन्तु
द्वितीय कल्प(३य युग)	२०,००,००,०००					पक्षी	जरायुज	सर्पिले जन्तु
प्रथम कल्प(६य युग)	२०,००,००,०००					सर्पिले जन्तु		मछली
						मैंदवकी जाति		
						मछली		
आकृष्य कल्प	१,६०,००, ०,००० —२००,००,००,०००							जिना रीढ़के छागपर

भौगर्भिक विचार-दृष्टिको समझनेके लिये भौगर्भिक-काल विभागको जाननेकी आवश्यकता है। यह उक्तवारिणी न० १ में दिखलाया गया है। इस काल विभागका आधार प्रत्येक युगके जीवनपर है। आकृष्य कल्पके वर्णनोंमें जीवनका चिह्न नहीं मिलता। प्रथम कल्पके आदिमें ही दिना रीढ़की हड्डीके जन्तु पाये जाते हैं। ये बहुत-सी जातियोंके हैं। इस कल्पके उत्तरार्द्धमें, रीढ़वाले जानवरोंमें मनुष्यकी अधिक संख्यामें पायी जाती है। द्वितीय कल्पमें

सर्पिले धर्म और मगरजातिके जन्तुओंका विकास हुआ। यह बड़े बड़े आकारवाले हुए और जान, धन तथा आकार में विचरते थे। पक्षी और जरायुज जीवोंका विकास तृतीय कल्पमें हुआ। मनुष्य जरायुज है; उसका तृतीय कल्पत पहले पाया जाना सम्भव है। तृतीय कल्पमें भी मनुष्यकी हड्डीकी शिकारोंमें नहीं मिलती। भौगर्भिक शिकार-मग्नमें मनुष्यके निष्ठ क्षेत्र चतुर्थ कल्पमें पाये जाते हैं।

सारिणी न० २

प्राइमेट (Primates)



सारिणी न० १ में सौर वर्षोंका अनुमान केवल पाठकोंके सम्मोषके लिये दिया गया है। यह विषय बहुत कठिन है। भूगर्भ वैज्ञानिक प्रायः सौर वर्षोंमें भौगर्भिक कालका विचार नहीं करते। यह केवल स्लायमूड और उसके अन्तर्गत जीवरोपका यथाक्रम संयोजन करनेपर ही सम्पन्न रहते हैं। सौर वर्षोंमें कालका अनुमान विवाद-मय विषय है। उसको समझनेके लिये पाठकोंको मौलिक पुस्तकोंका अवलोकन करना चाहिये। सारिणीमें यह थक

दिये गये हैं, जो इस समय बहुमान्य हैं। यह आश्चर्यकी बात है कि, पृथ्वीकी रचनाका अनुमान किया हुआ काल वैदिक सृष्टि सबसे बहुत कुछ मिलता है।

उक्त सारिणीको देखनेसे मालूम होगा कि, मनुष्य भौगर्भिक कालमें एक अत्यन्त नवीन सृष्टि है। मनुष्य अपने आपकी जितना ही श्रेष्ठ माने, किन्तु वास्तविक रूपमें वह ईश्वरकी वाग्भजातिका एक फल है। उसकी उत्पत्ति समझनेके लिये वाग्भजातिका विभाग समझना

आवरणक है। यह विभाग सारिणी न० २ में दिखलाया गया है। उसके अन्वयनसे भिन्न-भिन्न प्रकारके बन्दरोंका हाल मालूम होगा। प्रत्येक भागमेंसे, उदाहरणके लिये, एक-एक बन्दरका रूप भी चित्रमें दिखा दिया गया है। सारिणीमें बन्दरोंका निवास-स्थान भी बताया गया है। अब हम यह समझनेका प्रयत्न करेंगे कि, किन-किन युगोंके शिला-समूहमें इन बन्दरोंकी हड्डियाँ पायी जाती हैं। यह जान लेना आवश्यक है कि, विकास-सिद्धान्तके अनुसार

सारे बन्दर और मनुष्य एक ही पूर्वजकी संतान हैं। यह सिद्धास्त अन्ध धर्मों के माननेवालोंको कितना ही अग्रप हो; किन्तु हिन्दूधर्मके विपरीत नहीं माना जा सकता। कुछ पण्डितोंका विचार है कि, मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वाराहावतार और वृत्सिहावतार जीवनके विकासके ही द्योतक हैं। परशुराम, वामन, राम आदि मनुष्योंमें मानसिक शक्ति और देवी कलाकी वृद्धिके विवेचक हैं।

सारिणी न० ३

भौगोलिक काल		प्रत्येक युगमें बने हुए हिन्दुस्तानके मुख्य शिलासमूह।	पुरातत्त्व-काल-विभाग	मानवीय मृतजाति
कल्प	युग			
चतुर्थ कल्प	हानोसोन [आधुनिक काल]	गङ्गा आदि नदियोंकी नवीन मृत्तिका, जो आजकल जमा हो रही है (खादर)।	लौहकाल काँसाकाल ताम्रकाल नवपाषाणकाल	आधुनिक मनुष्य
	सायस्टोसोन [हिमनदी-काल]	गङ्गाके मैदानका प्राचीन नदीप्रवाहित मृत्तिका-समूह (भाँगर)। करनूलकी गुफाकी मिट्टी (मद्रास-प्रान्तमें)। (नर्मदाके तटका नदी-प्रवाहित मृत्तिका-समूह। हिमालयमें नदियोंके ऊँचे तट। दक्षिण देशके उच्च तटके लाटराइट। शिवाल शिला-समूहके सबसे ऊपरके स्तर।	पुरापाषाण-काल	आधुनिक मनुष्य नियंढर्थल-मनुष्य पिल्टडाउन-मनुष्य हाइडेलबर्ग-मनुष्य
तृतीय कल्प	प्लायोसोन	हिमालय और पंजाबकी नमकीली पहाड़ीके कुछ शिला-समूह। सिंध और मध्य ब्रह्मा। (इयोसोन युगके शिलासमूह प्रायः समुद्रज हैं। अन्य युगोंके पत्थर सिन्ध और ब्रह्माकी छोड़कर नदीमें बने हैं)।	?	जावाका नर-यानर यानर नाति और अन्य जरायुज वा विकास
	मायोसोन			
	प्राक्लिगोसोन			
	इयोसोन			

चन्द्र और मनुष्यमें, उत्पत्ति-विषयमें, घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण यह आवश्यक है कि हम भौगोलिक कालमें वायु-समूहके विकासपर विचार करें। ऊपर कहा जा चुका है कि, तृतीय और चतुर्थ कल्पमें प्राचीन शिला-समूहमें इनका कोई चिह्न नहीं मिलता। इन कल्पोंके विभाग मारिणी नं० ३ में दिखायाये गये हैं। अमेरिकामें ह्योसीन युगके शिला-समूहमें इस प्रकारके छोटे चन्द्र मिलते हैं, जिनमें मनुष्यों और चन्द्रोंके शारीरिक गुणोंका मेल है। लैमूरके अस्थि-शेप भी पाये जाते हैं। मिश्र देशमें फ्यूम प्रान्तके आलीमोमीनयुरी शिला-समूहमें लैमूर और सीमियन चन्द्र पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त एक प्राचीन जम्बी नाकवाला चन्द्र भी मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि, तृतीय कल्पके इस प्राचीन युगमें भी चन्द्रोंकी भिन्न-भिन्न जातियोंमें विभाजन शुरू हो गया था। मायोसीन युगके शिला-समूहमें यूरोप और एशियाके कई देशोंमें ऐसे चन्द्रोंके ढाँचे पाये जाते हैं, जिनका आन्तरिक लकी चन्द्रकी जातियोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यूनाइटेड देशोंमें एक मैसोपिथिकस नामका पूरा ढाँचा मिलता है, जिसमें साधारण लाल मुँहवाले चन्द्र और काले मुँहके लंगूरके शारीरिक गुणोंका मिश्रण है। इससे यह मालूम होता है कि, यह जन्तु इन दो वानरोंका पूर्वज है अथवा पूर्वजका निकट सम्बन्धी है। इसी प्रकार मायोसीन शिला-समूहमें ओरिथोपिथिकस नामका जन्तु विशेष मिलता है, जो रवानमुखी चन्द्र और मानवरूप चन्द्रका पूर्वज रूप जान पड़ता है। ह्योपिथिकसमें चिम्पांजी, गोरिला और कुछ मनुष्यके गुण सम्मिलित हैं।

पंजाबकी नमककी पहाड़ीके प्रान्तमें मायोसीन युगके शिला-समूहमें चन्द्रों और अन्य जानवरोंके अस्थि-शेप बहुतायतसे मिलते हैं। रवानमुख चन्द्रोंमें दो प्रकारके लंगूर, २ बबून, १ लाल मुँहवाला साधारण चन्द्र और एक सरकोपिथिकस चन्द्र मिलते हैं। मानवरूप जानवरोंमें ह्योपिथिकस, पालियोसिमिया (ओरंग समन्धी) और शिवपिथिकस मिलते हैं। इन चन्द्रोंमें, जो एकसे अधिक आधुनिक जातिके पूर्वज-रूप हैं, अत्यन्त शिक्षाप्रद है। शिवपिथिकसके केवल दाँत और जाँघें मिले हैं और यह मनुष्यके दाँतों और जाँघोंसे बहुत मिलते हैं। डाक्टर पिलग्रिमकी यह सम्मति है कि, शिवपिथिकस मनुष्यजाति का पूर्वज है; किन्तु अन्य वैज्ञानिक इससे सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि, खोन्डी और हाथ-पैरकी हड्डी मिले बिना इस बातका निश्चय नहीं हो सकता। शिवपिथिकससे कमसे कम यह तो पता लगता है कि, तृतीय कल्पके मायोसीन युगमें, शारीरिक आकृतियोंमें, मनुष्यसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहनेवाले जीव विद्यमान थे।

प्लायोसीन युगके बहुतसे चन्द्र आजकलके जीवित चन्द्रोंसे मिलते हैं। प्लायोसीन युगके आरम्भमें प्रायः आजकलका वानर संसार ही रीज पड़ता है।

तृतीय कल्पमें मनुष्यका कोई ऐसा चिह्न नहीं मिलता, जो सन्देह-रहित हो। मध्यदेशके प्लायोसीन युगके शिला-समूहमें, और अन्य देशोंमें भी, कुछ अस्थि-शेप मिलते हैं, जिनको बहुतसे विद्वान् मनुष्य-जन्तु मानते हैं; किन्तु हममें मतभेद है। इतना सब विद्वान् मानते हैं कि, आदि मनुष्यका विकास तृतीय कल्पमें ही हुआ होगा। ✕

✕ इस स्थानपर जाँघके विचित्र “नर-कार” पिथिकसग्रो-सका उल्लेख उल्लेख होगा। इस जीवकी अस्थि प्लायोसीनके अन्त अथवा प्लायोसीनके आदि युगकी शिलामें मिली है। मस्तिष्कके नाभ और मूत्रे होकर चलनेमें यह चन्द्रों की अपेक्षा मनुष्य ही माना जाता, किन्तु उसके दाँत

और अन्य भाग चन्द्रोंसे मिलते हैं। इसके सन्देह नहीं कि, इस जीवका नर और मादाके बीच स्थान है; किन्तु यह मानना आवश्यक नहीं कि, यह मनुष्यका पूर्वज है। सम्भव है कि, विद्यमान-कालमें यह जीव मनुष्यके समीप ही रहता हुआ हो।

हिमालयकी नीची पहाड़ियोंमें अस्थिरपेका इतना बाहुल्य है कि, हिमालयकी प्राचीन सराई वानर-जातिके निवास और विकासका एक मुख्य केन्द्र मालूम होता है। तृतीय कल्पसे पहले हिमालयके स्थानमें एक बड़ा समुद्र था और दक्षिण हिन्दुस्थान एक प्राचीन महाद्वीपका भाग था। इयोसीन युगके अन्तमें हिमालय-प्रान्तकी भूमि समुद्रसे ऊपर निकल आया। मायोसीन युगमें, नव हिमालयकी सराईमें, अनेक प्रकारके पशु-पक्षी विचरते थे। इस युगमें हिमालय फिर ऊपर उठा। हिमालयका अन्तिम उत्थान प्रायस्टोसीन युगके अन्तमें हुआ। इस प्रकार हिमालय-पर्वतकी सृष्टि तीन युगोंमें, तीन उत्थानमें, हुई। सम्भव है कि, हिमालयकी आकाशकी ओर गतिका अन्त अभी नहीं हुआ है। समय-समयपर जो उत्तर-भारतमें भूकम्प आते हैं, उनका केन्द्र हिमालयकी जड़ोंमें है। भूकम्पोंसे यह मालूम होता है कि, पृथ्वीके इस प्रान्तमें अभी शान्ति स्थापित नहीं हुई है; और, अत्यन्त कुछ आन्तरिक शक्तियाँ काम कर रही हैं।

प्रायस्टोसीन युग आरम्भ शीतमय काल था। यूरोप और अमेरिकाके उत्तरी देशोंमें हिम-नदियोंका राज्य था। हिन्दुस्थानमें, हिमालयकी नीची पहाड़ियोंमें भी, हिम-नदी पड़ती थी; किन्तु उत्तर-भारतके मैदानमें और दक्षिणमें केवल शीतकी अधिकता थी। चतुर्थ कल्पके दो युग और तरकावीन भारतीय शिला समूह सारिणी नं० ३ में दिखाये गये हैं। एक कालमें पुरातत्त्व-वैज्ञानिक-काल-विभाग भी दिखाया गया है।

यूरोपीय हिमनदीकालरचित शिलाओंमें मनुष्यजातिके अनेक चिह्न प्राप्त हुए हैं।

प्रायस्टोसीन युगके आदि की शिलामें, जर्मनीमें, हाइ-डेनगो-सगीर रॉ मायर नामके स्थानमें एक नीचेका जायका, रेतकी रानमें, मिला है। इसका नाम होमो-हाइडेलबर्गेंसिस अथवा "हाइडेनगर्गेंस मनुष्य" रखा गया

है। दाँत मनुष्यसे मिलते हैं; किन्तु जायका मानवरूप बगदका है।

इंग्लैंडमें, ससेक्स प्रान्तके पिष्टडाउन स्थानमें, सड़के रोहेकी खानमें, खोपड़ी, जायका और दाढ़ मिले हैं। इनका नाम "पिष्टडाउनका मनुष्य" रखा गया है। कुछ विद्वानोंका मत है कि, खोपड़ी किसी प्राचीन मृत मनुष्यजातिरी है; जायका, सम्भव है, किसी वन्दरका हो। इस मनुष्यके और हाथोंका मिलना अत्यावश्यक है।

मनुष्यकी एक मृत जातिका नाम "नियेंडर्थल मनुष्य" है। उस मनुष्यकी सम्पूर्ण अस्थियाँ यूरोपके अनेक देशोंकी गुफाओंमें मिली हैं। उसके आकारका वैज्ञानिकोंको पूर्ण ज्ञान है। वह छोटे ब्रह्मका पुष्ट मनुष्य था। उसका दाँवा मानवरूप बन्दरोंसे बहुत मिलता है। ठोँगे छोटी थीं और मनुष्यकी तरह ठीक सीधा खड़ा होकर नहीं चल सकता था; किन्तु उसके दाँत मनुष्यके थे और मस्तिष्क भी बन्दरोंसे बड़ा था। वह केवल जपारके मुस्टेरियन दाढ़के औज़ार, लकड़ी और हड्डी व्यवहारमें लाता था। मस्तिष्कके उच्च गुणोंका कुछ भी चिह्न नहीं मिलता।

प्रायस्टोसीन युगके अन्तमें आधुनिक मनुष्यकी बहुत खोपड़ियाँ और अस्थियाँ मिलती हैं तथा उनके पक्षियोंके औज़ार मिलते हैं। उनका सविस्तर विवरण इस जेडकी सीमासे बाहर है।

सारिणी नं० ३ में चतुर्थ कल्पके भारतीय शिला-समूह दिखाये गये हैं। यह लिखा जा चुका है कि, प्रायस्टोसीनके आरम्भमें हिमालयका अन्तिम उत्थान समाप्त हो चुका था और हिन्दुस्थानका प्रायः बड़ी आकार था, जो इस समय है। इस युगमें उत्तर-भारतका मैदान धीरे-धीरे नदी-प्रवाहित रेत और मिट्टीसे भरता रहा। इसमें प्रायस्टोसीन युगके ज्ञानवाँकी टङ्कियाँ बहुत नयी मिली हैं; किन्तु आजमें एक बहुत बड़े मृतजातिके हाथीका दाँत, बनारस जिल्लेमें, गङ्गातट पर एक नीचे के स्थानमें,

मिला है, जो काशी विश्वविद्यालयमें रखा गया है। सम्भव है, और आस्थियाँ भी प्राप्त हों। नर्मदाका मैदान भी ग्रायटोसीन युगका बना हुआ है। उसमें उस समयके जानवरोंकी हड्डियाँ और मनुष्यकृत पत्थरके औज़ार मिले हैं। दक्षिण देशमें, कर्नाट जिलेकी एक गुफामें, बहुतसे ग्रायटोसीन जानवरोंकी हड्डियाँ और मनुष्यकृत पत्थरके औज़ार मिले हैं। दक्षिणमें, ऊँचे स्थलोंमें, एक लाटराइट नामक पाषाणविशेष मिलता है, जो ग्रायटोसीन युगमें बना है। उसमें विशेषकर चूड़ा और कर्नाट जिलोंमें बहुत मनुष्यकृत पत्थरके औज़ार प्राप्त हुए हैं।

हिन्दुस्थानमें आधुनिक मनुष्यको खोजकर किसी प्राचीन मानुषिक स्तम्भातिली इन्ही अवतक नहीं मिली है। हिमालय और पंजाबकी नमककी पहाड़ियोंमें, अस्थियोंके बाहुल्यके कारण, विद्वानोंका यह विचार है कि, आदि मनुष्यका पता। हिन्दुस्थानमें ऊधवा मण्ड पशियामें मिलना चाहिये। ईश्वर का कि, इस देशमें इस विषयपर हिन्दु-स्थानी विद्वानों द्वारा ही भविष्यमें अन्वेषण हो।

दायदर ग्रविनाशाचन्द्र दासने अपनी पुस्तक “आर्य वैदिक इतिहास”में यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि, आर्यवेदके सप्तसिन्धुके समीपमें चार समुद्र थे, और, भूगर्भशास्त्रके अनुसार ये समुद्र तृतीय कल्पके पूर्वाद्-कालमें, पंजाबकी चारों ओर, थे। उस पुस्तकमें यह कई बार लिखा है कि, भूगर्भ-विज्ञानसे यह सिद्ध होता है कि, आर्यवेदका समय तृतीय कल्पके पूर्वार्द्धके लगभग है।

दास महाशयने भौगर्भिक घटनाओंके उल्लेखमें बहुत अत्युक्तिसे काम लिया है और उनकी भौगर्भिक व्याख्या, कई स्थानोंमें, विज्ञानके विरुद्ध है। वैदिक समयका पशु-जीवन प्रायः आधुनिक युगका है और तृतीय कल्पके जीवनसे ठीक भी नहीं मिलता। लेखककी सम्पत्तिमें दास महोदय भूगर्भ विद्याके आधारपर अपने मन्दव्यक्त सिद्ध करनेमें सफल नहीं हुए हैं।

इस लेखके सम्बन्धकी कुछ पुस्तकें ये हैं—

1. *Fossil Men. Elements of Human Palaeontology.* By M. Boule. English translation by J. E. Ritchie and T. Ritchie. 1923.

2. *Geology of India.* By D. N. Wadia.

3. *Prehistoric India.* By Panchanan Mitra. 1923.

4. *Physics of the Earth. Pt IV. The age of the earth.* Bulletin of the National Research Council, U. S. A.

No 80 1931.

5. *New Siwalik Primates* By G. E. Pilgrim. Record Geological Survey of India. XLV, 1915



सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता और मोहजोदारो

डा० नरेन्द्रनाथ लाहा एम० ए०, पी-एच० डी०, पी० आर० एस०

भारत साकार द्वारा मोहजोदारो की सन् १९२२ से २७ तक की खोदाई में पुरातत्त्वकी जो वस्तुएँ मिली हैं, उनमें से कड़्यों के सांकेतिक चिह्न या भाव अन्तर्गत नहीं समझे जा सकते हैं। किसी-किसी मुहर और मूर्तिपर आज भी मत-

भेद चल रहा है। किन्तु अनुभवी पुरातत्त्वज्ञान से सब सांश्लक्ष्ण्य—जिनके अधिनायकत्वमें खोदाई हुई थी—अपनी लगभग सात सौ पत्रों की जो रिपोर्ट, पुस्तक-रूपमें, प्रकाशित कराधी है, उससे ज्ञात होता है कि, भारतवर्ष

और मोहजोदारो की खोदाई की जो पुस्तक अभी हालमें सरकार के द्वारा प्रकाशित हुई है, उसमें कुल ३२ अध्याय हैं। यह पुस्तक जिम सिलविलेसे लिखी गयी है, उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

पुस्तक के प्रथम ६ अध्यायों के लेखक, सम्पूर्ण पुस्तक के सम्पादक, सर जान मार्शल है। इन ६ अध्यायोंमें देश, जल-वायु, नदियाँ, स्थानविशेष और उनकी खोदाई, इमारतें, अन्य पुरातत्त्वकी सामग्री, प्राचीन कला, धर्म, मृतकों की व्यवस्था, सिन्धु-सभ्यता की व्यापकता, सिन्धु-सभ्यता के सम्राट तथा उसका काल और स्वरूप-ज्ञान की बातें हैं।

“क्रिश्च” की खोदाई के प्रमुख कार्यकर्ता मि० बर्नेस्ट मेवेने १३ अध्यायों का मसाला दिया है। इनमें मोहजोदारो के *S.D.* तथा *D.K.* क्षेत्र, वस्तु तथा भवन-निर्माणकला, साधारण एवं चित्रोद्भूत चित्तिको-मूर्तियाँ मिश्र-शिल्प प्रकार के पशुओं की प्राकृतियों के नमूने, प्रतिमाएँ, पत्थर के पात्रादि, गोलों तथा बारी मुहरें, तापत्र घरेलू कामकाज की सामग्री, वैयक्तिक आभूषणादि, खिलौने, हाथी-दाँत, कबकड़े और मिश्रित धातुओं की वस्तुएँ, यांत्रिक महत्त्व की अन्य वस्तुएँ आदिकी विस्तृत चर्चा है।

मि० हार्मीन्जने, जो एक समय भारतमें पुरातत्त्व-विभाग के स्थानाग्न डाइरेक्टर जनरल के पद पर थे, *III.* खेता का वर्णन लिखा है। राज बहादुर दयालाम तादनी (वर्तमान डाइरेक्टर जनरल) ने भी *III.* खेत तथा *B.—PS* खेत के

सम्बन्धमें कुछ लिखा है। मि० सी० जे० गड्ड (ब्रिटिश म्यूजियम के कार्यकर्ता) और मि० सिडनी स्मिथ (मेसोपोटामिया के पुरातत्त्व-विभाग के इन्स्पेक्टर) ने दो भागोंमें प्राद्वि-सिन्धु-लिपि की बाह्य प्राकृति एवं यांत्रिक रीतियों की व्याख्या लिखी है। प्रो० एस० लैंग्डन (प्राक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय के असीरिया-सम्बन्धी पुरातत्त्व के पण्डित) ने भी सिन्धु-लिपि पर ही लिखा है। मि० एम० सना सला (पुरातात्विक रसायनशास्त्र के विद्वान्) तबि और काँसे के बर्तनों तथा अन्य वस्तुओं का रासायनिक विवेचन किया है। मि० ए० एस० हिम्मी (गवर्नमेंट कालेज, लाहौर के भूतपूर्व प्रिंसिपल) ने तौल और माप की विधियों पर प्रकाश डाला है। भारतवर्ष के प्राणिविद्या-सम्बन्धी अन्वेषण (*Zoological Survey*) के डाइरेक्टर बर्नल आर० बी० सीमर सिवेल और डा० बी० एस० गुहा—जुलजिजल सेवें के प्राणिविद्याविशारद—और मानव तथा प्राणिविद्या-सम्बन्धी अवशेषों को निरूपित किया है। सर एड्विन पेस्क (भारतीय भूतत्त्वविषयक विभाग के डाइरेक्टर) ने इस खोदाई में मिले हुए खनिज पदार्थों और धातुओं के गुण प्रकट किये हैं।

अन्य सहायक कार्यकर्ताओं की भी सहायता ली गयी है। इनमें मि० आर० बी० बनर्जी और उनके अनुगामी मि० एम० एल० वेल्गु तथा के० एन० दीक्षित के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मि० एन० जी० सनुमदारने भी खोदाई में मिले तबिके विषयों पर कुछ लिखा है।

भाजसे लगभग ६००० वर्ष पूर्व कैसी उन्नत सभ्यताका केन्द्र था—उस समयके लोग कितने कुशल कलाकार, धर्मनिरपेक्ष और सुख-समृद्धि-शाली थे !

उपयुक्त पुस्तककी भूमिकामें, माशेल साइमने, सिन्धु-उपत्यकाको सभ्यताके सम्बन्धमें, जो बातें लिखी हैं, वे वड़े महत्त्वकी और ध्यान देने योग्य हैं। उनका सारांश इस प्रकार है—

“सिन्धु-नदीके तटवर्ती भू-भागोंमें निवास करनेवालेकि धर्ममें बहुत-कुछ ऐसी बातें हैं, जो अन्योन्य देशोंमें भी मिल सकती हैं; और, ये बातें संसारके प्रायः सभी प्राचीन धर्मोंमें लागू होती हैं। किन्तु यदि सर्वोच्चतः विचार किया जाय, तो उन दिनोंका धर्म इतना एतद्दीर्घ-विशिष्ट था कि, भाज भी वह किसी-न-किसी रूपमें यहाँ विद्यमान है। मोहञ्जोदारो और हरप्पा में जो धार्मिक विज्ञानवशेष मिले हैं, उनके आधारपर कहा जा सकता है कि, शैव धर्म कलकालिखिक युग (Chalcolithic Age) या इससे भी पूर्व का है।

अबसे भारतवर्षकी गणना फारस, मेसोपोटामिया और मिस्र जैसे प्राचीन सभ्यताभिमानी देशोंमें होनी चाहिये। तात्पर्य यह नहीं कि, भारतवर्षकी भूमि आदि सभ्यताकी दोला कडी जा सकती है; क्योंकि प्राचीन सभ्यताके साक्षि-स्वरूप, भिन्न भिन्न देशोंकी खोदाइयोंमें, अबतक जो कुछ

पुरातात्विक विद्वानों मिले हैं, उनके आधारपर किसी भी देश-विशेषको ऐसा गौरव नहीं मिल सकता। नेत्र विचार तो यह है कि, कलकालिखिक युग तथा इसके कलागुण कालोंकी सम्बन्धना कई देशोंके सम्मिलित प्रयत्नोंसे समुद्भूत हुई थी—सभ्यताके उदयनमें योद्धा-बहुत संघर्ष हाथ था।

“मोहञ्जोदारोके विनाश स्थानागार और एक-से-एक सुन्दर भवन—उनके भीतर भूतलस्पर्शी कुएँ तथा जलनिर्गमकी बहुप्रमग्न प्रणालियाँ—इस बातके ठोस प्रमाण हैं कि, उस युगके साधारण नागरिक भी ऐसी सुख-शान्ति, ऐसे भोग विलासमें अपना जीवन व्यतीत करते थे, जिसकी उपमा तन्हालीन सभ्य संसारके अन्य किसी भी देशमें नहीं थी।

“दूरे-दूर देशोंमें उस समय (ईसासे ३००० वर्ष पूर्व) की ऐसी कोई भी वस्तु हमें नहीं उपलब्ध है, जो आचार-प्रकारमें यहाँके भेड़ों, कुत्तों तथा अन्य पशुओंके सुवसाकार चिकने, चमकीले और रंगीन नमूनों या पत्थरके टुकड़ोंमें खोदकर बनायी गयी मुहरों—विशेषतः छोटी-छोटी सींगोंवाले कुबड़े साँड़ों—से सर्वोच्चतः मिलती-जुलती हो। हरप्पाकी केवल दो सर्वश्रेष्ठ एवं सुन्दर मानव-प्रतिमाओंसे तो ग्रीसके प्रथमवर्गीय युगके ही नमूने टकर ले सकते हैं।”

प्रसिद्ध ऐतिहासिक डेरेवन तथा अलेक्जेंडरके समकालीन ऐतिहासिकोंने लिखा है कि, अलेक्जेंडर या

शुक्राजयोग कालेज, प्वाइंट लोमा, कैलीफोर्नियामें व्याख्यान देते समय प्रो० केनिय मारिस्ते, भारतकी प्राचीन सभ्यताके सम्बन्धमें, कहा था—

“I doubt Alexander carried here any cultural impulse in the ordinary sense; it is our Euro American conceit to imagine that the Greek was the highest thing in civilization in the world at that

time. We may take it that Indian civilization was far higher and better in all essentials”

—The Hindustan Review, Vol. LV, No. 318-19, pp 146.

+ कलकालिखिक युगमें पत्थरके हथियारों और बर्तनोंके साथ-साथ ताँबेवा कौंसके भी हथियार और बर्तन व्यवहृत होते थे।

अलचेन्द्रके भारतवर्षपर आक्रमण होनेके कई सौ वर्ष पूर्व ही सिन्धुका यह भाग मरुस्थलमें परिणत हो चुका था। हजारों वर्ष पूर्वकी भौगोलिक अन्तर्क्रान्तियाँ, बाह्य प्रकृति—शोले, वर्षा, वृष्टान आदि—तथा देशकी युगपरिवर्तन-कारिणी उत्सर्गापकर्ष-सम्यन्धिनी घटनाओंकी विनाश-लीजाएँ ही मोहजोदारोके स्वस्थ होनेके वास्तविक कारण हैं। आजसे १००० हजार वर्ष पूर्व भारतवर्षकी जलवायु दूसरी थी, वायुमण्डल ही दूसरा था। उस समयके बाद पृथ्वीतलमें कितना परिवर्तन हुआ है, इसका शाप शब्दाज लगावें। मोहजोदारोके भीतर घँस जानेका एक कारण सिन्धु-प्रदेशकी तत्कालीन नदियोंके भिन्न-भिन्न मार्गोंका बनना भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभीके भयङ्कर जल-विप्लवोंके संघटन भी कारण हुए हैं।

अवसक्त मोहजोदारोके विशाल भवनोंकी कुल सात तहोंका पता लग चुका है। इनमें पहली तह अति प्राचीन कालकी है। दूसरी, तीसरी और चौथी मध्यकालीन हैं तथा बाकी (ऊपरवाले) तीन स्तर इनके बादके बने जान पड़ते हैं। पहलेके बने हुए स्तर पृथिवीके बहुत भीतर, पानीवाली सतहमें, पाये गये हैं। साधारणतः प्रारम्भिक स्तरके भवनोंकी आयु १००० वर्ष पृथ्वी गयी है। बाद के स्तरोंके लिये (६५२००) ३००० वर्ष रखा गया है। पुरातत्त्व-विशारदोंका कथन है कि, विश्व-प्रसिद्ध प्राचीन नगर ट्राय, एमॅस या रोमकी समानतामें तो मोहजोदारोके आदि-निर्मित (प्रथम स्तर) भवनोंकी आयु १००० वर्ष ठहरायी जा सकती है। अन्य देशोंकी अपेक्षा, ध्वंस और पुनरुत्थानकी गति, यहाँ अधिक तेज थी; इसलिये पिछले प्रत्येक स्तरके लिये, दो-दो बीड़ियोंका समय, (२२०५२=२००) समीप ६०० वर्ष रखा जा सकता

है। यह ४००० वर्ष तो मोहजोदारोके बेचल सारों स्तरोंकी आयु हुई; किन्तु इतनी ही अवधिमें भीतर सिन्धु-उपत्यकाकी सम्यताके उत्थान और पतनको ससीम नहीं किया जा सकता। कई वस्तुएँ तो इससे भी पूर्वकी ठहरायी जाने योग्य मिली हैं। यहाँकी खोदाईमें मिली हुई वे दोनों सीलें, जो एलम (Elam) और मेसोपोटामियाकी प्राचीनतम सम्यताके साथ भारतीय आदि-सम्यताका सम्बन्ध दर्शाभूत करती हैं, निश्चय ही इससे ३००० वर्षसे भी पूर्वकी—प्राक् सारगोनिक युगकी—हैं। प्रोफेसर लेंग्डन और गड्ड महाशयने माना है कि, सिन्धुकी सम्यता इसाके २८०० वर्ष पूर्वसे भी प्राचीन है। उत्कर्षताकी दृष्टिसे सीलोंके अतिरिक्त अन्य जो-जो वस्तुएँ सिन्धु-उपत्यकाका सम्बन्ध आदि-सुमेरियन उत्कर्षसे स्थापित करती हैं, उनमें निम्नांकित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) अल-उबैदमें घड़ों या वर्तनोंके जो टुकड़े मिले हैं, वे भारतीय समिधित धातविक शंशों (Indian polstone *) से बने हैं।

(२) खोदाईमें प्राप्त एक मूर्ति (Plate XCVIII) में जो त्रिपर्णा जैसा चिह्न है, ठीक वैसे ही चिह्न कुछ प्राचीन सुमेरियन 'Bulls of Heaven' (स्वर्गके घुपम की) मूर्तियोंमें मिले हैं।

(३) दो सीलों (नं० ३६६ और ३६७) में खुदे हुए सौ गोवाले पशुओं जैसे चित्र।

(४) हरप्पामें जो Toilet-set (शय्या-सम्यन्धी आयरयक सामग्री) मिला है, ठीक उसी प्रकारका 'उर' (Ur) में भी मिला है।

(५) कार्नेजियनके चित्रपूर्ण मस्तकोंके मनुने

छे दिग्ये—“गङ्गा”के “वेदाङ्क”में प्रकटित ६० प्रतिमातन्त्र दास्य “वेदकालीन सम्यता” स्वीकृत है, पृष्ठ २६१

* Polstone—A massive variety of talc-schist, composed of a finely felted aggregate of talc, mica and chlorite — Indian Historical Quarterly.

“किरा” की प्राक् सारगोणिक कालवाली कमरों में मिले हुए मस्तकोंसे मिलते-जुलते-से हैं।

(६) किसी प्रकारके जलपात्रका जैसा विचित्र ढलन यहाँ मिला है, वैसा ही ढलन “जमदेत नद्य” की खोदाईमें भी मिला है।

(७) कचकड़ेकी टेढ़ी-मेढ़ी खँगूटियाँ और स्नान-शुश्रूषा-सम्बन्धी पत्थरकी सज्जकें।

“उर” और “किरा” में मिली सीलोंको माध्यमिक युगकी चीजें ठहराया गया है; इसलिये मोहज्जादारीकी सभ्यता इसासे लगभग ३२५० से २७५० वर्ष पूर्वके बीचकी हुई।

मोहज्जादारीकी नगर-निर्माण-प्रणालीपर विचार करने-से ज्ञात होता है कि, सिन्धु-उपत्यकाके निवासी इस कलामें बड़े निपुण थे। वहाँकी १३ से ३० फीट तक चौड़ी सड़कें, मोड़परकी इमारतोंके गोलाकार कोन तथा ३ फीट ८ इंचसे लेकर ७ फीट तक चौड़ी गलियाँ आदि उपयुक्त कपनके समर्थक हैं। इमारतोंके भीतर गलियाँ कम मिलती हैं। कारण, रसोईघर तथा स्नानगार सड़क या गलीके समोपवाली दीवारोंके ही पास बने हुए हैं। आपपर अविरक्त कर बैठनेके दरसे नगरवासी अपने मकानोंमें बाहरी सजावट या तटक-भटक नहीं रखते थे। सड़कोंकी अगल-बगल, सार्वजनिक हितके लिये, जो बड़े बड़े नाले मिलते हैं, उनसे तत्कालीन वर्षाकी अधिकता प्रमाणित होती है। मिट्टीकी बनी गलियाँ (नाबदान) भी मिली हैं। इमारतोंके भीतर केवल दो ही शौचगृह पाये गये हैं। जान पड़ता है, उसके लोग, आजन्मके नागरिकोंको भाँति, घरमें पाखाना जाना अच्छा नहीं समझते थे। यहाँ जिस प्रकारके तोरण (Arc) हैं, वे ईजिप्ट और बेबिलोनके प्राथमिक कालके तोरणों जेथे

नहीं हैं। सभी ईंटें पकी ही मिली हैं, कच्ची ईंटें नहीं के घरावर मिली हैं। घरोंमें खिड़कियोंकी संख्या कम है। किन्तु स्नानागार प्रायः सबोंमें देखा गया है।

भवन-निर्माण-कलाका सबसे सुन्दर नमूना मिला है एक विशाल स्नानागार। भवनका क्षेत्रफल १८० × १०८ फीट है। इसके भीतर ३६ फीट लम्बा और २३ फीट चौड़ा तथा लगभग ८ फीट गहरा एक जल-कुण्ड बना है, जिसके ऊपरमें, चारों ओर, बरामदे बने हुए हैं। गन्दे जलको जमीनके भीतरसे ही बाहर निकालनेके लिये एक चढ़ी नाली बनी है।

इस विशाल स्नानागारसे दक्षिण-पश्चिमकी ओर, गर्म हवाके सेवनके लिये, विचित्र ढंगके मकान, कोठरियाँ और बरामदे बने हैं। यहाँ भस्म और लकड़ोंके फोयले पाये गये हैं। जान पड़ता है, उस समयके लोगोंको गर्मघर (Hypocaust) का ज्ञान था।

रथन निर्माण-सम्बन्धी विचित्र और मनोरंजक चीजें और यातें हैं। पहली है एक स्तम्भाधारभूत (सभा)-भवन। बीस-बीस खम्भे चार कतारोंमें लगे हुए हैं। ऊपरवाली छत इनके ही आधारपर टिकी हुई है। दूसरी हैं कुछ ऐसे मठ या मन्दिर, जिनके कुछ भी स्पष्ट सार्केतिक चिह्न नहीं मिले हैं। जान पड़ता है, यह सर्वसाधारणके लिये साधारण उपासना-मन्दिर रहे होंगे। तीसरी है बौद्ध मठ-सहित एक बौद्ध-स्तूप। समूचे स्तूपका तो अर्धो पता नहीं चला है, किन्तु इसका जो भाग दीख रहा है, उससे यह लगभग ५० फीट चौड़ा (उत्तर-दक्षिण) और ७४ फीट लम्बा है। उसकी ईंटें ११५ इंच लम्बी, ५५ इंच चौड़ी और २५ इंच मोटी हैं। ४४ फीट लम्बा और २६ फीट चौड़ा एक सभा भवन भी, इसा मठके भीतर, मिला है। ३६ वें कमरेके नीचे एक प्रागैतिहासिक कालका

§ Hypocaust—प्राचीन कालके लोग, भवनके बीचो-बीच एक ऐसा घर बनाते थे, जिसमें बराबर भाग जलती रहनी थी और उसकी गर्मी ऊपर-नीचे—तमाम कमरोंमें फैल जाती थी

मिट्टिका वर्तन मिला है। यहीं एक दूसरे मिट्टीके वर्तनमें १६८४ सिक्के सज्जित मिले हैं, जो कुषाण या कुशनवंश के राजा वासुदेव प्रथमके समयके कुछ ही यादके हैं। इन सिक्कोंके ही-आधारपर पुरातत्त्वविदोंने अन्दाज़ लगाया है कि, यह मठ सम्भवतः सम्राट् कनिष्क या हुविष्क द्वारा ही संस्थापित हुआ था।

मोहजोदारोकी खोदाईमें मिली हुई चीज़ोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण सोलें और मुहरें हैं। मई, १९२७ ई० तक कुल १५८ सोलें मिली थीं। आकृति-भेदकी दृष्टिसे सोलें १० प्रकारकी हैं—(१) वर्तुलाकार (cylindrical), (२) वर्गाकार—जिनकी पीठपर छिद्रित गण्ड (boss) हैं, (३) वर्गाकार—जो दोनों तरफ़ खुदी हुई हैं, (४) सम-चतुरस्र-, (५) वदनदार (with linear designs), (६) समचतुरस्र—छिद्रित-कूर्म-पृष्ठाकार, (७) घनाकार, (८) गोलाकार—छिद्रित-गण्ड-सहित (९) समचतुरस्र-छिद्रित-गण्ड-सहित, (१०) गोलाकार—जिनकी दोनों ओर खुदा हुआ है।

न० ३ और ४ की सोलेंमें अधिकांश “स्वस्तिका”के निशान पते हैं। इस तरहकी निशानवाली सोलें पुरानी दुनियाके क्रीट (Crete), कैपेडोसिया (Cappadocia), ट्राय (Troy), सुसा (Susa) और मुस्यन (Mushyan) नामक स्थानोंमें भी मिली हैं। विभिन्न धातुओंके थलया कचकड़े और हाथी-दाँवकी भी कुछ सोलें हैं। सोलेंमें किसी-किसीपर सुमेरियन बीर पट्टुड (Binkudu) के चित्र हैं। ग्रन्थान्योंमें, जिनपर किसी पशु-विशेषके चित्र और कुछ मन्त्र खुदे हुए हैं, शुभ-फलदायक तारीख या बौद्धकी विज्ञापन समझी जायी है। कई सोलेंपर एक सौं गवाले किसी विचित्र पशुका चित्र है। इन्हें तो कोई हरिय और कोई बैल समझते हैं, किन्तु ओसियस (Olesias) और अरस्पने इन्हें भारतीय बत-लाते हुए, चित्रको भारतवर्षीय गधहा माना है। कई

सोलेंपर (मासणीय) वृषभों, भैंसों, भारतीय गैंहों, यावों, दायियों, मगरों, हरखों और पौराणिक नरस्प प्राणियोंके चित्र हैं। कइयोंपर बकरों और शिंशुओंके भी चित्र मिले हैं। कुछ ऐसी भी सोलें हैं, जिनपर धनुर्वाण-पारी मनुष्योंके चित्र हैं। किसीमें शूलस भी दिखलाया गया है। इनके अलावा किसी-किसी सोलपर, कई ऐसे भी चित्र हैं, जो आज तक पहचाने ही नहीं गये हैं।

मुहरें चार तरहकी मिली हैं—(क) वर्गाकार, (ख) त्रिभुजाकार, (ग) गोलाकार और (घ) मिट्टीके वर्तनोंपरकी छापें।

घषे या और तरहके केवल पांच ही ऐसे वर्तन मिले हैं, जिनपर सोलेंकी मुहरें हैं। मिट्टीकी रंगीन और पालि-शदार टिकियोंपर भी ३१ मुहरें मिली हैं। इन मुहरोंमेंसे, किसी-किसीमें, घुटनोंके बल बैठे हुए मनुष्यकी तस्वीर मालूम होती है, जो हाथमें पत्तीदार कोई चीज लिये हुए है। किसीमें दूँठे पेड़के सामने खड़ा हुआ बकरा है और पेड़के नीचे एक मनुष्य खड़ा है। कइयोंमें इसका अर्थ लगाया है कि, वृक्ष-देवको प्रसन्न करनेके लिये पुजारी बकरेकी बलि दे रहा है। किसी-किसी मुहरमें दो घुटनोंके बल-बैठे हुए उपासकोंके बीच एक योगीका स्वरूप है। “ख”—धौलीकी मुहरें विचित्र और आकर्षक हैं। इनमें चार व्यक्ति, हाथोंमें ऋषदे लिये, जाते हुए दीखते हैं।

संवेकी जो छोटी-छोटी पट्टियाँ (टिकियाँ) मिली हैं, वे दो तरहकी हैं। एक तो वे हैं, जिनकी एक ओर किसी पशु या मनुष्यका स्वरूप है और दूसरी ओर कुछ अक्षर खुदे हुए हैं। दूसरी वे हैं, जिनमें दोनों ओर अक्षर खुदे हुए हैं।

पशुओंमें अधिकांश हाथी, हरिय, खरहे, गैंहें, भैंसें, मनुष्य, बकरे, सँद, याघ और बन्दर हैं। किसी-किसीमें दो सिरवाले विचित्र जानवर भी हैं।

यह पट्टियाँ इतनी पतली हैं कि, इनसे मुहर देनेका

काम लिया जाना बिलकुल असम्भव है। सम्भव है, बाहोंमें (विजायत आदि) की तरह यह पहनी जाती हों और इनमें कुछ मन्त्र-शक्ति हो।

सिन्धु-लिपिकी चिह्न-सूचीमें ३६६ सांकेतिक चिह्न हैं। इनमें कई तो ऐसे हैं, जो पारस्परिक सादृश्य रखते हैं। लिपिकी आकृतिके विषयमें यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि, यह चित्र जैसी दीख पड़ती है। अधिकांशतः लिपियाँ दाईं ओरसे बाईं ओर लिखी गयी हैं। कहीं-कहीं दाईं ओरसे बाईं ओर और बाईं ओरसे दाईं ओर हैं। लोगोंकी धारणा है कि, सीलों आदिकी लिपियाँ सील आदिमें चित्रित स्वरूपोंकी चोत्तिकाएँ हैं। इतना अन्दाज रहते हुए भी कई जगहोंकी लिपियाँ अभी तक निरूपित नहीं की जा सकी हैं। संख्यावाचक चिह्नोंका पता अभी तक नहीं लगा है। कोई भीथी जगहोंके समूहको ध्वन्यात्मक चिह्न समझते हैं; और, किसी-किसीका कहना है कि, वे बहुवचनात्मक हैं। मि० गड्डेके कथनानुसार सिन्धु-सुमेरियन-लिपियोंमें तो कुछ-कुछ सादृश्य है भी; किन्तु मिनोयन (Minoan) और सिन्धु-लिपिमें बहुत कम सादृश्य है। पश्चिमोत्तर-प्रदेशमें मिछे हुए कुछ सिक्कोंमें जो लिपि है, उसमें भी सिन्धु-लिपि कुछ-कुछ मिलती-जुलती है। उक्त महाशयका ही कथन है कि, आदि-सिन्धु-लिपि प्राचीन चित्रविद्यासे सम्बन्ध रखती है।

इस आदि-सिन्धु-लिपिके विषयमें, प्राचीन संकेत-निरूपकोंने, तीन बातें कही हैं—

(क) क्षेत्र खण्डाणोंमें है।

(ख) सीलोंके लेपमें अधिकांशतः नाम ही हैं।

(ग) नाम प्रायः भारतीय आर्य-भाषाके हैं।

तीन चिह्नोंके परस्पर मिलावका अर्थ "पुत्र" लगाया है; और, इसी धारणाके चलपर, अन्य प्रकारके भी तीन चिह्नोंके परस्पर मिलावके भाव इसी तरहके लिये गये हैं।

मि० स्मिथका कथन है कि, क्षेत्रोंमें केवल नाम ही नहीं—उसमें भिन्न-भिन्न भाषात्मक चिह्न-विशेष भी हैं।

प्रो० एम० लैंगडनने भिन्न-भिन्न सांकेतिक चिह्नों—इस आदि-लिपिके अक्षरों—की जो सूची तैयार की है, उसमें केवल २८८ ही चिह्न दिये हैं। उन्होंने स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि, प्राचीनी उत्पत्ति सिन्धुकी इसी चित्र-रूपी आदि-लिपिसे हुई है। उन्होंने, अपनी इस सम्बन्धकी पुस्तककी भूमिकामें, प्राचीन और आदि-सिन्धु-लिपिकी अर्चा करते हुए, दोनोंमें पारस्परिक सादृश्य, सोदाहरण, दिखलाया है।

यह पुनः लिखनेके एक वर्ष बाद प्रोफेसर साहबको ज्ञानदेव (किशोरे १७ मील उत्तर-पूर्वकी ओर) से प्राचीन सुमेरियन लिपिके कोई दो सौ नमूने मिले थे। इन नमूनों (Tablets) के साथ उन्हें कुछ चमकीले (पालिशदार)

ॐ प्रो० लैंगडनने उनी पुस्तकमें, एक स्थलपर, लिखा है—

"If this script was preserved and finally issued into the alphabet of the Buddhist period, it proves that the Aryans must have had intimate contact with these founders of culture in India. In any way we may look at the problem, the Aryans in India are far more ancient than history admits. Their migration

across Anatolia, where traces of them are found in the inscriptions of the Hittite capital, as early as the seventeenth century, is a hypothesis entirely contradictory to the new situation revealed by these discoveries in the Indus Valley. Far more likely is it that the Aryans in India are the oldest representatives of the Indo-Germanic race."

मिट्टीके बर्तन भी मिले थे। इन बर्तनोंका मिलान, उन्होंने, सिन्धु-उपत्यकामें मिझे आदि-सिन्धु-लिपिके साथ मिले हुए बर्तनोंके साथ किया, तो दोनोंमें उन्हें बहुत सादर्य जान पड़ा। इस कारण उनकी पूर्वकी धारणा धीरे धीरे भूत हो गयी। इन दोनों लिपियोंमें कहीं कहीं कुछ विभिन्नताकी जो मलक मिलती है, यह लिखनेकी रीतियोंमें ही।

मोहजोदारोकी खोदाईमें धर्म-सम्बन्धी संकेतारमक जो पत्थरुपें मिली हैं, उनका रूप निरूपण अथवा नही हुआ है। यह विषय अभीतक विवादस्पद है। कोई भी ऐसी मूर्ति नहीं मिलती, जिसे स्पष्टतः कोई धार्मिक रूप दिया जा सके। कुछ मित्रा भी हैं, जो उसके सम्बन्धमें इसीका झगड़ा चल रहा है कि, वह भारतवर्षकी किस प्राचीन जातिकी धार्मिक सामग्री है—उसके उच्चायक किस जातिके पुरुष थे। मानियर विलियमका कथन है कि, द्राविड़जाति या प्राकृ (पूर्वालीन) आर्यजाति शुद्ध हिन्दू-धर्ममें सम्मिलित नहीं की जा सकती। वह हिन्दू-धर्मके निकृष्टतम अङ्गोंकी पोषिका थी। हापकिन्सका भी यही मत है। किन्तु ओपर्ट (Oppert) मजोद्वयका कथन है कि, अनार्य (सिन्धु-उपत्यकाके निवासी) स्वर्गके सर्वोपरि देवताके अस्तित्वमें विश्वास करते थे और पृथिवीमाताको उनकी सहाकारिणी मानते थे। उनकी धारणा थी कि, पृथिवीमाता निखिल विश्वकी अधिष्ठात्री हैं। उन लोगोंमें यह भी धारणा बँधी हुई थी कि, मृत्युके बाद आत्माका पुनर्जन्म होता है।

कई टेराकोटा (Terracotta) मूर्तियोंमें एक सार-सना स्त्रीका स्वरूप अङ्कित है, जो शिरोवस्त्र (Head-dress) धारण किये हुए है। किसी किसीमें कपटहार भी विखिन्नाया गया है। ऐसी भी कुछ स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं, जिनके कानोंमें थाला जैसी कोई वस्तु लटकती हुई मालूम

होती है। इस प्रकारकी सभी मूर्तियाँ आदिमाता या प्रकृति देवीका समझी जाती हैं। इस प्रकारकी छोटी-छोटी प्रतिमाएँ पश्चिमीय एशियाके पारस (Persia) और एजियन (Aegean)के बीच, कई प्रदेशोंमें, पायी गयी हैं। आदिमाता (Mother Goddess)की पूजा सर्वप्रथम अनातोलिया (Anatolia) —सम्भवतः फ्रीजिया (Phrygia) में आरम्भ हुई थी। सिन्धु-उपत्यकामें मिली इस प्रकारकी छोटी-छोटी मूर्तियाँ सिन्धु-प्रदेशसे नील-नदीतकके सभी प्रदेशोंमें, धर्म-प्रचार या घरेलू पूजा-पाठके दिये, रखी जाती थीं। ऐसी मूर्तियाँ, कलकालियक युगमें, सार्वजनिक तथा धार्मिक तूर्योंमें चँपकर, पकीभूत हो गयी थीं। इन्हीं आदिमाताने ही, आगे चलकर, शक्ति—फिर जगदम्बा, जगज्जननी आदिका—रूप अथवा नाम धारण कर लिया। जो हो, अनार्योंमें (सिन्धु-उपत्यकाके निवासियोंमें) यही आदि और सर्वश्रेष्ठ देवी मानी जाती थीं।

एक सीलकी त्रिमुखी मूर्तिको लोगोंने शिवकी मूर्ति बतलाया है, जो योग साधनकी दशामें बैठे हुए हैं। आत्र पर्वतके समीपस्थ “देवाङ्गना” नामक स्थानके एक टूटे-फूटे मन्दिरसे भी ऐसे ही त्रिमुख भगवान् शंकरकी मूर्ति मिली है।

योगाभ्यास करनेवाली दशामें और भी कुछ मूर्तियाँ तथा सीलें मिली हैं। किसी किसीमें, शिवके हाथोंमें, सींगें भी देखी गयी हैं। जो हो, ऐसी मूर्तियोंसे साफ प्रकट होता है कि, प्राकालीन जनसाधारणमें शिवकी भक्ति और योग-साधनकी भावना विशेष थी।

भारतवर्षमें शक्ति-पूजा सबसे प्राचीन है। शाक्त धर्मका आन्तरिक भाव शाश्वत स्त्री आदिबीज (मूल तत्व)से पुरुष आदिबीजके साथ एकीकरण करना है। आज शाक्त धर्मके भीतर, पश्चात्कालीन हिन्दूधर्म और आर्य सभ्यतिके प्रभावानुसार, जो भी नियम आ गये हों, किन्तु इस धर्मके

आदि-उन्नायक अनार्य हो थे ।

हरप्पामें भी दो लिङ्गाकार पत्थरकी वस्तुएँ मिली हैं ।

जान पड़ता है कि, लिङ्ग पूजाके भी जन्मदाता प्राकृत्वालीन आर्य ही थे । इन दो लिङ्ग-मूर्तियोंमें यह धारणा समूल नष्ट हो जाती है कि, यहाँ शाक्त धर्मका उदय ग्रीक या अन्य पाश्चात्य धार्मिकधर्मोंके बाद हुआ था ।

पहले कहा जा चुका है कि, कई सीलोंमें वृक्ष-देवताको बकरा अथवा मनुष्यकी बलि चवानेके चित्र मिलते हैं । पेड़ोंकी पत्तियाँसे पीपल-वृक्षके ही होनेका बोध होता है । पीपल-वृक्ष, आज भी, हिन्दू-धर्ममें अथवा महत्त्व रखता है । बुद्ध भगवान्को एक पीपल-वृक्षकी ही छायामें महाज्ञानकी प्राप्ति हुई थी । बेबिलोनके प्राचीन ध्वंसावशेषोंमें भी ऐसी ही कुछ चीजें मिली थीं । प्राचीन कालमें वहाँ वाले भी इन्ने "Sacred tree of life" कहकर इसकी पूजा करते थे । हरप्पामें भी ऐसी कई वस्तुएँ मिली हैं ।

पशु-पूजाके सम्बन्धकी भी सीलें या मूर्तियाँ मिली हैं, जिनकी चर्चा पहले ही हो चुकी है । साँपेर पशुओंके जो चित्र लुटे हुए हैं, वे या तो कशमावी टाबीजें (*Talismans*) या जादूके आभूषण ही होंगे ।

सिन्धु-उपत्यकाके जनसाधारणकी धर्म-सम्बन्धी जितनी वस्तुएँ मिली हैं, उनका सर्वांशतः कोई एक रूप नहीं दिया जा सकता । इतना अवरय कहा जा सकता है कि, लोगोंमें कोई-कोई मूर्ति-पूजाके पपपावी थे और कोई-कोई इसके विरोधी । हाँ, योग-साधन सामान्यतः उपासनाका अङ्ग समझा जाता था ; और, यह कहना अनुचित न होगा कि, वैदिक साहित्यमें उल्लिखित धार्मिक मनोभाव प्राक्-आर्यों (*Pre-Aryans*) से ही उधार लिये गये थे । हाँ, उनका संस्कृत रूप वैदिक युग वालोंने ही दिया था । उक्त लोगोंकी यह धारणा निरी अमरमक है कि, प्राक्-आर्यजातिकी धार्मिक रीतियाँ अगल या उपत्यकाधर्मों

रहनेवाली आज-कलकी बङ्गाली जातियोंमें पूर्ण रूपसे पायी जाती हैं ।

सूतकोंकी दाहकर्म-सम्बन्धी बातें भी कुछ ऐसी ही गड़बड़ हैं । तो भी, जितनी जाशें, हरप्पा और मोहजोदारोसे, खोद निकाली गयी हैं, उनकी जाँच पड़ताल करनेपर पता चलता है कि, कुछ तीन सत्रहसे सूतक-संस्कार किया जाता था । सिन्धु उपत्यकाकी मभ्यता जध अपनी चरम सीमाको पहुँची हुई थी, तब साधारणतः जाशें जला डाली जाती थीं । जाशोंको जमोनमें गाड़ी जानेवाली बात कुछ यादकी सम्मकी गयी है, और, यह तरीका उन्हीं लोगोंमें था, जो लोग बाहर (पश्चिमकी ओर) से आकर यहाँ बस गये थे । मोहजोदारोमें जो अस्थि-पञ्जर मिले हैं, वे कलकालिधिक युगके हैं, और, वे नगरवासियोंके ही हो सकते हैं । ये अस्थि पञ्जर चार प्रकारके हैं—(१) प्रोटो-आस्ट्रेलायड (*Proto-Australoid*), (२) मेडिटरेनियन, (३) अल्पाइन मूलवंशकी मंगोलियन शाखावाले और (४) अल्पाइन (*Alpine*) । उन दिनों भारतवर्षके पड़ोसी प्रदेशोंसे प्रोटो-आस्ट्रेलायड लोग तथा एशियाके दक्षिणी समुद्र-सटवर्क प्रदेशोंसे मेडिटरेनियन और पूर्वी तथा पश्चिमीय एशियासे अल्पाइन एवं मंगोली अल्पाइन लोग बराबर आया-जाया करते थे । किन्तु इस कथनकी सन्तोषजनक पुष्टि अभी नहीं हुई है । कारण, मनुष्योंकी खोपड़ियाँ ऐसी बहुत कम मिली हैं, जिनके माप ले-लेकर अपेक्षाकृत विभिन्नता बूँद निकासी जा सके । यह भी निश्चित नहीं हो सका है कि, इन चारों प्रकारके अस्थि-पञ्जरोंमें किप प्रकारके अस्थि-पञ्जरोंको सिन्धु-उपत्यकाकी एकजलीन निजी मभ्यताका परिचायक माना जाय । किन्ती-किसीका मत है कि, उस सम्मताके मूल जन्मदाता वैदिक काजके ही आर्य हैं, और, इसी लिये सिन्धु-उपत्यकाकी मभ्यता भारतवर्षमें आर्योंके आधिपत्यकी प्राचीनतापर प्रकाश डालती है । औरोंका कथन है कि, सिन्धुदेशवासी

सुमेरियन या ऐसो ही किसी दूसरी जातिके सम्बन्धी थे; और, इसी कारण सिन्धु-उपत्यकाकी सम्पत्ता-सूचक वस्तुओंमें सुमर लोगोंकी सम्पत्ताकी छाप मिलती है। किन्तु, चूँकि, सुमेरों और द्राविड़ोंके आजसे ५००० वर्ष पूर्वकी शारीरिक गठनकी समस्या अभीतक यथुथी सुलझाधी नहीं जा सकी है; इसलिये कई विद्वान इस कथनको प्रामाणिक नहीं मानते।

सिन्धु-सम्पत्ताकी वस्तुनिर्माण-कलाके परिचय-स्वरूप यहाँ कुछ विशिष्ट वस्तुओंकी चर्चा आवश्यक—सी जान पड़ती है। उन दिनोंके भावुक और अनुभवी कलाकारोंकी जितनी चीजें प्राप्त हुई हैं, उनमें मोहजोदारोकी नक्कीवाली मूर्ति और हरप्पाकी दो ऐसी ही मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। पहली मूर्तिमें नक्कीकी, स्वरके तालपर, नाचने और हाथोंसे भाव अभिव्यक्त करनेका उद्यम मलकता है। हरप्पा-वाली मूर्ति तो, कलाकी दृष्टिसे, इतनी ये-जोड़ है कि, उसके मुकाबलेकी चीज़, इण्डो-देकेनिस्टिक या अन्य किसी स्फूर्तकी कलाके इतिहासमें मिलती ही नहीं! यद्यपि यह बात बिलकुल सची एवं प्रामाणिक है कि, यह मूर्तियाँ भारतीय कलाकारोंके मँजे हुए हाथोंकी चीजें हैं, वो भी कइयोंकी इन मूर्ति'योंके हैं ० ५० चौथी सदोकी मीस-देगीय मूर्ति'याँ होनेका धोका होता है! हरप्पाकी दो मूर्ति'योंमेंसे एकमें तापटन-नृत्य करते हुए नटराज (शिव) की मूर्ति' है, जिसके दोन सिर होनेका सम्बेद होता है।

आभूषण पहननेकी चाल खी और पुरुष—दोनोंमें थी। खोदाईमें कई प्रकारके आभूषण मिले हैं। इनमें मेखला (Girdles), कर्णफूल तथा तुपर विशेषतया खियाँ ही धारण करती थीं। शेष आभूषण—हार, केयूर, अँगूठी आदि—दोनोंके लिये थे। सोने, चाँदी या हाथी-दाँत आदिके बने आभूषण उच्च कुत्रके लोगोंमें और सीप, कचकदे, ताँबे तथा डेराकोटाके बने निम्न श्रेणीके लोगोंमें व्यवहृत होते थे। नाचनेवाली या श्रृङ्गार-प्रिय खियाँ वो

अपनी याहोंमें इतने गहने जाद खेती थीं कि, समूची बाँह ही ढक जाती थी!

घरेलू काम-काजकी चीजें पत्थरकी ही होती थीं। तथी और काँसेके वर्तन बहुत कम थे क्रयांस (Faience) के छोटे-छोटे गफायदार वस्तुन बनते थे। वर्तनोंमें कटोरे, प्याले, तरतरीयाँ, कलसी, कड़ाहियाँ, ससजे, श्रावियाँ, हाँहियाँ और सुण्डे आदि अधिक मिले हैं। हड्डियों, हाथी-दाँतों और शंख या घोंघों (Shells) से सुहर्ष और कंचे आदि तथा तथी और काँसेकी टाँगियाँ, लकड़ी कीरनेकी आरियाँ, कावदे, हँसिये, छुरे और वंशियाँ बनती थीं।

सरह-सरहके खिलोनोंमें मुनमुने, सीटियाँ (Whistles), मिट्टीकी खो, पुरुष, पशु, चिड़ियाँ, गाढ़ी आदि बहुत मिले हैं। सीटियोंकी शकल-वृत्त चिड़ियों जैसी है। इन खिलोनोंमें गाढ़ियोंके मिट्टीके पहियोंकी देखकर जान पड़ता है कि, सिन्धु-उपत्यकाके रहनेवालोंमें, सवारीके लिये, रथ काममें लाया जाता था। उरकी खोदाईमें पत्थरकी पटियोंपर जो खुदा हुआ रथ मिला है, वह उसी समय (ईसासे ३२०० वर्ष पूर्व)का मान्य होता है। वास्तव्य यह यह है कि, आजसे २१३२ वर्ष पूर्व जिस प्रकार "उर"में सवारीके लिये रथ प्रयुक्त होता था, उसी सरह सिन्धु-उपत्यकामें इसका प्रयोजन था। पासेके खेलकी जो गोडियाँ मिली हैं, वे बड़ी सुन्दर और धातुनिक पाश्चात्य जगत्की गोडियोंसे बिलकुल भिन्न हैं। गोडियाँ संगम-मर्करी हैं।

तौलनेके जितने बटखरे मिले हैं, उनमेंसे कुछ काबे स्लेट-पाथरके बने हैं; और, वे एलम और मेसोपोटामियामें मिले खेलन जैसे बटखरोंकी छाह हैं। जो बटखरे बहुत बजनी हैं, उनके सिरोंपर एक ऐसा छेद किया हुआ है कि, उनमें रस्ती घुसाकर धाँपी जा सके। हेम्मी (Hemmy) साद्वने कड़ा है कि, ये बटखरे एलम और मेसोपोटामियाके

यदखॉले कहीं अधिक पके हैं। इनका क्रम इस प्रकार है—
१, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १२८, २५६, ५१२, १०२४, २०४८, ४०९६, ८१९२।

युद्धके हथियारोंमें फासा, घड़ियाँ, भाजा, धनुर्बाण, गदा, डेलवाँस आदि मिले हैं। याहरो खोडोंसे आसन-रुपाके लिये वाल, मुकुट (*Helmet*) या कवच (जिरक्षवस्त्र) मिलकुल नहीं मिले हैं। आश्रयका विषय तो यह है कि, किसी भी तरहकी तलवार—जो ताँबेयुग (*Copper Age*)में यमुना-गङ्गाके बीचके निवासियोंका हथियार थी—नहीं मिली है।

परधरना कलवाजा पाण तो एक भी नहीं मिला है। जो कुछ मिठा ह, यह तथिका बग है और दूसरे हथियारोंकी अपेक्षा बहुत कम पाया गया है। जान पड़ता है, धनुर्बाण विशेष प्रिय अन्न नहीं समझा जाता था। विचित्र प्रकारके मुद्र, धन्य भी मिले हैं। पुरातत्त्वविदोंका अनुमान है कि, ऐसी मशीनें जिनसे द्रवकी सेनामें पाण और परपरके बड़े-बड़े गोले फेंकनेके काममें लायी जाती थीं।

मोहजोदारोके घरोंमें चनेके कई प्रकारके चक मिले हैं, जिनसे सूत काटने और कपड़े बुननेकी बात प्रमाणित होती है। चलेकी किमती हो येतकीमती चीजें और पुजें भी मिले हैं, जिनसे अनुमान किया जाता है कि, धनी और गरीब—दोनों ही, सूत काटते और कपड़े बुनते थे। एक चाँदीकी बरतनीमें कुछ रुई भी मिली थी, जिसकी जाँच *Indian Central Cotton Committee* की विप-बन्धन भवविधिनी प्रयोगशाला (*Technological Laboratory*) में हुई थी। जाँचने पर पता चला है कि, पर धातुकरकीवी रुईके कुछ कम पिघने और मुझावम थी। जो हो, उनकी और गुणों कइसे बने थे, इसमें कुछ शिरो तो भी सन्देह नहीं रह गया है।

तेह्र और बीके जो दाँने मोहजोदारो मिले हैं, उनको जाँच करके पता चला है कि, येक तेह्र धातु भी पंचाच

में पैदा होता है; किन्तु जो यहाँ नहीं मिलता। ईजिप्टकी उस समयकी कर्मोंमें—जिस समय खान्दाजी कर्मगारोंकी धातु नहीं चली थी—इस तरहके दाँने मिले हैं। लेकिन अभी यह उप नहीं हो पाया है कि, पहले-पहल, फासकी जगह, सिन्धु-उत्पत्तिकाकी भूमिमें हल चला या वा सुदूर ईजिप्टकी भूमिमें; तो भी इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं रह गयी है कि, मोहजोदारो और दरवाके निवासी गेहूँ और जौकी खेती करते थे। सांसाहारी लोग (गोमांस के अतिरिक्त) सूअर, भैंस, कछुवे और पंढरका मांस खाते थे। मनुष्य और नदीकी मछलियों भी कोई-कोई खाते थे। घोंघा खानेके भी काफी प्रमाण मिले हैं।

युद्धक सिन्धु-उत्पत्तिकाकी सम्पत्ता और मोहजोदारोकी बातें हुईं। अब यह देखना है कि, वैदिक कालके सार्व ही हथ सिन्धु-उत्पत्तिकाकी सम्पत्ताके जन्मदाता थे वा यह सम्पत्ता उनकी सम्पत्तामे भिन्न थी।

सर जान मार्शल द्वारा सम्पादित त्रिभ पुस्तककी पहले चर्चा की जा चुकी है, उनके आधारपर इन दोनों सम्पत्ताओंके सम्बन्धमें जो तुलनात्मक विचार रखे किये जा सकते हैं, उनका संक्षिप्त रूप नीचे दिया जाय; है:—

(क) "येदोंमें वर्णित भारतीय सारोंका समाग्र भाग: प्रामीकों तथा श्रमिकोंका है। उन्हें नागरिक जीवनका ज्ञान नहीं था। उनके पर केवल मिट्टी और वस्त्रों ही बने थे। किन्तु मोहजोदारो और दरवासे ऐसी-ऐसी सुन्दर एवं विज्ञान समर मिले हैं, जिनमें नागरिक जीवन की सभी आवश्यक बातें—गन्तगात्र, गंधपट्ट, रणोद्धार तथा भवहारारकी अलग-अलग कोटिर्वा—थी। पशु और सुन्दर ईंटोंके प्रकाश बने थे। जिस दुर्गोका वर्णन वेदोंमें मिलता है, ये मिट्टीके ही बने होने थे; केवल दरवाकी मनुष्यी चतारदीर्घाको ही चिह्न होने थे। धातुके १००० वर्ष पूर्व—अब चाँदीका ज्ञान भी कोई नहीं जानता था—यथाक और सिन्धु-दीकी लहरना इनकी

उन्नत थी कि, कड़े अर्थों में वह ईजिप्ट और मेसोपोटामिया की सत्ताधीन सम्प्रदायों में भी चली-चली थी।

(ख) "वैदिक आर्यों में लोहे, ताँचे और पीतल की धातुएँ काम में लायी जाती थीं। हाँ, यजुर्वेद और अथर्ववेद के समय चाँदी और लोहे की भी चीजें बनने लगी थीं। सिन्धु निवासियों में, सोने की अपेक्षा, चाँदी अधिक चली हुई थी, किन्तु लोहे की कोई भी वस्तु नहीं मिली है। शायद इस धातु का उन्हें ज्ञान ही नहीं था। उनके बतन अधिकतर पत्थर के ही मिले हैं। हाँ, ताँचे और काँसे का ज्ञान उन्हें अवश्य था।

(ग) "वैदिक युग के आर्यों के मुख्य अस्त्र थे धनु-बाण, बछ्वा, छोटे छोटे कृपाण और कुहशदिपाँ। आरमरचा के लिये वे एक तरह के मुकुट (Helmet) और कवच पहनते थे। सिन्धु निवासियों में स्त्रीय-करीय ऐसे ही हथियार थे सही, लेकिन अपने पचावके लिये उनके पास न कोई मुकुट ही था और न किसी तरह का कवच ही। इससे अनुमान लिया जा सकता है कि, युद्ध में उन्हें मुकुटधारी और कवचधारी शत्रुओं के हाथ कितनी चोटें सहनी पड़ती होंगी।

(घ) "वैदिक आर्य मांस खाते थे सही लेकिन वेदा में मछली खाने या मारने का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। सिन्धु निवासी कछुवे आदि अन्य जलजीवों की तरह मछलियाँ भी खाया करते थे।

(च) वेदों में, अन्य पशुओं की अपेक्षा (गौ को छोड़कर), घोड़े का वर्णन अधिक मिलता है; किन्तु मोहजोदारों और हरप्पा के निवासी घोड़े में मिलजुल अपरिचित जान पड़ते हैं। कहीं भी घोड़े की मूर्ति या चित्र नहीं मिला है। सीलों में हगने पशुओं—चित्र विचित्र जीवों—का स्वरूप मिला है; किन्तु घोड़े का स्वरूप कहीं भी नहीं है।

(छ) "वेदों में गौ की प्रधानता है—अन्य पशुओं की अपेक्षा इसे कहीं अधिक पूज्य सम्मान मिला है; किन्तु

सिन्धु निवासियों में इसकी जगह गृध्र (साँड़) ने ले ली है। वेदों में बाघ का उल्लेख नहीं मिलता—हाथी की भी चर्चा नहीं है यद्यपि है, लेकिन नह दोनो पशुओं से सिन्धु निवासी परिचित थे।

(ज) "सिन्धु निवासी मूर्तिनर्माण विद्या में बड़े निपुण एवं कुशल कलाकार थे—वे चित्रों अथवा मूर्तियों के द्वारा अपने धार्मिक मनोभाव प्रकट करने में पूर्ण समर्थ थे। वैदिक आर्यों में यह गुण था—वेदों में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। वैदिक धर्म में स्त्रियाँ पुरुषों की अधिक महत्ता थी—स्त्रियों पुरुषों के अधीन ही रह पड़ती हैं। वैदिक विश्वदेवतागण में माँ और शिव का कोई स्थान नहीं है। वैदिक काल के आर्यों के घर घर अग्नि कुण्ड रहता था। वे वातें सिन्धु निवासियों में नहीं पायी गयी हैं। सिन्धु निवासी, अन्य देवों की अपेक्षा, शक्ति और शिव को विशेष पूज्य समझते थे—इसके कई प्रमाण मिले हैं। कई शिव लिपि, मोहजोदारों की खोदाई में, मिले हैं। यज्ञादिके लिये मोहजोदारों में, कहीं भी, अग्नि कुण्ड नहीं मिला है।

'उपयुक्त विभिन्न प्रश्नों पर ध्यान रखते हुए ही कोई भी सिद्धान्त स्थिर करना उचित होगा। यदि वैदिक सभ्यता की ही सिन्धु सभ्यता की जननी मान लिया जाय, तो यह प्रश्न उठता है कि, बाद की सभ्यता में लोहे, घोड़े, आरमरचा के लिये मुकुट और कवच आदि से सिन्धु निवासी क्यों अपरिचित रह गये? गौ की जगह साँड़ ने क्यों ले ली? गौ के विषय में वे लोग आभिन्न क्यों रहे? सिन्धु-उपायवासियों लिपिबोधित युग की वस्तुएँ—पत्थर के हथियार और वर्तन—मिली हैं। यदि वैदिक सभ्यता के बाद की ही यह सभ्यता थी, तो ताँचे, पीतल और लोहे की वस्तुएँ क्यों नहीं मिलीं? इन प्रश्नों से परिचित होने पर भी पर्याप्त ही अवधान के बिना धारण पकता थी। एक बात और है। वैदिक काल के आर्यों के वेदात्मिक निकलकर मोहजोदारों और हरप्पा जैसे, सुन्दर

सुन्दर घटालिकाओंसे पूर्ण, विशाल नगरोंमें छाकर बसनेमें कई हजार वर्ष लग सकते हैं; और, इतने अधिक समयकी अवधि किसी तरह भी माननीय नहीं है।

“वैदिक सभ्यता और सिन्धु-सभ्यताके बीच कोई घातविक मूल बूँद निकालना एकान्त असम्भव है। तो भी सिन्धु उपत्यकाकी खोदाईयोंमें जो वस्तुएँ निकली हैं, उनके आधारपर यह सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है कि, सिन्धु उपत्यकाकी सभ्यतासे वैदिक सभ्यता विलकुल विभिन्न और स्वतन्त्र थी।”

अब सर जान मार्शलकी इन युक्तियोंपर, एक एक कर, पाठक विचार करें, तो असली बातका पता लग जाय।

(क) मार्शल साहयका यह कथन कि, वैदिक आर्य ग्रामीण थे, उन्हें नगर-निर्माणका ज्ञान नहीं था, साधारण मिट्टीके ही दुर्ग बनाते थे, युक्तियुक्त नहीं लँचता। इसके विपरीतमें प्रो० मैकडानल और प्रो० डीयके “Vedic Index” की कुछ पङ्क्तियाँ देखिये, जो “पुर” (Pur) शब्दके सम्बन्धमें लिखी गयी हैं—
“पुर” शब्द, ऋग्वेदमें, साधारणतः दुर्गके लिये व्यवहृत हुआ है। ऐसे दुर्ग, निम्न ही, विशाल और सुदृढ़ होने होंगे। कहीं कहीं पथरोंके दुर्गोंका भी उल्लेख मिलता है। कहीं कहीं लौह-दुर्गोंके भी वर्णन है, किन्तु सम्भवतः यह काल्पनिक है। सम्भवतः पक्की ईंटोंके लिये ही “कामा” (क० २।३।६) शब्द प्रयुक्त हुआ है। किसी-बिसी स्थलपर सो दीवारोंवाले दुर्गों की भी चर्चा है।”

(ख) मार्शल साहयका मत है कि, मोहंजोदारोकी खोदाईमें लोहेकी कोई वस्तु नहीं मिली है—ऋग्वैदिक कालकी धातुओंमें लोहेका नाम नहीं है—यह धातु यजुर्वेद

और अथर्ववेदके समयमें थी। ऋग्वेदमें लोहेके मकान बनते थे, इसका उल्लेख मिलता है; किन्तु यदि इसे काल्पनिक समझ लिया जाय, तो भी हमसे तो ऋग्वैदिक कालकी सभ्यता और सिन्धु उपत्यकाकी सभ्यतामें सादृश्य ही सिद्ध होता है, विभिन्नता नहीं। सोना, चाँदी और काँसा जिस प्रकार सिन्धु सभ्यतामें थे, वैसे ही वैदिक सभ्यतामें भी। रही चाँदी की बात। सो, यह सिन्धु उपत्यकाके निवासियों द्वारा भी व्यवहृत होती थी और अथर्व तथा यजुर्वेद (६, २, ४० १६७) के समयमें भी इससे भिन्न भिन्न आभूषण आदि बनाये जाते थे। ऋग्वेदमें इसका वर्णन नहीं मिलता; इसलिये यह कह देना ठीक नहीं कि, उस समय यह धातु भी ही नहीं—विशेषतः जय वादके वेदोंमें इस धातुकी अच्छी चर्चा मिलती है। फिर, ऋग्वेदमें पथरके बर्तनोंका भी तो उल्लेख मिलता है—अधिक या कम। “ठपल”, “टपद्” और “डलूपल” आदि पथरके ही बने होते थे। सोमपात्र भी, जविका-शत, पत्थरके ही होते थे; द्रव-पदार्थ रखनेके लिये “यासेकन”, डोल (Bucket) के अर्थमें “शाद्वाव”, भोजन बनानेके बर्तनके लिये “डवा”, पानी पीनेके बर्तनके लिये “पात्र” तथा घरेलू बर्तनोंके लिये “पारी-खटा” शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये बर्तन कान धातुके बने थे, यह नहीं लिखा है। सम्भव है, यह पथरके ही हों।

ऋग्वेदमें ड्रैगवॉस (Sling-stones) —पथरके छोटे छोटे टुकड़े फेंकनेवाले यन्त्र—का भी उल्लेख मिलता है। ×

(ग) हथियारोंमें—धनुस् तथा बाण, बर्छ, कृपाण और फासे (कुलदाजियाँ) सिन्धु-उपत्यकाके लोगोंमें भी

* “गंगा” के देश में प्रकाशित ‘वैदिक संहिताओंका विद्यालय’ शीर्षक लेख—पृष्ठ २४० देखिये।

छो “लोहे और सोनेका घर होता था (७।१।७, ७।१।१४)”—वेदकमें प्रकाशित ऋग्वेदकी कुछ उल्लेखनीय बातें—पृष्ठ २१८ पढ़िये।

× Zimmer, Altindisches Leben, P 307; Schrader, Die Historie Antiquities, P 221

ओं और वैदिक लोगोंमें भी । रही गदाकी बात । मोहजो-
दारोंमें जो गदा मिली है (जिसका उल्लेख अथर्ववेद और
तैत्तिरीय संहितामें है—ऋग्वेदमें नहीं), उसे शस्त्रास्त्र-
सम्बन्धी उपयुक्त साधनमें विशेष विभिन्नताका स्थान
नहीं दिया जा सकता । ऋग्वैदिक आर्यों के कोट (पहनावा)
घमड़े या किसी धातुके घने होते थे । ऋ सम्भव है,
सिन्धु उपत्यकाके निवासियोंके कोट घमड़ेके ही घने हों,
जो पृथ्वीके गर्भमें, हतने वर्षों के बाद, रहनेके कारण सङ्-
गल गये हों । शिरस्त्राण (*Helmet*) के विषयमें अभी
यह निश्चित रूपमें नहीं कहा जा सकता कि, सिन्धु
उपत्यकाके निवासियोंमें इसकी चाल नहीं थी । सम्भव
है, भविष्यकी खोदाईमें मिले ।

(घ) जिस प्रकार सिन्धु निवासी मांस-भक्षी थे,
उसी प्रकार भारतीय आर्य भी । ऋग्वेदमें (भारतीय
आर्योंके) मछलियों नहीं खाये जानेके पक्षमें कहीं भी
उल्लेख नहीं है । ऐसी दशामें निश्चयात्मक रूपसे यह
नहीं कहा जा सकता कि, ऋग्वैदिक कालमें लोग मछलियाँ
खाते ही नहीं थे ।

(च) खोदाईमें गौ और घोड़ेकी मूर्तियाँ न
मिलनेके कारण ही यह सिद्धान्त स्थिर कर लेना कि,
सिन्धु निवासियोंको इन दो पशुओंका ज्ञान नहीं था—
युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । मार्शल साहबने कहा है कि,
सिन्धु निवासी घोड़ेसे विलकुल अपरिचित और गौओंकी
जगह घृषभों (साँड़ों) को ही पूज्य समझते थे । मार्शल
साहबका यह निष्कर्ष तभी माय होगा, जब वे स्थापित
कर दें कि, घोड़ों और गौश्रों सेही मूर्तियाँ भविष्यकी

खोदाईमें नहीं मिलेंगे, और, सीलों आदिमें इन दोनों
पशुओंका भी होना जरूरी था—इसलिये कि, शैल-और
पशुओंकी तरह, इन्द्रजाल या सन्ध्र मन्त्रके सम्बन्धमें ये
भी उपयोगी हैं ।

(छ) “वृषभ” शब्द, जब वेदोंमें, इन्द्र, रद,
अग्नि आदि देवताओंके लिये भी प्रयुक्त हुआ है, तब यह
कैसे कहा जा सकता है कि, वैदिक आर्योंमें वृषभको
पूज्य पशु नहीं माना जाता था ।* बाघ और हाथीके
विषयमें वैदिक आर्य अपरिचित थे, यह बात भी निमूल
है । पहले तो जिसे मार्शल साहबने बाघका स्वरूप माना
है, उसीमें काफी सन्देह और सत-भेद है । लम्बी लम्बी
जकोरें तो हेना (*Hyena*) के शरीरपर भी होती हैं ।
“किश” (*Kish*)में इसी प्रकारकी एक सील मिली है ।
उसमें भी मनुष्य या वृत्त पाया गया है । “किश”वाले
पशुको, जिसके शरीरपर लम्बी लम्बी जकोरें हैं, लोगोंने
हेना ही माना है । यदि मोहजोदारोंवाली सीलमें हेनाका
ही चित्र है, तो “हेना”के अर्थमें ऋग्वेदमें “शास्वर्ष”
शब्द प्रयुक्त है (१०।७३।२, ६५।१५) । ऋग्वेदमें “बाघ”-
शब्दका बोधक कोई शब्द नहीं मिलता, तो भी इसके
कुछ समय ही बादके अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहितामें
“व्याघ्र” शब्द, कई स्थलोंमें, मिलता है । ऋग्वेदमें
“वारण” और “हस्तिन्” शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका
अर्थ “हाथी” ही है (*Vedic Index*) । तैत्तिरीय
तथा वाजसनेय संहिताओंमें “हस्तिर्” शब्द मिलता है ।
एक स्थलपर जिला भी है कि, पाण्डू हाथियोंकी सहा-
यतासे [जङ्गली] हाथी पकड़े जाते थे । मेघाले साहबने

० “*Vedic Index*” में ‘*Varman*’ शब्दका अर्थ देखिये ।

*—*Intra* is in *Av* constantly designated as a bull a term applied much frequently to *Agni* and occasio-
nally to other gods, such as *Dyaus* in the *Av* a bull is addressed as *Indra* and in *S B* the bull is stated
to be *Intra* form * * * In one of the sacrifices of the *Vedic* ritual a bull represents the god *Indra*

—Prof Macdonell's *Vedic Mythology*, P 150

तो एक स्थलपर साफ कह दिया है कि, सम्भवतः मोहजो-
दारोके निवासी प्राचीनसे बैसे परिचित नहीं थे, जैसी हमारी
धारणा पहले थी। ॥

[ज] मूर्तिविद्या, मूर्ति-निर्माण या मूर्ति-पूजाके
सम्बन्धमें ऋग्वेदमें उतना वर्णन नहीं मिलता, तो भी
एक स्थलपर लिखा है कि, एक इन्द्रकी मूर्तिछे मूल्यमें
१० गायें काफ़ी नहीं हैं (*Cambridge History of India; I. pp 97, 106*) । मार्शल
साहसने लिखा है कि, वेदकालीन धार्मिक विरयासोंमें
स्त्रियाँ पुरुषोंके सर्वथा आधीन पायी जाती हैं; और,
यह कि, वेदिक देवताओंमें शिव और शक्तिका कोई
महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। आश्चर्य है कि, उन्होंने क्योंकर
समझ लिया कि, सिन्धु सभ्यता में स्त्रियाँ, पुरुषोंसे ऊँची
नहीं, तो यथान्त यों-पुरुषोंके समान ही उनका अधिकार
था। स्त्रियोंके विषयमें, यदि स्त्री मूर्तियोंकी अधिकताके ही
यलपर, उनकी यह धारणा बँधी हो, तो यह सर्वमान्य
नहीं हो सकती। कारण, इससे यह सिद्ध नहीं हो
सकता कि, स्त्रियाँ पुरुषोंमें आदरणीय या समानाधि-
कारिणी समझी जाती थीं। फिर, यदि ऐसी बात हो भी,
तो वेदोंमें भी साधारणतः स्त्रियाँ समान दृष्टिसे ही देखी
जाती थीं। कहीं-कहीं ऐसी बातें अवश्य हैं, जिनसे स्त्रियों-
पर पुर्नर्वाका शासन होना जान पड़ता है; किन्तु ऐसे
उल्लेख बहुत कम—नाममात्र—हैं; इनपर जोर नहीं
दिया जा सकता। "माँ" (*Mother Goddess*)
के अर्थमें "पृथ्वी" नाम कई बार आया है, जिन्हें
नित्य भूवर्षकी अधिपति देवी कहा गया है।
"प्राण-पृथिवी"का स्थान देवता-मण्डलमें सर्वोच्च है।
"शिव"के सम्बन्धमें मार्शल साहसका यह कहना कि,

वैदिक विश्वदेवतागणमें इस देवताका कोई स्थान नहीं
था, सर्वथा चिन्त्य है। ऋग्वेदीय "रुद्र" शब्द "शिव"के
लिये ही प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त, एक स्थल
(अ० १०।१२।६) पर "शिव"को सर्वहितकारी कहा
गया है। उनकी जटाओंके वर्णनमें ही "कपर्दिन्" शब्द
आया है (अ० ११।१४।१-४), जहाँ उन्हें शोभीका
रूप दिया गया है। "योगी" ऋग्वेदीय आर्योंके लिये
कोई अपरिचित शब्द नहीं था (अ० १०।१२।६)। वे
इस दिशामें पारंगत थे। "योगी"के ही अर्थ अथवा
पर्याय रूपमें "मुनि" शब्दका प्रयोग हुआ है। ऋग्वेदमें
(२।१४।१; १।१।२) "शिव"को पशुपति और सहस्राक्ष
कहा गया है (अ० १।१।२ और ७)—वे चारों ओर
देख सकते थे। सम्भवतः मोहजोदारोकी एक मील
(चतुर्मुखी) इसी भावकी चोत्तिका है। इस चतुर्मुखी
देवताको हम ऋग्वेदीय रुद्र कह सकते हैं। लिङ्ग पूजा
वैदिक कालमें थी, ऋग्वेदमें ऐसा उल्लेख मिलता है।
इन्द्र लिङ्ग—(शिरनदेव)-पूजकोंको घृषाकी दृष्टिसे देखता
था। कहीं-कहीं इनका इन्द्र द्वारा पराजित भी होनेका
अर्थ मन्त्रकण है।*

वैदिक आर्योंके घा-घर अग्नि-गुपट था, यह बात
भी प्रामाणिक नहीं मानो जा सकती; कारण, हम
सिद्धान्तकी पुष्टिमें, कहीं भी, स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।
सम्भव है, वैदिक युगके पूर्वार्त्त कालमें अग्निगुपटकी
अधिकता हो गयी हो।

जान कार्लकी बातोंके उत्तरमें उक्त दलीलें उपरि-
की जा सकती हैं। परन्तु यह विषय इतना गहन है कि,
हमानीके साथ किसी सम्मोचनक निर्णयपर नहीं पहुँचा
जा सकता। यह भी बात है कि, भारतवर्षमें आनेपर

"Possibly the elephant was not so well known to the inhabitants of
Mohenjodaro as we thought at first" — *Mohenjodaro and Indus Valley Civi-
lization*, P 388

• *The Religion and Philosophy of Veda* (Vol I. p 129)

भारतीय आर्यों [*Indo-Aryans*] ने जिस लिपिको अपनाया था, वह सिन्धुकी चित्रमया लिपि [*Pictographic Script*] से ही बनायी गयी थी। सिन्धुकी यह लिपि भारतवर्षकी सभी लिपियोंसे प्राचीन है। इसे भारतवर्षकी आदि लिपि कह सकते हैं। भारतीय आर्योंके भारतवर्षमें आनेके पूर्व सिन्धु उपत्यकामें जो भी जाति रही हो—द्राविड़ अथवा अनार्य—उससे भारतीय आर्यों और उनकी भारतीय सम्प्रदाय या यद् समसामयिक ही हो सकती है। दूसरी बात यह है कि, किसी वस्तुविशेषके वर्णन में कार्पनिकताका समावेश स्वाभाविक है। हाँ, कार्पनिक जगत्की वस्तुसे प्रकृत जगत्की वस्तुमें हमें सत्यका अधिक प्रकाश मिलता है और, इस कारण, हमारा विश्वास इस पर ही अधिक ठिकना है। प्राचीन वैदिक साहित्यके निर्माणमें ऋषियोंने कल्पनाका ही अधिक आश्रय लिया है। इसके विपक्षमें आजसे हजारों वर्ष पूर्वकी सिन्धु उपत्यकाके लम्बा नगर हमारी आँखोंके सामने हैं, जिसका समग्र

पुरातत्त्वविदोंने ईसासे ४००० वर्ष पूर्व स्थिर किया है। कई सीलें तो इससे भी पुरानी हैं, उनके समझना अभी अन्दाज ही पड़े हैं नहीं लगा पाया है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि, यह काल निर्णय भी स्वयं उन्हीं पौराणिक विद्वानोंका किया हुआ है, जिनकी दृष्टिमें भारतीय आर्योंका भारतवर्षमें आगमन और उनके वेदोंका निर्माण ईसासे केवल १५०० वर्ष ही पूर्वकी बातें हैं !!

जो हो, आज हम अपनी प्राचीन सम्प्रदाय एवं गौरव की बातोंको जानेके लिये कल्पना-कल्पनासे निजकर सत्यके प्रकाशमें आना चाहते हैं, और, उपर्युक्त दोनों सम्प्रदायोंमेंसे जिनके सितने ही अधिक प्राचीन और स्थूल प्रमाण हमें मिलेंगे, उसे ही हम प्राचीनतर समझेंगे।

मोहजोदारो और हरप्पाकी खोदाइयें अभी समाप्त नहीं हुई हैं। सम्भव है, आगे और भी अधिक प्राचीन सामग्री मिले, जिससे सिन्धु सम्प्रदायकी अधिकाधिक प्राचीनतापर अधिक प्रकाश डाला जा सके।



मोहजोदारो

डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फिन (याज्ञिक),

ईरानके सफ़ाई डेरियस (*Darius*) ने भारत के उत्तरीय भागपर आक्रमण किया और सिन्धु प्रदेशको अपने राज्यमें मिला लिया, इसका उल्लेख नक्षत्र स्तम्भ शिगलेखमें मिलता है। इस शिगलेखका काल ईसासे ५१० वर्ष पूर्व है। प्रायः पाश्चात्य इतिहासज्ञ भारतका प्राचीन इतिहास ईरानसे छठी या सातवां शताब्दी पूर्वसे आरम्भ करते हैं। इसने पहलेके कालको वे ऐतिहासिक कालसे

प्राचीन काल मानते हैं। भारतके, इतिहास परम्परा के, पण्डितोंकी स्मृति कलि कालके आरम्भसे भा बहुत दूर जाती है। यदि सत्य, तबपर और ब्रेता युगोंकी बात छोड़ दी जाय और केवल वर्तमान कालसे शिष्यमें ही निचार किया जाय, तो भी, भारतीय पण्डितोंने मतानुसार, भारतका इतिहास कलि कालसे समझालान है और ईसासे ३१०३ वर्ष पूर्व आरम्भ होता है। पाश्चात्य विद्वान् इस

लम्बी गणनाको सार-रहित मानते आये हैं; पर पिछले ग्यारह वर्षोंमें हरप्पा और मोहजोदारो में उपलब्ध पुराने पदार्थोंके अध्ययनने यूरोप और अमेरिकाके विद्वानोंके मतमें एक क्रान्ति पैदा कर दी है। ये अब मानने लग गये हैं कि, भारतका इतिहास ईसासे ३०००-४००० वर्ष पूर्वतक पहुँचता है। हरप्पा और मोहजोदारोकी उपलब्धियोंसे भारतीय-इतिहास परम्पराकी आश्चर्यजनक पुष्टि हुई है; इस लिये भारतके इतिहासमें हरप्पा और मोहजोदारोका विशेष महत्त्व है। इस लेखमें हम मोहजोदारोका संक्षिप्त परिचय देनेका यत्न करेंगे।

मोहजोदारो सिन्धु-प्रान्तमें, सिन्धु-नदीके तटपर, अवस्थित है। उत्तर-पश्चिमीय रेलके जोफ़री स्टेशन (N W R) से ८ मीलपर है। आजसे दस वर्ष पहले इस स्थानपर केवल रेत और मिट्टीके टिल्ले ही टिल्ले (mounds) दिखाई देते थे। एक टिल्लेके ऊपर महाराज कनिष्कका बनाया हुआ एक चौद-स्तूप था; पर यह स्तूप जीर्ण हो चुका था; भग्न अवस्थामें था। कोई-कोई भाग गिर गया था। भारतीय पुरातत्त्व विभागने पहले इसी स्तूपपर कार्य आरम्भ किया; किन्तु उसको शीघ्र ही पता चला कि, इस स्थानपर बहुत ही पुरानी सभ्यताके चिह्न हैं; और, यह सभ्यता Chalcolithic Age के समकालीन है। पुरातत्त्व-विभागने बड़े उत्साह

और परिश्रमसे यहाँ कार्य आरम्भ किया। उसको अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। इस सफलताका प्रमाण-रूप भारतका प्राचीनतम नगर मोहजोदारो हमारे सम्मुख है। यह एक विशाल नगर है। इस नगरके मकान अग्नि द्वारा पकी हुई ईंटोंसे बनाये गये हैं। भूमि-गर्भसे इस विशाल नगरके प्रादुर्भूत होनेसे उस समयकी सभ्यताके साक्षात्कारका सौभाग्य हमको प्राप्त हो गया है।

इस नगरके निरीक्षणसे स्पष्ट है कि, उन दिनों वास्तु-विद्यामें बहुत उन्नति हो चुकी थी। भारतके आधुनिक नगरोंको देखनेसे मालूम होता है कि, ये नगर किसी विशेष शैलीसे नहीं बनाये गये हैं। जैसे जैसे उन संपत्ता बढ़ती गयी, वैसे-वैसे, मनमाने स्थानोंपर, व्यक्तिगत सुभीतेके अनुसार, दुकान, घर इत्यादि बनते गये; डेढ़ी-मेढ़ी गलियोंका जन्म होता गया। किन्तु मोहजोदारो नगरकी स्थापना एक निधि विशेषके अनुसार हुई है। मध्यमें राजपथ था। यह बहुत चौड़ा था। इसकी दोनों तरफ बड़ी-बड़ी दुकानें थीं। उन दुकानोंके ऊपर, परिसरोंके रहनेके लिये, चौगुरे बने हुए थे। ऊपर जानेके लिये सीढ़ियाँ थीं, जो बाजारमें आती थीं। इस राजपथके उत्तर और दक्षिणमें गलियाँ हैं। ये गलियाँ एक दूसरेके Parallel हैं। इन गलियोंसे छोटी गलियाँ फूटती हैं। ये बड़ी गलियोंसे ठीक Right angles

* धु० पी०, पंजाब, बिहार आदिमें "मोहजोदारो" उच्चारण ही प्रचलित है, परन्तु यह ठीक नहीं है। यह भिन्धी शब्द है और इसका उच्चारण "मोहजोदारो" है। इसका अर्थ है "A mound of the dead" अर्थात् "मृतकों के ढेर"। किन्ती भी ऐतिहासिक लेखमें "मोहजोदारो" ही लिखना उचित है, परन्तु, चूँकि, हिन्दी-भाषामें "मोहजोदारो" ही प्रचलित

है, इसलिये हमने भी प्रचलित रूप ही रखा है। —लेखक।

+ आधुनिक मतके अनुसार मानव-वृष्टिमें आदि युग पाषाण-युग (Stone-Age) था। इस युगमें मनुष्य पत्थर से बने औजारोंसे विद्ये जात थे। इनसे पीढ़ेके युगही Chalcolithic कहते हैं। इस युगमें पत्थरके साथ लौहे और पीतलका भी प्रयोग होता था।

पर हैं। इस प्रकार इस नगरमें सीधो पंक्तियोंमें भवन बनाये गये थे। पाठकगण शायद समझें कि, इसमें कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है; पर किसी वर्तमान नगरकी देखनेसे प्रतीत होगा कि, व्यवहारमें इस प्रकार करना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव-सी बात है। भारतके नगरोंकी तो बात ही क्या, यूरोपमें भी (जहाँ वास्तु-विद्याका बहुत प्रचार है) वास्तु-विद्याके अनुसार नगर-निर्माण नहीं हुआ है। केवल अमेरिकाके हालके बने हुए नगरोंमें यह बात दिखाई देती है। जिस विद्याका मोहञ्जोदारोके निर्माणमें प्रयोग किया गया है, वह वास्तु-विद्या, ५००० वर्ष पीछे, केवल अमेरिकाके नये नगरोंमें ही दृष्टिगोचर होती है; संसारके अन्य भागोंके किसी नगरमें उसका प्रयोग नहीं हो सका। इससे शायद पाठकगण तबकी उन्नत वास्तुविद्याके महत्त्वका अन्दाज लगा सकें।

प्रत्येक घरमें एक प्राङ्गण अग्रस्थ था। घर कमसे कम दोमंजिले अग्रस्थ थे। नीचे-ऊपर, पृथक्-पृथक्, परिवार रहते थे; इसी लिये, ऊपर जानेके लिये, बाहरसे ही सीढ़ियाँ ऊपर जाती थीं। नगरमें स्थानका अभाव प्रतीत होता है या यों कहिये कि, आबादी (जन संख्या) बहुत होनेसे थोड़ेसे थोड़े स्थानका भी खूब उपयोग किया जाता था। स्थानके अभावके कारण घरोंके साथ बाग बगीचोंका होना असम्भव था। सारे नगरमें किसी भी बाग बगीचेका कोई भी चिह्न नहीं पाया गया है। यह भी मालूम होता है कि, स्थानाभावके कारण घरोंके साथ बरामदा इत्यादि बनानेकी प्रथा नहीं थी। एक ही घरमें, ऊपर-नीचे, पृथक्-पृथक्, परिवारोंके निवाससे सिद्ध है कि, नगरका सामाजिक जीवन भली भाँति सुसंगठित था; नहीं तो इस प्रकार परस्पर मिलकर

रहना कठिन हो जाता। जैसे आजकल भी हिन्दू और मुसलमान परिवार एक ही घरमें इकट्ठे नहीं रह सकते; इसी प्रकार मोहञ्जोदारोमें भिन्न-भिन्न परिवारोंका मिलकर रहना कठिन हो जाता। इससे सिद्ध है कि, मोहञ्जोदारोके निवासी अधिकतर एक ही धर्मके अनुयायी थे; या, कमसे कम, उनमें धर्म-भेद यदि था, तो उस भेदका सामाजिक जीवनपर कुछ प्रभाव न था।

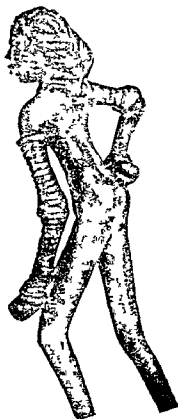
यह भी प्रतीत होता है कि, मोहञ्जोदारोके लोग बड़े सादे थे। वे अपने घरोंकी दीवारोंपर, बाहर या भीतर, चूने आदिसे पलस्तर नहीं करते थे। दीवारें केवल ईंटोंकी बनी हुई हैं और गारेसे चुनी हुई हैं। केवल चूनेसे टीप कर दी गयी हैं, पर पलस्तर या लिपाईका कोई चिह्न नहीं मिलता। दीवारें नितान्त सादी हैं। उनपर बेल-बूटे, चित्रकारी इत्यादि अलंकार नहीं हैं; और, न दीवारोंपर किसी प्रकारकी मूर्तियाँ ही हैं।

मोहञ्जोदारोमें जो विशेष गुण हैं, वह इसकी स्वास्थ्य-सम्बन्धिनी प्रक्रिया है। इस नगरके कर्मचारियोंको नगरके स्वास्थ्यका बहुत खयाल था। नगरका स्वास्थ्य बहुधा नगरकी सफाईपर निर्भर रहता है। यह सफाई बहुत-कुछ नगरकी नालियोंपर निर्भर है। यदि नगरकी नालियाँ गन्दी हैं, उनसे हरदम दुर्गन्ध फैलती रहती है, तो नगरके स्वास्थ्य पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ेगा। स्मरण रहे, व्यक्तिगत सफाई किसी भी गन्दे नगरमें बहुत देर तक लाभदायक नहीं हो सकती। मिस्र मेयोने भी अपनी पुस्तक “भारतमाता” (*Mother India*) में, एक बड़े आक्षेपके रूपमें, लिखा है कि, “भारतके नगरोंकी नालियाँ खुली रहती हैं। उनमें गन्दगी रात दिन बहती रहती है। दुर्गन्धसे घायुमण्डल

गङ्गाका “पुरातत्त्वाङ्क”



८५—मोहजोदारोकी
मनुष्य-मूर्ति



९६—मोहजोदारोकी मिट्टीकी
तन्म एनी-मूर्ति



९७—मोहजोदारोनी धातुकी धनो नग्न-नर्तकी-मूर्ति



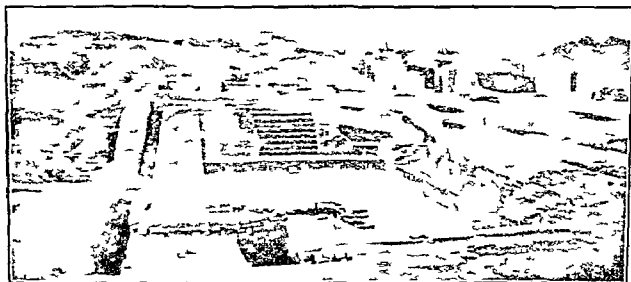
६२—मोहञ्जोदारोमें उपज्जव सुद्राएँ



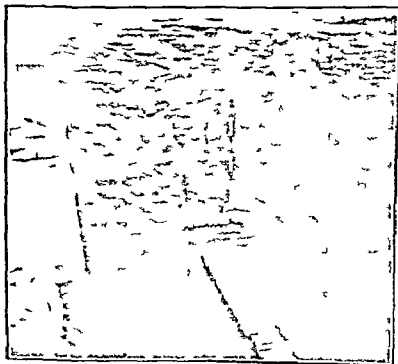
९३—मोहञ्जोदारोके तालाबसे पानी निकलनेका पनाला



९४—मोहञ्जोदारोके घरके भीतर छोटा घूप



९०—मोहब्जोदरोके पाँच हजार वर्ष पुराने तालाबका दृश्य



९१—मोहब्जोदरोके ढंके हुए पत्ताने धार नालीका दृश्य



दधे—कुङ्कु

धर्म-चक्र-प्रयर्तन-मुद्रा

(गुप्तकाल, सारनाथ म्युजियम)

आच्छादित रहता है। इन्हीं नालियोंके ऊपर हल्ला-इयोंकी ढूकनें हैं। नालियोंकी दुर्गन्धमें पकी इन मिठाइयोंको भारतके लोग बड़े चावसे खाते हैं।" चाहे इस वर्णनमें अतिशयोक्ति हो; परन्तु यह कहना ही पड़ता है कि, नगरके स्वास्थ्यका आधार नगरकी नालियाँ ही हैं। मोहञ्जोदारोमें पतनालों और नालियों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। घरोंके पतनाले, जो गलीकी नालियोंमें गिरते थे, खुले नहीं होने पाते थे। वे सर ढके हुए होते थे। जितने भी पतनाले छोड़े गये हैं, वे सर-के-सर ढके हुए हैं। फिर गलीकी नालियाँ भी खुली नहीं होती थीं। ये नालियाँ भी सरकी सर ढकी हुई होती थीं। पतनाले और गलीकी नालीका दृश्य चित्रमें देखिये। ये नालियाँ इस नगरकी प्रतिष्ठा हैं। इस प्रकारकी नालियाँ, पंजाब प्रान्तकी राजधानी लाहौर, ५००० वर्ष पीछे भी विद्यमान नहीं हैं। प्रत्येक गलीमें एक ढकी हुई नाली थी। दोनों तरफके घरोंसे इस नाली को छोटी-छोटी नालियोंसे मिला दिया गया है। ये भी ढकी हुई हैं। प्रत्येक गलीकी नाली बड़ी नाली में जा मिलती है। ये बड़ी नालियाँ भी ढकी हुई हैं। ये बड़ी नालियाँ एक बड़े नालेमें जा मिलती हैं। यह नाला भी ढका हुआ है। उन नालियोंको साफ करनेके लिये, स्थान-स्थानपर, गड्डे रखे गये हैं। उनमें नीचे उतरनेके लिये सीढ़ियाँ बनायी गयी हैं, जिनसे उतरकर भट्ठी लोग नालियोंकी सफाई किया करते थे। इस प्रकार नगरमें खुली गन्दी दुर्गन्धसे पूर्ण सड़ी नालियोंका दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होता था; और, नगरके स्वास्थ्यकी भली भाँति रक्षा होती थी।

मोहञ्जोदारोके लोगोंको स्नान बहुत प्रिय था। प्रत्येक घरमें, नीचे-ऊपर, दोनों मझिलोंमें, स्नान गृह

यने हुए हैं। इन स्नान गृहोंका फर्श पक्का है और एक तरफ ढालू है, जिससे जल न रहे, तुरत वह जाय। जल, ढके हुए पतनालेके द्वारा, नालीमें गिरा दिया जाता था। स्नानके इतने प्रेमी होनेके कारण जलकी बहुत आवश्यकता होती थी। अधिक जलकी आवश्यकताको पूरी करनेके लिये प्रायः प्रत्येक घरमें एक छोटासा गोल कूप बनवाया गया है। यह कूप भी पक्का है। कूपकी मण्डेरका पत्थर रस्सीकी रगड़से जगह-जगह घिस गया है। इससे स्पष्ट है कि, जल-रस्सी द्वारा हाथोंसे रींछा जाता था। कूपपर, वर्तन रखनेके स्थानमें, छोटे-छोटे गड्डे पड़े गये हैं। इन छोटे-छोटे कूपोंके अतिरिक्त गलियोंके कोनोंपर तथा बड़े बाजारमें बड़े-बड़े कूप थे, जो सर्व-साधारणके लिये थे। स्नानके कमरे प्रत्येक घरमें पाये जाते हैं। इससे सिद्ध है कि, मोहञ्जोदारोके लोग निजी सफाई भी बहुत पसन्द करते थे। बड़े कूप पनघटका काम देते थे। एक पनघट पर एक पत्थरकी बेंच पड़ी है। इसपर बैठकर महल्लेकी खियाँ, अपने-अपने घड़े भरनेसे पहले, गप्प शप मारा करती होंगी!

बौद्ध-स्तूपके समीप ही एक बड़ा तालाब भी मिला है। यह ३६ फूट लम्बा और २३ फूट चौड़ा है। यह एक विशाल और आलीशान भवनके मध्यमें बना है। इस तालाबकी चारों तरफ एक पक्का चबूतरा था। चारों कोनोंपर परदेवार गोल प्राङ्गण बने थे। इन प्राङ्गणोंकी चारों तरफ पक्की दीवारें थीं। भीतर स्तम्भ थे। तालाब बड़े परिश्रमसे बनाया गया था। इसकी दीवारोंको बिलकुल सम-तल करनेके लिये थोड़ा-थोड़ा घिस दिया गया था। तालाबके नीचेका फर्श पक्का है। ईंटें चौड़ी करके नहीं रखी गयी हैं, बल्कि लम्बी करके रखी गयी हैं।

दोनों तरफ चौड़ी-चौड़ी सीढ़ियाँ, पानीतक, आती हैं। इन सीढ़ियोंपर, पाँच रखनेके स्थानपर, लकड़ी या धातुके पत्तर जड़े हुए थे। नमीसे दीवारोंको बचानेके लिये *Bitumen* का पलस्तर किया गया था। दक्षिण-पश्चिम कोनेकी तरफ ढालूपन था, जहाँसे एक छोटीसी मोरी द्वारा जल बाहर निकाला जाता था। यह जल एक बड़े नालेमें गिरता था। यह नाला भी ढका हुआ था। इस नालेकी बनावट आश्चर्यजनक है। पहले भागमें यह नाला इतना ऊँचा है कि, लम्बेसे लम्बा पुरुष अच्छी तरह खड़ा हो सकता है! फिर क्रमशः यह नाला तड़ होता जाता है और अन्तमें एक अद्भुत छतवाले समद्वार मार्गसे बाहर निकाल दिया जाता है।

मोहजोदारोमें बहुत सी पुरानी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं—नाना प्रकारके मिट्टीके खिलौने, धातुकी मूर्तियाँ, आभूषण, बर्तन, रङ्ग विरङ्ग फूल रखनेके गुलदस्ते इत्यादि-इत्यादि। पर जो बहुत ही आवश्यक वस्तु उपलब्ध हुई है, वह है मुद्रा-समूह। मुद्रा-ओंपर कुछ लेख अङ्कित हैं, जो अभीतक पढ़े नहीं गये हैं। न अक्षर ही पढ़े गये हैं और न भाषाके विषयमें ही कुछ जाना जा सका है। ये मुद्राएँ पत्थरकी बनी हैं। इनका आकार भिन्न-भिन्न प्रकारका है। अधिकतर मुद्राएँ चौरस ह। मध्यमें एक छिद्र है, जहाँसे वे डोरीमें पिरोयी जाती थी। ऊपर कुछ अक्षर अङ्कित हैं। नीचेकी तरफ किसी जानवरका चित्र है। अधिक मुद्राओंपर एक सीं गजाले पशुका चित्र है, जो बैलके सदृश है। किसी-किसी मुद्रापर छोटी सीं गोजाले बैल, किसीपर ऊँचे पिण्डवाले साँढ, किसीपर गेंडे, किसीपर भैंसे, किसीपर हाथी और किसीपर बारहसिंगेके चित्र हैं। कितनी ही मुद्राओंपर फाल्गुनिक पशुओंके भी चित्र हैं। किसी

भी मुद्रापर अश्वका चित्र नहीं मिला है। इससे अनुमान होता है कि, मोहजोदारोके लोग अश्वसे अनभिज्ञ थे। दो-चार ही मुद्राएँ ऐसी हैं, जिनपर मनुष्यका चित्र है। एक चित्रमें तो मनुष्य एक वृक्षपर बैठा है, नीचे घातमें एक सिंह बैठा है और मनुष्य क्रोधसे उसकी तरफ धूर रहा है।

ये मुद्राएँ बड़े महत्त्वकी हैं। इन मुद्राओंके साक्ष्यसे ही मोहजोदारोके समयका निर्णय हुआ है। जैसी मुद्राएँ हरप्पा और मोहजोदारोमें उपलब्ध हुई हैं, ठीक वैसी ही सुमेर (*Sumer*) और एलम (*Elam*) में भी मिली हैं। सुमेर और एलम के समयका निश्चय रूपसे ज्ञान है। इससे परिणाम निकलता है कि, मोहजोदारोका सुमेर और एलम समकालीन है अथवा मोहजोदारो ईसासे लगभग ३००० वर्ष पूर्वका है।

बच्चोंके खिलौने बड़े विचित्र हैं। एक बैलका खिलौना है। इसकी पूँछ हिलानेसे सिर भी हिलता है। एक हाथी है, जिसको दधानेसे शब्द होता है। पक्षियोंके मिट्टीके खिलौने बहुतसे मिले हैं। उनमें छिद्र हैं, जिनमेंसे सीटो बजायी जा सकती है। एक खोकी नग्न मूर्ति हैं। सिरपर पंखेके आकारका कोई वस्त्र है। दोनों कानोंपर दो लम्बे कालर जैसे टुकड़े लटकते हैं। गलेमें कितने हाँ हार हैं। भुजाओंमें कड़े और चूड़ियाँ हैं। कमरमें केवल रेशादाम है। एक नृत्य करनेवाली स्त्रीकी धातुकी मूर्ति है। सिरके बालोंको लटें एक कन्धेपर डाल दी गयी हैं। गलेमें हँसली पहने हुए हैं। धाम हाथमें, फलाईसे लेकर कन्धेतक, चूड़ी पहने हुए हैं। यह मूर्ति भी नग्न है। इसके मुखपर औदासीन्यके भाव हैं। छोटी-छोटी डिब्बियोंसे लेकर बड़े-बड़े माट भी मिले हैं। प्याला, धाली, चमचा, फलछो आदि

भी प्राप्त हुए हैं। इनपर काले, लाल आदि रङ्गोंके अनेक डिजाइन बनाये गये हैं। ऊपल, मूसल, चम्पा आदि भा मिले हैं। सोने, चाँदा, ताँबे तथा कीमतो पत्थरोंके हार पाये गये हैं। तबिके कितने ही औजार, चाँदीका एक डब्बा, जिसमें आभूषण रखे हुए थे, और रुईका बुना हुआ कपड़ा भा प्राप्त हुआ है। इससे मालूम होता है कि, आजसे ५००० वर्ष पहले, मोहब्बतुद्दारा में, रुईके कपड़ेका प्रयोग होता था।

सारांश यह है कि, मोहब्बतुद्दाराके लोगोंकी सम्यता नागरिक सम्यता था। सुदूर छोटे-छोटे ग्रामोंका निवास वहाँवालोंको भाता नहीं था। वे नगरोंमें वसते थे। उनके नगर समृद्धिशाला थे। उनका व्यापार दूर-दूरके देशोंतक फैला हुआ था। उस समय गेहूँ और जौ खूब पैदा होते थे। खजूर उनको बहुत प्रिय था, साँढ, भैंसा, बैल, भँड, सुअर, कुत्ता, ऊँट, हाथा उनके पशु थे। घोड़ेसे वे परिचित न थे। उनको गाड़ी चार पहियोंवाली थी। वह प्राय बैलगाड़ी हा था। धातुका काम करनेमें वे लोग चतुर थे। सोना, चाँदा, पीतलका कुछ कामी न था। शाशा भा काममें लया जाता था। कातना, कपड़े बुनाना श्रेष्ठ सम्पन्ना जाता था। युद्ध और शिकारमें तीर-कमानका प्रयोग होता था। गदा, नेत्रा, पङ्गु इत्यादि भा युद्धके शस्त्र थे। आखा, छान्नी, उस्तारा इत्यादि अनेक औजार पातल और ताँबेके बनते थे। अमीर लोग सोने, चाँदाके आभूषण पहनते थे और गरीब लोग साप और पत्थरके। लग गिनना जानते थे। इनका मुहोपर लेख लिखे हुए हैं। मेसोपोटामियाका सुमेरियन सम्यता और मिस्र देशका सम्यतासे इनका सम्यता ऊँचे दर्जेका था। उदाहरणके तौरपर रुईका कपड़ा बुननकी

विधि सिन्धके लोगोंको ही मालूम थी, अन्य देश वालोंको नहा। इनकेसे विशाल भवन मेसोपोटामिया, मिस्र और अन्य प्राचीन देशोंमें नहीं पाये गये हैं। ज्ञानपर अधिक जोर दिया जाता था। प्रत्येक घरमें अपना-अपना पृथक् कूँचा है। कूँचेके साथ ज्ञान करनेका कमरा है। इससे प्रतीत होता है कि, ज्ञान उन लोगोंका नित्य कर्म था। नगरमें एक सार्वजनिक पक्का ज्ञान गृह था। उसकी दो तरफ स्त्रीधियाँ बनी हुई थीं। बीचमें एक लम्बा-चौड़ा तालाब था। तालाबकी दावारें और नाचेका फर्श पक्क बने हुए थे। पानाको बाहर निकालनेके लिये एक ऊपरसे ढकी हुई नाली बनाया गयी था। यह तालाब ऊपर से ढका हुआ था। इसका चारों तरफ छोटे-छोटे कमरे थे। इन कमरोंमें ज्ञान करनेवाले लोग अपने बख्त बदलते थे। नगरकी नालियोंपर विशेष ध्यान दिया जाता था। कोई भी नाला ऊपरसे खुला हुई नहीं होती था। उनको पत्थरोंसे ढक दिया जाता था। इस प्रकार गन्दा नालियोंका दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होता था। दुर्गन्ध भी गलियों और बाजारोंमें नहा फैलता थी। भारतके बड़े-बड़े नगरोंमें आज भी घैसा नालियाँ नहा बनी हैं। इससे सिद्ध है कि, उस समयके लोगाने जीवनमें सुख, आनन्द और ऐश्वर्यको मात्रा अधिक था।

खिलौना, बर्तनों, मुद्राओं, मूर्तियों आदिपर जो नाना प्रकारके चित्र मिलते हैं उनसे उन लोगका चित्रकारीका पता चलता है। चित्र कलामे वे लोग सिद्ध हस्त थे। ये चित्र बहुत अच्छे हैं। चित्र क्या है, जाता-जागता तस्वीर है। चित्र कला अपनी प्रौढ़ अवस्थामें पहुँच चुका था। ऐसे सच्चे और मनाहर चित्र, हजारों वर्षोंने पाड़े, पैतल प्राचीन यूनानमें हा मिलते हैं, परन्तु मोहब्बतु-

दारोके लोगोंके समयमें किसी भी देशमें नहीं पाये गये हैं ।

परन्तु जो सबसे अद्भुत बात है, वह है शिवकी पूजा । मोहञ्जोदारोमें शिवजीकी पूजा होती थी । बहुतसे शिवलिंग उपलब्ध हुए हैं । कितने ही शिवलिंग तो वैसे ही हैं, जैसे कि, आजकल भारतके बहुतसे मन्दिरोंमें देखे जाते हैं । इससे सिद्ध है कि, शिवकी पूजा जिस प्रकार आजकल होती है, उसी प्रकार ५००० वर्ष पहले भी होती थी । संसारके जितने भी धर्म हैं, उनमेंसे किसी भी धर्मकी पूजाका इतिहास इतनी दूरतक नहीं पहुँचता, न किसी धर्मकी पूजाके विषयमें ऐसा स्पष्ट सिद्ध करनेवाला साक्ष्य ही मिलता है ।

मोहञ्जोदारोमें उपलब्ध प्राचीन वस्तुओंके अध्ययनसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि, ये वस्तुएँ एक ऊँच कोटिकी सभ्यताकी सूचक हैं । पर यह सभ्यता कोई नूतन सभ्यता नहीं थी । मोहञ्जोदारो नगरके स्थापित होनेसे हजारों वर्ष पहले इस सभ्यताका सुरुवात हो चुका था; और, मोहञ्जोदारो नगरकी स्थापनासे पहले कई हजार वर्षोंमें इस सभ्यताकी वृद्धि और पुष्टि हुई होगी । जब मोहञ्जोदारो नगरकी स्थापना हुई, तब यह सभ्यता उन्नतिके शिखरपर विराजमान थी । इससे स्पष्ट है कि, मोहञ्जोदारो नगरकी स्थापनासे कम से-कम दो-तीन हजार वर्षोंसे भी पुरानी यह सभ्यता है । इस सभ्यताका आरम्भिक काल ७००० या ८००० वर्षतक पहुँचता है ।

स्वतन्त्र प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि, इस सभ्यताका आरम्भिक काल मोहञ्जोदारो नगरकी स्थापनाने अथवा ही कम से-कम दो-तीन हजार वर्ष पहले है । हम कुछ

स्वतन्त्र प्रमाण भी लिखते हैं ।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि, मोहञ्जोदारो नगरमें आजसे ५००० वर्ष पहले शिवजीकी पूजा होती थी । शिव उन लोगोंका आराध्य देवता था । पर ऋग्वेदमें शिवका बहुत बड़ा दर्जा नहीं है । ऋग्वेदमें जो महत्त्व इन्द्र, अग्नि, वरुणका है, वह शिवका नहीं है । हम यह भी जानते हैं कि, ऋग्वेदके समय जिन देवताओंका अधिक प्रभुत्व और महत्त्व है, उनका क्रमशः पीछे लोप हो गया, जैसे, ऋग्वेदकालके उच्चतम और सर्वश्रेष्ठ देवता इन्द्र और वरुणका दर्जा रामायण-महाभारतकालमें विष्णु, ब्रह्मा और शिवसे कम है । यदि हम ऋग्वेदके कालसे लेकर महाभारत-रामायणके कालतक, देवताओंके इतिहासपर, दृष्टि डालें, तो मालूम होगा कि, विष्णु और शिवका दर्जा बराबर बढ़ता चला आया है । ऋग्वेदमें विष्णु और शिव साधारण देवता हैं । यजुर्वेदमें शिवका दर्जा, ऋग्वेदकी अपेक्षा, बढ़ गया है; और, रामायण-महाभारतके कालतक शिवका दर्जा इतना बढ़ गया है कि, वह हिन्दू-निर्मूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, शिव)का तृतीय अंश बन गया । देवताके इस इतिहासको स्मरण रखते हुए और मोहञ्जोदारो नगरमें शिवकी अद्भुत प्रतिष्ठा को जानते हुए हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि, ऋग्वेदकाल मोहञ्जोदारो नगरकी स्थापनाके कालसे बहुत प्राचीन है ।

दूसरा प्रमाण यह है कि, उपलब्ध मुद्रा-लेखोंमें स्पष्ट है कि, मोहञ्जोदारोके निवासी लिखना जानते थे । अक्षर लिख सकते थे अथवा लिखनेकी कलाका उस समय आविष्कार हो चुका था । पर ऋग्वेदके समय लिखनेकी कला

का आविष्कार नहीं हुआ था। इसी लिये ऋषि लोग मौखिक उपदेशों से ही अपने शिष्योंको वेद पढ़ाया करते थे। मन्त्र लिखे नहीं जाते थे। ऋचाएँ पुस्तकोंके रूपमें प्रियमान नहीं थीं। पीछेसे मन्त्रोंको पुस्तकका रूप दिया गया। इससे स्पष्ट है कि, लिखनेकी कलाका आविष्कार ऋग्वेदके समयसे बहुत पीछेका है। यह लिखनेकी कला मोहज्जोदारोमें प्रचलित थी। इससे यह परिणाम निकलता है कि, ऋग्वेदका समय मोहज्जोदारोसे बहुत पूर्वका है।

जर्मन देशके प्रसिद्ध आचार्य जैकोबी महोदयने

ज्योति.शास्त्रकी गणनासे सिद्ध किया है कि, ऋग्वेदका समय ईसासे कम से कम ५००० वर्ष पहलेका है। मोहज्जोदारोका समय ईसासे ३००० वर्ष पहलेका है। इससे हमारे ऊपर लिखे कथनकी पुष्टि होती है कि, ऋग्वेदका समय मोहज्जोदारो से कम से कम दो-तीन हजार वर्ष पहलेका है। संसारके और किसी भी देशकी सभ्यताका इतिहास इतने प्राचीन कालतक नहीं पहुँचता। फलतः भारतकी सभ्यता ही प्राचीनतम सभ्यता है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि, संसारकी सभ्यताका उद्गम-स्थान भारत ही हो सकता है।

नागवंश और गंगा

नियामहोदयि वा० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए०, वार-पेट-ला

गुप्त महाराजोंके पहले भार्यावर्त्ममें नागवंश और उसके सम्बन्धी वाकाटक-वंशका साम्राज्य हुआ। नागवंश बहुत पुराना राजवंश था, जो साद्वन क्षत्रियोंका था और विदिसामें राज्य करता था। कुपाण शक (जो आजकलके ईरानी ताता वाक् बचनेवाले बह्मरियोंके भाई बिरादर थे) बड़े प्रचण्ड राजा हुए। कनिष्कने सारे भार्यावर्तमें राज्य जमा लिया। ये हिन्दु-धर्मके बड़े ही विरोधी थे। मन्दिर तोड़ डाले और ब्राह्मण-क्षत्रियोंको द्वाबर नीच जातियोंका सरकारी नौकरी देकर बढ़ाया तथा बौद्ध धर्मके पोषक बनकर भार्योंके वर्णाश्रम-धर्मपर घटा पहुँचाया। शकौशी इस नीतिका दुरा विवरण पुराणों, ग्रन्थ लेखक मलवेस्नी, गर्गसंहिता आदिमें दिया हुआ है। इन शकोंको बिहार और मध्यदेश (अन्तर्बेद) से नाग-गजामोंने मार भगाया और धर्मकी रक्षा की। नागवंश रोवौ धनेनखडक रास्ते नागपुरसे निकलकर कान्ति (कान्तिपुर) और काशी पहुँचे तथा अपने वंशका नया नाम भारशिव रखा।

इन्होंने गंगा-तटपर दस अरबमेघ किये। मेरे विचारमें जाता है कि कारागिरिमें दशरथमेघ नामसे प्रबलक यही स्थान प्रचलित है। काशीमें एक भारशिवकी मूर्ति भी अभी मिली है, जिसमें राजाके शिरपर शिवकी पिंडी है। यह काशी नागरी-प्रचारिणी सभाके कला भवनमें है, जिसे मैंने दसहरेके अवसर पर देखा था।

नागवंशीय भारशिव राजाओंके नाम शिकोंमें मुझे इस प्रकार मिले हैं—वारसेन, हयनाग, जयनाग, चरजनाग और भवनाग।

इन्के वंशवाले पञ्चावलीमें थे, जहाँ वे टाकवशके नामसे राज्य करते थे। इन्के नाम गणपतिनाग, भीमनाग, स्कन्दनाग आदि थे। पद्मावती काशीके पास थी, प्रब उस पद्म-पयाया कहते हैं। नागोंकी एक दूसरी राजधानी चम्पावनी (भागलपुर) थी। यदि किसी सम्न्को भागलपुरके भास-पास भारशिव या नाग नामपर कोई स्थान या उवालय मालूम

हो, तो मुझे सूचित करेंगे।

नागवंशी शिवके भक्त थे। गंगारो राक्षसलेखोंसे छुड़ानेके उपलक्ष्यमें, भारशिव राजाओंने, शिवकी गंगाको अपने राज्य और साम्राज्यका चिह्न बनाया। अपने सिक्कोंपर और शिलालेखों तथा देवमन्दिरोंके द्वारोंपर गंगाकी मनोहर मूर्ति भक्ति करते थे। इसका पुरा-पुरा वर्णन मैंने अपने "History of India, 150 A. D. to 350 A. D." नामक ग्रन्थमें लिखा है, जो छप रहा है।

भारशिव नागवंशके बाद उनके नाती रुद्रसेन वाकाटकका राज्य हुआ। रुद्रसेनके भाजा चतुर्थमेघवाजी प्रवरसेन सारे भारतवर्षके सम्राट् हुए। उनके समयमें ही नागवंशकी गङ्गीके मालिक रुद्रसेन हुए और रुद्रसेनकी नावालगीमें प्रवरसेन ही राज्य करते थे। प्रवरसेन भारद्वाज गोत्रके ब्राह्मण थे और अजयगढ़ (मुन्देलखंड) में इनकी राजधानी चक्रावृत्ती थी, जिसे भव नचना कहते हैं। इन्होंने अपने वंशका नाम वाका-

टक रखा; क्योंकि ये वाकाट गाँवके रहनेवाले थे। प्रवरसेनने भी गंगाको अपना राज-चिह्न माना। मन्दिरोंपर "गंगा-यमुना-द्वार" वाकाटकोंने भक्षित किया; और, ऊँचेपर भी गंगाका चिह्न रखा।

प्रवरसेन समुत्पुत्रसे भी प्रतापी राजा हुआ। समुत्पुत्रको वसाट् पदवी नहीं मिली, पर वह प्रवरसेनको प्राप्त थी। प्रवरसेनका ऐतिहासिक वर्णन बिलकुल कल्पिक-प्रवृत्तारसे मिलता है।

इस तरह गंगा भारशिव नागवंश और वाकाटकवंशके समयमें अन्तर्वेद और आर्यावर्तकी मुक्तिके इतिहासकी यादगार हुई। मानो उस समयका इतिहास श्रीगंगाके नाममें आर्य-जातिने लिखकर अपने सिक्के और ऊँचेपर हिन्दु-साम्राज्यके चिह्न-स्वरूप गंगाको स्थापित किया। गंगा दूसरोंके लिये नहीं है, पर हमारे लिये स्वभावमें हिन्दु-इतिहास है।

प्राचीन साहित्यमें नालन्द

डा० हीरानन्द शास्त्री एम० ए०, डी० लिट् (एग्जामिफिस्ट टु दि गवर्नमेंट आफ इंडिया)

ईसाके कम-से-कम ५०० वर्ष पूर्व, महावीर तथा बुद्धके समयमें, हमें नालन्दका वर्णन मिलता है। जैनोंके सूत्र-कृताङ्ग तथा बौद्धोंके निकायमें इसकी बातें स्पष्ट रूपसे वर्णित हैं। इस प्रसिद्ध स्थानसे मानव-जगत्के दो धर्मगुरु, किसी-न-किसी तरह, पूर्ण रूपसे सम्बन्धित थे। तारानाथने इसका उच्चारण "नालेन्द्र" लिखा है, जो सर्वथा गलत है। नालन्दका नाम उपर्युक्त दो ग्रन्थोंके सिवा साग्रपत्र एवं अन्य शिलालेखोंमें भी प्राप्त है। इसके नामके सम्बन्धमें ह्युमसॉगने एक कहानी लिखी है। वह यों है— "तथागत अपनी वृद्धावस्थामें इसी जगह धोषिसत्त्व-

जीवन व्यतीत करते थे। वह एक बड़ प्रान्तके राजा हो गये। उन्होंने अपनी राजधानी यहीं बनायी। संसारी जीवोंके दुःखसे व्यथित होकर उन्होंने अनवरत रूपसे दान देना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप इस जगहका नाम नालन्द (जिसका अर्थ दानका अन्त नहीं) पड़ा।" इत्सिंगके कथनानुसार "नालन्दका पहला नाम नागानन्द था, जो किसी नागके (जिसे नन्द कहते थे) नामपर रखा गया था। या, यह भी सम्भव है कि, चूँकि यहाँ "नल" अर्थात् कमलके फूलोंकी प्रचुरता थी (जो अभी भी है); इसलिये इसका नाम नालन्द पड़ा।"

इन अनुमानोंमें कहाँतक वास्तविकताका समावेश है, यह विद्वानोंके विचाराधीन है। पिछले दिनों यह स्थान पासके बड़गामके नामसे सम्बोधित किया जाने लगा। हालतक, जब कि, यह रेलवे-स्टेशन बना, यही नाम रहा। किन्तु यदि आप चमा करें, तो गौरवठे साय में यह कहनेकी धृष्टता करूँ कि, मेरी ही बढौलत यह नाम बदल गया है।

यह स्थान बड़गामके नामसे पुकारा जाता था, यह १७ वीं सदीके ग्रन्थोंसे स्पष्ट प्रकट है। पण्डित हंसलोकके “पूर्वदेशचैत्यपरिपाटी” (वि० १५६५) तथा पण्डित विजयसागरके “समेतशिलर-तीर्थमाला” (वि० १७००) नामक जैन-ग्रन्थोंमें बड़गाम नाम ही आया है। इन ग्रन्थोंमें जैन तीर्थयात्रियोंका यात्रा-वर्णन है, जो १६ वीं, १७ वीं सदियोंसे पूर्वमें तीर्थ करने आये थे। इनसे यह पता चलता है कि, नालन्द जीर्ण हालतमें था तथा बड़गामकी (जो महावीरके सर्वप्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ शिष्य इन्द्रभूतिके कारण अत्यन्त पवित्र तथा पूजनाय हो चला था) अवस्था उन्नतिशील थी। फलस्वरूप सम्पूर्ण क्षेत्र, बटवृत्तोंके आधिक्यके कारण, सरकृतमें बटग्राम कहा जाने लगा। यह स्थान शिवाका स्थान भी था। इसका प्रमाण हस्त-लिखित पोथियोंसे प्राप्त है। अतएव यह सत्य है कि, स्वर्गीय डा० ग्लाराके रायल एशियाटिक सोसाइटीके जर्नलमें प्रकाशित “दि माडर्न नेम आफ नालन्दा” शीर्षक लेखमें व्यक्त यह विचार कि, नालन्द आधुनिक नाम है, सरासर गलत है। “भारतका प्राचीन इतिहास” नामक ग्रन्थमें व्यक्त विचार भी, किसी रूपमें, अमूर्ण है। इस सम्बन्धमें यह कहना भी अयुक्ति नहीं कि, इम्पारियल गेजेटियरमें प्रकाशित इस स्थानका बिहार-ग्राम नाम,

निराधार होनेके कारण ही छोड़ देना पड़ा। पुरातत्त्व-विभागको धन्यवाद है, जिसके परिश्रमके फलस्वरूप नालन्द नाम प्रचलित हो गया और रेलवे स्टेशनका ही नालन्द नाम नहीं रखा गया—बिहारशरीफमें एक कालेजकी स्थापना भी इसी नामपर कर दी गयी। यहाँ एक और अनुमान भी अयुक्ति-सगत न होगा “सुधस्सना” नामक ग्रन्थमें कहा गया है कि, “जब तथान्त जेतवनमें थे, तब उन्होंने विचारा कि, थेरासारिपुत्र कार्तिक पूर्णिमाके दिन इस नल ग्राममें मृत्युको प्राप्त हुए।” काहियानने भी ऐसी ही बातें लिखी हैं। अब प्रश्न यह है कि, नलग्रामका स्थान कहाँ है? यह ध्यानमें रखते हुए कि, बड़गामका धरत भाग, जो प्राचीन नालन्दके समीप स्थित है (जिसे राइस डेविस “बडका” कहते हैं और मैं, जैन ग्रन्थोंके आधारपर, बाहिरिका समझता हूँ), जो सारिचकके नामसे पुकारा जाता है, उसे क्या हम नालन्द न सही, नालन्दका एक भाग ही (जैसे, सारिचक बड़गाम) नहीं मान सकते ?

जैन ग्रन्थानुसार नालन्द, महावीरके (जिन्होंने यहाँ १४ चातुर्मास्य बिताये थे) समयमें राजगृहके दूरका स्थान अर्थात् बाहिरिका था। सूत्रकृतोंसे यह पता चलता है कि, ईस्वी सनसे पहले नालन्द एक उन्नतिशील स्थान था। जैकोवीके शब्दोंमें यह केवल नगरका आदर्श वर्णन है। य सम्पूर्ण वर्णन “ओपपत्तिक सूत्र” (प्रथम सूत्र) में है।

भद्रबाहुके (जिसकी मृत्यु १७० वि० में हुई थी) लिखे “बधूपसूत्र” नामक जैन-ग्रन्थमें ये ही बातें हैं अर्थात् नालन्द राजगृहका बाहिरिका था।

“पूर्वदेशचैत्यपरिपाटी” तथा “समेतशिलर-तीर्थमाला” नामक जैन ग्रन्थ नालन्दक प्राचीन

गौरवको प्रमाणित करते हैं। ये दोनों ग्रन्थ-रत्न अक्षरपर्यन्त प्रकाशित नहीं हुए हैं। हमें इनकी जो बातें विदित हुई हैं, वह एक जैन महात्माकी (मेरे बहुत दिन पहले नालन्द-अनुसन्धान-कालमें) कृपाके फल हैं।

पण्डित हंससोमकी “पूर्वदेशचैत्यरिपाटी”में स्पष्ट लिखा है—

“नालदे पाडे चौद चौमास सुणी जे
हौडा लोक प्रसिद्ध ते बडगाम कही जे
सोल प्रसाद तिहाँ अच्यै जिन बिम्ब नमीजे”

“समेतशिरारतीर्यमाला”में, इस विषयमें, और भी साफ है। उसमें लिखा है—

“बाहिरी नालदा पाडो
सुणयो तस पुण्यपयाडो
वीर चौद रुहा चौवास
हौडा बडगाम निवास

विह देहरे एकसो प्रतिमा नजीलट्टिई बोधनी गण्यिमा ।”

यदि नालन्द वास्तवमें राजगृहका एक महल्ला रहा हो, तो इतनेसे ही हम अनुमान कर सकते हैं कि, राजगृहकी एक उसके लोगोंकी अवस्था प्राचीन कालमें कैसी घड़ी-चढ़ी रही होगी। नालन्द तथा राजगृहके बीचकी दूरी सात मीलोंने कम नहीं है।

बौद्धमहाविल्यमें नालन्दका सर्व प्राचीन वर्णन “दिग्ग निवास”, “मज्झजालसूत्र” तथा “महापरिनिर्वाणसूत्र”में है।

बौद्धग्रन्थोंमें विदित होता है कि, नालन्द राजगृहका एक भाग था। भगवान् बुद्धके जमानेमें नालन्द एक ग्राम स्थान था। यदि ऐसी बात न होती, तो “अन्तरा वा रामगाम, अन्तरा वा नालन्दम्”

कहना उपयुक्त न होता। जैन तथा बौद्ध, दोनों ग्रन्थोंसे मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि, नालन्द राजगृहकी सीमासे बाहर, किन्तु इसीके दायरेमें, अवस्थित था। मुझे मालूम नहीं कि, ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें नालन्द-विषयक कोई चर्चा है या नहीं। सम्भवत कोई सम्बन्ध न रहनेके कारण ऐसी चर्चाका अभाव होगा। हम जानते हैं कि, राजगृह कृष्णके शत्रु जरासन्धसे सम्बद्ध होनेके कारण एक कान्य-प्रसिद्धकी भूमि है। वहाँके पण्डे अभी भी यात्रियोंको “जरासन्धका अखाडा” दिखाया करते हैं!

बौद्धिल्य-विरचित अर्थाशास्त्रके मैसूर-संस्करणके ७७ वे पृष्ठमें, नालन्दके सम्बन्धमें, यों लिखा है—

“राजगिहेय्याम आश्रमे नालदाय्याम बाहिरिश्वा होता अयोगमवणसअणियाविद्धा ।” [राजगृहे नाम नगरे नालन्दानाम बाहिरिश्वा आसीत् अनेकभवनशतसन्निविष्टा इति परमेश्वर्यसमृद्धबाहिरिकाजातिवर्णनं सूयगाग-सूत्रे नालन्दाभ्ययने दृश्यते ।”

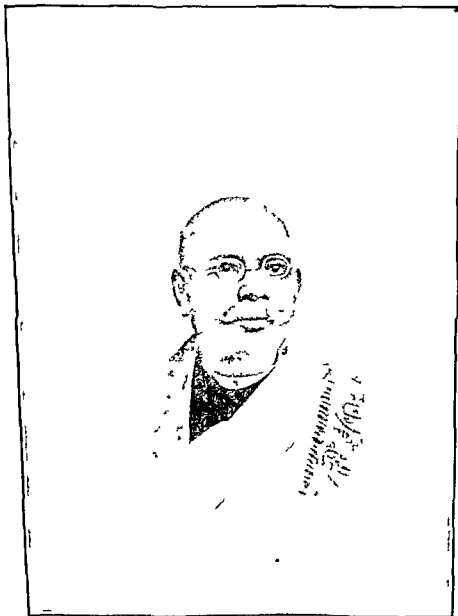
यहाँ भी नालन्द राजगृहका एक उन्नतिशील स्थान कहा गया है, जिसमें सैन्धो भवन थे। हाँ, इस जगह बाहिरिकाको जाति कहना सत्यतासे अत्यन्त दूर है।

उपयुक्त बातोंने सिद्ध है कि, नालन्द ईसाके शताब्दियों पूर्व एवं पश्चात् भी एक उन्नतिशील नगर था। दो मात्र धर्मगुरुओं (महावीर तथा बुद्धदेव)की परछाई-भूलिने, सौन्दर्यमया मंखो, पद्मपरिपूर्ण सरोवरने तथा जैन एवं बौद्ध धर्मोंके इन्द्रभूति एवं सारिपुत्र नामक दो प्रजापतिगणोंके निवास-सम्यग्यने प्राचीन-मध्य कालमें इस

गङ्गाका “पुरातत्त्वाङ्कः” ➡



१६८—या० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए०, बार-पेट-ला



૧૬૯—ડાઁ અધિતાશયન્દ ઢામ ઇમઁ ઇ૦, પૌન્ન્યઁ ડાઁ

मगध, विदेह, अंग और वंग देशोंको समाच्छेद करके विद्यमान था। किन्तु अश्वमेधमें कहीं भी इन देशोंका उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि, यह सम्प्रभु विभाग, उस समय, समुद्रगर्भमें निमग्न था, यहिभूत नहीं हुआ था। पौराणिक युग और परवर्ती कालमें अत्यन्त विख्यात गङ्गा तथा यमुना नदियोंका भी अश्वमेधमें एक या दो जगह ही उल्लेख देखकर हमें विस्मित होना पड़ता है। इसका कारण भी यही हो सकता है कि, ये थोड़ी ही दूर तक बहनेवाली छोटी नदियाँ थीं। हिमालयसे समतल क्षेत्रोंमें अवतीर्ण होकर पूर्वसमुद्रमें निपतित हुई थीं। इसीसे इन दोनों नदियोंका गौरव अश्वमेधमें नहीं है; किन्तु सरस्वती, इन्द्रावती, घग्घा, घसिकी, विपाशा, शतद्रु, सिन्धु और इन नदियोंसे मिलनेवाली उपनदियोंका उल्लेख अश्वमेधमें बहुलतासे पाया जाता है। यह पूर्व समुद्र पंजाबके इतना निकट था कि मगधदेश अग्निगण भरिविषय, उषा और सूर्यको हम समुद्रके गर्भमें समुत्थित होते देखते थे। ७ अगर समुद्रमें सूर्यको अस्त होते भी देख सकते थे (१०।१३।१२)। यदि अगर समुद्र अश्वमेधसागर या उसके एक शाखा मात्र था, जो "सिन्धुसागर" नामसे भी परिचित था और आधुनिक सिन्धु प्रदेशके ऊपर बहा जाता था।

ऊपरकी थोड़ीसी धातुचिन्ता द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि, अश्वमेधिक कालमें, वर्तमान पंजाबकी पूर्ण, पश्चिम और दक्षिण दिशाओंमें परस्पर संयुक्त समुद्र थे। परन्तु अश्वमेधमें "सु समुद्राः"—चार समुद्रोंका उल्लेख देखा जाता है (१।३।१६; १०।१०।१२)। यहाँ अश्वमेधविदोंका कथन है कि, ऐतिहासिक युगके प्रारम्भ पर्यन्त बाह्य और पारम्पर्य देवके उत्तरीय भागमें

एवम् वर्तमान तुर्कस्तानके पश्चिमीय प्रान्तमें एक विस्तार भूमिप्रासागर विद्यमान था, जो किसी नैसर्गिक कारणसे शुष्क होकर अभी कृष्णहृद् (Black Sea), कारस्पियन (Caspian Sea), आरलहृद् (Sea of Aral) तथा बलकाशहृद् (Lake Ballash) के रूपमें परिणत हो गया है, जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपसे अवस्थित हैं। X यह विस्तीर्ण भूमिप्रासागर ही अश्वमेधको चतुर्थ समुद्र था। इन चारों समुद्रोंमें आर्य वणिग्गण पोतोंके द्वारा यात्रा किया करते थे और वाणिज्य द्वारा स्वदेशमें प्रभूत वैभव लाया करते थे। *

"राय समुद्रां ब्रह्मरोष्मभ्य सोम विश्वतः।

आ परस्व सद्यिष्णुः॥" (१।३।१६)

हम मन्त्रके भाष्यमें सायणाचार्य लिखते हैं—"रायो धनस्य सम्बन्धिन चतुराः समुद्रान् धनप्राप्त्यर्थं—" इत्यादि।

इसका सरल अर्थ है, 'हे सोम, धन सम्बन्धी अर्थात् धनार्थी चारों समुद्रोंको चारों तरफोंसे मेरे निकट लाओ और अपरिमित अमितायायोंको भी लाओ।'

अश्वमेधके मन्त्र (१०।१०।१२)में इन्द्रको "चतुः समुद्रं वरुण रथीणां" कहा गया है। सायणाचार्यने, "चतुः समुद्राः, का अर्थ "चतुराः समुद्रान् यः पयसा व्याप्नोति तम्" और "वरुण रथीणां"का अर्थ "वरुण धारक तेषां रथीणां पनानां" किया है। इससे स्पष्ट विरहित होता है कि, आर्योंके प्राचीन निवासके पश्चिम चार समुद्र थे।

किन्तु समय प्रगल्भ प्रदेशके दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में समुद्र विद्यमान था, इसे निश्चित करनेमें भूतत्वविदोंके भिन्न भिन्न मन हैं। विख्यात साहित्यिक मि० एच० बी० वेबने अपने *Outline of History* नामक

७ अश्वमेध—१।३।१६; १।१०।१०, १।३।१०, १०।३।१३, १०।१०।१२, १०।१०।१२, १०।१०।१२, १०।१०।१२, १०।१०।१२ इत्यादि।

× *Ency Brit Vol. IV PP. 179—181 (9th Ed.) and Vol. XXXIII P 634*
• १।१०।१३; १।३।१३, १।१०।१३, १।३।१३, १।३।१३, १।३।१३

मध्यमे लिखा है कि, इस तरहके समुद्रका अस्तित्व आजसे २५००० या ५०००० वर्ष पूर्व हो सकता है। यदि २५००० ही रखा जाय, तो भी ऋग्वेदके प्राचीनतम मंत्रोंका रचना-काल, इसी समयके अनुसार, अनुमानतः निर्धारित किया जा सकता है।

जो हो, पूर्वोक्त चतु सीमाके अन्तरालमें ही प्राचीन आर्योंका निवास था, इसमें सन्देह नहीं। इसी चतुःसीमाके आवेष्टन-मध्यमें आर्यगण बहुसंख्यामें विभक्त होकर वास करते थे। कोई शाला सप्तसिन्धु प्रदेशमें, कोई शाला कारमीरमें, कोई गान्धारमें, कोई बिलोचिस्तानके उत्तरमें, कोई बाङ्गलीकमें और कोई तुर्किस्तानमें बसती थी। आर्योंकी एक शाखा, घर्मे-कलहके कारण, सप्त सिन्धु देश को छोड़कर ईरान (वर्तमान फारस)में बसने चली गयी थी।

ऋग्वेद (१।६।१।१६) में देखा जाता है कि, गोमती नदी (गोमल नदी) के तोरपर पर्याप्ततम प्रदेशमें दुर्भुज राजा रघवीतिका राज्य था। अग्नि-वंशीय अर्धनाना अपि उसके सोम-यामोंमें प्रधान होताका कार्य किया करते थे। इसी अपि के पुत्र श्वावाश्वने अपित्व लाभ करके राजा रघवीतिकी कन्यासे विवाह किया था। राजा रघवीतिके राज्यसे कुछ ही दूर राजा डग्नतका राज्य था। उसकी दानव्रीडार सहयोगकर नाम शयीयसी या (१।६।१।६-७) राजा डग्नतके राज्यके समीप ही विदुदरवपुत्र पुरुमीडका राज्य था (१।६।१।६-१०)। गोमती नदी गोमल-व्याम (Gomal Pass) के बीचसे बहती थी। वैदेशिक शत्रुओंके आक्रमणों या अग्निधानोंसे रक्षा करनेके लिये इन दुर्गम गिरि-धामोंके निकट उक्त राजा लोग राज्य करते थे। वह भी विशेषकर कुर्रम और खैबर प्रभृति गिरिधामों (Kurram and Khybar Passes) की रक्षा करनेके लिये ही। बिलोचिस्तानके उत्तरागम को बोलन-गिरिधाम (Bolan Pass) है, सम्भवतः वहाँ भी आर्यगण बसते थे।

ऋग्वेदमें बहुत नदियोंका नाम दिया जाता है। उनमें सरस्वती और सिन्धु-नदी श्रेष्ठ हैं। ऋग्वेदके १०।७।१६ से ज्ञात होता है कि, सिन्धुसे पूर्वकी और बहनेवाली नदियाँ थीं—१ गङ्गा, २ यमुना, ३ सरस्वती, ४ शतद्रु, ५ परुष्णी (ईरावती या रावी), ६ थसिकी (चिनाब), ७ वितस्ता (रेवत), ८ सरद्रुघा (असिकीसंगता विवस्ता), ९ आजीकीया (यास्करे मतसे विपाशाका एक नाम) और सुपोमा (यास्करे विचारसे सिन्धु नदीका नाम)। इसी सूक्तके छठे मंत्रमें सिन्धु-नदीके पश्चिम प्रवहमाना शाखा-नदियोंका भी नामोल्लेख है—१ नृपोमा (चिप्लकी एक नदी), २ सुसर्तु (सुवाल), ३ रसा (रहा), ४ श्वेती (थर्जुनी), ५ क्रुमु (कुर्रम नदी), ६ गोमती (गोमल नदी), ७ कुमा (काबुल नदी) और ८ मेहलू। ये शाखा-नदियाँ सिन्धुकी पश्चिम दिशासे, गान्धार (अफगानिस्तान) और बिलोचिस्तानके उत्तर भागसे, प्रवाहित होकर इसी (सिन्धु) में मिलती थीं। ऋग्वेदमें इनके अतिरिक्त इन नदियोंके भी नाम पाये जाते हैं—१ श्वेतवावरी (७।२६।२८), २ शिफा (१।१०।३।३), ३ सजसी, ४ कुलिशी, ५ वीरवली (१।१०।३।३), ६ सरयू (२।६।१।६; १०।६।१।६), ७ अरीनर (५।१७।१।६ एक नाम ७।१।६।६), ८ द्यवली, ९ धपवा, १० जह्वावी (२।६।६।६) प्रभृति। सरयूनदीको कोई-कोई कोराल-राज्यमें बहनेवाली सरयूनदी ही समकते हैं, किन्तु यह सर्वथा भ्रान्ति है। ऋग्वेदके मन्त्र-रचनाकालमें कोराल-राज्यका अस्तित्व ही नहीं था। यह सरयू अफगानिस्तान की एक नदी थी। किसीके मतमें लघुशिलाके पास बहने-वाली किसी नदीका नाम सरयू था। वेद ऋग्वेदमें इसका नाम "हरयू" है। ऋग्वेदके १।६।१६ मन्त्रमें रगावारव अपि इस प्रकार सरद्रुघाकी स्तुति करते हैं—“हे सरद्रुघा, रसा, धनिकमा, कुमा और सर्वत्र गमनशीला

सिन्धु-नदी जिससे तुम लोगोंके लिये विलम्ब उत्पादन नहीं करें। जबपूर्ण सरयू जिससे तुम लोगोंको निरुद्ध करके नहीं रखे। हम लोग जिससे तुम्हारे आगमनजन्य सुखको लाभ कर सकें।" मरुद्गण बारिवर्षणके प्राक् कालमें प्रवाहित होते थे ("१।१३।१०")। सुतरां इनका जलोप वाष्पसमूह पश्चिम और उत्तर देशसे प्रवाहित होकर पूर्वदिश्वर्ती सप्तसिन्धु-प्रदेशमें जाता था, इस विषयमें संदेह नहीं है। इसलिये श्यावाश्व ऋषिने अफगानिस्तानके मध्यमें प्रवाहित होनेवाली रसा (रहा), अनिता, कुमा (काजुल नदी), सरयू (हरयू) और सप्त-विन्धुकी सीमान्तवर्तिनी विन्धु-नदीका उल्लेख किया है।

पाठकोंको स्मरण होगा कि, श्यावाश्व ऋषिके पिता अर्चनानाने गोमज वा गोमतीके तीरवर्ती राजा रथ-धीतिकी राजधानीमें लोम-याग किया था और श्यावाश्व ऋषिने वहाँ राजाकी कन्यासे विवाह किया था। इससे यह स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि, श्यावाश्व उसी प्रदेशमें, सिन्धु नदीके तटपर, वास करते हों। श्वेताश्वी, शिफा, अजयवी, कुमिश्री, घोरपानी और खदीना प्रभृति नदियोंको यहूतरे याहीद-प्रदेशकी नदियाँ कहकर अनुमान करते हैं। मेरे विचारसे भी यह अनुमान सत्य मालूम पड़ता है। "जदावी" नदी गङ्गा या जादवी नहीं थी। पण्डित रुद्रदेव शास्त्रीका मत है कि, "विन्धु-नदीके परिचय, पौषकोशके पूर्व और गुजरात-प्रदेशके उत्तर पदावी प्रदेश है।" इन्हे १।१३।१६ मन्त्रमें "पुराणमोक" (पुरातन आश्रयस्थान या गृह) कहा गया है। इस प्रदेशमें वा यही बरही थी, उसका नाम जदावी था।

अपनेद्वे दो मन्त्रोंमें (१।२०।२-६) "दरि-गुपीया" और "पत्थारतो" का उल्लेख देला जाता है। आश्वमेदे स्तवज कहते हैं कि, "दरिगुपीया टिनी नदी का मगधा नाम है। यशोधरी हरिगुपीयाका ही नाम-

न्तर मात्र है। हरिगुपीया वा यथोक्तवी किस कारणों प्रवाहित होती थी, यह नहीं जाना जा सकता।" अश्वमे-पक हिले मांडट (*Hillebrandt*) का मत है कि, "समभवतः ये दोनों नदियाँ सप्तसिन्धुके दक्षिणार्गमें थीं।" तिसी-किसीके मतसे हेरात-प्रदेशके मध्यमें प्रवाहित हरिरद नदीका प्राचीन नाम हरगुपीया था। इसी नदीके तीरपर इन्द्र वृचिवान्के वरके व्याक्तियगको पराजित करके देवराजवंशीय अश्वमेदकी अधीन कर दिया था। कोई-कोई अनुमान करते हैं कि, यह वृचिवान् ब्रिजिस (*Briges*) नामक जातिसे अभिन्न थे और किंजय नामक देशमें वास करते थे। यह अनुमान सत्य मालूम पड़ता है; क्योंकि आर्यगण पश्चिम पश्चिमापर्यन्त, युद्धके लिये, अभियान किया करते थे।

अश्वमेद (६।४१।३३ मन्त्र)में भी गङ्गाका उल्लेख है—“उरुः कउः न गाङ्गवः”। इस मन्त्रोक्तका अर्थ “गङ्गाके उन्नत कूजकी तरह” है। समस्त चेन्नमें प्रवाहित गङ्गाका कूल उन्नत वा उच्च नहीं है। किन्तु हरिद्वार या हपीकेशके निकट गङ्गा उन्नत पर्वतराजिके मध्यमें प्रवाहित होती है; इसलिये उसका कूल उन्नत योजा जा सकता है। सम्भवतः वैदिक ऋषिने हरिद्वारके निकट स्वयं परितरावाली और पूर्वमुखमें गिरनेवाली गङ्गा नदीको उन्नतकूलवाली कहा है।

यमुना नदीका तटसमूह चापवत् उर्ध्व एवं नृणां प्रपन्न चाप्यभूमि द्वारा परितोभित था। इसी कारण इस प्रदेशकी गीर्वा प्रचुर-दुग्धवती होती थी। श्यावाश्व ऋषिने मरुद्गणके निकट इस तरहकी प्रार्थना की थी—“मं त्रितसे यमुना-नदीके तीरपर प्रसिद्ध धेनुगणको लाभ कम्” (१।२२।१०)। किन्तु गङ्गा और यमुना की वही नदियाँ नहीं थीं; इसलिये इनकी स्तुतिमें कोई शक्यता नहीं रहती तथा गया।

आर्यगणके द्वारा अभ्युपनिषद् प्रदेशके मध्यमें सिन्धु

और सरस्वती नदियाँ ही श्रेष्ठा थीं ! नदी-स्तुतिमें सिन्धुवा वर्णन इस प्रकार है—

“.....सकल नदियोंमें सिन्धु-नदी ही, लेजमें, श्रेष्ठ है। हे सिन्धु-नदी, जब तुम अन्नशाली अर्घाव शस्यशाली प्रदेशको लक्ष्य करके वर्द्धित हुई, तब वरुण-देवने तुम्हारे पथको जानेके योग्य बना दिया था। तुम भूमिमें ऊपर उन्नत पथमें होकर गमन करो। तुम सकलग्रामनशील नदियोंके ऊपर विराजो।

“सिन्धु शब्द पृथ्वीसे उठकर आकाशतकको व्याप्योदित कर जाता है। मशान् वेगसे उज्ज्वल होकर यह चली है। इसके शब्दको सुनकर मनमें होता है कि, मेघ घोर रवके साथ वृष्टि कर रहा है। सिन्धु घाती है, जैसे वृष गर्जन करता हुआ आता हो।

“हे सिन्धु, जैसे छोटे पड़नेके निकट उनकी माताएँ दुग्ध लेकर जाती हैं, वैसे ही नदियाँ अन्न लेकर, शब्द फाँसी हुई, तुम्हारी तरफ, चारों ओरसे, जाती हैं। जैसे युद्ध करनेके समय राजा सैन्य लेकर जाता है, वैसे ही तुम अपनी सदागमिनी इन दोनों नदी-श्रेणियों (सिन्धुके परिचम और एषमें बहनेवाली नदी-श्रेणियों) को लेकर आगे-आगे चढ़ती हो।

“हे राजे, हे यमुने, सरस्वति, शतद्रु तथा परण्डि, मेरी इस स्तुतिमें तुम सब विषय करके ले लो। हे अस्तिनी-संगता मरुद्वा नदी, हे वितस्ता और सुयोमा-संगता घागीरीया नदी, तुम सब भवण करो।

“हे सिन्धु, तुम पहले नृप्योमा नदीमें मिलकर चलो, पीछे यमुना, रसा और खेतीके साथ मिलो। तुमने द्रुमु और गोमतीको कुशा और मेरुद्वेके साथ मिजाया। तुम सबके साथ मिली हुई हो।

“यह दुर्द्धर्प सिन्धु सरल भावसे जाती है। इसका वर्ष शुभ तथा उज्ज्वल है। यह बहुत बड़ी है। इसका जल चतुर्दिक् परिपूर्ण है। जितने गतिशाली हैं, उनमें सभसे अधिक गति इसीकी है। यह घोड़ीकी तरह अद्भुत है। यह स्थूलकाया रमणीकी तरह सुन्दराना है।

“सिन्धु चिरयौवना और सुन्दरी है। इसे उत्कृष्ट रथ, उत्कृष्ट चरव और उत्कृष्ट बल है। इसका रूप उत्तम है। इसे बहुत अन्न है और बहुत पशुकोम है। इसके तीरपर शीलमा नामक वृक्ष और सुगन्धि फूल होते हैं।*

“सिन्धुने अश्वयुक्त सुन्दर रथकी योजना की थी। उसके द्वारा यज्ञमें अन्न पहुँचाया था। इसकी महिमा अतुलनीय है। यह दुर्द्धर्प है और अपने यज्ञसे ही यश-स्विनी है।”^१

सिन्धु-नदीका यह उत्कृष्ट वर्णन किनना चमत्कार-पूर्ण है ! वैदिक कालकी तरह यह नदी आज भी महि-मामयी, वेगवती, प्रचण्डा और समृद्धिदायिनी है। अभी भी राज्या और सिन्धु-प्रदेशमें अच्छे घोड़े जनमते हैं। अच्छे सूती कपड़े और ऊनी कपड़े प्रसृत होते हैं। यव, गोधूम चादि प्रचुर परिमाणमें उत्पन्न होते हैं। पर्वत-मय तटभूमिमें सुगन्धित पुष्पोंका बाहुल्य है। ऋग्वेदीय युगमें सिन्धु-तटपर बहुत समृद्ध-समृद्ध जनपद थे। वहाँ बहुतेरे घनाश्व और राजा रहते थे।

सप्तसिन्धु-प्रदेशके घोड़े, चिकीके जड़े, बाहर भेजे जाते थे। चक्रे और भेंदके क्रोमये सुन्दर कपड़े, राज और कम्बज तैयार होते जाते थे। श्रावस्त्रमें कहीं भी कपासकी चर्चा नहीं है। शीतप्रधान सप्तसिन्धु प्रदेशमें कहीं भी गन्नी कपड़ा नहीं पहनाया था। परन्तु युगमें जब शीतप्रधान कपड़का प्रोत्पन्नप्रधान कपड़ों पर निर्भर हो

* अश्वके इनी भूमिमें “ऊर्ध्वानी, विष्मदी, वज्रिनी, वीरमानी” इत्यादि नाम, बौद्ध-बौद्ध इत्यादि-

संस्कृत-नदी वसते हैं, अन्तु ये नाम सिन्धु ही विशेष हैं।

छा. रमेकण्ड ६५६ वगुण्डात्तमे टी३।

गया, * तब सप्तसिन्धु-प्रदेशमें सूती कण्ठे तैयार होने लगे। ये सूती कपड़े बेविलन (*Babylonia*) देशतक विक्रीके लिये भेजे जाते थे। वहाँ इन वस्त्रोंका नाम "सिन्धु" था। ऋग्वेदीय युगमें धान्य, यव और तिल प्रधान शस्य थे। गेहूँकी चर्चा समूचे ऋग्वेदमें कहीं भी नहीं है। यह अन्न परवर्ती युगमें विदेशसे आया था। यजुर्वेदमें इसका उल्लेख है; किन्तु विदेशी जानकर यज्ञीय कार्यमें यह व्यवहृत नहीं होता था। मि० वेल्स (*Wells*) का मत है कि, ईस्वी सन्से ६००० वष पूर्व मेसोपोटामिया और एशिया-माइनरसे गेहूँ भारतमें आया था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि, ऋग्वेदके बहुतसे मन्त्र वर्तमान समयसे ११००० वर्ष पूर्व रचित हुए हैं। उस समय तिल, धान्य और यव ही प्रशस्त यज्ञीय अन्न थे। X जो हो, उस समय सप्तसिन्धु-प्रदेशमें तिल, यव और धान्य प्रचुर परिमाणमें उत्पन्न होते थे। उसी प्राचीन कालमें, हिमालय और बाङ्गाली देशसे, सप्तसिन्धु-देशमें, प्रभूत परिमाणमें, स्वर्ण और मखिरादि लाये जाते थे। निकटवर्ती समुद्रसे मोती भी निकाला जाता था। कूर्जोंकी अधिकता होनेसे मधु भी बहुत होता था।

वैदिक अग्निगण केवल याग-यज्ञ और पूजा-पाठमें ही नहीं लगे रहते थे, बल्कि उनका भ्रान शिल्प, पाणिपत्र आदिके उपर भी था—यह सिन्धु-पुत्रिते स्पष्ट ज्ञात होता है। हमी लिये तो वे—अधिक गौरवान्वित हुए हैं। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके तृतीय सूक्तमें सारस्वतीका वर्णन इस प्रकार है—

"परित्रा, यज्ञयुक्त-यज्ञविशिष्ट और यज्ञकर्तृक-धनदात्री सारस्वती हम लोगोंके अन्नविशिष्ट यज्ञकी कामना करे।

"सूनुत वाक्पथकी उरपादयित्री, सुमति, लोगोंकी शिक्षयित्री सरस्वती हम लोगोंका यज्ञ ग्रहण करती है।

"सरस्वती प्रवाहित होकर प्रभूत जलयुक्त हुई है। इसने सकल ज्ञानका उद्दीपन किया है।" (१।३।१०-१२)

उपर्युक्त मंत्रोंका पाठ करनेसे विदित होता है कि, ऋग्वेदीय युगमें सरस्वती-नदपर ही बहुतेसे यज्ञानुष्ठान हुए थे और बहुतसे सूनुत वाक्पथमय मंत्रोंकी रचना हुई थी। ऋग्वेदके पष्ठ मण्डल, ६१ सूक्तमें सरस्वतीकी स्तुति इस प्रकार की गयी है—

"यह नदीरूपिणी सरस्वती मृगालखननकारीकी तरह प्रवल और वेगवान् तरङ्गके द्वारा पर्वतके कंगूरोंको भङ्ग कर रही है। हम लोग रक्षाके लिये यज्ञ प्रौर स्तुति द्वारा उभयकूत्रनाशिनी सरस्वतीकी परिचर्या करते हैं।

"हे सरस्वति, तुमने देवनिन्दकगणका यध किया है, संक्रंथापो मायावी वृत्तयुत्रका सहार किया है। हे अन्नसम्पन्ना सरस्वती देवि, तुम मानवगणको भूमि प्रदान करती और उनका परिषद्वन करती हो।

"सप्तनदीस्वरूपिणी, सप्तमगिनी-सम्पन्ना, प्राचीन अग्निगणकर्तृक सन्ध्याभूषणविता, हम लोगोंकी मितभा सरस्वती देवी हम लोगोंकी नियत स्तुति-योग्य हो।

"माहात्म्य और कीर्तिके द्वारा यह हम लोगोंके मन्त्रमें प्रसिद्ध है, नदीसमूहके मन्त्रमें यह अधिक वेग-पत्ती है, अछताहेतु यह निरतिशय-शोभाशालिनी है। यह सरस्वती ज्ञानी स्तोत्राका स्तुतिभाजन है।

"हे सरस्वति, तुम हम लोगोंको प्रशस्त धन दो। हम लोगोंको तुम दोन नहीं करो। अधिक धनके द्वारा हम लोगोंको उपवीक्षित नहीं करो। तुम हम लोगोंके यन्त्रधुको स्वीकार करो। हम लोग तुम्हारे निकटमें अव-रूप स्थानमें नहीं जायें।"

७ जेन्द्र रूपरामों लिखा है कि, प्रथम मेन्पु (शैलान) ने सप्तसिन्धु प्रदेशकी गीतप्रधान ब्राह्मणे मंत्रप्रधान श्रुतिमें परिचित कर दिया था।

X गेहूँ शास्त्रीय मन्त्रमें म्नेब्ज-भोजनके नामसे व्यवहृत हुआ है। अभी भी यह यन्त्रार्थमें नहीं व्यवहृत होता।

दशम मण्डलके ६४ वें सूक्तके नवें मन्त्रका अनुवाद पड़िये—

“महातरङ्गाग्निनी, प्रवाहशालिनी सरस्वती, सिन्धु और सरयू रचा करनेके लिये थावें। जलप्रेरणकारिणी, जननीस्वरूपा ये सकल देवियाँ हम लोगोंको धृततुल्य, मधुतुल्य जल दान करें।”

सप्तम मण्डलके नवें सूक्तके कविष्य मन्त्रोंका अनुवाद ऐसा है—

“देवी सरस्वती अयोनिर्मित पुरीकी तरह धारविघ्नी होकर धारक उदकके साथ प्रवाहित होती है। वह समस्त स्पन्दनशील अथवा जलको, महिमा द्वारा, वाचा प्रदान करती है।

“नदीगणके मध्यमें शुद्धा, गिरि-शबधि-समुद्र-पर्यन्त भगनशीला अकेली सरस्वती (नहुषकी प्रार्थना) अवगत हुई थी। नहुषके लिये उसने पार्थिव धन प्रदान किया था और घृत तथा सुवस्त्रा दोहन किया था।

“सुभगा सरस्वती प्रीत होकर हम लोगोंके यज्ञमें स्तुति श्रवण करे। अर्चनीय देवगण नवजातु होकर उसके निकट गमन करें। यह नित्य धनविरिष्ट है और सखा लोगोंके इति दयावती है।

“हे सुभगे सरस्वति, वसिष्ठने तुम्हारे लिये यज्ञका द्राघ खोज दिया है। हे शुभ्रवर्ण देवि, तुम वर्द्धित होओ, स्तोत्राको अन्न दान करो।”

सप्तम मण्डलके १६ सूक्तके ४, ५, ६, मन्त्रोंमें सरस्वती देवीके साथ “सरस्वान् देव”की भी स्तुति है। जिस प्रदेशमें सरस्वती प्रवाहित होती थी, उस प्रदेशमें गुप्तर-चेन्न (Glacier) था, जिससे उसकी धारा सदा पुष्ट रहा करती थी। सम्भवतः लोग उसीको सरस्वान् कहते थे। उक्त सीनो मन्त्रोंका अनुवाद इस प्रकार है—

“हम जषाभिजापी, पुत्राभिजापी और सुदानपुत्र

स्तोता हैं। हम सरस्वान् देवकी स्तुति करते हैं।

“हे सरस्वान्, तुम्हारा जो जलसमूह रसवान् एवं घृत-चारी है, उसके द्वारा हमारी रचा करो।

“प्रवृद्ध सरस्वान् देवकी स्तुति हम लोग करें। ये मेवकी तेरह दर्शनीय हैं। हम लोग उनसे प्रजा और अन्न लाभ करें।”

सप्तम मण्डलके सम्पूर्ण सूक्तके रचयिता महर्षि वसिष्ठ हैं। ये तृस्तुगणके प्रधान पुरोहित थे। तृस्तुगण (भरतगणके साथ) सरस्वतीके तटपर निवास करते थे। दामराज युद्धके समय तृस्तुगण परुषीके तीरपर ही रहा करते थे। पीछे भरतगणके साथ मिलकर ये तृस्तुगण सरस्वती-तीरपर आ बसे। हिमालयके पाददेशमें जो मिरपुर पर्वत है, वही सरस्वतीका उत्पत्तिस्थल माना जाता है। बहुतांका अनुमान है कि, पूर्व कालमें, इस जगहपर, एक विस्तृत गुप्तर-चेन्न था। यही गुप्तर-चेन्न पसीज कर सरस्वतीको पुष्ट करना था। वसिष्ठ सम्भवतः इसी गुप्तर-चेन्न प्रदेशको “सरस्वान्” (अर्थात् जिसमें निःसृत हो) कहते थे। मेरा अनुमान है कि, यहाँ एक *Glacial lake* था।

सरस्वती इस समय मरूभूमिमें विलुप्त हो गयी है। वैदिक कालमें भी यह इसी रूपमें थी, ऐसी बहुतांकी आन्त धारणा है। बहुतांका यद्यपि कथन है कि, सरस्वती का जो महातरङ्गाग्निनी, प्रवाहशालिनी आदि विशेषण है, वह वाल्मिकीमें सिन्धुका है—सरस्वतीका नदी, इसीलिये बहुत मन्त्रोंमें सरस्वती शब्दका अर्थ सिन्धु होता है। किन्तु ऐसी धारणा अत्यन्त आन्त है।

प्राचीन वैदिक युगमें सप्तसिन्धु-देश शीतप्रधान था, इसी लिये आर्यदेवके बहुत मन्त्रोंमें संवसरका नाम दिम या हेमन्त आया है। ७ उस समय सरस्वती नदीके उत्पत्ति-स्थानके निकट विस्तृत गुप्तर-चेन्न-समूह विद्यमान

था, जिसके पक्षीजनेसे सरस्वती नदी सदा भरा-पूरी रहती थी। X राजपुतानेमें गङ्गाकी उपस्थिति के निकट समुद्रके रहनेसे सतसिन्धु-प्रदेशमें खूब वृष्टि होती थी। इस वारिषर्षणसे भी सरस्वती का यौवन प्रफुल्लित हो जाया करता था। किन्तु कानूनवश, अथ, न वह गङ्गाय समुद्र है, न वह हिमालयका तुपारक्षेत्र-समूह। राजपुतानाका तलदेश मरुभूमिमें परिणत हो गया। सरस्वती सूख गयी। इस बातको पाश्चात्य भूतत्त्वविद् परिदृष्टगण भी स्वीकार करते हैं। फलतः ऋग्वेदका सरस्वती शब्द कहीं भी सिन्धुका चोतक नहीं हो सकता।

सरस्वती नदी और इसकी तटभूमि आर्यों के लिये धावन्त पवित्र वस्तु थी। सरस्वतीको आर्य लोग "अग्नि-तमे, नदीतमे, देवितमे" कहा करते थे अर्थात् सरस्वती श्रेष्ठा माता, श्रेष्ठा नदी और श्रेष्ठा देवी है (२।४. १।६)। इसी सूक्ते १० वें मंत्रमें है कि, सरस्वती ही सकल जीवों की आश्रयभूता है। ऋग्वेदमें, सिन्धु-नदी और सरस्वती-का मध्यवर्ती भू-भाग "देववृत्तयोनि" शब्दसे अभिहित हुआ है (३।३. ३।४)। महाराज मनुने सरस्वती और

इपद्मती नामक नदी-द्वयके मध्यवर्ती भू-भागका "देवनिर्मित देश" कहा है—

“सरस्वती-इपद्मत्योर्देवनद्योर्दन्तरम्।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावृत्तं पृथक्ते॥” [२।१७]

ऋग्वेदोप दशम मण्डलके १२१ सूक्ते चतुर्थ मन्त्रमें हिमाचल पर्वत-समूहका उल्लेख पाया जाता है। उस मंत्रका अर्थ इस प्रकार है—

“जिसकी कृपासे यह सकल हिमाचल पर्वत उत्पन्न हुआ है, सत्सागत पृथ्वी जिसकी सृष्टि है, ये दिशाएँ जिसके बाहुस्वरूप हैं। किस देवताकी हृष्य द्वारा पूजा करें?”

हिमालयके उत्तर प्रान्तसे मूलवान् पर्वतका उल्लेख है। इसी पर्वतपर उत्कृष्ट सोमलता होती थी। इसका नाम “मौजवत” या (१०।३४।१)। बहुतेकोंका अनुमान है कि, मूलवान् पर्वत ही वर्तमान कैलास है। मूलवान् या मूलवान् पर्वतके सम्बन्धमें महाभारतमें लिखा है—

“गिरेहि वतः पृष्ठे मुञ्जवान् नाम पर्वतः।

तपते तत्र भगवान् तपो नित्यमुपापतिः॥

[१४।८।१]

“Many parts of the Himalayas bear the records of an Ice-Age in comparative recent times. Immense accumulation of moraine debris are seen on the tops and sides of many of the ranges of the middle Himalayas, which do not support any glaciers at the present time. Terminal moraines, often covered by grass, are to be seen before the snouts of existing glaciers at such low elevations as 6000 ft. or even 5000 ft. Sometimes there are grassy meadows pointing to the remains of old silted-up glacial lakes.”

—Wadins “Geology of India,” P. 15-16.

“An explanation of the decrease of Himalayan glaciers is that it was a consequence of the diminution of the fall of snow, consequent on the gradual change of climate, which must have followed a gradual transformation of an ocean-area into one of clay land. The last named circumstance would also account for the great change in the quantity of rain-fall, and in the flow of the rivers, of which there are many indications in Western India, in Persia and the region east of the Caspian.

—Lacy. Brit. Vol. II, P. 689, 9th Ed.

अनार्य लोग (तिब्बतवासी) इन्हीं पर्वतपरसे, सोम-लताको बँचनेके लिये, आर्योंके पास, सप्तसिन्धु-प्रदेशमें, खे जाते थे। भूजवान्का सोम सर्वोत्कृष्ट होता था; इसलिये यह अत्यन्त समादृत था।

दशम मण्डल, १४ सूक्त, १२ मन्त्रका अनुवाद इस प्रकार है—

“हे प्रसारण, तुम्हारे पितृ-स्वरूप पर्वत तुम्हें युगयुगान्तरसे धारण किये हुए हैं। स्थिर है। उनकी अभिलाषा पूर्ण हो गयी है। वे हरिद्वर्ण-वृक्षविशिष्ट होकर पत्तियोंके कलरव द्वारा पृथ्वी और भूलोकको पूर्ण करें।”

प्राचीन कालमें प्रचण्ड भूमिकम्प द्वारा कभी-कभी पृथ्वी कम्पित और पर्वतसमूह प्रक्षुब्ध-भग्नुत्पन्न हो जाते थे (ऋग्वेद १।६३। १; २।१२।३; १।७।१)। भूचाञ्चले कभी-कभी पर्वत या उन्नत भूमि समतल हो जाती थी (१।६२।६; १।३०।१)। पंजाब और हिमालय प्रदेशोंमें इस तरहका भूमिकम्प प्रायः हुआ करता था, यह भूतत्त्वविद् लोग स्वीकार करते हैं। कुछ वर्ष पहले जो हिमालयकी काँगडा-उपरपकामें भयानक भूकम्प हुआ था, वह सबको विदित है।

पर्वतसमूह तो घनाच्छन्न था ही; वहिक सप्तसिन्धु-प्रदेशमें समूचे क्षेत्रमें भी घन-घोर जङ्गल था। ऋग्वेदके १०।१६ सूक्तमें “अरण्यानी”-समृद्धिपत्ती एक सुन्दर खुल्लि है, उसकी रचना जैसी चमत्कारिणी है, वैसी ही कविचमयी भी।

सप्तसिन्धु-प्रदेशके दक्षिण भागमें समुद्रतटपर एक मरुभूमि थी (१०।६३।१८)। उस समुद्रतटकी बालुका-रामिने उड़-उड़कर कितने ही स्थानोंको भ्रतुर्वर और बालुकामय बना दिया था। ऋग्वेद (८।४१।२१)में उँटका उल्लेख है, जिसके द्वारा यदि गन्ध और खनसाधारण मरुभूमिका अतिक्रमण किया करते थे। इस समय उँटका

व्यवहार मरुभूमिमें, शत्रुओंसे लड़नेके लिये, या यों भी युद्धके लिये तथा घोड़े डोनेके लिये होता था (१।१३८।२)।

समूचे ऋग्वेदमें इतने प्रकाशके पशु-पक्षी आदिका उल्लेख देखा जाता है—गो, अरव, मेघ, महिष, ऊँट, छाग, गर्दभ, हस्ती, बुधुर, भृगाल, सिंह, वृष, गौर मृग (वन्य महिष या *bison*), हरिण, कस्तूरीमृग, कृन्ध-सार मृग, वराह, उल्लूक, शुक, मृग, वृष, शकुन (वह्ना कौशा), श्येन, वार्तिक (यत्त), कपिशल (तित्ति), चक्रवाक, सप, मण्डूक, गोघा, वृश्चिक, मत्स्य इत्यादि। “धरवतरा” (खच्चर)का भी नाम ऋग्वेदमें प्राया है। किन्तु इसके सिवा ब्राह्मणग्रन्थ या अन्य वेदोंमें धरवतर (mule)का बहुत उल्लेख है।

गृहस्थ पशुओंके समर्थमें उपधातर गौ पालते थे। मेघ और छाग पालनेकी भी प्रथा थी। यकरा आबकलकी अपेक्षा बड़ा होता था; क्योंकि पूरा देवका रथवहन यकरा द्वारा ही होता था (१।१३८)। कुत्ते भी आकार-प्रकारमें बड़े होते थे। ये घोड़े डोने और शिकारके काममें आते थे (८।४६।२)। गद्दे रथमें जोते जाते थे और अदनीके काममें भी आते थे (१।३४।१)। जनैक अपि एक बार सौ गद्दोंके लिये प्रार्थना करते हैं (८।२६।१)। घोड़े चरनेके, रथमें जोतनेके, हज कौचनेके तथा घोड़े डोनेके काममें आते थे। यशमें गौ, अरव, महिष, छाग आदिकी बलि दी जाती थी एवं उनका मांस भी खाया जाता था। काव्यक्रमसे, ऋग्वेदीय युगमें ही, गोकी हिंसा रोक दी गयी। “अयम्या”—इनके प्रयोग—शब्द इनके लिये व्यवहृत होने लगा। गोके बारेमें लिखा [८।१०।११६] है—

“जो दग्धकी माता, यमुषीकी दुहिता, आदिष्य-गणकी भगिनी और दुष्टरूप दग्धवत्ता अतिविषय है, वह निरपराधितो अदिति-वधूया गो देवा दधत्य है—मैं वह बात जानो मनुष्यको बरता हूँ।” दूसरे सूक्त [१।२८]

में गौकी तुलना इन्द्र, भग प्रभृति देवताओंसे की गयी है ।

यजुर्वेद (३०।१८) में गो-घातकके लिये प्राणव्ययकी आज्ञा है । गो-हिंसाका निषेध है—“गां मा हिंसीदिति विराजम्” [१३।४३] । अदिति अर्थात् विराजल-रूपविणी गौकी हिंसा मत धरो । गो-हिंसा क्यों रोकी गयी थी, यह भी देखें—“जो हजारों मनुष्योंकी जीवन-रक्षा करता है, जो दूध देती है, घी उत्पन्न करती है, यह भवभया है । उसकी हिंसा नहीं करनी चाहिये (यजुर्वेद १३।४६)।”

अथर्ववेदमें गो-हिंसा-निषेधक बहुत-से मंत्र हैं । उनकी आलोचना करनेसे यह ज्ञात होता है कि, गो-हिंसा प्रचलित थी; परन्तु परवर्ती कालमें उसका एकवारगी ही निषेध हो गया ।

अश्वके सम्बन्धमें पारवार्त्त्योंका विचार है कि, अश्व द्वारा आर्यगण सय कार्य करते थे; परन्तु उसपर सवारी नहीं करते थे—आर्योंके पास घुबसवार सेना भी नहीं थी । लेकिन यह विचार नितान्त भ्रान्त है । अश्वेदके हन मंत्रोंमें घुबसवारीकी खर्चा है—१।१५६।१; १६८।३; १६८।७; १६९।६; २।२७।२२; ४।४२।४; ५।६१।११; ६।३।३; ५।३।३; ६।६।१२-३; ८।२।७; ८।६।३६ ।

हस्तीके सम्बन्धमें भी पारवार्त्त्योंका विचार ऐसा ही अशुद्ध है कि, यह पशु सप्तसिन्धु-प्रदेशका नहीं है, बाहर-से लाया गया है; क्योंकि हाथीका नाम नहीं जानकर आर्योंने हस्तकी स्त्री-रूपी “हस्त” समझकर हस्तका नाम हस्ती रख दिया । किन्तु यह विचार गिराधार है । अश्वेदमें ही (४।४।१; ८।३३।८; १०।४०।४) में हाथीके लिये “हभ” और “वारण” शब्द आये हैं । हिमालयके पादमूलरूप वनमें पहले भी बहुत हाथी थे । मछल्ल भद्विने पहले-पहल हाथीको कैसानेका और पाजलू यनानेका काँशल प्राप्त किया था; इसीसे हाथीका एक नाम माठल भी है । -

पारवार्त्त्य पण्डित यह भी कहते हैं कि, अश्वेदमें मत्स्यका उल्लेख नहीं है; किन्तु १०।३८।८ मन्त्रमें मत्स्यका पृथ ८।६७ सूक्तमें महामीनका उल्लेख पाया जाता है । रोपोक सूक्तमें वात द्वारा मछली यमनेका भी जिक्र है । प्राचीन आर्यगण मछली खाते थे या नहीं, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, परन्तु मोक्षोद्धारोंमें, सर जान मारनेके, हस्तका प्रमाण पाया है कि, ईसापू ३००० वर्ष पूर्वमें ये मछली खाते थे । आधुनिक जयपुर प्रभृति रा-यसमूहको पूर्व कालमें “मत्स्य-प्रदेश” कहा जाता था; क्योंकि हस्तके निकट बहुत मत्स्यपूर्ण समुद्र विद्यमान था ।

अश्वेदमें सर्पों, त्रिपैले कीड़ों और बहुत प्रकारके सरीसृपोंका उल्लेख है । विपनारा कानेका मन्त्र भी है (१।१६१; ७।२०) ।

अश्वेदमें शरवण वृक्षका उल्लेख है; किन्तु न्यग्रोध या वटवृक्षकी खर्चा नहीं है । यह वृक्ष सम्भवतः दुर्दिष्ट-पत्रमें होता था । वहीसे परवर्ती समयमें यह धार्मावर्तमें लाया गया । ऐतरेय-ब्राह्मण (७।३।४) में न्यग्रोध-वृक्षकी उत्पत्तिके विषयमें लिखा है कि, देवताओंने जिस भूमिपर यज्ञ किया था, अपने चमसको वही छोड़कर स्वर्ग चले गये थे । चमस “न्युवन्” (अधोमुख) रखा था । वही चमस धरो चलकर वृक्ष हो गया; उसीका नाम पदा—न्यग्रोध । कुरुक्षेत्रमें ही सर्वप्रथम न्यग्रोध उत्पन्न हुआ था । जो हो; किन्तु ऐसा नहीं देला जाता है कि, कुरुक्षेत्र या उत्तराप्रयमें न्यग्रोध पहले नहीं था ।

अश्वेदमें शमी, पत्तारा, शाकम्बी, खदिर, शिंशपा, शिशुल या शिशुल वृक्षका उल्लेख है; किन्तु शाल, आम या पनस वृक्षका उल्लेख नहीं है । इक्षुका नाम है (१।८६।१८) ; किन्तु इक्षुरस द्वारा गुह बनानेकी बात नहीं है । मछुकी यदा चलती थी । यज्ञमें मछु खूब खाया-पीया जाता था । यव और धान्य प्रधान शस्य था । चान-

वर्षा-कालमें और जब शीत-कालमें उत्पन्न होता था। धान्यमें ज्यादा पानीकी जरूरत होती थी, इसलिये आर्य-गण सोम-याग किया करते थे। इन्द्र सोमरसका पान करके बलवान् होते थे और वृष्टिनिरोधक मेघरूपी वृत्रका वध किया करते थे। बारह दिनोंसे अधिक जब सोम-याग अनुष्ठित होता था, तब उसका नाम 'सत्र' होता था। राजगण सात महीने, नौ महीने, दस महीने या बारह महीनेका भी सत्र किया करते थे।

यगर आर्योंका प्रधान शस्त्र धार्य नहीं होता, वो दूसरी फलकके लिये ये बार-बार प्रार्थना करी भी नहीं करते। (जौ यव) शीत या वसन्तकालमें होता है; इसके लिये एक या दो पानी ही काफी है। अभी भी पञ्जाबमें अधिक वृष्टिका अभाव है; सुखदूर्वक धान्य नहीं होता है। इसलिये प्राश्नाथ पण्डित कहते हैं कि, ऋग्वेदीय धान्यका यथं "मवादिशस्य" है। किन्तु मेरे विचारसे प्राश्नाथोंकी धारणा भ्रान्त है। तिल, मुद्ग, संपप, मोहि इन्धुति शस्यका नाम वैदिक साहित्यमें देखा जाता है; परन्तु गोधूमका नाम नहीं। गेहूँके बारेमें मैं पहले लिख चुका हूँ।

सोम एक प्रकारकी लता थी। हिमगिरि, मुजयान् पर्वत, कीकट और सप्तसिन्धु-देशके शरण्यावत् सरोवरके तीरपर यह लता उगती थी। कीन्दटा अर्थ मण्डप नहीं था, सप्तसिन्धु प्रदेशके निकटकी एक पर्वतीय भूमि था। सोमके रसमें कृष और मोठा मिठाकर आर्य लोग उसे देशताको नियेदित करके पीते थे। सोमपान करनेमें देह और मनमें कृष्ण उत्तेजन होती थी।

ऋग्वेदमें रव्यां, रौप्य, ताग्र और जीह्वा उल्लेख है। "आयम्" शब्द ताग्र और जीह्वा, दोनोंके अर्थमें आता है; किन्तु जोह्वा शब्द आयम् कहा जाता है। स्त्री, पुरुष, दोनों ही मोने-न्यादीके गहने पहनते थे। जोह्वा और तांसेके गानादिष अक्ष-शब्द बमते थे। दिमाज्य और

वाहीक-देशमें बहुमूल्यवान् रत्न पाया जाता था। रत्नोका साधारण नाम मयि था। मुक्तामालाका भी उल्लेख है। मुक्ता प्रचुर परिमाणमें होती थी, यहाँतक कि, धनी लोग घोड़ोंकी गदनोंमें भी मुक्तामाला लटका दिया करते थे। ऋग्वेदमें लवणका उल्लेख नहीं है, इसलिये बहुतेरे कहते हैं कि, वैदिक आर्य लोग लवणको व्यवहारमें नहीं लाते थे; किन्तु यह कहना ठीक नहीं। सप्तसिन्धु-प्रदेशकी चारों तरफ लवण-सिन्धु था एवम् पञ्जाबमें अभी भी *Salt-Range* (लवण-पर्वत) है। इतना नमक था; फिर भी वे नमक नहीं खाते थे! यह बात युक्ति-मग्न नहीं हो सकती। हाँ, दूर देशमें नमक मँहगा था, यह परवर्ती वैदिक साहित्यसे पता चलता है।

पूर्वोक्त चतुःसीमाके मध्यमें आर्यनिवास था। आर्य-जाति वहाँ बहुत शाखाओंमें विभक्त होकर नाना स्थानोंमें बसती थी। यद्यपि ये सब-के-सब आर्यजाति और आर्य-भाषी ही थे, तथापि भाषा, आचार-व्यवहार और धर्म-विश्वासमें तारतम्य था। केवल पाँच शाखाओंमें (पञ्च-जगा) भाषा, आचार-व्यवहार और धर्म-विश्वास एक प्रकारके थे। ये ही वैदिक धर्म और वैदिक सम्प्रदायके जनक थे। अर्यों और कृषुधार्मी शाखाएँ पहले शुधर्मी, पीछे मित्रकर एक शाखा हो गयी। इनका धामस्थान सरस्वतीका तट और उसके निकटका प्रदेश था। यदुओं और तुवंशोंकी शाखाएँ भी मित्रकर एक शाखा हो गयी थीं। ये समुद्रके तटमें बसते थे। एक बार ये समुद्रके पार जाकर बस गये थे, जिसमें ये आयुधों और ममाजमें अष्ट हो गये थे। अनुगय, दुह्युगय, पुरुगय और पूर्वोक्त दोनों सम्मिलित शाखाएँ ही सम्मत्त "पञ्चजना" नामसे कदात थी। इन शाखाओंके आर्योंने ही सर्वप्रथम कृषि-कार्य शुरु किया था, ग्राम, नगर, समाज और धर्मके स्थापित किया था; इसी कारण ये "पञ्च कृषयः", "पञ्चपथयः" और "पञ्च पितृयः" के नामसे परिचित

ये। ॐ इनके अतिरिक्त चेदिगण, सनकगण, भलानसृगण, पन्थगण, शिवगण, पण्डितगण, विपण्डितगण, कृष्णगण, दासगण, दस्युगण - प्रभृति बहुतोंसे आर्यशाखाएँ आर्य-निवासके बहुत स्थानोंमें बसती थीं।

असुरगण भी आर्योंकी ही एक शाखा थे; किन्तु वे पञ्चजन वा वैदिक आर्यगणके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। इन दोनोंमें बहुत दिनोंतक, धर्मके लिये, युद्ध होता रहा, जिसके फलस्वरूप अगणित मनुष्योंकी मृत्यु हुई थी। पीछे असुरगण हारकर सप्तसिन्धु देशको छोड़ गये। अनेक असुर अग्नि, चावा-पृथ्वी, मित्रा-वरुण, पूषा, सूर्य, पर्जन्य, इन्द्र, भग, अर्यमा, अदिति, उषा प्रभृति देव-देवियोंकी अर्चना करते थे। कोई-कोई लिङ्ग-पूजा करते थे, जिससे वे “लिङ्गदेवाः” नामसे प्रसिद्ध थे। कोई सपंकी भी पूजा करते थे। पण्डितगण देश-विदेश जाकर व्यवसाय-वाणिज्य किया करते थे; किन्तु वे अग्र्यगृह्णता, दानविमुक्तता, जल्पवृत्ता और स्वतन्त्र धर्मवादितिके लिये वैदिक

आर्यगणके निकट अतीव निम्ननीय थे। कालक्रमसे कितने ही आर्यशाखासमूहमें आकर मिल गये और वैदिक धर्मको ग्रहण कर लिया।

आधुनिक नृतत्ववित् पारचात्य एलिटवोंका मत है कि, वर्तमान पंजाब और गान्धार देश मानवजातिकी उत्पत्ति-स्थल है। प्रसिद्ध नृतत्ववित् अथ्यापक सर आर्थर कीथका मत है कि, भारतके उत्तर-पश्चिम, सीमान्त प्रदेशमें, मानवजातिकी उत्पत्ति हुई है। दूसरे नृतत्ववित् अथ्यापक जे० बी० हालदेनने लंडनकी “Royal Institution” नामक सभामें, २१-२-१९३१ को, व्याख्यान दिया था कि, पृथ्वीके भिन्न-भिन्न चार केन्द्रोंमें मानवजातिकी उत्पत्ति हुई थी। उनमें पंजाब और अफगानिस्तानका मध्यवर्ती प्रदेश भी मानवजननका एक केन्द्र है। भिन्न-भिन्न केन्द्रोंमें (जैसे चीन और मिश्रमें) भिन्न-भिन्न जातियोंके मनुष्योंको उत्पत्ति हुई है। + पंजाब और गान्धारमें जिस मानवजातिकी उत्पत्ति हुई थी, उसके वंशधरगण आज

ॐ अथर्वेद २।७।६; २।६।८; ८।३।२२, ६।६।१७;

१।७।१६; ६।६।२; ७।१।१२; ६।१०।१६; २।१।१०;
३।६।१६; ४।३।१०, १०।६।४; ११।६।१; १।७।६;
१७।३, ६।३।२, ६।४।४ ७, ७।७।४; ७।६।१; इत्यादि।

* दाग और दस्युगण अतार्यजातिके थे, ऐसा बोध होता है; किन्तु वे वास्तवमें प्रनाय नहीं थे। इन मानवधर्म-स्वदेवमें ही बहुतों पमाण मिलते हैं।

+ “In a recent lecture delivered by Prof Sir Arthur Keith at the Royal Institution, he has expressed his opinion, shared by many modern Anthropologists, that the cradle-land of humanity was situated near or within the Northern Frontiers of India, where the finds of fossil-remains of extinct kinds of anthropoid apes have been numerous.” (Rig-

vedic Culture. P.II6)

Prof. G-B. Haldane, “one of the most famous of living British Scientists” declared on 21.2.31 in his address at the Royal Institution that “the origin of civilisation occurred independently in different places, one probably in Egypt and another somewhere between Afghanistan and the Punjab.” He further said that “it was generally believed that the cradle of the human race was one particular place, namely, the Garden of Eden and perhaps in Egypt, China or elsewhere. It now seemed probable however that humanity began in four different places, with each race distinct from the others. —The “Statesman” of Calcutta, 22.2.31

कल कहाँ हैं ? श्वेदके अति प्राचीन मन्थोंकी आलोचना करनेसे मेरे विचारमें ऐसा लैचता है कि, पञ्जाब और गान्धारमें ही आर्योंकी उत्पत्ति हुई थी एवं यही प्रदेश

इनकी आदि-उत्पत्तिस्थान (Cradle) है। अपने सृष्टि-कालमें आर्यजाति यहीं बसती थी, पीछे भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें फैली।

कलचुरि राजा शंकरगणके समयका शिलालेख

राय बहादुर वा० हारालाल बी० ए०

मध्यप्रदेशके तितान्त उत्तरका जिला सागर है जिसका नाम उसके सदर मुकामपर रखा गया है। सागर इतना प्राचीन नगर है कि, उसका निक मिश्रदेशीय प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता टालमीने, ईसाकी द्वितीय शताब्दीमें, सगेड़ा नामसे किया है। इस जिलेमें महामायापी महाराजा समुद्रगुप्तके समयके अर्थात् चतुर्थ शताब्दीके रोडह एन (प्राचीन ऐरेविक) में अब भी विद्यमान हैं। मध्य एशियाके कुछ लोग भी वहाँ तक आये थे और अपने राजा तोरमायका नाम, वहाँके एक विंताल बगइचे के बल स्थलपर छोड़ गये हैं। इसी प्रकार अन्य कई राजपूतानोंके स्मारक जिलेमें सब-सब पाये जाते हैं। उनमें से एक कनपुर-नरानोंका भी स्मारक उपलब्ध हुआ है। वह किस जगहसे लाया गया, यह तो विदित नहीं, परन्तु सागर नगरके दक्ष-पूरुब मोल इर्दगिर्दमें ही इसके मूल स्थलकी सम्भावना जान पड़ती है। वर्तमान समयमें यह भागणके भागिली मेस (तोरमानक मोजक्युड) के महातेमें विद्यमान है। मेसके बैंगणेका मालिक अब एक ब्राह्मण है। पण्डु आदिमें उस एक फौजरी भस्मरने बनवाया था। जान पड़ता है, यह प्राचीन शिल्पशास्त्री मेनी था। उसने बहुतनी मूर्तियाँ तथा मोहराईके भव्य पत्थर और दलाने इन्हे किये थे। परन्तु उनमें, अपने बैंगणकी गोमा बानान लिये, अपने महातेके चारों ओरमें, कर बीसहत्त सत्त, सती गानधीम, खड़े बरता दिये। इन सत्तोंमें बहुतनी मुन्दर मूर्तियाँ, चारों ओरमें, लगी हुई हैं। नैरेय कोष्टके रूपमें परिचयानुस

एक पाषाण लगा हुआ है जिसमें तीन-तीन फीट लम्बी पाँच एंकिओंका एक लख है। उस लेखके नीचे एक गुप्त और एक स्त्रीका चित्र बना हुआ है। स्त्री अपनी दुहिताके निरपर हाथ रखे हुए है। एक और साईस घोडा लिये खड़ा है। ये चित्र राजा, रानी राजकुमारी और राजवाजिके जान पड़ते हैं, परन्तु विचित्रता तो यह है कि, राजा साहब "गान्धी पोशाक" पहने हुए हैं—यद्यपि कमसे एक हजार साल की है। इन चित्रोंका फोणे और लेखना बहुत क्षया देखनेमें हजार वर्ष पूर्वकी वेदा भूपाका परिचय हो जाता है। लेख मह्य वर्षका होने के कारण अस्पष्ट हो गया है और कई अक्षर भी धुन गये हैं इसलिये वह पूर्णरूपमें पढ़ा नहीं जा सकता पण्डु जेगा अमीनक पढ़ा जा सारा है, यह निम्नलिखित रूपमें है—

पठ्कि १—“ओं नम शिवाय। स च परम महारक
महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीलक्ष्मण शाह राजदे।
पादगु—

प० २—ध्यातो परम महारक महाराजाधिराज पर-
मेश्वर श्रीशंकरगण देवम्य वदमान विजय-
राज्ये वा—

प० ३—हीपुर परमेश्वर पुष्पा इति पण्डादि राज्ये
ति सगति राजाधीनपतु श्रीदेवम्य मय्य मा—

प० ४—नां खोदिय पण्ड प्रेम-महारकवा मेरी

येतौ माता पितृ पुण्यं जिते तले कीर्तिं प्रविश्य
पयतिः । तथा लोको सधा हितो ॥”

इस लेखमें दो पङ्क्तियाँ तो ठीक पढ़ी गयीं जान पड़ती हैं, परन्तु शेष तीन अत्यन्त सन्देह हैं । जैसे अक्षर जान पड़ते हैं, वैसी प्रतिलिपि कर दी गयी है । इसमें सन्देह नहीं कि, कुछ अक्षर अशुद्ध पड़े गये हैं, इस कारण अर्थ ठीक नहीं जमता; केवल भाव मानका कुछ सकत मिलता है । कुछ ऐसा जान पड़ता है कि, परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेस्वर श्रीलक्ष्मणराज देवके चरणोंका ध्यान करते हुए परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीशङ्करगणदेवके बढ़ते हुए विजय-राज्यमें कान्हीपुरके स्वामी वराज—धीकामदेवकी भार्या भट्टारका देवी मातापिताके पुण्यको पृथ्वीपर फैलाकर (सनी हो गयी)।

इस लेखमें भाक्त करनेका अवसर चाहे जो रहा हो, इतना तो स्पष्ट है कि, वह श्रीलक्ष्मणराजके पुत्र महाराज श्रीशङ्करगणके राज्यकालमें लिखा गया था । ये दोनों नाम चढ़िक्की कजपुरि-बराबलिमें मिलते हैं । इस वराकी राजधानी त्रिपुरी, वर्तमान तेवर, मैं थी, जो जलपुरसे ६ मीलकी दूरीपर है । यह वरा बढ़ा प्रतापी था, जिसका खत १४८ ई० में ब्रारम्भ होकर प्रायः सहस्र वर्षक चलता रहा । कजपुरि वरामें शङ्करगण नामका पड़ला राजा सन् १८० ई० के पूर्व हुआ, और, उसके ४०० वर्ष पश्चात् द्वितीय शङ्करगण हुआ, जो महाराजा लक्ष्मणराजका पुत्र था । गिलहरीके शिला-लेखमें (देखा, एपीग्राफिका इटिका, पृ० २६६ और २६७) इनके विषयमें यों लिखा है—

“श्रीलक्ष्मणराजो पि तस्मै सुतपमे स्वयम् ।

मठ श्रीवैद्यनाथस्य मक्तियुक्तः समार्पयत् ॥

* * * *

निमज्ज्य यो रत्ननिघौ श्रीमान्तोमेश्वरं शनैः ।

अभ्यर्च्य काञ्चनेः पद्मैरथान्यत् न्यवेदयत् ॥

जिला कोसलनाथोद्भूतपतेरासस्तु यः कालियो

रत्नस्वर्णमयः स येन विहितस्तोमेश्वराभ्यर्चनम् ॥

* * * *

श्रीशङ्करगणस्तस्माद्भूद्भूमोश्चररो महान् ।

यत्पादद्वन्द्वद्वद्व द्विपद्मिरेपि सेवितम् ॥”

अर्थात् लक्ष्मणराजने एक बड़े ताम्बूकी श्रीवैद्यनाथका मठ समर्पण कर दिया । उस राजाने समुद्रमें स्नान करके सुवर्णके कमलोंसे सोमनाथकी पूजा की । कोसल देशको जीत कर उसने मोड़ (उड़ीसा) के राजासे रत्नसुवर्णमय कालियाकी मूर्ति लौनकर सोमनाथको भर्पण कर दी । इनका लक्ष्मण शङ्करगण हुआ, जिनके चरण कमलोंकी सेवा उसके शत्रु भी करते थे ।

शङ्करगणने बहुत दिनोंतक राज्य नहीं किया, क्योंकि चार-पाँच वर्षोंके पश्चात् उसका भाई सुवराजदेव द्वितीय गद्दीपर बैठ गया । शङ्करगणका एक शिलालेख जबलपुर जिलेके देवरी मझमें मिला है, जो अभीतक पूर्ण-रूपसे पढ़ा नहीं जा सका । इस लेखमें एक-एक फुट लम्बी दस पङ्क्तियाँ हैं । दसवींमें केवल दो ही अक्षर हैं । चौथी और पाँचवी पङ्क्तियोंमें कलचुर और श्रीशङ्करगणका नाम पढ़ा जाता है । शेष भागक अक्षर कुछ-कुछ पड़े जते हैं; परन्तु अर्थ ठीक नहीं जमता । जनरल बर्निघमने उगकी लिखावटपरसे उसे सातवीं शताब्दीका ठहराया था, परन्तु यह भ्रम था । उक्त अक्षर सागर शिला-खण्डसे मिलान खाते हैं, जो दसवीं शताब्दीक हैं ।

ग्रामीण बोलियोंके समुचित अध्ययनका महत्त्व

डा० बाबूराम सक्सेना एम० ए०, डी० लिट्

इस विशाल भारतभूमिमें, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित भाषा सर्वेके अनुसार, २२२ भाषाएँ बोली जाती हैं; और, यदि इनके अद्यान्तर भेदोंकी ओर ध्यान दिया जाय, तो इनकी संख्या पाँच सौसे अधिक हो जाती है। इनमेंसे आर्य-भाषाएँ ही प्रमुख हैं। इन भाषाओंके साहित्यिक रूपका अध्ययन सैकड़ों वर्षोंसे किया जा रहा है; पर इन साहित्यरहित बोलियोंकी ओर विद्वानोंका ध्यान अभी पचास-साठ वर्षोंसे ही गया है। इस विषयमें भी प्रमुख कार्यकर्ता विदेशी विद्वान् प्रियर्सन आदि ही हैं। पर किसी भी भाषाका अध्ययन विदेशियों द्वारा उस सूक्ष्मता, पटुता तथा शुद्धताके साथ नहीं हो सकता, जो इनके अध्ययनके लिये आवश्यक है। यह काम इन भाषाओं और बोलियोंके बोलने वालोंका ही है और वे ही इसको सुचारु रूपसे कर सकते हैं।

प्रश्न उठता है कि, इन ग्रामीण बोलियोंके अध्ययनसे क्या लाभ ? इनमें कोई साहित्य तो है नहीं, जिसके द्वारा जाति अथवा राष्ट्रकी उन्नति हो ! परन्तु, तो भी इतिहासकी दृष्टिसे भाषाके अध्ययनकी परम आवश्यकता होती है। भाषाके शब्दोंमें जातिकी सभ्यताका इतिहास भरा रहता है, भाषा स्वयं ही सभ्यताका एक मुख्य अङ्ग है। इसलिये उसकी अवहेलना करना उचित नहीं। यदि ग्रामीण बोलियोंका सुव्यवस्थित अध्ययन किया जाय, तो बहुतसे ऐसे शब्द मिलेंगे, जिनका आज साहित्यिक भाषाओंमें प्रयोग नहीं मिलता,

परन्तु जो प्राचीन भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत आदि—में पाये जाते हैं।

ग्राम-गीतों और दन्त-कथाओंमें (जो प्रायः ग्रामीण बोलियोंमें ही पायी जाती हैं) अपनी सभ्यताके रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाजके वे व्योरे मिलते हैं, जो किसी भी काव्यकथा आदिमें दुष्प्राप्य हैं। इस विचारसे ग्राम-गीतों, ग्राम-कथाओं तथा ग्रामीण बोलियोंके अध्ययनसे इतिहासपर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे ग्राम्य बोलियोंके अध्ययन का बड़ा महत्त्व है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् प्रिजलुस्कीने अभी कुछ मुण्डा (कोल) जातियोंके शब्द-समूहका अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि, संस्कृतके मातङ्ग (हाथी), महिषी (मैस) शब्द मुण्डा-भाषाओंसे लिये गये मालूम पड़ते हैं।

भारतीय आर्य-बोलियोंपर भारतीय विद्वानोंने अभीतक उपेक्षाकी ही दृष्टि रखी थी। इधर दस-पाँच सालसे वैंगली, काश्मीरी और अवधी बोलियों पर भारतीयों द्वारा कुछ काम हुआ है। इनसे कुछ बड़ी रोचक सामग्री प्राप्त हुई है। इस छोटेसे लेखमें उसका संकेत भर किया जा सकता है।

ध्वनि-परिवर्तनकी दृष्टिसे यह ज्ञान कि, अवधी-में शब्दके अन्तमें कुछ ऐसे स्वर विद्यमान हैं, जिनका अस्तित्व केवल कुसकुसाइट (whisper) में है, यड़े महत्त्वका है। उदाहरणके लिये संस्कृत “अग्नि” का रूपान्तर प्राकृतोंमें “अग्नी” और स्टैंडर्ड हिन्दीमें ‘आग’ मिलता है। पर पुरानी अवधी और मजकी

बोलियोंमें "आगि" दिखाई पड़ता है। आधुनिक अवधोमें यही आगि शब्द मिलता है; पर अन्तिम "इ" पूर्ण स्वर नहीं, केवल फुसफुसाहटका स्वर है अर्थात् "इ"के उच्चारणके लिये मुख जो आकृति धारण करता है, वह तो होती है; पर घोष जो स्वरका मुख्य अङ्ग है, वह नहीं मिलता। इसलिये इसको फुसफुसाहट स्वर (*whispered vowel*) कहते हैं। इसी प्रकार संस्कृत 'पुत्रः', प्राकृत 'पुत्तो' स्टर्डर्ड हिन्दी "पूत" और प्राचीन अवधी "पूतु" है; पर आधुनिक अवधीमें "पूतु"का अन्तिम स्वर केवल फुसफुसाहटका है। इस अन्वेषणसे यह पता चलता है कि, प्राचीन संस्कृतसे प्राकृतों द्वारा आये हुए शब्दोंमें, ध्वनियोंमें, जो परिवर्तन हुए हैं, वह बहुत शनैः-शनैः हुए होंगे। दीर्घ स्वर पहले कुछ छोटा हुआ, फिर, उससे छोटा, फिर सम्भवतः ह्रस्व स्वरके बराबर और तदनन्तर छोटा होता-होता बिल्कुल लुप्त हो गया।

इसी प्रकार व्याकरण-सम्यन्धी बड़ी रोचक सामग्री, ग्रामीण बोलियोंके अध्ययनसे, प्राप्त हो सकती है। उदाहरणके लिये पश्चिमोत्तर प्रदेशमें, गिलगिटकी तराईमें, "इन" शब्द मिलता है, जिसकी सम्यग्ध-सूचक विभक्तिका रूप अब भी "इन्द्रस्" (संस्कृत "इन्द्रस्य") है।

शब्द-समूहके अध्ययनसे ऐसी प्रचुर सामग्री प्राप्त हो सकती है, जिससे अपने पुराने साहित्यपर भी अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। अथर्ववेदमें शिष्य-सम्यन्धी तथा अन्य बहुतसे ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनके ठीक-ठीक अर्थका पता नहीं चलता। सूर, तुलसी आदि प्राचीन कवियोंकी कृतियोंमें बहुत

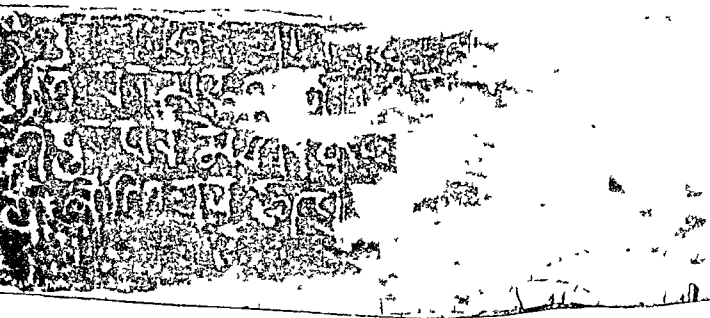
शब्द ऐसे हैं, जिनका तात्पर्य अज्ञात है। यदि ग्रामीण बोलियोंका शब्द-संग्रह किया जाय, तो मेरी धारणा है कि, अधिकांश पुराने शब्दोंका अर्थ प्रकट हो जाय। उदाहरणके लिये कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं।

पाली-भाषामें "अमच्च" (संस्कृत अमात्य) शब्द संस्कृतकी तरह बहुधा "मन्त्री" अथवा "दरबारी"के अर्थमें नहीं प्रयुक्त हुआ है, "नौकर"के अर्थमें हुआ है। मैथिलीमें "अमात" शब्द अब भी कुछ शूद्र-जातिके मनुष्योंका बोधक है। यह लोग इधर-उधर पालकी ले जाया करते थे। ठीक इसी अर्थमें "जातक"की "निदान-कलामें"में "अमच्च"शब्दका प्रयोग हुआ है। पाली-महावंसमें "मुलाल" (संस्कृत "मृणाल") शब्द आया है। उत्तर भारतमें इस शब्दका अब पता नहीं चलता। इसके स्थानपर "मँसीड़" (संस्कृत "विसकाण्ड") युक्त प्रान्तमें और "भें" पंजावमें मिलता है। परन्तु मध्यभारतकी मालवी भाषामें "मुरार" शब्द मिलता है, जो "मुलाल"का ही रूपान्तर है। संस्कृतमें "द्रोण" और "नालिक" शब्द अन्न आदिके नापनेके लिये मिलते हैं। इनके रूपान्तर अब भी गढ़वाली भाषामें प्रयुक्त किये जाते हैं।

इस विवरणसे पता चलता है कि, अपने ग्रामोंमें कौसी सामग्री भरी पड़ी है। बहुतसी संस्थाएँ, पुरातत्त्व-विषयक अन्वेषणके लिये, पुराने स्थानोंकी खोज आदि कराती हैं। यदि एक-आध ही संस्था ऐसी हो, जो कुछ विद्वानोंका सहयोग प्राप्त करके भाषा-सम्यन्धी खोज करे, तो पुरातत्त्व-की प्रचुर सामग्री संगृहीत हो सकती है, जिससे राष्ट्रके इतिहासपर समुचित प्रकाश पड़ेगा और मनुष्यजातिके ज्ञानकी वृद्धि होगी।



१५५-७० काशीनाथ दोशित एम० ए०
(सुपरिटेंडेंट, आर्कियालाजिकल सर्वे, इस्टर्न सार्किल, फलफस्ता



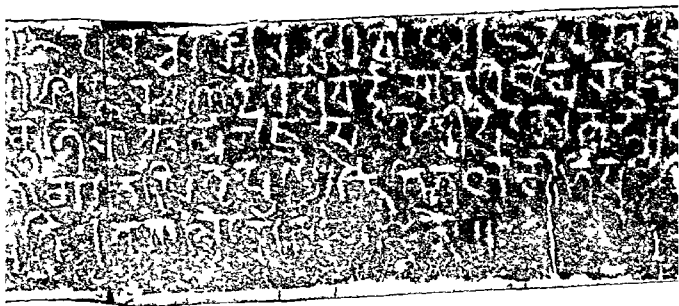
१४८—कलचुरि राजा शङ्करगणका शिलालेख



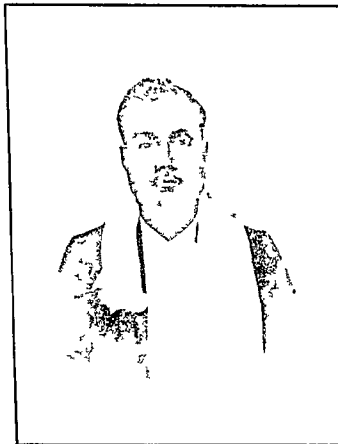
१४९—डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फिल



१५०—या० कामताप्रसाद जैन



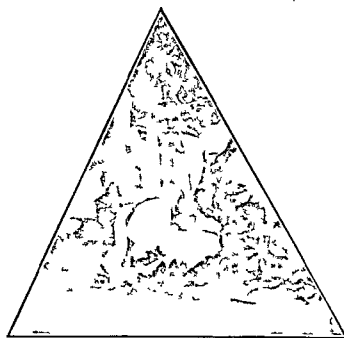
१०६—ला० मुनिमन्त्रालय, सारकार पण० प०, ३० फिट



१५२—प० सर्वेश्वर शर्मा कटकी



१५३—श्रीयुक्त रणछोडलाल ज्ञानी एम० ए०
(वगई म्युजियम)



१५४—प० योगेश्वर शर्मा

राजा कर्क सुवर्णवर्षका ब्राह्मणपद्धति दानपत्र

डा० विनयतोष भट्टाचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०

कर्क सुवर्णवर्ष के जिस ताम्रदान-पत्रकी चर्चा की जा रही है, वह तीन पट्टों (ताम्रपत्रों) में है। तीनों ताम्रपत्र एक गोल खँगूडीके द्वारा संयुक्त हैं, जिसपर एक मुहर लगी हुई है। यह ताम्रदान-पत्र बड़ीदेके ही एक निवासीवे, कुल ५०) ५० में ही, खरीदा गया था। आजकल यह बड़ीदेके ओरियंटल इंडीस्ट्र्यूटकी लाइब्रेरीमें सुरक्षित है। गुजरातके कर्क सुवर्णवर्षके क्षेत्रोंमेंसे यही एक ताम्रपत्र अबतक अप्रकाशित रहा है। नवई प्रान्तके लिये न सही, किन्तु बड़ीदा-राज्यके लिये तो निस्सन्देह यह ऐतिहासिक दृष्टिसे, एक बहुमूल्य वस्तु है। वास्तवमें, इसी राजाके अन्यान्य दान-पत्रोंकी ही भाँति, इसमें जिन स्थानों तथा ग्रामोंका उल्लेख है, वे बड़ीदा-राज्यमें ही स्थित हैं। उल्लेख में आये हुए कुछ नाम आज भी विकृत-रूपमें मिलते हैं।

तीनों ताम्रपत्रोंकी लम्बाई ११ इंच, चौड़ाई ८ इंच तथा मोटाई चौथाई इंच है। सम्पूर्ण ताम्रपत्रकी चारो ओरके बाह्यर कुछ उठे हुए और मोटे हैं। जान पड़ता है, क्षेत्रोंके रक्षार्थ ही ऐसा किया गया था। तीनों ताम्रपत्रोंके बीचसे होता हुआ—सिरेपर—एक छेद है, और, इस प्रकार तीनोंमें एक दोस खँगूडीकी नक्की लगी हुई है। खँगूडी अथवाकार है। इसकी मोटाई ३ इंच तथा व्यास ३।५ इंच है, जिसमें तीनों ताम्रपत्र संयुक्त हो गये हैं। खँगूडीपर एक गोलाकार मुहर है, जिसका व्यास डेढ़ इंच है। मुहरमें गहरा एक चित्र भर ही है, जिसका कुछ भी नहीं। ताम्रपत्रका क्षेत्र * सुरक्षित तथा उसके अक्षर स्पष्ट

हैं। मुद्रण बड़ी कुशलतासे किया हुआ, स्पष्ट और सुगम्य है। इसलिये अक्षरोंको पहचानने, पढ़ने और समझनेमें कठिनाई नहीं होती। खोदाईमें एक विशेषता यह भी है कि, अक्षरोंकी बहुत कम—नहीं के बराबर—है। यह बात इस राजाकी और-और खोदाईयोंमें नहीं है। इस सम्पूर्ण खोदाईकी भाषा संस्कृत है। हाँ, भूमि-दानकी बातें पद्योंमें ही वर्णित हैं। दान-पत्र-लेखके अन्तमें राजा सुवर्णवर्ष और उसके स्वामी अमोघवर्षके हस्ताक्षर हैं। पद गद्यमें हैं; इनके वर्ण यत्नकुल विभिन्न हैं; और, तुलनात्मक दृष्टिसे देखनेपर, उत्तरीयकी अपेक्षा, ये दक्षिणीय शिला क्षेत्रोंके वर्णोंसे कहीं अधिक मिलते-जुलते हैं। ऐसे तो इस दान-पत्रके पद्य अन्यान्य दानपत्रोंमें भी मिलते हैं, किन्तु विशेषतः गुजरातके राष्ट्रकूट राजकुमार कर्क प्रथमके नौसारी-ताम्रपत्रपर लिखित शासन-पत्रमें (*Charter*) तथा गुजरातके राष्ट्रकूट-राजकुमार गोविन्दके कविपत्रों (*Kavi Plates*)में अधिकार्य आये हैं। इस ताम्र-पत्र-लेखकी चित्रन साढ़े चार सेर (१ पाँच) है।

वर्षा-विन्यासके सम्बन्धमें जो कुछ मेरे मानन व प्रोफेसर डा० देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर महोदय, उद्घृत्य नौसारी-ताम्रपत्रोंकी समीक्षा करते समय, लिख चुके हैं, उसके अतिरिक्त मुझे कुछ कहना नहीं है। वर्षा-विन्यास-सम्बन्धी निम्नादि बातें महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं—

* पण्डित महाशय लेखकी भाषाकी प्राचीन कनाड़ी शिला-लेखकी भाषा प्रतीत होते हैं (*I. A. XII, P 166*) तथा इस सम्पूर्ण ताम्रपत्रक प्रथम ताम्रपत्रका पुनः भाग तथा

तीसरेका पुनः-भाग विनियुक्त खली है, उद्घृत्य लिखा नहीं। बीचक ताम्रपत्रक दोनों ताक, लिखा हुआ है।—लेखक।

६३ *JBBRAS XX, P 191.*

- (१) यन्त्रस्वारके स्थानमें कृष्य सातुनासिकका प्रयोग।
- (२) 'प'के बाद आये हुए विसर्गके स्थानमें 'स'।
- (३) 'य' और 'व'के साथ 'द' और 'घ'का द्विव।
- (४) 'क'के बाद, सभी स्थानोंमें, जिह्वामूलीयका

उपकल्पन (*Substitution*)।

यह वानप्रस्थ राजा कर्क' सुवर्णवर्षके शासनसे सम्बन्ध रखता है, जो गुजरात-शाखाके राष्ट्रकूट-राजवंश में उत्पन्न इन्द्रका पुत्र था। हम (वर्तमान दानपत्र) में जो वंश-क्रम-विवरण है, वह हम प्रकार कदा जा सकता है:—(१) गोविन्दराज, (२) उसका पुत्र कर्कराज, (३) उसका पुत्र इन्द्रराज, (४) उसका पुत्र दाम्निदुर्ग, (५) कृष्णराज (कर्कराजका पुत्र), (६) उसका पुत्र गोविन्दराज (उपनाम यज्ञज), (७) भुवराज (गोविन्दराजका छोटा भाई), (८) गोविन्दराज (भुवराजका पुत्र), (९) शर्व, × उपनाम घमोघवर्ष (गोविन्दराजका पुत्र), (१०) इन्द्रराज (शर्वका भाभा), (११) कर्कराज (इन्द्रराजका पुत्र और वर्तमान शासक)।

इस वंशावलीमें यह स्थान देने योग्य बात है कि, प्रारम्भिक काक्रममें मूल राष्ट्रकूट-वंशके राजाओंका उल्लेख है; और, यह वंश गोविन्दराज तृतीयतक आकर समाप्त हो गया है। गोविन्दको एक अनुज था, जिसका नाम इन्द्र तृतीय था। इसी (इन्द्र तृतीय)के द्वारा राष्ट्रकूट-राजवंशकी गुजरात-शाखाकी उत्पत्ति हुई। कहते हैं, इन्द्रराज खाट प्रदेशका अधिपति हुआ था, जो गोविन्द तृतीयके द्वारा उसे प्राप्त हुआ था। उद्धरके मतानुसार यह खाट-प्रदेश वर्तमान मध्य और दक्षिण गुजरात—माही और कोंकणके बीचका प्रदेश—है; किन्तु कवि तथा

यक्षोंके शिला-लेखोंमें वर्णित स्थानोंके आचारपर उसकी यह धारणा थी कि, नवीं शताब्दीमें खाट एक बहुत छोटा-सा प्रदेश था। इस लेखमें आगे यह सिद्ध किया जायगा कि, गुजरातके राष्ट्रकूटोंने जिस भू-क्षेत्रपर शासन किया, उसकी उत्तरीय सीमा माही नदी तथा दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी थी; इसके अतिरिक्त कुछ ग्राम भी थे, जिन्हें इन राजाघोने, दानमें, दे खाला था; विशेषतः कर्क' सुवर्णवर्ष यक्षा-राज्यमें हो सकता है, जो इन सीमाओंके सम्मिलित है। यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि, मूल राष्ट्रकूट-राजवंशीय गोविन्द तृतीयने, शकाब्द ७२८ और ७२९ के मध्य, गुर्जरां या चपो-रख्तां या अनहिलवाबके आधर्षोंको जीता था; और, उनके खाट-सीमान्त प्रदेशोंको अपने राज्यमें मिला लिया था। यक्षोंके शिला-लेखमें लिखा है कि, इन्द्रने गुर्जर-राजको पराजित किया था। गुर्जरोंके द्वारा, अपने विजित प्रदेशोंपर पुनरधिकार प्राप्त करनेके निमित्त, किये गये पश्चात्कालीन प्रयत्नपर ही ऐसा हुआ होगा। यह भी लिखा है कि, मूल राष्ट्रकूट-राजवंशीय—श्रीवर्जज या गोविन्द तृतीयके विरुद्ध इन्द्रराजने दक्षिणके महा-सामन्तोंसे सन्धि कर ली थी। इससे यह ज्ञात होता है कि, इन्द्रराजके हृदयमें, अपने बड़े भाईके प्रति, कृत-श्रवाका कुछ भी भाव नहीं था, जिसने उसे (इन्द्रराजको) गुजरातका राज्य, दान-स्वरूप, दे खाला था। इसका यह भी लक्ष्य हो सकता है कि, जब गोविन्दराज, अपने शेष जीवनकी गो-धूमिमें, पारिवारिक कलहमें फँसा हुआ होगा, तब—अवसर पाकर—इन्द्रराजने, मूल राजवंशसे सम्बन्ध-विच्छेद कर गुजरातमें एक स्वाधीन राज्यकी स्थापना कर रखी होगी।*

इन्द्रराजके दो पुत्र थे, कर्कराज और गोविन्दराज । अपने शासन-कालमें कर्कराजने कई बार भूमि दान किया था, जिसमें इस वर्तमान दानको लेकर तीनका पता चलता है । इन तीनोंके नाम हैं—यद्दीदा-दान-पत्र,+ नौसारी-दानपत्र * और तीसरेको, सुमीतेके किये, ब्राह्मणपत्नी-दानपत्र कह सकते हैं । यद्दीदा-दानपत्रका समय शकाब्द ७३४, नौसारीका ७३८ और ब्राह्मण-पत्नीका ७४६ है । इससे प्रकट होता है कि, कर्क शकाब्द ७३४ के कुछ दिनों पहले ही सिंहासनावृद्ध हुआ था, और, शकाब्द ७४६ पर्यन्त या इससे कुछ दिनों बादतक उसने राज्य किया था । किन्तु उपर्युक्त कथनोंसे यह नहीं माना जा सकता कि, कर्कराजका शासन शान्तिवर्षा और अवच्छिन्न हुआ था; क्योंकि हम देखते हैं कि, शकाब्द ७३२में, उसके छोटे भाई गोविन्दराजने, यह जतानेके अभिप्रायने कि, उसी साल वह मध्य गुजरातका शासनकर्ता था, यद्दीदेके समीपका एक गाँव, "गोरेन्द्र"के रूपमें, दान का डाला था । इसके चौदह वर्षों बादका, शकाब्द ७४६ का, उसका एक दूसरा दानपत्र × है । अब, इससे काल-निरणय सम्भवही उलझल खड़ी होती है, जिसे किमो भी गुजराती ऐतिहासिकने धाजतक नहीं सुझाया है । वर्तमान वात्स्यपत्रकी खोजने, जो सम्भवतः कर्कका अन्तिम दान पत्र है, इस सामग्र्यका पूर्ण रूपसे अनु-सन्धान करना अनिवार्य कर दिया है ।

इस अपूर्व स्थितिके दो विवरण दिये जा सकते हैं, दो प्रकारसे इसकी व्याख्या की जा सकती है । तीसरी व्याख्या यह है कि कर्क दोनो भाइयोंने एक ही साथ राज्य किया, उतनी उपयुक्त और ब्राह्म नहीं हो सकती; क्योंकि यदि यह बात होती तो निश्चय ही दोनोंके दिये गये दानके वात्स्यपत्रमें इसका उल्लेख होता । दोनो भाइयोंने यद्दीदेकी घासपासकी भूमिको दान-स्वरूप दिया था, और, दोनोंके शासन पत्रों (Charters) में वतप्रदक या तो मुख्य ग्राम या पड़ोसका ग्राम बतलाया गया है । फिर, यह सम्भव नहीं है कि, गुजरातका राज्य इस प्रकार विभक्त हो गया हो कि, दोनो भाई, दो विभिन्न भू-भागोंमें, एक ही समय, शासन करते रहे हो ।

भुवराजकी [राष्ट्रकुटीकी गुजरात-शाखाका एक पक्षा-त्कालीन राजा] के एक शिला-लेखने लिखा है कि, कर्कने बिपची शत्रुओंके हाथसे मान्यतेके राष्ट्रकुटीके राज्यका उद्धार किया था और इसके न्याययः अधिकारी मूल राजवंशीय राष्ट्रकुट राजा धर्मोद्यवर्षको सिंहासना-रूढ़ कराया था * । यह घटना निरप्य ही शकाब्द ७३६ में घटी होगी; क्योंकि धर्मोद्यवर्षका नाम, शकाब्द ७३८ के+ शासन पत्रों (Charters) में मिलता है, जो उसके शासनकालका सम्भावित प्रथम उल्लेख है । कर्कराज उन दिनों गुजरातपर शासन कर रहा था । सम्भावत उसे, मूल राष्ट्रकुट राजवंशीय धर्मोद्यवर्षके

+ J. T. Fleet द्वारा I. A. Vol. XII, pp. 156 ff में प्रकाशित । * D. R. Bhandarkar द्वारा JBBRAS, Vol. XX, pp. 151 ff में प्रकाशित । † तोरखेद-दानपत्र (Tor Khede Grant) J. T. Fleet द्वारा Ep. Ind. III, pp. 53 ff में प्रकाशित । × गोविन्दराजका कवि-दानपत्र (Kavi Grant) G. Buhler द्वारा I. A. Vol

I pp 144 ff में प्रकाशित ।

‡ शकाब्द ७३७ I. A. Vol. XV pp 199 ff में प्रकाशित ।

* Ibid निजबाहुवसन निष्ठ थोडमापनननशिरावन्द-
५६ ब्दपन ।

+ नौसारी-दानपत्र, JBBRAS,
Vol. XX P. 135

सहायतार्थ, अपने राज्यको छोड़ना पड़ा था; और, शायद उसने, अपनी अनुपस्थितिमें, राज्यकी देख-रेप करनेका भार अपने छोटे भाईके हाथोंमें सौंपा था। यह शीघ्र ही अपनी राजधानीको लौटा होगा और सम्भवतः लौटने पर ही उसने शकाब्द ७३८ ई. में एक दूसरे शासन-पत्र (Charter) की घोषणा की। उसके छोटे भाई गोविन्दराजके शकाब्द ७३६ और ७४६ के शिलालेखोंसे पता चलता है कि, उस (गोविन्दराज) के हृदयमें अपने बड़े भाई [कर्क] के प्रति गम्भीर श्रद्धा एवं राज-भक्ति थी।

उपर्युक्त काल-निर्णयकी गढ़बढ़ीको दूर करनेके निमित्त दूसरी धारणा यह हो सकती है कि, शकाब्द ७३६में छोटा भाई, जिस समय उसके पाँच पूरी तरह नहीं जमे थे, अपने भाईके प्रति कट्टर शत्रु धन गया; और, साहसी पुरुषोंकी सहायतासे, घोड़ा देकर, अपने भाईको हरा दिया। इस प्रकार पराजित होकर आश्रय-हीन कर्कको, मान्यलेखके मुख्य राजवंशीय राष्ट्रकुटोंकी सहायता लेनेके निमित्त, दक्षिणको लौट जाना पड़ा। वहाँ, उसने अपने सम्बन्धियोंमेंसे जायज दवादार—न्यायतः अधिकारी अमोघवर्षके हाथोंसे राजगद्दीवा अधिकार छीन लेनेके लिये रचे गये किसी भयङ्कर पट्ट-यन्त्रका अवसर ही भंडाफोड़ किया होगा। स्वभावतः उसने अपने पौरुषसे उसे राजगद्दीपर बैठाया। अमोघ-वर्षने कृतज्ञता-ज्ञापनके रूपमें कर्कराजको, अपने छोटे भाई गोविन्दराजको कुछ लालनेके निमित्त, [जिसने धोकेसे उसके राज्य (गुजरात) पर अपना अधिकार जमा लिया था] आवश्यक सहायता दी। यह भी सम्भव जान पड़ता है; क्योंकि शकाब्द ७३२ ई. के शिलालेख

का एक सेनापतिको दिये गये भूमि-दानसे सम्बन्ध है; जिसने सम्भवतः गोविन्दराजके ही अपने शत्रुओंको विष्वस्त करते समय अद्वितीय पुरस्कार प्रदर्शित किया था। यदि कर्कराजने भाईको साधारण प्रतिनिधि (Deputy) के रूपमें नियुक्त किया था, तब तो न तो युद्ध करनेका ही अवसर आता और न एक सेनापतिको, अर्थात् पौरुष-प्रदर्शनके लिये, विरोध-पारितोषिक-प्राप्ति का ही; जब कि, वह पौरुष उसके अपने बड़े भाई कर्कराजके विरुद्ध प्रचलित नहीं हुआ होगा। चूँकि इस सम्बन्धमें इस शिलालेखमें और कुछ नहीं लिखा है—निश्चयारमक रूपसे कुछ निर्णय करना व्यर्थ-सा है। ऐतिहासिकोंपर ही इसकी विवेचना—इसका निर्णय छोड़ा जाता है कि, उपर्युक्त दोनों बातोंमें कौन माननीय और तथ्यपूर्ण है; क्योंकि यह बात विचारणीय है कि, जिस समय गोविन्दराज अपने बड़े भाईके वहाँ प्रतिनिधि (Deputy) का कार्य कर रहा था, उस समय, सेनापतिको इसी लिये पारितोषिक दिया गया था कि, उसने पड़ोसी शक्तियोंमेंसे विरोधी शत्रुओंको पराजित किया था।

दूसरी बात, जिस और ऐतिहासिकोंका ध्यान विशेष-रूपसे आकर्षित किया जाना चाहिये, इन दोनों राजाओं—कर्क और उसके स्वामी—के बिन्दु या व्यञ्जन-सम्बन्धी पुस्तिकाओं (हस्तकृतियों) का अर्थ या उद्बोधन है; क्योंकि इसका सीधा लगाव गुजरात-शखाके राष्ट्रकुटों और मान्यलेखस्थ मुख्य राज-परिवारके राष्ट्रकुटोंके पारस्परिक सम्बन्धसे है। इस सम्बन्धमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि, गुजरातके राष्ट्रकुट अपनेको महासामन्ताधिपति और कभी-कभी जाटेवर के कहते हैं;

* नौसारी-ज्ञानपट्ट।

† *Epic. Ind. Vol. III, P. 63 ff.*

‡ *I. A., XII, pp 157.*

और, ऐसी बात कर्क के अन्यान्य शिलालेखोंमेंसे एक ही शिलालेखमें है। यह वर्तमान ब्राह्मणपत्नी ही ऐसा दान-पत्र (ताम्र-पत्र) है, जिसमें हमें सामन्त-राज और उसके अधीनस्थों के संयुक्त हस्ताक्षरों के प्रचलन का सर्वप्रथम उदाहरण मिलता है। भय इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि, नगौरक इस ब्राह्मणपत्नी दान-पत्र का सम्बन्ध है, कर्क ने मुख्य राजवंशी राजा अमोघवर्ष का अधिपतिव स्वीकार कर लिया था; जैसा कि, हम ताम्र-पत्रमें दोनों के विभिन्न हस्ताक्षरों से प्रकट होता है। कर्क के सर्वपूर्व शिलालेखमें, जो शकाब्द ७३४ का है, कर्क या उसके अधिपति—चाहे गोविन्द-राज तृतीय हो अथवा अमोघवर्ष—किसी का भी हस्ताक्षर नहीं है। दूसरे चंराक्रमिक रूपमें लिखे हुए शकाब्द ७३८ के शिलालेखमें भी केवल कर्क का ही हस्ताक्षर है, उसके अधिपति का नहीं; जैसा कि, इस ब्राह्मणपत्नी दान-पत्रमें अमोघवर्ष का है।

शकाब्द ७३४ के तोरखेद-दानपत्रमें, उसके भाई गोविन्दराज ने अपने को 'नरेन्द्र' घोषित किया है और बुद्धवर्ष को अपना महासामन्त कहा है, जिसे उसने 'सिद्धस्वामी चारु' नामक जागिर दी थी। इस दान-पत्रमें न तो गोविन्द या कर्क का ही हस्ताक्षर है और न अधिपति अमोघवर्ष का ही।

गुजरात-शाखा के प्रथम राजा इन्द्रराजको, गुजरात का राज्य, रूप-स्वरूप दान मिला था। चूँकि उसके एक भी लेख का पता नहीं मिलता; इसलिये यह जानना कठिन है कि, अपने अधिपति के प्रति उसका व्यवहार अथवा विचार कैसा था। परन्तु अपने अधिपति से तो यह शत्रुता का भाव रखता था, यह बात इसीसे साफ़ प्रकट होती है कि, अपने यहाँ भाई और अधिपति

गोविन्द तृतीय के विरुद्ध दक्षिण के कुछ महासामन्तों से वह मित्र गया था। + ऐसी दशा में यह आशा नहीं की जा सकती कि, इन्द्रराज राष्ट्रकुटों के मुख्य राजवंश का अधिपतिव स्वीकार करेगा। इन्द्रराज का राज्य कर्क राजको मिला और उसके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। शकाब्द ७३४ में उसने अपने को "महासामन्त" और "लादेवर" × (जाट-देशाधिपति) घोषित किया था। फिर, उसका भाई गोविन्दराज अपने को "नरेन्द्र" और अपने एक अधीनस्थ को "महासामन्ताधिपति" ‡ कहता था और यह मान लेने के लिये ऐसा कोई कारण नहीं है कि, उसने मुख्य राजवंश का अधिपतिव कभी स्वीकार किया था।

कर्क के वर्तमान ब्राह्मणपत्नी ताम्रपत्रमें यह प्रवृत्ति हम थिलकुन बदली हुई पाते हैं; क्योंकि इसमें उसने राजा अमोघवर्ष से हस्ताक्षर कराकर उसका अधिपतिव स्वीकार किया है। इससे यह विश्वास होता है कि, कर्क ने गुजरात के राज्य पर पुनरधिकार-प्राप्ति के लिये राजा अमोघवर्ष की सहायता, इसी शर्त पर, ली कि, वह उसका अधिपतिव स्वीकार करेगा। कर्क के उत्तराधिकारियों ने इस नीतिका सदैव पालन किया अथवा नहीं, यह कहना सम्भव नहीं है।

गुजरात-शाखा के राष्ट्रकुटों के सभी लेख (ताम्र-पत्रादि) बड़ौदा-राज्य के लिये बड़े महत्व के हैं; क्योंकि उन राजाओं द्वारा दान किये गये अधिकांश ग्राम तथा भूमि आदि इसी राज्य के अन्तर्गत हैं। गुजरात-शाखा के राष्ट्रकुटों के सभी लेखों [दानपत्रों] में धर्मित समस्त ग्रामों की व्याख्या इस छोटे-से लेखमें, स्थानाभाव के कारण, नहीं हो सकती। अतः कर्क के इस

साध-पत्रमें उल्लिखित ग्रामोंकी ही संक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जायगी; और, यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की जायगी कि, उसका राज्य, उत्तरमें माही और दक्षिणमें नर्मदा आदीतक ही सीमित था।

गुजरातके फर्क सुवर्णवर्षके शायनकालके जो तीन ताम्रपत्र-लेख हैं, वे ये हैं—

(१) यदौदा-दानपत्र (शकाब्द ७३४)—“*Indian Antiquary*” *XII* P. 156f में प्रकाशित यह दान-पत्र केन्द्र-स्थान मिथ्यासमीमें लिखा गया था।

(२) नौसारी-दानपत्र (शकाब्द ७३८)—रायल एशियाटिक सोसाइटीकी वर्षभई-२१५के जर्नल (*XX*, P. 132) में प्रकाशित यह दान-पत्र केन्द्र-स्थान खेतक (कैरा अथवा सम्भवतः खेड़) में लिखा गया था।

(३) ब्राह्मणपल्ली दानपत्र (शकाब्द ४६)—वर्तमान दानपत्र, जो अत्यन्त अग्रकाशित है।

प्रथम दानपत्रमें वतपट्टक (जिसे वतपुर भी कहा गया है) नामक एक ग्रामका उल्लेख है। यह ग्राम अमकोटक-केन्द्रमें सम्मिलित था, जिसमें ८४ ग्राम थे। मुख्य ग्रामकी सीमा यह थी—उत्तरमें वगच ग्राम, दक्षिणमें महासेनक नामक तालाब, पूर्वमें जम्बुवधिक और पश्चिममें अन्नकोटक।

बदौदेके इतिहासके लिये उपर्युक्त दानपत्र बहुमूल्य है; क्योंकि इसमें वतपट्टक नामक ग्रामका उल्लेख है, जिसे अब गायकवाड़-वंशकी राजधानी बदौदा कहते हैं। फ्लीट महोदय कहते हैं कि, अन्नकोटक

और जम्बुवधिक नामक ग्राम वर्तमान कालके अंशुद और जम्बुव नामक ग्राम हैं। यह बात, स्थान-विचारण-सम्बन्धी कुछ विमोद रहते हुए भी, ठीक सँघती है। अल्टेकर * महोदयका कहना है कि, वगच नामक ग्राम आजकलका यघोदिया है, जो बदौदेमें कुछ मीन उत्तरकी + और है। परन्तु दानपत्रमें उल्लिखित महासेनक नामक तालाबका पता नहीं चलता है।

नौसारी-दानपत्र एक ब्राह्मणको दान किये गये दो विभिन्न ग्रामोंके विषयमें है। यह भी खेतक नामक स्थानसे ही लिखा गया था। प्रथम ग्राम समीपट्टक माही और नर्मदाके बीचकी राज्यभूमिमें स्थित है। इसके उत्तरमें घड़ह, दक्षिणमें कोरुन्दक, पूर्वमें गोलिक और पश्चिममें भर्धनक नामक ग्राम हैं।

कोरुन्दक आजकलका कोरुन्द, भर्धनक वर्तमान भर्धना [या भर्धाना] और घड़ह अथवा घवट [घवत] है। यह सभी ग्राम बदौदा-राज्यान्तर्गत कर्जन तालुकेमें हैं। + यदि इन तीनों स्थानोंको तीन ओरकी सरहद मान लिया जाय, तो इसके अन्तर्गत ऐसा कोई भी ग्राम या स्थान नहीं मिलता, जिसे पूर्वका समीपट्टक या गोलिक नामक ग्राम कहा जा सके। अतः डाक्टर भायडारकरने, समीपट्टकको “सोन्दर्न” लिख करानेके पक्षमें, जो प्रमाण दिया है, वह अप्रयोज्य और अमाननीय है।

इसी [नौसारी-दानपत्र]में एक और भूमि-दानकी चर्चा है, जो मनकनिका जिलेमें वतलाया गया है। ग्रामका नाम जिला है “सम्बन्धी” और इसका सीमा-

© *I. A. XII*, P. 164.

* *Ancient Towns and Cities in Gujarat and Kathiawar*, P. 37

‡ *JBRAS*, *XX* P. 147

+ घड़ह और गोलिक ग्रामोंका उल्लेख गुर्जर राजकुमार जयभट्टके नौसारी-ताम्रपत्रमें भी है, जिसमें किमी समीपट्टक

नामक ग्रामकी भूमि-दानका विवरण है। उपर्युक्त शासनपत्र *Charter* के सम्बन्धक प० भगवानलाल घड़हको, पच महालोंमें, रोहड [द] वतलाया है। इनके मत्तरा ड० भण्डारकरने खण्डन किया है। *I. A. XIII*, P. 80 और *JBRAS*, *XX*, P. 149.

विवरण (चौहद्दी) इस प्रकार दिया हुआ है—उत्तरमें काष्ठ-मयदप, दक्षिणमें ब्राह्मणपल्लीक, पूर्वमें सजोदक और पश्चिममें करजावसाहिक। ६०० भाष्यकारकरके मतानुसार प्राचीन सजोदक अर्थात् प्राचीन सजोद तथा काष्ठमयदप वर्त्तमान-कालीन मायधपा है। किन्तु दोनों ही ठीक नहीं हैं।

मनकनिका (या मकनिक) को वर्त्तमान मकनी ग्राम कह सकते हैं, जो बड़ौदा राज्य के सांखेद-तालुकेमें है। प्राचीन “सन्धन्धी” आजकलका सामधी (समाधि या समधी ?), काष्ठमयदप वर्त्तमान काठमायध्व और प्राचीन ब्राह्मणपल्लीक बरोली नामक ग्राम है। यह तीनों ग्राम भी सांखेद तालुकेमें ही हैं।

ब्राह्मणपल्ली दानपत्रमें ब्राह्मणपल्लीको महिसक विषय (केन्द्र) के अन्तर्गत बतलाया गया है, जिसमें ४२ ग्राम सम्मिलित थे। इस ग्राम (ब्राह्मणपल्ली) के उत्तरमें करजौक, दक्षिणमें जिक्कावत्ची, पूर्वमें नवादा और पश्चिममें घडीयप्पा नामक ग्राम बतलाया गया है।

ब्राह्मणपल्लीक नामक एक ग्राम मकनिक जिलेमें

भी है। थप इन दोनोंमें, यह दानपत्र सम्यन्धी ग्राम कौन है, इसका पता लगाना चाहिये। कवलैकका स्वाभाविक अपभ्रंश—विहृत नाम कोइली ही हो सकता है, और, इस नाम (कोइली) का एक ग्राम बड़ौदा-तालुकेमें है। कोइली ग्रामको आरम्भिक स्थान मानकर ठीक दक्षिणकी ओर चलनेपर हम वायनगाँव नामक ग्राममें पहुँचते हैं; और, यही ग्राम प्राचीन ब्राह्मणपल्ली वान पदता है, जो महिसक-केन्द्र [जिला] के अन्तर्गत है। अन्योन्य नामोंकी खोज करनेपर भी मुझे बड़ौदा राज्यके भू-मापक-विभाग [Survey and Settlement Department] द्वारा प्रकाशित तालुकोके नक्शोंमें कुछ पता नहीं चलता।

इस लेखके लिखने तथा इस दानपत्रमें आये हुए विभिन्न ग्रामोंकी खोज और एकरूपता प्रकट करनेमें मुझे अपने परम प्रिय मित्र मि० वी० पाइ० कश्करसे बड़ी सहायता मिली है, जो इस समय बड़ौदा-राज्यके भू-मापक विभागके सुपरिंटेंडेंट हैं।

वेद-कालीन शिरोभूषण और पदत्राण

डा० सुविमलचन्द्र सरकार एम० ए०, डी० फिल (आक्सन)

वेद कालीन समाज और सम्यताके अनेक रूपत्व—इसके परम्परागत होने अथवा प्रारम्भिक पूर्व-आर्य-कालीन सस्कृतिका उन्नत रूप होने—का विशद वर्णन मैंने अपनी ‘Some Aspects of the Earliest Social History of India’ नामक पुस्तकमें किया है, जिसे मैंने मोहजोदारो और हरप्पाकी खोदाईके तीन वर्ष पूर्व ही लिखा था। जिन घातोंकी चर्चा, मैंने साहित्यिक प्रमाणोंके

आधारपर, की थी—जिनसे वेद-कालीन और प्राक् वेद कालीन सम्यताके यथार्थ रूपका चित्र सम्मुख रखा गया था—दस वर्षोंके बाद, पुरातत्त्व द्वारा, वे प्रमाणित हो गयी हैं। आजसे बारह वर्ष पूर्व, वैदिक ग्रन्थोंके अध्ययनसे, शिरोभूषण और पद-त्राणके सम्यन्धमें मैंने जो कुछ जाना था, उसीका सारांश यहाँ मैं लिखता हूँ। जो पाठक भारतीय पुरातत्त्व विभागकी सर्व रिपोर्टोंसे परिचित हैं और

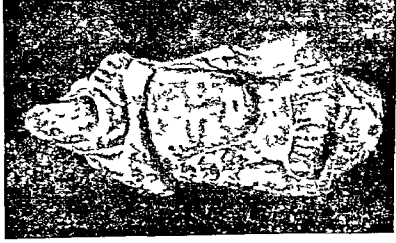
जो जान मार्शल महाशय द्वारा, सिन्धु-घाटीकी सम्यतापर, हालकी लिपी पुस्तक पढ़ रहे होंगे, उन्हें निम्नाङ्कित पङ्क्तियाँ अधिक रोचक, महत्त्वपूर्ण और विचारणीय जैवेंगी।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि, “उष्णीष” (पगड़ी) प्राचीन वैदिक ग्रन्थोंमें नहीं मिलता। हाँ, अथर्वण अथवा आङ्गिरस-वेदमें, व्रात्योंके सम्बन्धमें, यह शब्द आया है—जहाँ व्रात्य सभ्राटोंकी विशेषता प्रकट की गयी है। यजुर्वेद-सहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भी कहीं कहीं इसकी चर्चा की गयी है; परन्तु वह भी व्रात्यों और राजाओंके ही सम्बन्धमें। इस प्रकार “उष्णीष” व्रात्योंके “घन” अथवा “आधान”—सूचक विशेष चिह्नोंमेंसे है। “क्षत्र”-धारी सरदार इसे बलि या यज्ञके अवसरपर धारण किया करते थे। राजा “सोम” (वैदिक चन्द्रदेव) को भी “उष्णीष” धारण करने वाला कहा गया है। राजा इसे यज्ञके अवसरपर धारण करता था; और, वह इसीमें रखकर यज्ञके शुल्क-स्वरूप स्पर्धन दान किया करता था। देवताओंकी सभ्राज्जीकी हैसियतसे इन्द्राणी भी इसे धारण किया करती थी। इससे यह अधिक सम्भव जान पड़ता है कि, प्रारम्भमें पश्चिमीय भारतीय अथवा भारतीय-आर्योंमें पगड़ी बाँधनेका प्रचलन नहीं था। यह प्राचीन निवासी व्रात्योंके द्वारा ही प्रचारित हुआ। इन्ही व्रात्योंमें—अथर्ववेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, श्रौत-सूत्र और सूत तथा मगध प्रादेशिक (प्राचीन या बङ्गाल और बिहार) पौराणिक गाथाओंके अनुसार—सर्वप्रथम राजत्यके भाव उद्भूत हुए। मगध का प्राचीन व्रात्य, वैदिक ग्रन्थोंमें, असुर, अग्राह्मण, महादेवोपासक तथा पत्थरके बने मृत्क-स्मारकोंके पूजक कहे गये हैं। व्रात्योंके

“उष्णीष” दिनकी भाँति उज्ज्वल तथा प्रकाशमान और केश रात्रिकी भाँति कृष्ण थे। यह स्पष्ट है कि, वंश परम्परासे व्यवहृत मुसलमानी पगड़ीके जैसा यह रूईका ही बना होता था; और, सूर्यके अनुसार यह कपड़ेसे ढका और कसा रहता था। यह भी परम्परागत चाल थी। यज्ञके अवसरपर ही राजाओंका “उष्णीष”, एक विशेष प्रकारसे, बाँधा जाता था और उसके दोनों छोर घँघी हुई पगड़ीके सामने खींचकर ऊपरसे इस प्रकार खींच दिये जाते थे कि, पगड़ी पूरी तरहसे ढक जाती थी। यह चाल शतपथ-ब्राह्मणोंने ही निकाली थी और विशेषतः यज्ञके ही अवसरपर ऐसा किया जाता था। दूसरी चाल यह थी कि, पगड़ीके दोनों छोरोंको, पीछेकी ओर, बाँध दिया जाता था और कंधेपर “उपवीत”की तरह लटकते हुए फटेको काछ-नीमें खींच दिया जाता था। यज्ञोंके अवसरपर बाँधी जानेवाली इस विशिष्ट प्रकारकी पगड़ीसे यह ज्ञात होता है कि, साधारणतः उत्तर-भारतवर्ष निवासी और विशेषतः सैनिकों जैसी, ठीक पुरानी चालकी तरह, क्षत्री सरदार पूँछदार पगड़ी बाँधा करते थे; किन्तु इस तरहकी पगड़ी, विशेषतः यज्ञोंके समयके लिये, असुविधाकारक पदम् विपत्तिजनक थी।

× × × × ×

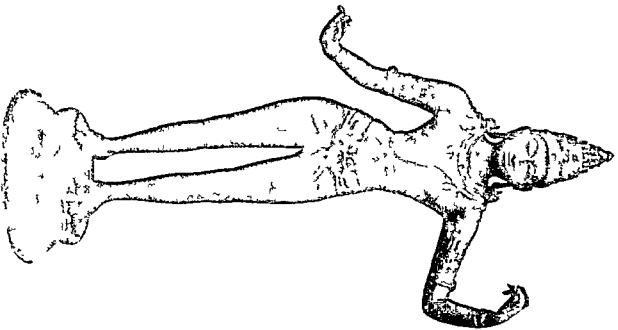
× ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है कि, नाग ऋषि (द्रष्टा) “उष्णीष”की तरहके रूमालसे अपनी आधी आँख ढकी रखते थे। सम्भवतः, सिरकी चारों ओर बाँधा हुआ यह रूमाल प्रारम्भमें ब्राह्मण-कालीन “उष्णीष” ही था। अतः जब शासक-श्रेणियोंके राजकुमार अपने संस्कारोंमें सम्मिलित होते थे, तब यह व्रात्य और क्षत्री एक विशिष्ट प्रकारकी पगड़ी बाँधा करते थे। ऐसे अवसरोंपर राजसिंहासन



१६४—१६५—१६६—चैदकाळीन गिर सजा

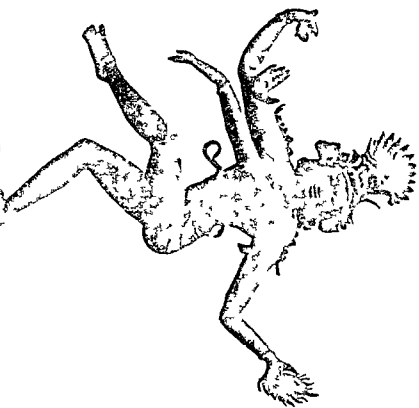


१६७—राजा लक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव बहादुर



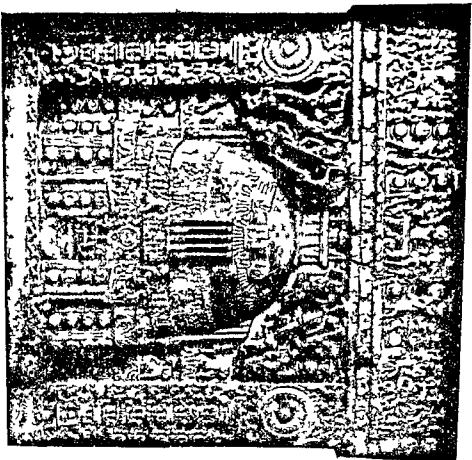
२६०—चोलाकालीन (१० दसना भ्याखना सदी)

श्रीरामको समर्पित प्रतिमा ।



२६१—चोलाकालीन (१० दसना भ्याखना सदी) नटराज

शिवको समर्पित प्रतिमा



१६२—घातकटक (अमरावती, जिता गुदूर) के महाचौरयका नमूना ।
(मद्रास म्युजियम)



१६३—देव कारीन शिर सजा

भी, पौरौहित्य—सम्बन्धी यज्ञादि संस्कारोंके अनुसार, नदी-तटको पवित्र सामग्रियोंसे, अवसरानुकूल निमित्त होते थे। पुरोहितोंकी तरह देवी-देवताओंके साथ भी यही बात थी। ब्रह्मदेशीय तथा कोलार-देशीय स्त्रियोंकी-सा, इन्द्राणी भी, बहुरंगी चित्रोंसे सुशोभित, “उष्णीष” धारण करती थी। इससे स्पष्ट घोषित है कि, वह सिरपर बाँधनेका रंगीन रेशमी रुमाल ही था। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि, लंकाकी राक्षस—स्त्रियाँ भी, इन्द्रजितके यज्ञके अवसरपर, अपने सिरपर लाल कपड़े बाँधा करती थीं। शतपथ-ब्राह्मणमें एक दूसरे तरहकी पगड़ी बाँधनेका उल्लेख मिलता है, जो दो या तीन इंच चौड़े फीतेसे बँधी रहती थी। इससे यह सिद्ध होता है कि, उस समयमें भी, पगड़ी बाँधनेकी चाल थी; जैसा कि, आजकल लड़कियों, विशेषतः दक्षिण-भारतकी स्त्रियों, में फीतेसे बाँधने, गूँथने या सजानेकी चाल है।

ऋग्वेदमें, किरोटकी भाँति, केवल एक ही प्रकारके शिरस्त्राणका उल्लेख मिलता है, जिसे “शिरो” कहा जाता था; क्योंकि इससे नाक और फनपटीतक ढक जाती थी। यह शिरस्त्राण युद्धमें ही व्यवहृत होता था। यह घूँघटदार और किसी घातुका ही बना हुआ होगा; जैसा कि, मध्यकालीन अँगरेज़ सैनिक पहना करते थे। भारतपर्यमें बाहरसे आनेवाले आर्योंका पहनावा भी निश्चय ही इंडो-यूरोपियन आक्रमणकारियोंकी ही तरह—प्राचीन ईरानी, शक, कुषाण तथा गुर्जरोंकी ही भाँति—होगा; उनका शिरस्त्राण नुकीले टोपकी तरह अरुण्य होगा और वे “कैल्कोप” या “हेट”कासा हो रहा होगा। आर्योंके विचित्र देवता अर्यमा भी स्तूपाकार—ऊँचा—शिरस्त्राण धारण करते थे,

जो प्राकृतिक “टोपी” या “टूपी” अथवा परम्परागत “टोपर” (जो ‘भौर’का-सा घर अथवा मूर्तिके लिये स्तूपाकार बनती थी)का ही प्रारम्भिक रूप रहा होगा।

पद्मनाभका उल्लेख तो कहीं भी प्राचीन संहिताओंमें—ऋग्वेद और अन्यवेदोंमें—नहीं मिलता। प्राचीन पौराणिक परम्परागत कथाओंसे “उपानह” (और “छत्र”) होनेकी बात सिद्ध होती है। कहते हैं कि, जमदग्नि भार्गवने (जो ऋग्वेदिक विश्वामित्रके समकालीन और सम्बन्धी थे) इसे इक्ष्वाकु-राजकुमारी, अपनी छोटी रेणुकाके लिये, ही सर्वप्रथम आविष्कृत किया। अतः या तो भृगुवंशियोंसे जूते और छातेको यह चाल इक्ष्वाकुओंमें आयी या जमदग्नि के राजनीतिक विवाह रेणुकाके साथ, हेतुके विरुद्ध सहायता करनेके कारण, होनेके पश्चात् भृगुवंशियोंने कोशलके राज-दरबारसे इन दोनोंका व्यवहार सीखा। अथर्ववेदमें यह देखकर बड़ा कौतूहल-सा ज्ञान पड़ता है कि, जमदग्नि भार्गवने अपनी कन्याके लिये, एक मूल्यवान् केशतैल तैयार किया था। वह सुवती अपनी माताके ही सद्गुण विलासिनी एवम् शृङ्गार-प्रिया थी। यह सत्य बातें पौस्तनिक तथ्योंसे मिलती हैं कि, भृगु-वंशजाले, अन्य ब्राह्मणोंकी अपेक्षा, शास्त्रधर्म विशिष्ट थे। सम्भवतः अन्य ब्राह्मण—समुदायमें “उपानह” (जूते) का व्यवहार नहीं था; और, यदि हुआ भी हो, तो बहुत दिनों बाद हुआ। यही कारण है कि, पौरौहित्य साहित्य (ब्राह्मण-ग्रन्थ) के प्रारम्भिक खलोंपर इस विषयका उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, साधारण-जनसमुदायमें व्यवहार करने योग्य पद्मनाभकी बात तो नहीं; किन्तु सैनिकोंमें व्यवहृत पद्मनाभकी बातें प्राचीन संहिताओंमें लिखी

है। ऋग्वेदके “पदविप्” शब्दका अर्थ साधारणतः युद्धार्थ अश्वकी पद-रक्षाके लिये चर्मचरण किया गया है; और, अथर्ववेदमें इसे पैर बाँधनेकी जंजीर वतलाया गया है। अश्वोंके पद-रक्षाचरणसे यहाँ तात्पर्य है सैनिकोंके जानु-रक्षणसे। ऋग्वेदके “मन्त्र” अथवा भारी “वातुराणपदा”से युद्ध-क्षेत्रमें सेनानियों द्वारा व्यवहृत विशेष आचरणका बोध होता है, जिससे उनके पाँवसे जंघातककी रक्षा होती है। इन्द्र इसी प्रकारके विशिष्ट पदत्राणोंसे शत्रुओंका दमन किया करते थे। कुपाणोंको प्रस्तर मूर्त्तियों और मुद्राओंमें चित्रित उपानहोंको इँडो-सीथियनोंके उपानहोंसे तुलना करनेमें बड़ा मनो-विनोद होता है। शक-कुपाण पश्चात्कालमें भारतपर आक्रमण करनेवाले इँडो-यूरोपियन ही थे और इसी कारण उनमें हम ऋग्वैदिक भारतीय-आर्य-सम्बन्धी विशेषताएँ पाते हैं। अथर्ववेदमें भी लिखा है कि, इससे कुछ मिलती-जुलती, पैरमें बाँधनेके लिये, “पत-सङ्गिनी” होती थी, जो बहुत असुविधाजनक तथा कुरूप होती थी और जिसे सैनिक, दूर जाने तथा अनिवार्य आक्रमणके समय, पहना करते थे। “उपानह” शब्दका सर्व-प्रथम प्रयोग अथर्ववेदके अन्तिम भागोंमें और फिर, कहीं कहीं यजुर्वेद संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थोंमें, संस्कारों और व्रात्योंके सम्बन्धमें, हुआ है। ब्राह्मण-कालीन चरण पाटुका (खड़ाऊँ) तथा पद-त्राण (उपानह), जो संस्कारोंके अवसरपर व्यव-हृत होते थे, उत्तर-भारतकी नदियोंके किनारोंपर पम्ये जानेवाले जंगली जानवरों—विशेषतः काले भृगों और सूअरों—की खालसे बने होते थे। मगध-के व्रात्योंके पदत्राण, सूत्रोंके अनुसार, काले और लम्बी नोकवाले, चित्रकारी किये हुए रङ्गीन

चमड़ेके बने तथा चरणके समान धातविक ग्रन्थियोंसे सुशोभित होते थे। इस प्रकारके उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि, अधिकांश सुन्दर उपानह, जो उन दिनों व्यवहृत होते थे, (प्राची-निवासी) व्रात्यों और असुरोंमें ही, ठीक “उष्णीप”की भाँति, प्रचलित थे। बहुत सम्भव है कि, प्रारम्भिक कालमें, पुरुष तथा स्त्री—दोनोंमें, पदत्राण साधारण-व्यव-हारकी वस्तु था; जैसा कि, ऋग्वेदिक कालमें “पादी” या “नूपुर” थे।

“उष्णीप”की चाल, नये-नये तौरसे बाल सँवारे-के फैशनोंके कारण, जाती रही। समस्त गोत्रों अथवा वंशोंमें, विभिन्न प्रकारसे, केश सँवारे-सजाये जाते थे। उनकी अपनी रुचिके अनुसार अलग-अलग तरीके थे। इस प्रकार, ऋग्वेदके अनुसार, वाशिष्ठ (वाशिष्ठ वंशीय) सूतके बने उज्ज्वल वस्त्र पहनते तथा सींगोंकी तरह “कपर्द” को सिरपर, दाईं ओर धारण करते थे। इनकी पहचान, इन्हीं बातोंसे, हुआ करती थी। इससे जान पड़ता है कि, वाशिष्ठोंमें पगड़ी बाँधनेकी चाल नहीं थी; और, जैसा कि, पहले कहा जा चुका है, अति प्राचीन कालमें कोई भी ब्राह्मण पगड़ी नहीं बाँधता था। केश-कलापकी दूसरी विधि “पुलस्ति-कपर्द” थी, जिसमें “कपर्द” सामनेमें अथवा पुलस्त्य ब्राह्मणों-की तरह व्यवहार किया जाता था। इसलिये या तो यह ब्राह्मण गोत्र इस तरह “कपर्द” धारण करनेके कारण ही पौलस्त्य कहलाया या ऐसी चाल पौलस्त्योंमें ही थी, जो अगस्त्यों (और वाशिष्ठों) के सगोत्र और बहुत प्राचीन कुलके थे; और उनकी ही भाँति, यह भी राक्षसों अथवा दक्षिण भारतके निवासियों और उत्तर-पूर्व-प्रदेशके भारतीय प्राक्-आर्यजातियोंमें सम्मिलित हो गये थे। इस सम्बन्ध

में यह ध्यान देने योग्य बात है कि, प्राक्-आर्य-देवता रुद्रका "कपर्द" परम्परासे कुछ भुषा हुआ—देहा—रहता था अथवा पौलस्त्योंकी ही भाँति "पुलस्ति-कपर्दिन्" व्यवहृत था। भिन्न-भिन्न रूपोंमें, पौराणिक महाकाव्यकी कथाओंके अनुसार, रुद्रका सम्बन्ध विशेषतः पौलस्त्यों और राक्षसोंके साथ था। पुलस्त्य, पुलह और अगस्त गोत्र-नामों (पौराणिक महाकाव्यकी कथाओंमें) से एक ही तात्पर्य है। उदाहरण-स्वरूप, इस देशके पूर्व-निवासी यूनानी कुलोंके नाम भी बहुत-कुछ इस प्रकार—वल्फि, येही थे, "पेलासजी" प्राचीन मेडिटरेनियन-जातिका द्योतक है, जिनके मध्य आर्य-ग्रीक जाकर बस गये थे। मेडिटरेनियन और पश्चिमीय एशियाकी सभ्यता तथा प्राक् ग्रीकों (Pre-Hellenic) के इतिहासको, पुरातत्त्वकी दृष्टिसे, अध्ययन करनेपर यह बात, बहुत सम्भव जान पड़ती है कि, भारतीय ब्राह्मणों तथा प्राक्-आर्यजातियोंके नाम—पुलस्त्य, पुलह और कतु आदि—प्रवासके कारण ही बदल गये हैं, जिन्हें पाश्चात्य देशवालोंने, प्रथम भारतीय-आर्य-आक्रमणोंके फलस्वरूप, अपनाया था; और, जो पुलस्ति या "फिलिस्टाइस" (बादमें पैलेस्टाइन), पूर्वीय मेडिटरेनियन भागके 'पेलासजी' (Pelasgi) तथा सीट (Cete के 'जनपद' अर्थमें) जैसे नामोंमें लक्षित होता है। सबमुक्त पौराणिक परम्परागत कथाओंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि, इन लोगोंने भारतीय सभ्यताको, अति प्राचीन-कालमें ही, अपना लिया था; क्योंकि या तो ये यादके माननों और पेलास्यों (आर्यों) आदिके साथ संघर्षण करते करते इनमें मिल गये या याध्य होकर समुद्र औद पश्चिमकी ओर जाकर

बस गये और फूलने फलने लगे तथा इनकी संख्या बहुत बढ़ती गयी। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि, केश सँधारनेकी इस चालसे, परम्परागत प्राचीन पौराणिक कथाओंसे, पुलस्त्योंके 'शेविति' (शैव) होनेकी बात सिद्ध हो जाती है। "कपर्द" की आकृति शिव-लिङ्ग जैसी थी; क्योंकि "कपर्द" के मूल शब्द "कपर्व" का अर्थ "शिव-लिङ्ग" (Phallus) है। अब इसकी तुलना "कपर्दाक" से कीजिये, जो व्यापार-विनिमयका साधन तथा आरम्भमें धातुके डंडेके टुकड़ेका बना होता था। इससे जान पड़ता है कि, पुलस्त्य, वाशिष्ठ अथवा अन्य ब्राह्मण वंशवाले (आङ्गिरस आदिकी भाँति) आदिमें शिव-लिङ्ग-पूजक (शैव) पुरोहित ही थे।

अथर्ववेदके एक अशुद्ध वाक्य (५१८।११) से, जिसमें, अधिकांश वेदशेको के मतानुसार, संशोधनकी आवश्यकता है (जैसे, "कर्माज्ञान" की जगह कर्मज्ञान और "केशर-प्रावन्धायाः" की जगह केशर-प्रावन्धानाम आदि)। ज्ञात होता है कि, समस्त वैतहल्य (यादव) —जिन्होंने "केशर-प्रावन्धाः" भृगुओंके नवजात शिशुओंको मार डाला था —सपरिवार नष्ट हो गये। यह बात पौराणिक कथाओंमें भी मिलती है। इससे जान पड़ता है कि, भृगु-परिवारोंमें—सिंहके अयालकी भाँति—आलङ्कारिक केश (केशर-प्रावन्धाः) रखने की चाल थी, जो वैदिक ग्रन्थोंमें वर्णित ब्राह्मण-कालीन प्रशस्त केशकलापसे बहुत मिलती-जुलती है।

कुछ ऐसे भी वैदिक देवी-देवता हैं, जिनके केश-कलापकी सजावट-यनावटमें विशेष विभिन्नता पायी जाती है। यद्यपि शिवको कहीं जटिल मस्तक-वाला और कहीं मुण्डित मस्तकवाला कहकर

सम्बोधित किया गया है; तथापि प्रधानतया उनके केश "कपर्द" की ही तरह सजे-बने होते थे। पूषण "कपर्द" और इन्द्र गुम्बजदार "ओपश" धारण करते थे। देवी सिनीवाली की ही भाँति अन्य देवी-देवताओं के सम्बन्धमें भी यही बात थी, जिन्हें पौराणिक कथाओं के अनुसार आङ्गिरस तथा घरेलू देवी-देवता समझा जाता था। ब्राह्मणों के आङ्गिरस-वंशों में, सिनीवाली की भाँति, "कपर्द" ही धारण किया जाता था। इसी प्रकार ऋग्वेद में भी हम देखते हैं कि, पाश्चात्य सरदार मुद्गल, जो पुरोहित के रूप में आङ्गिरसों में मिल गये थे, "कपर्द" ही धारण करते और, साथ ही साथ, ब्राह्मण-राजकुमार की भाँति, हाथ में अस्त्र (*Hunter*) लिये रहते थे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार से अपने केशों को सँवारने-सजाने के प्रेमी इन्द्र, रुद्र, पूषण और सिनीवाली आदि वैदिक देवी-देवताओं की रत्न-सहन तथा वेश-भूषा देशी (भारतीय) और अतिरिक्त-आर्यों (*Extra-Aryans*) अथवा प्राक्-आर्यजातियों (*Pre-Aryans*) की ही भाँति थी। प्रायः सभी वेदज्ञ इस बात को अब मानने लगे हैं कि, वेद-कालीन धार्मिक, नैतिक तथा भौतिक सम्प्रदाय का तीन-चौथाई अंश इंडो-यूरोपियन नहीं—बल्कि भारतीय और प्राक्-आर्यों की ही है। यह भी स्पष्ट है कि, इस प्रकार से केश सँवाने की चाल—पगड़ी आदिकी तरह शिरोवस्त्र छोड़कर—ब्राह्मण-वंशों और उनके देवी-देवताओं के बीच विभेद एवं विभिन्नता सूचित करती थी। ये अधिकांशतः प्राक्-आर्य-कालीन थे; ब्राह्मण-वंश भी इनके समकालीन ही रहे होंगे।

स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने केशों का शृङ्गार किया करती थीं। इसका अस्पष्ट भाव इन

शब्दों के द्वारा प्रकट होता है,—'स्तूफा' (इसकी तुलना पूर्वोक्त भाषा के 'योदा' शब्द के साथ कीजिये, जिसका अर्थ 'समूह' होता है), 'कुरीर' और 'कुम्भ'। 'ओपश' और 'कपर्द' की चर्चा तो पहले ही की जा चुकी है। यह स्पष्ट मालूम होता है कि, 'ओपश' तथा 'कपर्द' पुरुष-श्रेणी में ही व्यवहृत होते थे। स्त्रियों में इन्हें पहनने की चाल नहीं थी। प्राचीनकाल के लम्बे-लम्बे केशवाले पुरुष ही इसे धारण कर सकते थे। यही कारण है कि, लम्बे-लम्बे केशोंवाली कुमारी कन्याएँ, अपने-अपने बाल, चार-चार कपर्दों से सजाया करती थीं। पुरुष एक ही 'कपर्द' का व्यवहार करते थे। पुरुषों के लिये 'कपर्द' किस प्रकार के होते थे—इसका स्पष्ट ज्ञान 'कपर्द' देवकी परम्परागत मूर्ति और उसके शिष्यों के केश-कलाप से भली-भाँति हो सकता है। आज भी 'कपर्द' की भल्लक शिव-भक्तों तथा दक्षिण-पूर्वीय भारत के शैव गृहस्थों में [उन्नत जटाजूट, बाँधने की चाल] पायी जाती है। 'कपर्द' की रचना शिव-लिङ्ग [कर्पथ] की ही तरह होती थी। पुरुष, इसी प्रकार, अपने-अपने लम्बे-घने केश—गुच्छ को ऐँठ-गूँथकर जटाजूट के रूप में बाँधा करते थे। स्त्रियाँ भी, इसी तरह, अपने-अपने केश बाँधा करती थीं। स्त्रियाँ अपने बालों को चतुष्कोण चेदी की तरह, चार "कपर्दों" से सजाया करती थी; और, इस कारण इसका तात्पर्य "आलङ्कारिक पट्ट" नहीं हो सकता, जैसा मैक्डानलने समझा है। देवी सिनीवाली के 'कपर्द' का तात्पर्य भी आलङ्कारिक पट्ट [*Braids*] नहीं हो सकता; क्योंकि 'कुरीर' और 'ओपश' की भाँति, यह उसके केशों की विभिन्न सजावट का नाम था। युवतियों के उपर्युक्त चारों कपर्द, एक साथ मिलकर, अवश्य ही राज-मुकुट की

आकृतिके वन जाते होंगे। पुरुषोंके “ओपश”के रूपके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है कि, सब वालोंको इकट्ठाकर अन्तमें, सिरपर, छोटी-सी एक गाँठ दे दी जाती थी। ऐसा करनेसे बाल मुकुट या टोपकी तरह बन जाते थे। ऐसा करनेसे केश-यन्त्रनकी जैसी आकृति हो जाती थी, वही ‘ओपश’ या ‘अव-पश’ कहलाता था। ‘ओपश’ की आकृति भी, ‘कपर्द’की सी, शिव-लिङ्ग-स्वरूप होती थी। इस आनुमानिक रूपसे, ‘ओपश’-शब्द-सम्बन्धी अनेक विवरणोंपर प्रकाश पड़ेगा। इन्द्र और सोमके ‘ओपश’ मेघाच्छन्न विस्तृत नभो-मण्डल हैं। किसी भी भोपड़ीका फूसका बना जालीदार छाजन (इसकी तुलना स्त्रीके साथ की गयी है) “विपुचत्”पर फले हुए ‘ओपश’ के समान है (यह ध्यान देने योग्य बात है कि, बिखरे हुए बालोंको सजाने या बाँधनेके लिये टोपीकी तरह ऐसा ‘ओपश’ सहज-साध्य है, जो घरके निकले हुए छाजनकी तरह (ओलती-ओरियानी) समस्त सिरको ढक लेता है)। एक जगह ‘ओपश’को प्राचीन-कालीन गायकी गाँठदार दोनों साँगोंका रूप दिया गया है। इन उपमाओंसे यह प्रकट होता है कि, पुरुषोंकी ही भाँति, स्त्रियोंके भी ‘ओपश’ होते थे; यदि ‘सु’का अर्थ भोपड़ीका छाजन न लगाकर, सिनीवालीके धर्णानुसार, भारी ‘कपर्द’ और अधिक फैला हुआ बड़ा ‘ओपश’ न किया जाय। परन्तु सोमका ‘हरिः’, ‘ओपश’ सम्भवतः रंगीन जालीदार छाजनसे मिलता-जुलता है, जो पुरुषों द्वारा ही व्यवहृत होता था। इसके साथ इन्द्राणी द्वारा पहने गये रंगीन तथा वृत्ताकार शिरोबन्धनकी तुलना कीजिये। मालूम होता है कि, कभी-कभी [एक ही अलङ्कारसे] ‘ओपश’का अर्थ

होता था केवल सिर ढकनेवाला जाल; जैसा कि, नवयधूके केश ‘कुरीर’ और ‘ओपश’के रूपमें सजे होते थे; और, यह दोनों एक ही सम्पूर्ण शिरोवेष्टन [शिरोबन्धन] के दो भागोंसे बन जाते थे। पुरुष और स्त्रीके ‘ओपश’ के स्वरूपका वर्णन अथर्ववेदके ऐन्द्रजालिक मन्त्रोंमें भी मिलता है। इस सम्बन्धमें लिखा है कि, प्रतिद्वन्द्वीकी निर्द्वन्द्विता तभी पूर्ण हुई समझी जाती थी, जब ‘ओपश’, ‘कुरीर’ और ‘कुम्ब’ उसके सिरपर रखे जाते थे ! इसलिये ‘कुम्ब’ और ‘कुरीर’ एक प्रकारसे स्त्री-शृंगार-विशेष थे। इसी प्रकार सूत्रोंमें भी देखा जाता है कि, ‘कुम्ब’ और ‘कुरीर’ पत्नीके ही सिरपर रहते थे; और, यह उसी तरह, वैदिक ग्रन्थोंमें, पुरुषोंके सम्बन्धमें, नहीं लिखे गये हैं। जैसा कि, पहले कहा जा चुका है, ‘ओपश’का अर्थ शृङ्ग-स्वरूप शिरोवस्त्र नहीं हो सकता। यह तो बलुङ्की छोटी साँगकी तरह गिरहदार होता था। परन्तु “कुरीरिन्” (जो वैदिक विवरणोंके अनुसार साँगकी तरह होता था) साँग-स्वरूप केशबन्धन था; और, केवल स्त्रियोंके लम्बे-लम्बे बालोंके साथ ही इसका सम्बन्ध बतलाया गया है। जाल या घूँघटके समान “ओपश” (जैसा कि, इसका पहले अर्थ लगाया जा चुका है, नवयधूके शिरोवस्त्र (घूँघट ?) के समान), साँगके समान बने हुए शिरोबन्धनसे, मस्तकसे, निध्रय ही लटकता हुआ होगा। आज भा इस तरहकी चाल सतलज तथा गङ्गानदीके बीचकी उपत्यकाओंके निवासियों तथा लगभग भारतकी हिमालय-प्रदेशमें बसनेवालोंके आभूषणोंमें प्राचीन है। ‘कुम्ब’ निध्रय ही प्राचीन ‘साँग’ है, जिसके चाल विशेषतया स्त्रियोंमें, युद्ध-यादृक् चली गयी थी;

जैसा कि, आज भी बंगाल और मालाबारकी स्त्रियाँ बालोंको गूँथकर पीछेफी ओर [चौड़ा जूड़ा] बाँध लिया करती हैं। इस शब्दका रूप और अर्थ 'कुम्भ' और 'कम्बु' आदि जैसे समरूपात्मक शब्दोंसे सम्यक् जान पड़ता है, जिनका तात्पर्य गोलाकारसे है। जिस प्रकार वैदिक नियमित निबद्ध ध्वनि अथवा वाक्को 'सामन' और 'गाथा' कहा जाता था, उसी प्रकार 'कुम्भ' या 'कंठ' पर केश-गुच्छको लपेटकर बाँधनेका भी नाम पड़ा होगा या 'कुम्भ'का ही एक रूप समझा जाता होगा। 'कुम्भ'का सम्बन्ध तामिल भाषाके 'कुदुम्' (केश-समूह-केशावेष्टन) और 'पा' (चुनना या गूँथना) से भी हो सकता है। इसके साथ 'कदम्' (व) के फल तथा 'कदमा' (गोल मण्डलाकार टोपी)को समता हो सकती है, जो सम्भवत

'कुम्भ'के विविध रूपोंके नाम होंगे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि, 'कुम्भ' केरल अथर्ववेद और अधिकांश वादमें रचे गये सूक्तोंमें ही मिलता है। इस कारण लोगोंकी यह धारणा होती है कि, पहले यह आङ्गिरस प्रचलन था, जिसका प्रचार आथर्वणों या आङ्गिरसोंमें ही था, जिनका निवास-स्थान, पौराणिक कथाओंके अनुसार, अङ्ग देश था (जिसके अन्तर्गत, प्राचीन कालमें, वास्तविक अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, वंशाली और मगध प्रदेश थे और इसी अङ्गके नामपर वस्तुतः अङ्गिरा या आगिरस गोत्र नाम पड़ा)। अतः हमलोग अतक भी बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मालाबार वा केरल (वैदिक साहित्यके 'वङ्ग मगध चेरा'), क्रीप्राक्-आर्यजातियों और दक्षिण पूर्व भारतके निवासियोंमें 'कुम्भ', 'कं' या 'पा' और 'कदम्'की बालें परम्परासे चली आ रही है।

वैदिक भूगोल

श्री० केशवचन्द्र नदोपाध्याय एम० ए०

वेद पदसे मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्का ग्रहण होता है। अतः वैदिक भूगोल जाननेके लिये हमें मन्त्रादिक वेदके चारों विभागों का उपयोग करना चाहिये। श्रौत सूत्र, गृह्य-सूत्र और धर्म-सूत्र स्मार्त-ग्रन्थ हैं, वेद नहीं हैं। इस कारण उनमें जो भौगोलिक बातें पायी जाती हैं उनका उपयोग यहाँ नहीं किया जायगा। परन्तु स्मार्त-ग्रन्थ होनेपर भी यास्कके निरुक्तका उपयोग किया जायगा। इसका कारण यह है कि, वह वैदिक शब्दों और मन्त्रोंका व्याख्यान है।

वेदमें जगत्का विभाग तीन लोकोंमें किया गया है। ये तीन लोक पुराणद्विकी पृथिवी, स्वर्ग और पाताल नहीं हैं, बल्कि (१) पृथिवी, (२) अन्तरिक्ष अर्थात् वायुलोक और (३) द्युलोक अथवा स्वर्ग हैं। मेघ, विद्युत् और वायु अन्तरिक्षमें हैं और सूर्य हैं स्वर्गमें। 'स्वर्' शब्द सूर्य और स्वर्ग, दोनोंके लिये आता है। ब्राह्मणोंमें कहीं कहीं इन तीनों लोकोंके लिये "भू", "भुव" और "स्व", ये तीन नाम ("महाव्याहृति") आये हैं। ऋक्संहिता में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक भी तीन तीन

विभागोंमें विभक्त पाये जाते हैं। परन्तु कहीं-कहीं तो "तीन पृथिवी" या "तीन चुलोक" पृथिवी, अन्तरिक्ष और चुलोकके लिये आया है। वैदिक शब्दकोश ("निघण्टु") में देवताओंके नाम तीन विभागोंमें दिये हुए हैं। प्रथममें पृथिवीमें रहनेवाले देवता हैं, द्वितीयमें अन्तरिक्षमें रहनेवाले और तृतीयमें स्वर्गवासी देवता हैं। यही लोकविभाग वैदिक साहित्यमें सर्वत्र पाया जाता है।

पृथिवीकी गतिके विषयमें कोई श्रुत प्रमाण नहीं है। पृथिवी चक्रकी तरह घूर्णाकार है, यह ऋक्संहिता (१०।८।१४) में कहा गया है कि, इन्द्रने पृथिवी और चुलोकको दृढ़ किया है, जैसे कि, दो चक्र, अक्षके द्वारा, दृढ़ रूपसे धृत हैं। परन्तु पृथिवी गोलाकार भी है और उसकी दूसरी तरफ आकाश है, ऐसा प्रमाण वेदमें कहीं नहीं मिलता है। सूर्यका जय अस्तमन होता है, तब सूर कहाँ जाता है और कैसे पुनः पूर्व दिशामें आ जाता है, यह प्रश्न वेदमें कहीं-कहीं उठाया गया है (ऋ० स० १।३।५७)। परन्तु इस प्रश्नकी बड़ी विचित्र मीमांसा पेत्रेयब्राह्मण (३।४४) में की गयी है। वहाँ सूर्यके विषयमें कहा गया है कि, वह कभी अस्त नहीं होता है, न उदित होता है। लोग जो समझते हैं कि, सूर्य अस्त होता है, वह ऐसा है कि दिनके अन्तको पहुँचकर सूर्य अपनेको पलट लेता है और रात्रिको नीचे करके तथा दिनको ऊपर करके फिर लौट आता है; जो लोग समझते हैं कि, वह प्रातःकालमें उदित होता है, वह ऐसा है कि, सूर्य रात्रिके अन्तको पाकर अपनेको (फिर) घुमा लेता है और दिनको नीचे करके तथा रात्रिको ऊपर करके पश्चिमकी ओर चलता है। वास्तवमें वह कभी अस्त नहीं होता है। इसका अर्थ यह है

कि, सूर्यके एक भागमें दिन या प्रकाश है और दूसरेमें रात्रि या अन्धकार है। सूर्य जब पूर्वसे पश्चिमकी ओर चलता है, तब प्रकाशवाला भाग हमारी तरफ रहता है और अन्धकारवाला भाग ऊपर। इससे हमें दिनको प्रकाश मिलता है। पश्चिमाकाशको पहुँचकर सूर्य अन्धकारवाला अंश हमारी तरफ और प्रकाशवाला अंश देवोंकी तरफ करके पूर्व दिशामें लौट आता है। इससे रात्रिको पृथिवी अन्धकारमें रहती है। ऋक्संहिता (१।११।५।५, ५।८।१।४, ६।६।१, ७।८।०।१, १०।३।७।३ प्रभृति) का यही तात्पर्य-सा विदित होता है। पेत्रेयब्राह्मण (८।२५) में कहा गया है कि, समुद्रसे पृथिवी घिरी हुई है; परन्तु पुराणकी तरह पृथिवीका द्वीपोंमें विभाग वेदमें नहीं पाया जाता।

इस पृथिवीका बहुत अल्प भाग वेदयुगमें आर्यों-को ज्ञात था। ऋक्संहितामें जितने भौगोलिक नाम पाये जाते हैं, वे सब पंजाब, काश्मीर और अफगानिस्तानके हैं। इससे सिद्ध होता है कि, आर्य लोग उस समय इन स्थानोंमें रहते थे और इनके बाहर किसी देशसे विशेष सम्बन्ध नहीं रखते थे। क्रमशः आर्य लोग मध्यदेशकी ओर बढ़े। ऋक्संहिता (३।३३ और ३।५३)से विदित होता है कि, पंजाबके दक्षिणकी ओर बढ़नेमें विश्वामित्र अग्रणी था। वह वत्सु भरतवंशके सुदास राजाको और उनके लोगों को लेकर विपाश् (व्यास) और शुतुद्रि (सतलज) नदी पार होकर मध्यदेशकी ओर आया। आर्यजातिके और-और लोग बादको क्रमसे इधरको बढ़े। कुरु क्षेत्रके आस-पासमें सदियोंतक प्रधान प्रधान आर्य-जातियाँ रहीं; और, यहीं यजुर्वेद और ब्राह्मणोंके युगकी सभ्यताका केन्द्र था। शतपथ-ब्राह्मणके प्रथम काण्डके चतुर्थ अध्यायके प्रथम काण्डमें इस देशसे

पूर्वकी ओर आर्योंके बढ़नेकी सूचना हमें मिलती है। सरस्वतीके तटपर विदेघ माथव नामका राजा था, जिसका पुरोहित था गोतम रहगण। ये दोनों अग्नि वैश्वानरको अनुसरण करते हुए सदानीरा नदीके तटतक पहुँचे। अग्नि वहाँ रुक गया और राजा विदेह माथव सदानीराके उस पार जाकर रहने लगा। शतपथब्राह्मण कहता है कि, यह सदानीरा नीरा कोशल और विदेह राष्ट्रकी सीमा है। यद्यपि पहले ब्राह्मण लोग इस नदीके पूर्वमें नहीं रहते थे। शतपथ—ब्राह्मणके समय इसके पूव पारमें बहुतसे ब्राह्मण रहते थे और वहाँ यह करते थे (श० ब्रा० १।१।४।१४—१६)। ब्राह्मण-युगमें, पूर्व भारतमें, आर्य-निवास बहुत कम था। परन्तु क्रमशः ब्राह्मण्य सभ्यता सम्पूर्ण आर्यावर्तमें फैल गयी। शतपथ ब्राह्मणके चतुर्दश काण्डके अन्तर्गत बृहदारण्यक-उपनिषद्में हम देखते हैं कि, विदेहराज जनक बृहद्विद्याका एक बड़ा भारी भक्त था। विन्ध्यके दक्षिणमें वैदिक सभ्यताका प्रसार होनेमें काफी विलम्ब हुआ था।

स्वर्गत लोकमान्य वाल गङ्गाधर तिलक महा-शयके मतमें वैदिक आर्य लोग सुमेरु (North Pole) से आये थे और उनके प्राचीन ग्रन्थोंमें उस पुराने सुमेरु-निवासकी गन्ध मिलती है।* परन्तु विना पक्षपातके जब हम इस विषयपर विचार करते हैं, तब हमें मालूम होता है कि, इस मतके लिये कोई प्रमाण नहीं है। तिलक महाशयने

अवश्य ही बहुतसे प्रमाणोंका उद्धार किया है, परन्तु वे सब प्रमाण न होकर प्रमाणाभास हैं। वेद के घवनोंसे अपने अनुकूल अर्थ करनेके लिये आपने बड़ी खीँचातानीकी है। उनकी व्याख्यामें सबसे बड़ा दोष यह है कि, व्याख्या करनेके समय उपक्रम और उपसंहारके ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। ऋक्संहिता प्रभृतिसे जिन अंशोंका उद्धार करके तिलक महाशयने सुमेरु-निवासकी पूर्व स्मृति सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है, उनका अर्थ वैसा नहीं है। वैदिक साहित्य भरमें केवल तैत्तिरीय आरण्यकमें मेरुका ज्ञान पाया जाता है और यह तैत्तिरीय आरण्यक बहुत ही अर्वाचीन ग्रन्थ है।† वैसे पारसी धर्म-ग्रन्थ अवेस्ताके जिस भागमें (‘वेन्दिदाद’) मेरुके विषयका कथन है, वह भी अवेस्ताका सबसे अर्वाचीन भाग है।‡ ऐसे अर्वा-चीन ग्रन्थोंके प्रमाणसे चलना पुराणोंके आधारपर वेदका अर्थ करना एक ही समान है। पुराणोंमें तो सुमेरुका ज्ञान अति स्पष्ट है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि, वेदके पूर्व कालमें आर्य लोग सुमेरुमें रहते थे और वेदमें सुमेरु-निवासकी छाया है। इसी तरह जर्मन पण्डित हिलब्रान्त = या ग्रुन-होफर × का यह दिखानेका प्रयत्न कि, ऋग्वेदके कुछ अंश भारतवर्षके बाहर ईरान या मध्य एशिया-में रचे गये, सर्वथा निष्फल है। वेदमें तिब्बत, मङ्गोलिया, चीन प्रभृतिके उल्लेख हैं, यह दिखानेके

* B. G. Tilak *Arctic Home in the Vedas*.

† तैत्तिरीय आरण्यक स्मृति तत्त्वका नाम होता है,—
“स्मृतिः प्रत्यक्षमैति ह्यमनुमानधनुष्यम् । एतेरादित्यमण्डलं सर्वेष्वेव विधास्यते ” [१।२।१]। इस आरण्यककी भाषा भी बहुत अर्वाचीन है।

‡ वेन्दिदादका काल लगभग ईसासे पूर्व द्वितीय या तृतीय शताब्दीके इधर ही है।

= Alfred Hillebrandt, *Vedische Mythologie*.

× Hermann Brunnhofer, *Urgeschichte der Arier in Vorder-und Central Asien*.

लिये पण्डित उमेशचन्द्र विद्यारत्नका प्रयत्न * भी विफल हुआ है। डाक्टर अविनाशचन्द्र दासने ऋग्वेदके समय पंजाबकी जैसी भौगोलिक परिस्थिति समझी है, वह भी सर्वथा निराधार है।†

पृथ्वीमें सबसे स्थिर वस्तु पर्वत है। नदी प्रभृति बदल जाती हैं; परन्तु पर्वत नहीं बदलता। * संस्कृतमें पर्वतको भूधर (अर्थात् पृथ्वीको धारण करने वाला) भी कहते हैं। इस “पर्वत” या गिरि का और अलग-अलग पहाड़ोंके नाम वेदमें कई बार आये हैं। कहीं-कहीं चादलोंको रूपकके द्वारा पर्वत करके व्यपदेश किया गया है। वेदाङ्ग निघण्टु (१।१०) में तो “पर्वत” और “गिरि” शब्द साक्षात् मेघके पर्याय रूपसे दिये गये हैं। क्षितिजमें मेघ कुछ पर्वत-सा दीखता है। इससे वैदिक कवियोंको मेघ-पर्वत रूपककी सामग्री मिल गयी। पुराणकी तरह कृष्ण यजुर्वेदकी काठक-संहिता (३६।७) और मैत्रायणीय संहिता (१।१०।१३) में यह आख्यायिका है कि, पूर्व कालमें पर्वतोंके पक्ष थे, उनके चलसे वे उड़कर जहाँ इच्छा होती थी, वहीं उतरते थे; इससे पृथ्वी बहुत ढीली रही; इन्द्रने उन पक्षोंको फाट दिया और पृथ्वीको दृढ़ किया। यह आख्यायिका वार्षिक इन्द्र-वृत्र-युद्ध (= वर्षा) के रूपकसे घनी हुई कवि-कल्पना मात्र है, भूगोलके अज्ञानसे उत्पन्न नहीं मालूम होती है। इन रूपकोंसे यह बात सिद्ध होती है कि, वैदिक आर्य लोग पर्वतसे परिचित थे और पर्वतसे उनका प्रेम भी था।

* श्वेदेनाभ्योपोदातप्रकरणम्। Rigveda Sam-
hits, part I.

† Rigvedic India। आपके मतसे उस समय राज-
पूताना एक बड़ा भारी समुद्र था और सरस्वती नदी उस समुद्रमें
भाबर गिरती थी। इनके मतका खण्डन मैंने Calcutta

पर्वतोंसे नदियोंकी उत्पत्तिके उल्लेख कई जगह आये हैं। पर्वतोंमें रहनेवाले भयंकर जानवरों (सिंह ?) का भी उल्लेख है। परन्तु पर्वत-विशेषके नाम वेदमें बहुत ही कम हैं। “हिमालय” नाम नहीं है; परन्तु “हिमवत्” शब्द है। यह भी कई जगह पर्वत-सामान्यके अर्थमें आया है; परन्तु कई स्थानोंपर अवश्य ही हिमालय-पर्वतश्रेणीके अर्थमें आया है। खेदकी बात यह है कि, हिमवत् पर्वतका विस्तार वैदिक आर्य लोग कहाँसे कहाँतक समझते थे, यह जाननेके लिये कोई उपाय नहीं है। वेदमें और एक पर्वतका नाम आया है, “मूजवत्”। “मूजवत्” शब्द एक जातिके अर्थमें भी आया है। ‘मूजवत्’ शब्दका पर्वत अर्थ करनेके लिये हमारे लिये प्रमाण हैं यास्क। ऋक्संहिता (१०।३४।१) में सोमको मौजवत (= मूजवत् वाला) कहा गया है। निरुक्त (६।८) में, इस मन्त्रकी व्याख्या करते समय, यास्क ने कहा है कि, मौजवतका अर्थ है मूजवत् पर्वतमें जात। इस पर्वतसे वहाँके निवासियोंका नाम मूजवत् हुआ होगा। मूजवत् पर्वत कहाँ था, यह जाननेके लिये कोई उपाय नहीं है। परन्तु अथर्ववेद-संहिता (५।२२). तैत्तिरीय-संहिता (१।८।६।२) प्रभृतिके कथनसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि, मूजवत् गन्धार या बाल्हीक देशकी ओर, उत्तराखण्डमें, कहीं दूर देशपर था। हिमालयमें एक त्रिककुट्ट या त्रिकुण्ड नामके त्रिकूट पर्वतका, कई जगहोंपर, उल्लेख आया है। वहाँसे एक खास अंजन

Review, May, 1922, पृष्ठ ११०-१२२में संक्षेपसे लिया है।

* देखिये उत्तराखण्डचरित [१।२७] “पक्षे जहाँ नदियोंका सोता था, वहाँ इस समय बालू है, जहाँ वृक्ष पने थे, इस समय कम हो गये, जहाँ कम थे, पत्र पने हो गये। बहुत दिनोंके बाद देखा हुआ वन ‘वही है’, यह फर्नोके भवस्थानसे हम दृढ़ रूपसे जान सकते हैं।”

आता था। शतपथब्राह्मण (१।८।१।६) में कहा गया है कि, महा-ओघ (*Ilood*) के दृष्ट जानेपर मनुकी नाव उत्तर गिरि (= हिमालय ?) की जिम जगहपर उतरी, वह 'मनोरखसर्पण' (मनुका उतार) के नामसे प्रसिद्ध है। इसकी परिस्थिति हमें मालूम नहीं। तैत्तिरीय आरण्यक (१।३१) में हम और तीन पर्वतों के नाम पाते हैं, सुदर्शन, क्रौञ्च और मैनाग। इनमेंसे क्रौञ्च और मैनाग (मैनाफ इस आकाशसे) के नाम पुराणमें पाये जाते हैं। सुदर्शन कौन पर्वत है, यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु पर्वतों साहित्यमें, जब सुदर्शन मेरु के पर्याय-रूपसे आता है, तब यह असम्भव नहीं है कि, यहाँ सुदर्शनका अर्थ मेरु ही है। यह तैत्तिरीय आरण्यक बहुत ही अर्थाचीन ग्रन्थ है। इसमें पुराणसे या पर्वतों संस्कृत साहित्यके प्रयोगसे मेल पाना कुछ असम्भव नहीं है। तै० आ० (१।३१) में कहा गया है कि, इन तीन पर्वतोंमें वैश्रवण (कुबेर या कुबेरपुत्र) का नगर है। तैत्तिरीय आरण्यक (१।७) में महामेरुका नाम स्पष्ट रूपसे लिया गया है; और, यह कहा गया है कि, कश्यप नामका अष्टम सूर्य उस पर्वतको छोड़ता नहीं है, उसकी चारों ओर घूमता है। इससे सिद्ध होता है कि, इस महामेरुसे सुमेरु (*North Pole*) को समझना चाहिये।

देशोंकी सीमाके निर्देशके लिये, पर्वतकी तरह, समुद्र भी बड़ा उपयोगी है। वेदमें समुद्रका नाम, कई जगह, आया है। यद्यपि वैदिक युगमें आर्य लोग समुद्रके तटपर नहीं रहते थे, तथापि साक्षात् या परम्परासे समुद्रका ज्ञान इन लोगोंको था। नदियोंके समुद्रमें पहुँचनेका उल्लेख ऋक्संहिता (१।७१।७, १।१६३।१, १।१६०।७, ३।३६।७, ३।४६।४, ४।२१।३, ५।५५।५, ५।८५।६, ६।३६।३, ७।४६।२, ७।६५।२, ८।४४।२, ९।८८।६ और ९।१०८।१६) में

है। ऋक्संहिता (१।४७।६) और अथर्वसंहिता (१।६।३।८।२) में समुद्रजात वस्तुओंका और अथर्वसंहिता (४।१०) में समुद्रमें उत्पन्न मुक्ता ("शङ्ख-कृशान") का उल्लेख है। कहीं-कहीं आकाशकी समुद्र-रूपसे कल्पना की गयी है; और, नीचे तथा ऊपर का, इन दो समुद्रोंका उल्लेख है (ब्रह्म० सं० ७।६।७, १०।६८।५, अ० सं० १।१।५।६ ?)। तुमके पुत्र भुज्युके विषयमें एक आख्यायिका, ऋक्संहिताकी कई जगहोंपर, आयी है (१।११२।६, १० इत्यादि), जिससे विदित होता है कि, समुद्र-यात्रामें भुज्यु बड़ी विपत्तिमें पड़ा और अश्विनीकुमारोंने उसे बचाकर किनारे पहुँचाया। किसी खास समुद्रका नाम वेदमें नहीं मिलता। केवल ऋक्संहिता (१०।१३६।५), शतपथ-ब्राह्मण (१।६।३।११) प्रभृतिके कुछ अल्प स्थलोंमें पूर्व और पश्चिम, इन दो समुद्रोंका उल्लेख आया है। यह उल्लेख बहुत ही अस्पष्ट है।

परन्तु नदियोंके विषयमें वेदमें हमें बहुत-कुछ सामग्री मिल जाती है। "सिन्धु" शब्द पर्वतों काल-के संस्कृतमें समुद्रके अर्थमें आया है; किन्तु ऋग्वेद-संहितामें इसका अर्थ है "नदी" या एक खास नदी, सिन्धु-नद या *Indus*। नदीके लिये वेदमें और कई शब्द आये हैं, "नदी", "स्रवत्" इत्यादि। ऋक्संहिता एवं अन्य वेदोंमें, जिस रूपसे नदियोंका उल्लेख आया है, उससे हमें विदित होता है कि, वैदिक आर्य लोग नदियोंके बड़े भक्त थे और उनकी आवादी नदियोंके तटोंपर थी। इस नदीमातृक देशके निवासियोंके लिये यह बहुत ही उचित बात है। वेदोंमें, खास ऋक्संहितामें, बहुतसी नदियोंके नाम आये हैं। उनमें से कुछ नाम तो आजतक वैसे ही हैं और कुछमें परिवर्तन हो गया है। परन्तु जिन नदियोंके, वेदमें, आजकलकी तरह नाम हैं, उनमेंसे कुछ तो अवश्य

ही आजकल उन नामोंसे प्रसिद्ध नदियोंसे भिन्न थीं। आर्य लोग ज्यों-ज्यों आगे बढ़े, त्यों-त्यों उनको नयी-नयी नदियाँ और नये-नये देश मिले। औपनि-
वेशिकोंमें प्रायः यह प्रवृत्ति होती है कि, वे नये स्थान में पुराने देशके नामका उपयोग करते हैं। जैसे कि, अंग्रेजोंने अमरीका देशमें इंग्लैंडके यार्क (York) शहरके नामके अनुसार, एक शहरका नाम रखा न्यू यार्क (New York); वेल्स (Wales)के अनुकरण-
से आस्ट्रेलियामें एक देशका नाम रखा न्यू साउथ वेल्स (New South Wales)। इंग्लैंडके कैम्ब्रिज (Cambridge) की नकलमें अमरीका देशके मेसा-
चूसेट्स (Massachusetts) प्रदेशमें शहर है कैम्ब्रिज (Cambridge)। हमारे मथुरा या मथुरा शहरको नकलमें दक्षिणमें है मदुरा। पंजाबकी इरावती (रावि) नदीके अनुकरणमें ब्रह्मदेशमें एक नदीका नाम हुआ 'इरावदी'। अंगदेशकी चम्पाके अनुकरण-
से बृहत्तर भारतमें हिन्दू-औपनिवेशिकोंने अनाम-
देशका नाम रखा 'चम्पा'। इस प्रकार वेदमें आधुनिक सरस्वती, सरयू, गोमती और यमुना से भिन्न सरस्वती, सरयू, गोमती और यमुना नदी पायी जाती हैं। मैं आगे इसका विस्तार • करूँगा।

नदियोंके त्रिपथमें मैं एक बात पहले ही कह देना चाहता हूँ। लोग प्राचीन समयका नक्शा रीति-
वक नदियोंकी स्थिति इस समयकी तरह समझ लेते हैं। परन्तु यह समझना बहुत ही भ्रमपूर्ण है।

* MacGrindle, Ancient India as described by Classical Writers, pp. 96-97.

† देखिये H. G. Raverty. The Mهران of Sind and its Tributaries (J. A. S. B. 1892, पृष्ठ १५५-१०८)। इसमें कई नस्ती है, जिनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

नदियोंकी धारा अकसर बदलती रहती है। मध्य एशियाको वक्षु (Oxus) नदी इस समय अरल (Aral) सागरमें पहुँचती है; परन्तु ग्रीक भौग-
लिक स्त्राबो (ईसके पूर्व प्रथम शताब्दी)के समयमें कास्पिय (कास्पियन=Caspian) सागरमें पहुँचती थी।* अरब लोगोंने जब पहले-पहल हिन्दुस्तानमें चढ़ाई की, तब पंजाबके दक्षिणमें एक बड़ी भारी नदी थी, जिसका नाम था एकरा या वाहिन्दा। इस समय वह नदी बिलकुल सूख गयी है; उसका पुराना मार्ग अभीतक नजर आता है।† पंजाबकी नदियों की धारामें और कई परिवर्तन हो गये। वर्तमान कालमें भी भारतकी नदियोंकी धारा प्रायः बदलती हुई दीखती है। हमारे प्रयागके सामने गङ्गाजीकी परिस्थिति हर साल कुछ-न-कुछ बदलती रहती है। मेरे श्रीमान गुरु महामहोपाध्याय डाक्टर गङ्गानाथ झाजीसे मालूम हुआ कि, उनके देश (दरभङ्गा) में एक कमला नामकी नदी है, जो इसी सालमें कमला नामकी दूसरी एक नदीसे मिल गयी है, जिससे इसका पहले कोई सम्बन्ध नहीं था। सिन्ध के "मोहजोदारो"में जो प्राचीन सभ्यताके भग्ना-
वशेष मिले हैं, उनका ध्यानसे निरीक्षण करनेसे पता चला है कि, सिन्धु नद उस समय शहरके किनारे ही पर था; परन्तु इस समय सिन्धु कई मील दूरको हट गया है।‡ सब देशोंकी जलवायु धीरे-धीरे बदल जाती है। इससे वर्षामें परिवर्तन होता है और इस कारणसे भी नदियोंकी धारा बदल जाती है।§ इन

* देखिये Mohenjodaro and the Indus Civilization, Vol I, Chapter I और नक्शा।

× Ellsworth Huntingtonकी Pulse of Asia और Civilization and Climate देखिये। नदियोंकी धारामें परिवर्तन होनेमें और भी कारण होते हैं।

कारणोंसे वेदके समय कौन नदी कहाँसे बहती थी, यह हम स्पष्ट रूपसे नहीं जान सकते।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्यके भीतर ऋग्वेदसंहितामें सबसे अधिक नदियोंके नाम आते हैं। परन्तु “सप्त नदियाँ” इस अर्थमें, ऋक्संहितामें, “सप्त सिन्धवः” या “सप्त स्रवतः” या ऐसे शब्द आये हैं, जिनका अर्थ है “सात नदियाँ”।* परन्तु नदियोंकी संख्या वास्तवमें सातसे कहीं अधिक है। लोग समझते हैं कि, “सात” प्रधान-प्रधान नदियोंकी संख्या है; परन्तु सात प्रधान नदियाँ कौन हैं, इसमें इतना मतभेद है कि, हमें कोई व्यवस्था नहीं दी जाती। सायण तो सप्तका अर्थ जय “सात” समझते हैं, तब ‘गङ्गादि सात नदियाँ’ ऐसा अर्थ करते हैं। गङ्गादि सात नदियोंसे सायण गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरीको समझते होंगे।† परन्तु गोदावरी, नर्मदा और कावेरी, इन दक्षिणकी नदियों के नाम ऋक्संहितामें कहीं भी नहीं आये हैं और गंगाका नाम केवल एक बार आया है। इस कारण “सात नदियाँ” ये सात नदियाँ नहीं हो सकती हैं। पंजाबकी पाँच नदियाँ और पूरवकी सरस्वती और पश्चिमकी सिन्धु, इन नदियोंसे भी संख्या पूरी नहीं की जा सकती। कारण यह है कि, पंजाबमें और भी नदियाँ हैं जिनका उल्लेख ऋषियोंने किया है। सिन्धुके पश्चिमकी सहायक नदियोंके नाम कई बार आये हैं, उनको छोड़नेका हमें क्या अधिकार है?

अतएव “सात नदियाँ” हमारे लिये एक बड़ी भारी समस्या है। शायद आर्य लोग पहले जहाँ रहते थे, वहाँ सात ही नदियाँ थीं; इस कारण “सप्त नदी”के अर्थमें इन लोगोंको “सात नदी” कहनेकी आदत पड़ गयी होगी।

वेदमें इन नदियोंके नाम आये हैं—अनितभा, असिक्ती, आपया, आर्जोकीया, कुमा, क्रुमु, गंगा, गोमती, त्रिप्टामा, द्वपढती, परुष्णी, मरुद्वृधा, मेहन्तू, यमुना, यव्यावती, रथस्या, रसा, घरणावती, वितस्ता, विपाश, विवाली, शुतुद्री, श्वेत्या, सदानीरा, सरयू, सरस्वती, सिन्धु, सुदामा, सुवास्तु, सुपोमा और सुसत्तु। इनके अतिरिक्त और दो नाम आये हैं—शिफा और हरियूपीया। कुछ लोगोंके मतसे ये नदीके नाम हैं; परन्तु इस विषयमें हम निःसंशय नहीं हो सकते। शतपथ-ब्राह्मणमें दो जगह (१२।८।१।१७ और १२।१।३।१) एक मनुष्यका नाम आया है “रेवोत्तर”, जिसका अर्थ जर्मन पण्डित वेवने “रेवाके उत्तर तटपर रहने वाला” समझा है। उसके मतसे यहाँ हम रेवा या नर्मदा नदीका नाम पाते हैं। असिक्ती, कुमा, क्रुमु, गंगा, गोमती, परुष्णी, मरुद्वृधा, वितस्ता, विपाश, शुतुद्री, सरस्वती, सिन्धु, सुवास्तु और सुपोमा कौन नदियाँ हैं, इस विषयमें हम निःसंशय हैं। यव्यावती, रथस्या, घरणावती, विवाली और सुदामा कौन नदियाँ हैं, यह हम जान नहीं सकते हैं। ऋक्संहिता

* ‘सिन्धु’ शब्दका अर्थ यहाँ नदी है समुद्र नहीं। ऋक्संहिताके केवल १।१।१४ और शायद ८।२।१४ में ‘सिन्धु’ का अर्थ समुद्र है। अन्यत्र जहाँ-जहाँ यह शब्द ऋक्संहितामें आया है, वहाँ अर्थ है नदी या सिन्धु-नदी। पुराणोंके युगमें ‘सिन्धु’ शब्दका समुद्र अर्थ अधिक प्रचलित होनेसे “सप्त सिन्धु”

(“सात नदियाँ”) “सात समुद्र” यह अर्थ प्रायाः। पौराणिक भूगोलमें सात समुद्रोंकी कल्पनाका मूल यही वैदिक शब्दके अर्थ समझनेका भ्रम है।

† देखिये जलशुद्धिका मन्त्र—

“गंगे च यमुने च गोदावरी सरस्वति ।

नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधि कुः ॥”

(१०७५/५) से भिन्न अन्य स्थानोंमें आयी हुई यमुना, रसा, श्वेत्या, सदानारी, सरयू और सुस-
त्तुकी विषयमें कुछ सन्देह है । नीचे इनके विष-
यमें विरोध विचरण दिया जा रहा है । नदियोंमें
सरस्वतीका नाम सबसे अधिक आता है । ऋक्-
संहिताके १० म मण्डलका ७५ वां सूक्त नदी-
स्तुति नामसे प्रसिद्ध है । इसमें सिन्धुके तटपर
रहनेवाला किसी प्रियमेघने सिन्धु और उसकी
सहायक नदियोंकी स्तुति की है । यहाँ, एक
स्थानपर, बहुतसी नदियोंके नाम पाये जाते हैं ।
उसकी पाँचवीं ऋचामें सिन्धुकी पूर्वतटवाली
सहायक नदियोंके नाम, क्रमसे, दिये हुए हैं और
छठीमें पश्चिम तटवाली सहायक नदियोंके और
सिन्धुका नाम है ।

अनितभा—ऋक्संहिता ५/५३।६ । यह सिन्धुके
पश्चिमकी कोई (सहायक नदी) होगी ।

असिन्धो—ऋ० सं० ८/२०।२५, १०७५/५ में
आया है । यास्कके निरुक्त (६।२६) से विदित
होता है कि, यह चन्द्रभागा या वर्तमान चीनाब
है । ग्रीक लोग इस नदीको अक्षर-विपर्यास
करके “अकेसिनेस्” नामसे जानते थे ।

आपया—केवल ऋक्संहिता ३।२३।४ में नाम
आया है । इसके साथ सरस्वती और दृषद्वतीके भी
नाम आये हैं । अतः यह सरस्वतीके साथ मिली
हुई या उसके समीपकी कोई नदी होगी । महा-
भारत (३।८३।६८) में उल्लेख है कि, आपया
कुरुक्षेत्रकी एक नदी है ।

आर्जोकीया—ऋ० सं० १०७५/५ में चितस्ता
और सुपोमाके बीचमें सिन्धुकी एक पूरवी सहा-
यक नदीके रूपमें इसका नाम आया है । वर्त-
मान कालकी किस नदीसे इसका मिलान करना

चाहिये, यह निर्णय नहीं किया जा सकता ।
यास्कके मतसे (निरुक्त ६।२६) आर्जोकीया त्रिपाश-
व्यास नदी है । परन्तु ऋ० सं० १०७५/५ का
क्रम इसका विरोध करता है ।

कुमा—ऋ० सं० ५/५३।६, १०७५।६ । सिन्धुकी
एक पश्चिमवाली सहायक नदी—ग्रीकोंकी “कोफेन,”
वर्तमान “काबुल” नदी ।

क्रुमु—ऋ० सं० ५/५३।६, १०७५।६ । वर्तमान कुर्रम
गङ्गा—ऋक्संहितामें, केवल १०७५/५ में आया
है । कुछ लोगोंका विचार है कि, ऋ० सं०
६।४५।३१ का “उरुकशो न गांग्गुयः” में गंगाके
तटपर रहनेवाले उरुकश नामके पुरुष या
गंगाके तटपर कोई विशाल घन, जो अर्थ हम
समझें, गंगा नदीका नाम आता है । परन्तु इस
स्थानमें गंगा किसी नदीका नाम न होकर किसी
खीका नाम भी हो सकता है । ऋ० सं० १०७५/५
में अवश्य प्रसिद्ध गंगा नदीका नाम लिया गया
है । यह सूक्त ऋग्वेदका बहुत अर्वाचीन भागका
है । आर्य लोगोंको गंगासे परिचय बहुत बादको
हुआ था । शतपथ-ब्राह्मण १३।५।४।११, जैमिनीय
ब्राह्मण ३।१८३ और तैत्तिरीय आरण्यक २।१० में
भी गंगाका नाम आया है ।

गोमती—ऋ० सं० ८/२४।३० और १०७५।६ ।
ऋ० सं० १०७५।६ से स्पष्ट विदित होता है कि, यह
सिन्धुकी एक पश्चिमी सहायक नदी है—अफगा-
निस्तान-देशकी वर्तमान गोमाल नदी । ऋ० सं० ८।
२४।३० में यही नदी होगी, मध्यदेशकी गोमती नहीं ।

त्रिपामा—ऋ० सं० १०७५।६ । सिन्धुकी कोई
पश्चिमी सहायक नदी होगी ।

दृषद्वती—ऋ० सं० ३।२३।४, ताण्ड्यमहाब्राह्मण
२५।१०।१४ १५ और २५।१३।२ ४ । सरस्वतीके

दक्षिणमें यह नदी है और सरस्वतीसे मिल जाती है। मनुके मतसे सरस्वती और द्रवद्वतीके बीचका देश ब्रह्मावर्त है।

परुष्णी—ऋ० सं० ४।२२।२, ५।५२।६, ७।१८।८, ६।८७३।५ और १०।७।५। निरुक्त (६।२६) से और ऋ० सं० १०।७।५ में दिये हुए क्रमसे हमें मालूम होता है कि, परुष्णी इरावती है अर्थात् वर्तमान रावी। ऋ० सं० ५।५३।६ का पुरिपिणी शब्द कदाचित् परुष्णीके लिये आया होगा * या यह शब्द सरयूके लिये विशेषण है।

मरुद्वृधा—ऋ० सं० १०।७।५ में अस्तिनी (= चीनाव) और वितस्ता (= फेलम) के बीचमें आती है। सर अरल स्टाइनके मतसे यह वर्तमान कालमें मरुद्वर्धन नामकी चीनावकी एक पश्चिमवाली सहायक नदी है।†

मेहजू—ऋ० सं० १०।७।६। सिन्धुकी कोई पश्चिमी सहायक नदी होगी।

यमुना—ऋ० सं० ५।५२।७, ७।१८।६, १०।७।५, अथर्वसंहिता ४।६।१०, पेत्रेयब्राह्मण ८।२३, शतपथब्राह्मण १३।५।४।११, ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६।४।१०, २५।१०।२३, २५।१३।४, जैमिनीयब्राह्मण ३।२८३, आपस्तम्ब्योपनिषद् २।११।१२ और ऋ० सं० ५।५२।७ वा ७।१८।६ में यह परुष्णी = रावीके पासकी कोई नदीती मालूम होती है। अध्यापक हाफकिन्सके मतसे यह परुष्णीसे अभिन्न है। मेरा अनुमान यह है कि, इन दो

स्थानोंमें “यमुना” अस्तिनी = फेलमका दूसरा नाम है।‡ ऋक्संहिता (१०।७।५) और अथर्वसंहिता प्रभृतिमें यह अवश्य वर्तमान यमुना ही है।

यज्यावती—ऋ० सं० ६।२७।६, ता० म० ब्रा० २५।७।२। यह कोई अज्ञात नदी है। सम्भव है कि, यह पंजाबकी कोई नदी हो।

स्थस्या—जैमिनीयब्राह्मण ३।२३५ में कोई अज्ञात नदी है।

स्ता—ऋ० सं० १।११।१२, ५।५३।६, १०।७।६ (और ५।४१।१५, १०।१०।८।१, २), जैमिनीय ब्राह्मण २।४४०। ऋ० सं० ५।५३।६ और १०।७।६ से विदित होता है कि, यह सिन्धुके पश्चिम तटकी कोई सहायक नदी है। पारसियोंके धर्म-ग्रन्थ अवेस्तामें स्ता नदीका नाम “स्ता” रूपसे पाया जाता है। परन्तु ऋ० सं० ५।४१।१५ में यह कोई (नदियोंका अभिमानी) देवता है और १०।१०।८।१, २ में पृथिवीके अन्तमें वर्तमान कोई काल्पनिक (Mythical) नदी है।

वरणावती—अथर्वसंहिता (४।७।१) में कोई अज्ञात नदी। सायणके मतसे यह एक औपधिका नाम है। कुछ लोगोंके मतसे यह काशीजीके पासकी वरणा नदी है।

वितस्ता—ऋ० सं० १०।७।५। यास्कने (६।२६) में इसका कोई स्पष्ट परिचय नहीं दिया है। परन्तु उल्लेखके क्रमसे विदित होता है कि, यह वर्तमान फेलम नदी है। यह नदी काश्मीरमें अभीतक व्यथ नामसे

* देखिये मेरा लेख “The Identification of the Rigvedic River Sarasvatī and some Connected Problems”. Calcutta University Journal of the Department of Letters Vol. XV.; पृष्ठ २८।

† Sir M. Aurel Stein, On Some River Names in the Rigveda [Bhandarkar Commemoration Volume]. पृष्ठ २३-२६।

‡ देखिये मेरा लेख “Identification of Sarasvatī”. पृष्ठ ४६-४८।

प्रसिद्ध है। ग्रीक लोग इसे हीदास्पेस करके जानते थे।

विपाशु—ऋ० सं० ३।३।१, ३, ४।३।११, गोपथ-ब्राह्मण १।२।७। यह वर्तमान व्यास नदी है। यह नदी अरब-अभियानके समय स्वतन्त्र धारासे हकरा पहुँचती थी।

विवाली—ऋ० सं० ४।३।१२। यह कोई अज्ञात नदी है।

शुनुद्री—ऋ० सं० ३।३।१ रामायण प्रभृतिकी शतद्रु और वर्तमान सतलज। अरब-आक्रमणके समय यह नदी व्याससे न मिलकर सीधे हकराको जाती थी।

श्वेत्या—ऋ० सं० १०।७।१६। सिन्धुकी कोई पश्चिमी सहायक नदी।

सदानीरा—शतपथब्राह्मण १।४।१।१४ इत्यादि। शतपथब्राह्मणके कथनसे विदित होता है कि, उस समय यह नदी कोसलराष्ट्र और विदेहराष्ट्रका सीमाना थी। यह वर्तमानमें कौन नदी है, यह स्पष्ट नहीं ज्ञात होता है। यादके कोशकारोंके मतसे सदानीरा और करतोया एक ही है। करतोया तो उत्तर बङ्गकी एक नदी है; और, विदेह-देशके पूर्वमें है, पश्चिममें नहीं। इस कारण सदानीरा करतोया न होगी। जर्मन पण्डित वेबरके मतसे यह गण्डकी है।

सरयू—ऋ० सं० ४।३।१८, ५।५।३६ और १०।६।१९। यह नदी कौनसी थी, यह जानना कठिन है। १०।६।१६ में इसका नाम सरस्वती और सिन्धुके साथ आया है। परन्तु ऋ० सं० ५।५।३६ में रसा, (अनतिमा), कुमा, क्रुमु और सिन्धु, इन पश्चिमी नदियोंके साथ आनेसे यह कोई पश्चिमीय नदीसी

विदित होती है। अवेस्तामें हम सरयूसे अक्षरशः समान हरोयू नदीका नाम पाते हैं, जो कि, वर्तमान हरोयू है। ऋक्संहिताकी सरयू भी शायद इस हरिन्दसे अभिन्न है। यह अवधकी सरयू तो नहीं हो सकती है; कारण, उस समय आर्योंका अवध तक पहुँचनेका कोई प्रमाण नहीं है और ऋक्संहिता में गंगासे पूर्वकी किसी नदीका नाम नहीं है।

सरस्वती—ऋ० सं० १।८।६३, १।१६।३।४६, २।३।८, २।३।२।८, २।४।१।८, ३।२।३।४, ३।५।३।३, ५।४।२।२, ५।४।३।१, ५।४।६।२, ६।५।१।२, ६।५।२।६, ६।६।१।१-७, १०।१३।१४, ७।६।५, ७।३।५।१, ७।३।६।६, ७।३।६।५, ७।४।०।३, ७।६।५।१, २, ४-६, ८।६।६।१, ३, ८।२।१।७, १८, बालखिल्य ६।४, ६।६।७।३, ६।८।१।४, १०।१।७।५, ६, १०।३।०।२, १०।६।४।६, १०।६।५।१, १३, १०।७।५।५, १०।१३।१।५, १०।१४।१।५, तैत्तिरीयसंहिता ७।२।१।४, अथर्वसंहिता ६।३।०।१ (तैत्तिरीयब्राह्मण २।४।८।७, मन्त्रब्राह्मण २।१।१६), ताड्यमहाब्राह्मण २।५।१।०।१, १६, जैमिनीयब्राह्मण, २।२।६७, ३।१२०, ऐतरेयब्राह्मण २।१६, शाङ्खायन-ब्राह्मण १।२।३, शतपथब्राह्मण १।४।१।१४ इत्यादि। ऋक्संहिताके सब सूक्त एक समयके नहीं हैं। विद्वानोंका यह अभिमत है कि, ऋक्संहितामें विभिन्न युगकी रचनाएँ हैं; उनमें सबसे अर्वाचीन मन्त्रोंके कालमें बहुत ही अन्तर है। ऋक्संहिताके प्राचीन अंशमें (२।३।०।१, ५।४।३।११, ६।४।६।७ ६।५।२।६, ६।६।१, ७।३।६।६, ७।३।६।५, ७।६।५, ७।६।६) "सरस्वती" नदी कुश्नेत्र-देशकी वर्तमान 'सरस्वती' नहीं है; परन्तु सिन्धु-नदी है। * ऋ० सं० ७।६।५।३ और

७ इत्येव मेव लेख—“The Identification of the Rigveda River Sarasvati and some Connected Problems.” अवेस्तामें भी प्राचीन

ईगनी-सिलालेखमें सिन्धुके पूर्व ठकाले एक प्राग्नेके लिये हारक्षी [= Greek Arachosia], यह नाम आया है। ईगनी हारक्षी और सरस्वती, एक ही नदी है।

७।६६।४६ में सरस्वतीके साथ सरस्वान्की स्तुति की गयी है। मेरा अनुमान यह है कि, सरस्वान् सिन्धु-नदके ही दक्षिण भागका नाम है। सरस्वान्की स्तुति ऋ० सं० १।१६४।५२ और १०।६६।५ पर भी की गयी है। परन्तु ऋ० सं० ३।२३।४, १०।६४।६ और १०।७५।५ में और तैत्तिरीयसंहिता, ताण्ड्यमहाब्राह्मण प्रभृति ब्राह्मण तथा बादके साहित्यमें नदी-चाचक सरस्वती शब्द कुरुक्षेत्रकी वर्तमान सरस्वतीके लिये आया है। मेरा अनुमान यह है कि, विश्वामित्रके साथ शुतुद्री (सतलज)के दक्षिण पारमें आये हुए भरतोंने कुरुक्षेत्रकी इस नदीको सरस्वती नामसे पुकारा; और, बादको इनकी देखा-देखी और आर्यजातियोंने सरस्वती नामका प्रयोग वर्तमान सरस्वतीके लिये किया। तब सिन्धु नदको, जो कि, सरस्वती और सिन्धुके दोनों नामोंसे प्रसिद्ध था, लोग केवल सिन्धु नामसे कहने लगे। कुरुक्षेत्रकी सरस्वती नदी आजकल पटियाला रियासतमें लुप्त हो गयी है। पौराणिकोंके मतसे उसकी धारा, जमीनके भीतरसे आकर, प्रयागमें गङ्गा और यमुनाके साथ सम्मिलित हुई है। परन्तु यह भ्रान्त मत है। ऋग्वेदके समय यह सरस्वती शायद सिन्धुसे सम्मिलित होकर पश्चिम समुद्रको पहुँचती थी। ब्राह्मण-युगमें, कुछ अंशके लिये, यह लुप्त होकर पुनः पश्चिमकी ओर चलती थी। ताण्ड्यमहाब्राह्मणमें सरस्वतीके तुल्य होनेके स्थानका और जैमिनीयब्राह्मणमें पुनः ऊपर निकल आनेके स्थानका उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मणमें जिस जगह

सरस्वती, क्षीण धारासे, पहले पहल बहती है, उसका भी उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण प्रभृतिसे मालूम होता है कि, सरस्वतीसे कुछ दूरपर मरुदेश (desert) था। अध्यापक मैकडानल और कीथके मतसे ऋग्वेदमें सर्वत्र "सरस्वती" शब्द सरस्वतीके लिये आया है, सिन्धुके लिये नहीं।* अवश्य देवतावाची सरस्वती शब्द भी वेदमें आया है।

सिन्धु—ऋ० सं० १।१२६।१, ५।५३।६, ८।२०।२५, ८।२६।१८, १०।६४।६ और १०।७५।३, ७, ८, ६, अथर्वसंहिता १४।१।४३ (?), १६।३।८२, माध्यन्दिन-संहिता ८।५६।१ (?), जैमिनीय ब्राह्मण ३।२३७। पहले कहा गया है कि, "सिन्धु" शब्द ऋक्संहितामें नदी-सामान्यके लिये और दो स्थानोंपर समुद्रके लिये आया है। अथर्वसंहितामें भी कई स्थानोंपर (६।२४।१, ७।४५।१, १२।१।३ इत्यादि) समुद्र या नदीके अर्थमें आया है। खास नदीके लिये भी सिन्धु शब्द कई बार आया है। ऊपर उन स्थानोंका उल्लेख किया गया है। सिन्धु वर्तमान सिन्धु-नद है। प्राचीन ईरानी लोग इसे "हिन्दू" कहते थे और ग्रीक लोग "इन्दस्"। हिन्दू नामसे वर्तमान हिन्दू और हिन्दुस्तान नाम बने हैं। हिन्दू नदीके पूरवमें रहनेवालोंके लिये ईरानी लोग हिन्दू शब्दका प्रयोग करते थे, इससे हम लोग हिन्दू कहलाने लगे। वास्तवमें हिन्दू देशका नाम है, धर्मका नहीं। अफ्रीका देशके लोग इस देशके हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सबके लिये जो हिन्दू शब्दका प्रयोग करते हैं, वह ठीक ही है। ग्रीक इन्दस्से इन्दस् और इन्दिया नामक बने हैं। सिन्धु-नदके तटपर बहुत

ndisches Leben और Ludwig की Die Mantraliteratur [Rîgveda, Bd. III] से बहुत सामग्री मिली है।

* देखिये Macdonell & Keith's Vedic Index, Vol II पृष्ठ ४३४—७। इन लोगोंके लिये मुझे इन पुराणमें और जर्मन विश्व Zimmer की Alti-

अच्छे घोड़े पाये जाते थे। इसीलिये सस्कृतमें अश्वके लिये सैन्धव शब्द आता है। ऋक्संहितामें भी सिन्धु-देशके अश्वोंका उल्लेख है। नमकके लिये भी सैन्धव शब्द वृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।२ और ४।५।१३) में आया है। अथर्वसंहिता (१।६।३८) में सैन्धव गुग्गुलुका नाम आया है।

सुदामा—ताण्ड्यमहाब्राह्मण (२।२।८।७) में सुदा मन नदीके उत्तर तटपर एक यज्ञका उल्लेख आया है। यह कौन नदी है, इसका पता नहीं लग सकता।

सुवासु—ऋ० सं० ८।१।६।३७। यह सिन्धुकी सहायक नदी कुमाफी सहायिका है। ग्रीकोने इसे सोआस्तस् कहा है और इसका वर्तमान नाम है स्वात्। यह अफगानिस्तानमें है।

सुपोमा—ऋ० सं० १०।७।५। यह सिन्धुकी एक पूर्वी सहायक नदी है। मेगास्थनीजने इसे सोयानस् (या सोआमस्) कहा है और वर्तमान नाम है सोहान।

सुमर्तु—ऋ० सं० १०।७।६ में होनेसे यह सिन्धुकी कोई पश्चिमवाली सहायक नदी होगी।

पहले कहा गया है कि, कुछ लोगोंने मतसे और दो नदियोंके नाम वेदमें आये हैं, शिफा और हरियूपीया। ऋ० सं० १।१०।४।३ में प्रार्थना की गयी है कि, असुर कुयव (=दुर्मिश्र) को दोनों स्त्रियाँ शिफाकी धारामें मारी जायँ। यह शिफा कोई नदी हो सकती है। दूरका कोई समुद्र होना भी असम्भव नहीं है। ऋक्संहिता (६।२७।५) में कहा गया है कि, इन्द्रने हरियूपीयापर अन्यवर्चों चायमानके लिये वृचीवर्तोंको मार डाला था, और, उसके बादकी श्रुचामें कहा गया है कि, यह लडाईं यव्यापतीमें हुई थी। यव्यावती एक नदीका नाम है, यह हम जानते हैं। सम्भव है कि, हरियूपीया भी यव्यावती-

का दूसरा नाम हो, जैसा कि, सायणाचार्यने कहा है। जर्मन पण्डित लुइविगके मतसे हरियूपीया एक नगरीका नाम है। हिल्लान्तुकी मतसे यह अफगानिस्तानमें कुर्रमकी सहायक नदी रियाव या हलिमाय है।

वैदिक साहित्यकी नदियोंके बारे जो परिचय ऊपर दिया गया है, उससे यह सिद्ध होता है कि, ऋक्संहिताके समयमें आर्यसम्यता सम्पूर्ण पंजाब और अफगानिस्तानमें फैली हुई थी, मध्य-देशकी ओर नहीं बढ़ी थी। परन्तु ब्राह्मण-युगमें सरस्वती, यमुना, गंगा प्रभृतिकी ओर आर्य बढ़ आये थे; और उनकी सम्यताका केन्द्र या सरस्वती-नदी और कुलक्षेत्र-देश।

पर्वत, समुद्र और नदीके अतिरिक्त मरुदेश भी एक प्राकृतिक वस्तु है। सरस्वतीके निकट मरुदेश का उल्लेख पहले किया गया है। ऋ० सं० (१।३।५।८) में तीन मरु भूमियोंका उल्लेख है। वह ऋचा यह है, "अप्यौ व्यप्यत् फकुम् पृथिव्यालो घन्व योजना सप्त सिन्धून्। हिरण्याक्ष सप्रिता देव आगाह्यद्रक्षा दाशुपे वार्याणि।" (सुवर्णको चक्षुषादे सवितु-देवताने पृथिवीको आठ ऊँचो जमानों, तीन जलहीन देशों, सप्त समतट भूमियों और सात नदियोंको अच्छी तरह देखे हैं। अपने पूजकोंको अच्छे रत्न देता हुआ बढ़ आया है।) यहाँ फकुम् शब्दको सायणने दिशाके अर्थमें लिया है; कारण कि, सस्कृतमें फकुम् शब्द दिशाके अर्थमें आता है; परन्तु ऋक्संहिताको भाषामें यह शब्द किसी ऊँची वस्तु—पहाड़ इत्यादि—के अर्थमें पाया जाता है। अतएव इस श्रुचामें आठ पहाड़ों या पहाड़ियोंका उल्लेख सम्भ्राना चाहिये। सायणने घन्वका अर्थ अन्तरिक्ष अर्थात् लोक किया है, कारण निघण्टु

(१।३) में धन्व शब्द अन्तरिक्षके पर्याय-रूपसे आया है। परन्तु ऐतरेयब्राह्मण (२।१६) प्रभृतिके प्रमाण से स्पष्ट जान पड़ता है कि, धन्व शब्दका अर्थ जलहीन देश अर्थात् मरुदेश है। निघण्टुके ऐक-पदिक (चतुर्थ अध्याय) के धन्व शब्दका यही अर्थ होगा। ऋ सं० (१।३।१८) में कहे हुए ये तीन मरुदेश कहाँ कहाँ थे, यह हम नहीं जान सकते।

प्राकृतिक वस्तुओंके बाद अब हम देखें कि, मनुष्यवृत्त देश या नगरके उल्लेख वेदमें कैसे आते हैं। वेदिक साहित्यमें खास देशोंके लिये शब्द बहुत कम आये हैं; अधिकतर जातिवाचक शब्द आये हैं, जिनसे जातिका और जातिके रहनेके देशका अर्थ एक ही साथ निकलता है। संस्कृतमें ऐसे शब्दोंको जनपदवाची कहते हैं। ये शब्द बहुवचनमें आते हैं। बादके संस्कृतमें भी देशके लिये अधिकतर ऐसे ही शब्द आते हैं। जहाँ कोई जाति एक जगहसे हटकर दूसरे स्थानपर चली जाती थी, देशका नाम भी उसके साथ नये स्थानको पहुँच जाता था। इस कारण अङ्ग, विदेह, काशी प्रभृति बादके नामोंके साथ मिले हुए नाम यद्यपि वेदमें आते हैं, तो भी हम इस बातका निर्णय नहीं कर सकते हैं कि, वेदके समयमें वह जातियाँ कहाँ थी और वे देश कौनसे रहे।

वेदमें पूर्वादिक् देशमें रहनेवालोंके लिये सामान्य-रूपसे प्राच्य, उदीच्य प्रभृति शब्द आये हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (८।१४) में, ऐन्द्रमहामिपेकके प्रसङ्गमें, प्राच्य प्रभृति देशोंमें राज्याभिषेकका उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि, प्राच्यों (पूरव देशमें रहनेवालों) के राजाका अभिषेक “साम्राज्य”के लिये होता है, दक्षिण देशमें सात्वतोंके राजाका अभिषेक होता है “भौज्य”के लिये, पश्चिममें नीच्य (तरीमें रहनेवाले ?)

और अपाच्य (पश्चिमके रहनेवाले) लोगोंके राजाका अभिषेक होता है “स्वराज्य”के लिये, उत्तरमें हिम-वत्के उस पार जो उत्तरकुण्ड और उत्तरमद्र जनपद हैं, उनके राजाओंका अभिषेक होता है “वैराज्य”के लिये और “ध्रुवमध्यमदिशा” में जो कुछ पञ्चालके राजा हैं, उनका अभिषेक होता है “राज्य”के लिये। उदीच्योंका (अर्थात् उत्तर दिशामें रहनेवालोंका) उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण ३।२।३।१५, ११।४।१।१, शाङ्खायनब्राह्मण ७।६, गोपथब्राह्मण १।३।६ में भी है। इन ब्राह्मणोंकी उक्तिसे हमें शत होता है कि, उदीच्योंकी बोली बहुत शुद्ध थी। संस्कृत-भाषाके सबसे बड़े वैयाकरण, पाणिनि, उदीच्य ही थे, क्योंकि वर्तमान अटफके पास उनका जन्म हुआ था। प्राच्योंका नाम शतपथ ब्रा० १।७।३।८, १३।८।१।५ और १३।८।२।१ में भी आता है। प्राच्य, उदीच्य प्रभृतिके अतिरिक्त ये (जाति या) जनपद-वाची नाम वेदमें आते हैं—अङ्ग, अन्ध्र, कम्पोज, काशी, कीकट, कुण्ड, उत्तरकुण्ड, कोसल, गन्धारि, चेदि, नैपिथ, पञ्चाल, पारावत (?), पुण्ड्र, बल्लिक, बाहीक, भरत, मगध, मत्स्य, मद्र, उत्तरमद्र, महावृष, धग, विदेह, विदर्भ इत्यादि।

अग—अ० सं० (५।२।२।१४) में, गन्धारि और मगधो तथा गोपथब्राह्मण (२।६) में मगधोंके साथ इनका नाम आता है। गोपथके समयतक अग लोग शायद पश्चिम विहारको पहुँच गये थे।

अन्ध्र—ऐतरेयब्राह्मण (७।१।८) में कहा गया है कि, जहाँ विश्वामित्रने अजीगर्तके पुत्र शुन-शेपको पुत्ररूपसे ग्रहण किया और उनको अपने पुत्रोंमें ज्येष्ठ करके स्वीकार किया, तब विश्वामित्रके कुछ पुत्रोंने इस व्यवस्थाको स्वीकार नहीं किया। तब उनके शापसे वे लोग अन्ध्र, पुण्ड्र, शरर, पुलिन्द, मृतिर, इन उपान्त्यासी दसपुजातियोंमें परिणत हो गये। इससे

हम इतना हो जान सकते हैं कि, आन्ध्र लोग आर्य-निवासके बाहर, उपान्त देशमें, रहते थे। ऐतिहासिक कालमें ये लोग दक्षिणापथके उत्तर भागमें रहते थे और इस समय मद्रास प्रान्तका उत्तर भाग आन्ध्र-देश कहलाता है।

कम्बोज—वंश—ब्राह्मणमें किसी मद्रगार नामके आचार्यके शिष्य कम्बोज, औपमन्यवका नाम आता है। इससे यों अनुमान किया जा सकता है, मद्र और कम्बोजके ये लोग उत्तर देशके (भारतवर्षके उत्तर-पश्चिमके) रहनेवाले थे।

काशी या काश्य—शतपथब्रा० १३.५।४.१६, २१, अथर्वसंहिता (पैप्लडाद शाखाकी) ५।२.२।४, जैमिनीयब्राह्मण २।३।२६, बृहदारण्यक उपनिषद् २।१।१, ३।८।२, कौषीतकी उपनिषद् ४।१, गोपथ-ब्रा० १।२।६ इत्यादि। ब्राह्मण-युगकी काशी वर्तमान काशीसे अभिन्न है, यह माननेके लिये कोई प्रमाण नहीं है, यद्यपि कोसलों और विदेहोंके साथ काशियोंका नाम आता है। मेरा अनुमान है कि, काशी लोग भरतवंशकी ही एक शाखा थे और घोरि-घोरि मध्यदेशकी पूर्वो सीमातक पहुँच गये थे।

कोकट—ऋ० सं० ३।५३।१४। निरुक्ते (६।३२)से और ऋग्वेदसंहिताके शब्दोंसे पता चलता है कि, यह विषाख और शुतुद्रीके दक्षिण पाएकी कोई अनायाँकी भूमि थी, जहाँ बहुतसी गाँवें थीं। बादके कोशकारोंके मतसे कोकट और मगध पर्यायवाची शब्द हैं, परन्तु ऋक्संहिताका कोकट-देश वर्तमान विहारसे बहुत दूरपर रहा होगा।

कुरु—कुरुओंका नाम ब्राह्मणोंमें सर्वत्र आता है। यद्यपि ऋक्संहितामें साक्षात् कुरुनाम नहीं आया है, एक मनुष्यका नाम कुरुध्रुव (१०।३३।४), और पूरजातिका, लिखित है। कुरु लोग भरतवंशीय,

अतएव पूर्ववंशी थे। मेरा अनुमान है कि, कुरु और पूर (पुराणोंमें पुरु) एक ही शब्द हैं। ब्राह्मण-युगके कुरुओंका देश पुराणके कुरुक्षेत्रसे अभिन्न रहा होगा। कुरुओंके साथ प्रायः और एक जातिका नाम आता है पञ्चाल। ऐतरेयब्राह्मणसे ज्ञात होता है कि, हिमवत् (हिमालय)के उत्तरीको लोग उत्तर-कुरु कहते थे (८।१४) और उनका देश देवक्षेत्र था (८।२३)।

कोसल—शतपथब्राह्मण १।४।१।१७, १३।५।४।४, जैमिनीयब्राह्मण २।३।२६, प्रश्नोपनिषद् ६।१। इनका नाम विदेहोंके साथ-साथ आता है, इस कारण कोसलों और विदेहोंके निवास वैदिक युगमें भी पास ही पास रहे होंगे।

गन्धारि या गन्धार—ऋ० सं० १।१२६।७, अ० सं० ५।२२।१४, छान्दोग्य उपनिषद् ६।१।४।१। गन्धारि और पुराणके गान्धार एक ही हैं। गान्धारियों तरह गन्धारियोंका देश वर्तमान कन्दाहारसे अभिन्न रहा होगा। ऋक्संहितामें इस देशकी अच्छी पशमचाली भेड़ोंका उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद्की रचना जिस देशमें हुई थी, वहाँसे गन्धार-देश कुछ दूर पर था, ऐसा ज्ञात होता है।

चेदि—चेदिराज कशुके दानकी महिमा ऋ० सं० ८।५।३७-३६ में गायी गयी है। चेदिराज कहाँ था, यह हम जान नहीं सकते।

नैपिध—शतपथब्रा० २।३।२।१, २ में एक दक्षिणके राजा, नड़ नामके, नैपिध कहे गये हैं। इससे नैपिधोंका निवास दक्षिणमें था, ऐसा जान पड़ता है। बादके युगमें नैपिध-देश दक्षिणमें ही था।

पंचाल—ब्राह्मणोंमें इनके नाम पाँच बार आये हैं। कुरुओंके पूर्वकी ओर ये लोग शापद रहते थे।

पारायत—कुछ लोगोंकी मतसे ऋक्संहिता, ताण्ड्यमहाब्राह्मण प्रभृतिमें आया हुआ यह शब्द एक जातिविशेषके लिये है। परन्तु मैं समझता हूँ कि, यह शब्द दूकके रहनेवालोंके लिये सामान्य रूपसे आया है।

पुण्ड्र—ऐतरेयब्राह्मण (७।१८)में अन्न इत्यादि के साथ इनका नाम आया है। वादके साहित्यमें पुण्ड्र देश विहारसे अभिन्न सा ज्ञात होता है। इस विहारके लिये मौण्ड्रवर्धन नाम प्रादिको पाते हैं।

बल्हिक—अ० स० ५।२।५, ७, ६ से ज्ञात होता है कि, ये उत्तरके रहनेवाले थे। श० ब्रा० १०।६।३ में बल्हिक प्रतीपीय क्रफे एक पुरुषका नाम आता है। बल्हिक और वादके बाल्हीक (बाल्प ?) एक ही हैं।

वाहीक—श० ब्रा० १।७।३।८। कोई उत्तर-पश्चिम की ज्ञाति। वादको पंजाबमें वाहीकोंकी स्थितिका प्रमाण हमें मिलता है।

भरत—ऋक्संहितासे लेकर भरतोंका नाम वेदमें सर्वत्र आता है। ये भरत लोग पुरुषोंसे सम्बन्ध थे। वैदिक युगमें भरतोंका कोई नियत निवास-स्थान नहीं था। ऋ० सं० ७।१८ प्रभृतिमें वृत्तु भरत सुदास राजाको परज्याके तटपर हम पाते हैं और ३।३३ तथा ३।५३ में विपाश् और शुतुद्री, पार करने हुए देखते हैं। ऋ० सं० (३।०३) में दो भारत राजपुरुषोंको हम सरस्वती, हृष्यती प्रभृतिके पान देते हैं और जैमिनीयब्राह्मण (३।२३७) में भरतों को मिन्धये तटपर पाते हैं। ये भरत लोग आर्योंमें सबसे प्रथित थे। उनके नामसे इस देशका नाम वाद को भारतपर्य्य हुआ है।

मगध—अ० स० ५।२१।१४, याज्ञवल्क्यसंहिता ३।७।१०, तैत्तिरीयब्राह्मण ३।४।१।१ इत्यादि।

वैदिक युगमें मगध लोग नाना कारणोंसे बदनाम थे। स्मृतियोंको युगमें भी यही दशा थी। देखिये—“अग, वंग, कलिंग, सुराष्ट्र और मगधदेशमें तीर्थ यात्राको सिखा जानेसे फिरसे उपनयनादिक संस्कार करके शुद्ध होना पड़ता है” (अङ्ग-यङ्ग-कलङ्ग-पु सौग-ष्ट्रमगधेषु च। तीर्थयात्रा विना गच्छन् पुनः संस्कार-मर्हति।)॥ मगधोंका गाना, बजाना प्रभृति कामोंसे सम्बन्ध था। माध्यान्दिनसंहिता (३।७।३२) में वैश्या, जुआड़ी प्रभृतिके साथ मगधका नाम लिया गया है। वेदके समय मगधोंका देश उत्तर विहारमें ही था कि, उससे कुछ दूरकर, यह हम नहीं जान सकते।

मत्स्य—शतपथब्राह्मण ३।५।४।६, कौपीतकी उपनिषद् ४।१, चापयब्राह्मण १।२।६। कुछ लोगोंके मतसे ऋ० सं० ७।१८।६ में इतका नाम आता है, परन्तु यह सत्य नहीं है। वेदके समयमें ये लोग कहीं रहते थे, जहपुरकी ओर-या अन्यत्र, यह दुर्ज्ञेय है।

मद्र—बृहदारण्यक उपनिषद् ३।३।१, ३।७।१।१। पहले कहा गया है कि, ऐ० ब्रा० में हिमालयके उत्तर को रहनेवाले उत्तरमद्रोंका नाम आता है।

महावृष—अ० स० ५।२।२।४, ५, ८, जैमिनीयब्राह्मण १।२३४, जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण ३।४०।२, छांदोग्य उपनिषद् ४।२।४ इत्यादि। कोई उत्तरकी ओर दूरमें रहनेवाली जाति।

वंग—ऐतरेय ब्राह्मण २।१।१ में “वङ्गावगधा” शब्द आता है, जो कि, “वङ्गमगधा” के लिये मूलतः पाठ-सा मालूम होता है। ऐतरेय ब्राह्मण यज्ञ अर्वाचान पुस्तक है। उनमें मगधकी पामों वंगका उल्लेख स्पष्ट है।

विदेह—श० ब्रा० १।७।१।१० (विदेह या विदेह, दोनो धातुतियोंमें) बृहदारण्यक उपनिषद्की ४।

जगहों पर, कौपीनको उप० ४१, ताण्ड्यमहा० २५।१०।२० इत्यादि। कोसलोंके साथ इनका नाम आता है। ऊपर देखिये।

विदर्भ—कैवल जैमिनीय ब्राह्मण (२।२४२) में इनका नाम आता है। उस ब्राह्मणके समय ये लोग वर्तमान विदर्भ (चरार) से कितनी दूरी पर थे, यह दुर्लभ है।

इन जनपद-वाची शब्दोंके अतिरिक्त और भी कई देश या नगर-वाची शब्द वैदिक साहित्यमें आये हैं। उनका निरूपण मैं नीचे संक्षेपमें दे रहा हूँ।

काम्पिल—तैत्तिरीयसंहिता ७।४।१६१, मैत्रायणीयसंहिता ३।२।२०, काठकसंहिता (आग्न्यमेधिक) ४।८, माध्यन्दिनसंहिता २३।१८ तै० ब्राह्मण ३।६।६, शं० ब्रा० १३।२।८। यह पञ्जाल देशकी राजधानी सी मालूम होती है।

कारपेश—ता० म० ब्रा० २५।१०।२३ यमुनाके तटपर कोई स्थान।

फारोटी—शं० ब्रा० ६।५।२।५। कोई स्थान या नदी, जहाँ (या जिसके तटपर) तुर कारपेयने यज्ञिचयन किया था।

कुरुक्षेत्र—कई जगह पुण्यभूमि करके इसका नाम आया है।

कौशाम्ब्यी (?)—शं० ब्रा० १।२।२।१३ और गोपय ब्रा० १।२।२०४ में एक पुरुषका "कौशाम्ब्येय" करके नाम आया है। हरिश्चामीकी मतसे इसका अर्थ है, "कौशाम्ब्यीमे रहनेवाला"; परन्तु चात्तनमें "कुशाम्ब्य पुत्र" हो समीचीन अर्थ मालूम होता है (देखिये ता० म० ब्रा० ८।६।८)।

तूर्म—तै० आरण्यक ५।१।१। कुरुक्षेत्रकी उत्तर-का भाग।

त्रिहस्त—ता० म० ब्रा० २५।१३।४। यमुनाके पासका स्थान, जहाँ द्व्यद्वतीका अन्तर्धान होता है।

नाडपितृ—शं० ब्रा० १३।५।४।३। "शकुन्तला नाडपितृप्सरा भरतं दधे" इत्यादिमें यह सन्दिग्ध है कि, द्वितीय और तृतीय शब्दोंको सन्धिवाक कैसे छेद होगा। अगर 'नाडपितृ+अप्सरा' ऐसा छेद होगा, तो अर्थ यह है कि, नाडपितृ नामके स्थानमें अप्सरा शकुन्तलाने भरतको प्रसन्न किया। परन्तु 'नाडपितृ+अप्सरा' ऐसे छेद होगा, तो नाडपितृ शकुन्तलाका विशेषण है और यहाँ किसी देशका नाम नहीं है।

नैमिश या नैमिष—काठकसंहिता १०।६, ता० म० ब्रा० २५।६।४ जैमिनीयब्राह्मण १।३६३ कौपीनकि-ब्राह्मण २६।५, २८।४, छान्दोग्य-उपनिषद् १।२।१३। यह एक पवित्र स्थान था, जहाँ बड़े-बड़े ऋषि लोग रहते थे। इस नैमिष-वनमें महाभारतका प्रथम प्रचार हुआ था। इसका वर्तमान नाम है निमसार।

परीणाह—ता० म० ब्रा० २५।१३।१, जैमिनीय ब्राह्मण २।३०। इत्यादि। कुरुक्षेत्रके पश्चिममें यह स्थान है।

पृक्ष प्रास्त्रण—ता० म० ब्रा० २५।८।१६, २२ इत्यादि। यह दिनशनसे ४४ दिनके रास्तेपर है।

रैकपर्ण—छा० उप० ४२.७। यह महावृषोंके देशमें कोई स्थान है।

दिनशन—ता० म० ब्रा० २५।१०।१, जै० उप० ब्रा० ४।८।६ इत्यादि। यह सरस्वती-नदीके अन्तर्धानका स्थान है।

साचीगुण—ऐ० ब्रा० ८।२३। यह भरतोंके देशमें कोई स्थानसा मालूम होता है।

स्थूलार्म—ता० म० ब्रा० २५।१०।१८। यह कोई स्थान है, जिसके उत्तरमें कोई हद है। सायण का मत है कि, यह सरस्वतीका हद है।

इनके अतिरिक्त और भी कई छोटे मोटे या सन्दिग्ध नाम वेदमें आते हैं। लेखके बहुत बड़ जनेसे मैंने उनका उल्लेख नहीं किया है। परन्तु

अन्तमें एक शब्दका नाम मुझे अग्रय ही लेना है, जो कि, ऋक्संहितामें एक बार (८।२४।२७) पञ्चायने लिये आया है—“सप्त सिन्धव” अर्थात् सात नदियोंका देश। वेदमें कही पञ्चनद शब्द नहीं आया है। अवेस्तामें भी पञ्चाय या भारतवर्षके लिये “हप्त हिन्दव” शब्द आया है।

बसाड़की खोदाई

त्रिपिटिकाचार्य राहुल साहत्यायन

हाजीपुरसे १८ मील उत्तर, मुजफ्फरपुर जिलेमें, बसाड़ (बनिया बसाड़) गाँव है। यहाँके पासके गाँव बलराममें अशोकस्तम्भ है। यहाँकी खोदाईमें ईस्वी सन्से पूर्वकी चीजें मिलती हैं। खोदाईके सम्बन्धमें कुछ लिखनेके एवं इस स्थानके बारेमें कुछ लिख देना उचित होगा।

वैशाली प्राचीन वज्जी-गणसत्तकी^१ राजधानी थी। वज्जीदेशकी शासक क्षत्रियजातिका नाम लिच्छवि था। जैन ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि, इसकी ६ उदजा-ति थीं। इन्हींका एक भेद “ज्ञातजाति” था, जिसने वैशाली होनेके कारण जैनधर्मप्रवर्तक वर्षमान (महावीर)को नावपुत्र या ज्ञातपुत्र भी कहते हैं। पाणिनिने भी “मद्रवज्जो कम्” [अष्टाध्यायी ४।२।११] सूत्रमें इसी, वज्जीको वृज्जी कहकर स्मरण किया है। इसके समय यह वज्जी-गणराज्य उत्तरी

भारतकी पाँच प्रधान राजशक्तियों—श्वन्ती, घास, कोसल, मगध और वज्जी—मेंसे एक था। इस गणराज्यका शासन कब स्थापित हुआ, यह निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता। इनके न्याय, प्रबन्ध आदिके सम्बन्धमें पाकी ग्रन्थोंमें जहाँ-तहाँ वर्णन है। बुद्धनिर्वाणके तीन वर्ष बाद, प्राय ई० पू० ४८० में, वज्जी-गणतन्त्रको मगधराज अजातशत्रुने, बिना लड़े भिदे, जीता था। पीछे वो मगध साम्राज्यके विस्तारमें लिच्छविकात्तिने बड़ा ही काम किया। लिच्छवियोंके प्रभाव और प्रभुत्वको हम गुप्त काल तक पाते हैं, जब कि, गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्तका लिच्छवि-दीर्घिष होनेकी सम्मानकी बात देखते हैं। कितना ही विद्वानोंका मत है कि, गुप्तनाम गुप्तवंशको साम्राज्यशक्ति प्रदान करनेमें रुद्राद् चन्द्रगुप्तका लिच्छवि राजकन्या दुर्गार-देवीके साथ विवाह होना भी एक प्रधान कारण था।

* “भूगो”-स्पष्टार्थक गेज्जथस।—“ग”-स्पष्टार्थ।

१ वज्जीदेशमें आजहाटक चम्पारन और मुजफ्फरपुरके मिले, दरभंगा अधिराज तथा लखनऊके मिर्जापुर परगना, गानपुर के एम् गुरु और भाग गम्मितिय थे।

२ इसी पागने (जिसमें बगदा गाँव है) में अजिन जपरियोंकी तपसे अधिक बस्ती है, वह यही गुगने शत्रु है, जो भूतकालमें इस बलराम गणराज्यके गदा लक्ष, और जैनदीर्घिष महावीरके जन्मराज्य थे।

इस विवाद-सम्बन्धके कारण चन्द्रगुप्तकी वीर की लिच्छ-
विजातिका सैनिक बल हाथ लगा था । गुप्तवंशका
सबसे प्रतापी सम्राट समुद्रगुप्त उसी लिच्छविकुमारी
कुमादेवीका पुत्र था । कौन कह सकता है, उसको
अपनी दिग्विजयोंमें अपने मामाके वंशसे कितनी सहा-
यता मिली होगी । गुप्तवंशके बाद हम लिच्छवि-
योंके नाम नहीं पाते । गुप्तवंशके समय वैशाखी वंशा-
सी थी । वेतियाका राजवंश उस लिच्छविजातिका
अपरिचित-वंशके अन्तर्गत है; इसलिये सम्भव है,
वेतिया-राजवंशके इतिहासमें पीछेकी कुछ बातोंपर
प्रकाश पड़े ।

वैशाखी नामके बारेमें पावी ग्रन्थोंमें लिखा है
कि, दीवारोंकी तीन-बार-हटाकर हमे विशाल करना
पड़ा; इसी लिये वैशाखी नाम पड़ा । फलतः वैशाखी
के अन्वयसे एक बृहत्तम होना स्वाभाविक है;
यद्यपि वैशाखी नगर कहाँ तक था और कहाँ नगरके
बाहरवाले गाँव थे, इसका अभी तक पता नहीं लगा
है । अभी तक जो भी खोदाईका काम हुआ है,
वह सिर्फ बसादके गढ़में ही हुआ है । बसादके
आसपास कोसोंतक पुरानी वस्तुयोंके निगान मिलते
हैं । बसाद और यनिया गाँव न सिर्फ स्वयं पुरानी
वस्तुयोंपर बसे हैं, बल्कि उनके आसपास भी ऐसी
यहुत भूमि है, जिसके नीचे भूत कालके सन्देशवाचक
प्रतीका कर रहे हैं ।

वैसे तो बसादके लोगोंकी मान्यता ही या कि,
उनका गाँव राजा विशालकी राजधानी है; किन्तु
मेरिये सेंट मार्टिन और जनरल कनिंघम प्रथम सन्तान
थे, जिन्होंने बसादके अन्वयसे पुरानी वैशाखी
होनेका संकेत किया । तो भी बसादमें सनियम
खोदाईका काम सन् १९०३ ई० तक नहीं हुआ
था । १९०३-४ ई० के जाइमें डा० ब्लॉकके अधि-
नायकत्वमें बसादकी खोदाई हुई । उसके बाद, १९१३-
१४ ई०में, फिर डाक्टर स्पूरने खोदाईका काम
किया । यह दोनों ही खोदाईयाँ राजा विशालके
ही गढ़पर हुईं । डाक्टर ब्लॉक (Bloch) अपनी
खोदाईमें गुप्तकालके चारम्भ (चौथी शताब्दीके चारम्भ)
तक पहुँचे थे और डाक्टर स्पूरका दावा मौयं
(ई० पू० तीसरी शताब्दी) तक पहुँचनेका था ।
यद्यपि जिस मुहरके बज्रपर उन्होंने ई० पू० तीसरी
शताब्दी लिख दिया, उसे ४५० शताब्दीतक चन्द्र्यो-
पाष्याय जैसे पुतालिकाके विद्वान्ने ई० पू० प्रथम
शताब्दीका बतलाया, जो अफ़रोंकी देखनेसे ठीक
जँचता है ।

राजा विशालका गढ़ दक्षिणकी ओरकर तीन तरफ
जलाशयोंसे घिरा है; और, वर्षा तथा शीतकालमें दक्षिणकी
ओरसे—जिधर बसाद गाँव है—ही गढ़पर जाया जा सकता
है । डाक्टर ब्लॉकके नापसे गढ़ उत्तर ओर ७५० फीट,
दक्षिण ओर ७०० फीट, पूर्व ओर १६५ एवं पश्चिम

दक्षिण ओर १ लिच्छवि-गणतन्त्र भारतीयोंके जनगणतन्त्रक
मनोभावका एक ज्वलन्त उदाहरण है, जो पाश्चात्योंके
इन कथनका खण्डन करता है कि, भारतीय हमेशा एका-
धिक्यके नीचे रहनेवाले रहे हैं । लिच्छवि-गणतन्त्रक
सारे भारतका अभिमान दाया स्वाभाविक है । एक
लिच्छवि-अपरिचितके नाते, प्राणा है, मौलाना राफी दादा
भी इसमें सहयोग देने ।

❖ आज भी अपरिचितानि लड़ने-विजितनेमें मराहट है ।
× जिस प्रकार नन्द और मौयं भारतके प्रथम
ऐतिहासिक साम्राज्य-स्थापक थे, वैसे ही वज्जी ऐतिहा-
सिक बालका एक महान् राज्याली गणतन्त्र था । क्या
यह प्रश्न न होगा कि, मुजफ्फरपुरवाले उनकी स्मृतिमें
प्रतिवर्ष एक लिच्छविगणतन्त्र-सप्ताह मनाने, जिसमें और
बातोंके साथ योग्य विद्वानोंके गणतन्त्र-सम्बन्धी व्याख्यान

धोर १६५० फीट विलुप्त है। सारी खोदाईमें सिर्फ एक छोटी-सी गणेशकी मूर्ति डा० बन्नाशको मिली थी, जिससे सिद्ध होता है कि, गङ्गपर धार्मिक स्थानोंके लिये जगह नहीं थी। गुप्त, कुपाण तथा प्राक्-कुपाण मुहरोंको देखनेसे तो साफ मालूम होता है कि, यह राज्याधिकारियोंका ही केन्द्र रहा है। वैसे गङ्गको छोड़कर यसाढ़में दूसरी जगह भी अक्सर पुरानी मूर्तियाँ मिलती हैं। गङ्गसे पश्चिम तरफ, बावन बोलरके उत्तरी भागपर, एक छोटा सा धार्मिक मन्दिर है, यहाँ जाकर आप मध्यकालीन खचित कितनी हा—बुद्ध, बोधि सत्त्व, विष्णु, हर गौरी गणेश, सप्तमातृका एवं सैनसीयंद्नोंकी—मूर्तियाँ पावेंगे।

गङ्गकी खोदाईमें जो सबसे अधिक धोर महत्त्वपूर्ण चीजें मिलीं, वह हैं—महाराजो, महारानियों तथा दूसरे अधिकारियोंकी प्रद्वित कई सी मुहरें। डाक्टर बन्नाश अपनी खोदाईमें ऊपर-तलसे १० या १२ फीट तक नीचे पहुँचे थे। उनका सबसे निचला तल यह था, जहाँसे आरम्भिक गुप्तकालकी दीवारोंकी नींव शुरू होती है। ऊपरी तलमें १० फीट नीचे “महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०—४१३ ई०)-पत्नी महारान धीगोविन्द-गुप्तमाता महादेवी श्रीधुसस्वामिनी”की मुहर मिली थी। जिस घरमें यह मिली थी, वह देखनेमें यहवषाधर-सा मालूम होता था; इसलिये उस समयका साधारण तल हमसे कुछ फीट ऊपर ही रहा होगा। डा० स्नर और नीचेतक गये, जहाँ उन्हें ई० पू० प्रथम शताब्दी-की वेसालि धनुमयाकगली मुहर मिली। डा० बन्नाशकी सबसे बड़ी ई० पू० १६॥ × १० × २ इंच नापकी मिली थी। एक तरफके ऊपर भी मिछे, जो बिहारमें धातुकण पाव जानेवाले खपड़ोंमें भिन्न है। इन तरफके ऊपर खजमज मूर्तियममें भी रहे हैं, जो धुतजातमें नहीं मिछे थे। इनकी ऊपर ई० खोदाई निम्न प्रकार है—

$$m \times 2\parallel$$

$$2\parallel \times 2\parallel$$

$$3\parallel \times 2$$

$$m \times 2$$

$$2\parallel \times 2\parallel$$

$$1\parallel \times 2$$

यद्यपि गङ्गकी खोदाईमें हाथीदाँतका बीन्द (बोपा धानी) तथा धोर भी कुछ चीजें मिली थीं, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण चीजें कई-सी मुहरें ही हैं। गुप्तकालसे पूर्वकी मुहरें बहुत बोली मिली हैं; उनमेंसे एकपर निम्न प्रकारका लेख है—

“वे सालि अनु

+ + +

ट + + का रे

स यान क ”

इसमें वेसालि धनुमयाकको वेसालीधनुमयाक बनाकर डाक्टर प्जोटेने “वेसालीका दौरा करनेवाला भक्तसर” अर्थ किया है, धोर, “टकारे”के लिये कहा है—यह एक स्थापके नामका अधिकारण (सप्तमी) में प्रयोग है। अशोकके लेखोंमें पाँच-पाँच वर्षपर खास अक्षरोंके धनुमयाक या दौरा करनेकी बात लिखी है। उन्हींसे उपर्युक्त अर्थ निकला गया है। किन्तु सिया वेसालि शब्दके, जो कि, स्थानको धतकाता है, धोर अर्थ अनिश्चित ही है। दूसरी मुहरमें है—

“राज्ञो महापत्रपत्य राजमी रदसिस्व दुडितु

राज्ञो महापत्रपत्य स्वामी रदनेनस्य

भगिन्या महादेया प्रमुदमाया ”

‘राज्ञा महापत्रपत्य स्वामी रदविशको पुत्री, राजा महापत्रपत्य स्वामी रदनेनकी बहन महादेयी प्रमुदमाकी ।’

महापत्रपत्य रदविह धोर उसके पुत्र रदनेन अर्थात् रदनामपश्योप पश्चिमीर चतुर्षोमेंने थे, जिन्की राजधानी उन्नी थी। रदविह धोर रदनेनका भाग्यका

ईसाकी तीसरी शताब्दीका आरम्भ है। प्रभुदमाके साथका महादेवी शब्द बतलाता है कि, वह किसी राजाकी पत्नी थी। जयों और शातवाहनवंशीय आन्ध्रोंका विवाह-सम्बन्ध तो मान्य ही है, किन्तु प्रभुदमा किसी पटरानी थी, यह नहीं कहा जा सकता। "हस्तदेवस्थ" मुहर कुण्डलिपिमें है।

गुप्तकालीन मुहरोंमें कुछ "भगवत आदित्यस्य", "जयत्यनन्तो भगवान् साम्या", "नमः पशुपते" आदि देवता-सम्यग्धो हैं; और, कुछ "नागशर्मणः", "बुद्धमित्रस्य", "मित्रपुरषर्षिदत्तः", "ब्रह्मरक्षितस्य" आदि साधारण व्यक्तियोंकी। शायद अधिकारियोंकी मुहरोंके बारेमें जितनेसे पूर्व गुप्तकालीन शासनाधिकारियोंके बारेमें कुछ लिखना चाहिये। गुप्त-साधारण अनेक भुक्तियोंमें* बाँटा हुआ था। यह भुक्तियाँ आजकलकी कमिश्नरियोंसे बनी थीं। हर एक भुक्तिमें अनेक विषय हुआ करते थे, जो प्रायः आजकलके जिलोंके बराबर थे। विषय कहीं-कहीं अनेक पथकोंमें विभाजित था, जैसा कि, हर्षके ब्राह्मण-खेपाखे सामान्यसे मालूम होता है। नवमी शताब्दीके पालवंशीय राजा धर्मपालके खेलसे मालूम होता है, उस समय भुक्तियोंको मण्डलोंमें विभक्त कर, फिर मण्डलको अनेक विषयोंमें बाँटा गया था। हो सकना है, साम्राज्यके आकारके अनुसार भुक्तियोंका आकार घटता-बढ़ता हो। यद्यपि विषयोंके नीचे पथकोंका होना प्रायः

नहीं देखा जाता, तो भी यदि पथक थे, तो उन्हें आजकलके परगने एवं ग्यारहवाँ शताब्दीकी पत्तनाके समान जानना चाहिये। भुक्ति, विषय, ग्राम--इन तीन विभागोंमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। उस समय भुक्तिके शासकको उपरि कहा जाता था, जिसे आजकलका गवर्नर समझना चाहिये। उपरिक्की सभाही नियुक्त किया जाता था। अपनी भुक्तिके भीतर उपरि विषय-पतियोंको नियुक्त किया जाता था, जिन्हें नियुक्त या कुमारामात्य कहा जाता था। विषय-पति कुमारामात्य आ निवास-नगर अधिष्ठान कहा जाता था; और, इस नगरके शासनमें निगम या नागरिक-परिषद्का बहुत हाथ रहता था। यह निगम वही संस्था है, जिसके प्रभावका उल्लेख नेगम (= नैगम)के नामसे बुद्धकालमें भी बहुत पाया जाता है। गुप्तकालमें श्रेष्ठी (= नगर-सेठ), साधंवाह (बनजारोंका सरदार) और कुञ्जिक (प्रतिष्ठित नागरिक) मिलकर निगम बने जाते थे। यह और प्रथम कायस्थ (प्रधान खेलक) मिलकर विषय-पतिकी परामर्श-समितिसी होती थी।

यह वसादकी खोदाईमें मिली ऐसी कुछ मुहरोंकी देखिये—

उपरिक्की { (१) तीरसुगुप्त्युपरिकाधिकरणस्य।
(२) तीरसुगुप्त्यु वित्तपरिचयविस्थापक अधिकरण
(स्थ), ।

* आदित्य (सहेत-महेत) गोंडा-बहराइच जिलोंकी नीमापर है, इनलिसे गोंडा-बहराइच जिलोंको आदित्य-भुक्तिमें मानना ही चाहिये। सातवीं शताब्दीके हर्षवर्द्धनके मधुवन-वाले ताम्र-लेखसे मालूम होता है कि, आजकलका आदित्य-भुक्तिमें ही था। दिग्वा दुर्बौली (जि० सारन)का ताम्रपत्र यदि अपने स्थान पर ही है, तो नवीं शताब्दीमें सारन भी आदित्य

भुक्तिमें था। इस प्रकार गोंडा, बहराइच, बल्ली गोखपुर, आजमगढ़ और सरन जिले कम-से-कम आदित्य भुक्तिमें थे।

× तीरसुक्ति=तिरहुत, जिसमें सम्भवत गणक, गणा, कौली और हिमालयमें विरा प्रवेश शामिल था।

ॐ उपरिक्की मुहरमें, दो हाथियोंके बीचमें, लक्ष्मी है, जिनके बायें हाथमें अष्टदल पुष्प है।

- कुमारा० { (१) तीर-कुमारामाध्याधिकरणस्य ।
 (२) कुमारामाध्याधिकरणस्य ।
 (३) (वै) शाक्यधिष्ठानाधिकरण ।
 (४) (वै) शाक्यविषयः X ... ।

- निगम { (१) श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम ।
 (२) श्रेष्ठिकुलिक निगम ।
 (३) श्रेष्ठिनिगमस्य ।

- श्रेष्ठि { (१) गोमिपुत्रस्य श्रेष्ठिकुलोदस्य
 (२) श्रेष्ठिप्रीदासस्य ।

- सार्थवाह { सार्थवाह दोहू

- प्रथम { (१) प्रथमकुलिकहरिः ।
 कुलिक+ (२) प्रथमकुलिकोपसंहारस्य ।

- कुलिक { (१) कुलिक भगदत्तस्य ।
 (२) कुलिक गोरिदासस्य ।
 (४) कुलिक गोपदस्य ।
 (३) कुलिक हरिः ।
 (५) कुलिक धोमगट ।

॥ मुहूर्तमें दो हाथियोंके बीच लड़ती है, जिनके हाथमें सप्तदल पुष्प है । X सम्भवतः विषय ।

+ नगरमें धेड़ी और सार्थवाह एक-एक हुआ करते थे । निगमनामके बाकी सङ्कुलिक बड़े आते थे, जिनमें प्रमुखगो प्रथम कुलिक कहा जाता था । यही कारण है, जो मुहूर्तमें गवसे अधिक कुलिकोंकी मुहूर्त हैं ।

॥ नैनयमें लिये बैशालीका किना माल्य है, यह तो उगरे प्रवर्तक वर्षमान महावीरके बड़ा जन्म लेनेसे ही स्पष्ट है । बौद्धधर्ममें भी बैशालीके लिये बड़ा गौरव

हूके अतिरिक्त कुछ मुहूर्त राजा, युवराज तथा उनसे विशेष सम्बन्ध रखनेवालोंकी भी हैं । जैसे—

(१) महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराज श्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी श्रीध्रुव स्वामिनी ।

(२) श्रीपर (म भट्टारक) पादीय कुमारामाध्याधिकरण ।

(३) श्रीयुवराज भट्टारकपादीय-कुमारामाध्याधिकरण ।

(४) युवराजभट्टारकपादीय बद्धाधिकरणस्य ।

इनके अतिरिक्त रघुभायडागाराधिकरण, दयहपा-शाधिकरण, दयहनायक (न्याय-मन्त्री) और भट्टारवपति (घोड़सवार, सेनापति आदि) की मुहूर्त मिली हैं—

(१) महादयहनायकामिगुप्तस्य ।

(२) भट्टारवपति यक्षवरस्य (?)

युवराज भट्टारकपादीय-कुमारामाध्याधिकरण देखकर तो मालूम होता है, तीर-भुक्तिके उपरि स्वयं युवराज ही होते थे । द्वितीय गुप्त-सम्राट् अपनेको लिच्छवि-दौहित्र कहकर जिस प्रकार अभिमान प्रकट करता है, उससे बैशालीको यह सम्मान मिलना असम्भव भी नहीं मालूम होता । ॥

है । बैशालीमें ही बुद्धने, सन् ५२५-५२४ ई० पू०में, शिवों को भिक्षुणी बननेका अधिकार दिया था । बुद्धने यहीं अपना अन्तिम वर्षावास किया था । बुद्धके निर्वाणके सौ वर्ष बाद सन् ५२३ ई० पू०में, यहीं, बुद्धके उपदेशोंकी शान-धनके लिये, भिक्षुओंने द्वितीय संगीति (सभा) की थी । बुद्धने भिक्षु-संघके सामने लिच्छवि-गण-सम्बन्धी आदर्शकी तरह पेश किया था । भिक्षु-संघके दण्ड [-बोट] दान तथा दूसरे प्रसङ्गके ढंगोंमें लिच्छविगण-प्रवृत्ति अनुसरण किया गया है ।



पहाड़पुरकी खोदाई

वा० मदनप्रसाद एम० ए०, वी० एल०

भारतके प्राचीन इतिहासकी सामग्री भारतमें प्रचुरतासे पाये जानेवाले प्राचीन भग्नावशेषोंमें निहित है। भारत-वर्षका प्राचीन इतिहास लिखनेके लिये इतिहासकारको जितना पुरातत्व-सम्बन्धी प्रमाणोंका आश्रय लेना पड़ता है, उतना और दूसरे प्रमाणोंका नहीं। यदि सच पूछा जाय, तो प्राचीन इतिहासका एक बहुत बड़ा अंग पुरातत्वके ही आश्रयपर लिखा गया है। साथ-साथ इसके द्वारा इतिहास-सम्बन्धी बहुत-सी अमूर्त और मिथ्या बातोंका निराकरण भी हुआ है। हम क्षेत्रमें प्राश्नाय विद्वानोंने जो कार्य किये हैं, वे सर्वथा सराहनीय हैं। सौ वर्ष पूर्व हम अपने प्राचीन इतिहाससे पूर्ण रूपसे अनभिज्ञ थे। भारतीय इतिहासकी यह उसी बात अतीतके अन्धकारपूर्ण गर्भमें पड़ी थी। हम देशके एक कोनेसे दूसरे कोने तक पाये जानेवाले प्राचीन अवशेष केवल कौतूहलकी सामग्री समझे जाते थे। हमारे सौभाग्यसे पाश्चात्य विद्वानोंका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ, और उनके अनुकरणीय अध्ययन तथा मार्मिक गवेषणाके फलस्वरूप हम अवशेषोंका समुचित उपयोग होकर उनसे ऐतिहासिक तथ्योंका पता लगाया गया। भारतकी सरकारने एक पुरातत्व-विभाग (Archaeological Survey Department) कायम कर इस कार्यको और भी प्रोत्साहित बना दिया। पुरातत्व-विभागने, २० वर्षोंके अन्दर, जो खोज-सम्बन्धी कार्य किया है, यह सबको निहित है। कितने शिखरोंको, मुद्राओं और सिक्कोंका पता लगाया गया, उनपर संक्षिप्त, चिह्नोंका स्पष्टीकरण दिया गया तथा इनके द्वारा भारतके प्राचीन इतिहासपर किना प्रकाश पड़ा, इसको नहीं

दुहराना उचित नहीं, यह तो नवीन इतिहासका प्रत्येक पृष्ठ चतुर्जाता है।

पुरातत्व-विभागके हालके कार्योंमें सबसे उल्लेखनीय मोहजोदरो, हरप्पा, लखिरा, सारनाथ, नाजमदा और पहाड़पुर आदिकी खोदाईयाँ हैं। इस लेखमें हमारा अभिप्राय पहाड़पुरकी खोदाईसे है, जिसका विवरण संक्षिप्त रूपसे नीचे दिया जाता है।

प्राचीन कालमें गङ्गानदीके उत्तर मिथिजाके पूर्व भागसे लेकर कामरूपके पश्चिम भागतक विस्तृत भूभाग पौरवर्धनमुक्तिके नामसे विख्यात था, जिसको ईसाके पूर्व तीसरी शताब्दीके ग्रीक लेखकोंने "Prasoe" नामसे अभिहित किया था। इसी पौरवर्धनमुक्तिके मध्यमें वारेन्द्री नामक एक मण्डल अवस्थित था, जो आजकलके राजशाही, पावना, बाँकुड़ा, रंगपुर, दिनाजपुर और मालदह प्रभृति जिल्लोंके सम्पूर्ण अथवा आंशिक स्थानको घेरिष्ठ करता है। यह मण्डल प्राचीन सभ्यता और कीर्तिकलाके अत्यन्त विद्वानोंसे परिपूर्ण था; किन्तु काजप्रभाव और अराजकतायियोंके अवाचारके कारण इनमेंसे बहुत तो लुप्तप्राय हो गये और जो बचे भी, वे वारेन्द्री मण्डलके भिन्न-भिन्न स्थानोंपर विभिन्न श्रुतिका-स्मृतियोंके अन्तर्गतमें लोहित हैं। इन श्रुतिका-स्मृतियोंमें पहाड़पुरका स्थान अत्यन्त उच्च और विशाल है तथा यह अद्यपरि उन्नत मरतक किने खड़ा है। यंगलमें हमने यहकर दूसरा कोई ऐतिहासिक स्थान नहीं है, जो प्राचीनताके स्वरूपमें इसकी समता कर सके अथवा पुरातात्विकोंके अनुसन्धानका विषय हो सके। भारतके ६ राज्याभिर्षों-

तकके इतिहाससे इसका सम्यग्ध रक्षा तथा इस देशके तीन या चार प्रधान मतों (Cults) में, जिनका जनतापर प्रचुर प्रभाव था, इसका क्लेश रद्द हुआ।

पहाड़पुर राजशही जिलेके अन्तर्गत ईस्टर्न बंगाल रेलवे (E. B. R.) लाइनपर स्थित जमालगंज स्टेशनसे करीब तीन मीलकी दूरीपर है। यहाँकी भूमि अधिक उर्वरा है और खासपासका द्रव्य भी यहाँ मनोरम तथा चित्ताकर्षक है। ऐसा प्रतीत होता है कि, प्राचीन कालमें स्तूपके निकट होकर एक नदी बहती थी, जो अथ श्रवःसलिला हो गयी है। नदीके अस्तित्वके चिह्न अभीतक वर्तमान हैं। नदीका शुष्क सिकतापूर्ण गर्भमें, जो अथरख और स्वर्णकणोंसे परिपूर्ण है, उसमें प्राचीन सोपानके अवशिष्ट पाये गये हैं। किंवदन्ती भी इस बातकी पुष्टि करती है।

इस स्थानका नाम पहाड़पुर क्यों पड़ा, यह कहना कठिन है। खोदाईके पहले खँडहरकी आकृति छोटे-छोटे टीलोंकी श्रृंखलासे परिवेष्टित एक पहाड़ी जैसी थी; शायद इसी कारण इस स्थानका नाम पहाड़पुर पड़ा हो। ग्रामका प्राचीन नाम सोनपुर था, जैसा कि, खँडहरसे प्राप्त एक मुद्रासे, जिसपर “सोनपुर धर्मपाल विहार” शब्द अंकित हैं, जाहिर होता है। विहार प्रान्तके बोधगया स्थानके अवशेषोंमें प्राप्त एक शिलालेख भी इस बातको सिद्ध करता है कि, बंगालमें इस नामका एक प्रख्यात विहार था। श्रौपुर नामक एक निःकटस्थ ग्राम इस विश्वासकी और भी दृढ़ करता है।

पहाड़पुरकी खोदाईका इतिहास इस प्रकार है—कुछ वर्ष पूर्व पहाड़पुर-निवासी एक स्वर्णकार सीमा-प्राचीरके दक्षिण पश्चिम कोनेके ध्वंसावशेषको पुरानी ईंटोंके निमित्त खनन कर रहा था, उसी समय उसको

लिपियुक्त प्रस्तर-स्तम्भके शीर्षभाग (Capital) का कुछ अंश प्राप्त हुआ। उसकी चारों ओर प्राचीन बंगाली (Proto-Bengali) (मगधावर)में संस्कृतके शब्द खुदे थे। अतः यह “वारेन्द्र-धनुसन्धान-समिति” [Varendra Research Society] के संग्रहालय (Museum) में छावर सुरक्षित किया गया। समितिके अध्यक्ष परलोकगत या० अच्युतकुमार मैत्रेयने उसका निम्नलिखित पाठोद्धार किया—

“रक्षप्रयो प्रमोदेना (न) सधानां हितकार्यया

श्रीदशवर्गभर्षेय स्तम्भोऽयं (*) स्मारितो वरः ।”

अर्थात् श्रीदशवर्गभर्षेय नामक व्यक्ति द्वारा प्रिय (बुद्धधर्म और संघ) को, स्तुष्ट करनेके लिये एवम् समस्त जनसमाजके उपकारार्थ यह उत्कृष्ट स्तम्भ स्थापित किया गया।

सीमाप्राचीरके ध्वंसावशेषके जिस स्थानपर यह स्तम्भ वर्तमान था, उस स्थानका सम्यग्ध प्राचीन ध्वंशोंके ऊपर, उच्च कालमें निर्मित और प्राचीरसे संलग्न किसी मन्दिर [Shrine] के साथ होना जान पड़ता है। प्रियका उल्लेख और दाताका नाम दशवर्गभर्षेय इस बातको स्पष्टतया सूचित करता है कि, यह अभिलेख एक बौद्ध अष्टावक्रिकाके अंश-रूपसे उत्सर्गीकृत हुआ था। लिपिकी आकृति मुसलमानोंके पूर्व कालका परिचय देती है। इसकी दृष्टि, द्वाप्राचित्र एवम् एक विचित्रकी रिपोर्ट मैत्रेय महाशयने, सन् १९१७ में, सरकारी पुस्तक-विभागके पास भेजी; और, इस स्थानके खननके लिये अनुमति दी, जिसके फलस्वरूप यह स्थान सरकार द्वारा गृहीत होकर खोदाईके कार्यमें सम्मिलित किया गया। सर्वप्रथम १९२३ सालकी १जी मार्चको परलोकगत सर माधुलोच मुकुर्जीके प्रोत्साहनसे वारेन्द्र-धनुसन्धान-समितिके प्रथम एवम् कुमार शरत्कुमार रायके अध्यक्ष-

सहाय्यसे तथा पुरातत्त्वविभागकी अनुकूलतासे इस सुविश्रुत स्तूपकी खोदाई, कन्नकता विस्वरिवालयके दृष्टांपक धीमुख टी० आर० भयदालकरकी परिचालनामें, आरम्भ हुई तथा धीमुख अच्युतकुमार यावले ही प्रथम कुदाली चलायी ।

प्रथम वर्ष सीमाप्राचीरके दक्षिण-परिचमाराके उस स्थानसे ही, जहाँ क्षिपिपुत्र प्रस्तामन्तम उपजन्म हुआ था, खोदाईका सुरुवात किया गया । खोदाई जारी होने पर परिव्रज सीमाप्राचीरके क्षिप्रदेश और दक्षिण सीमाप्राचीरका ८३ फीट पर्वगत भाग उद्घाटित हुए । इसी वर्ष प्राचीन कृष्ण भवसावरोध, भग्न मूर्तिपात्रोंमें दग्ध तथ्यहुल और छोटे-छोटे बौद्ध स्तूपोंके अस्तित्वका पता चला तथा मूलस्तूपके दक्षिण-परिचममें सीमाप्राचीरमें संलग्न किसी नदीके स्मृतिचिह्नका भी निदर्शन हुआ, जिसका अवलोकन ऊपर हो चुका है ।

पीछे पहाड़पुर स्तूपके खननका कार्य पुरातत्त्व-विभागके पूर्व क्षेत्रके अध्यक्ष (Superintendent of Eastern Circle) परलोकगत था० राक्षालदास यनर्जीके हाथमें आया । इनकी परिचालनामें स्तूपके उत्तर राख तथा उसकी उत्तर घोर स्थित तोरण द्वार (Gateway) का समुद्घाटन हुआ एवम् अनेक अमूल्य प्रालम्भदर्श (Antiquities) की प्राप्ति हुई । मूल स्तूपके उत्तर भागकी खोदाई होनेपर स्तम्भपुत्र एक सुदृश्य प्रकोष्ठ (Chamber) दृष्टिगत हुआ । इसी स्थान में एक सुन्दर और शिष्ट-सुषमा-सुशोभित कुबेरकी प्रस्तर-मूर्ति एवम् शिलालेखपुत्र एक प्रस्तर स्तम्भकी प्राप्ति हुई । इस शिलालेखका पूर्ण रूपसे पाठोद्धार नहीं हुआ है, तथापि पुरातत्त्व विभागके भूतपूर्व डाइरेक्टर सर जान मार्शलने इसकी तिथि आदिसे निर्णय करनेका भरसक प्रयत्न किया । उनके विचारमें यह शिलालेख कर्नालके सुनैर-वतिहाह राजा भोजतनय महेंद्रपालके राज्य-

कालमें उत्कीर्ण हुआ; और, इसी आधारपर उन्होंने पहाड़-पुर-मन्दिरका निर्माण काल ईसाकी सप्तम शताब्दियोंमें निश्चित किया, किन्तु यह कहना कठिन है कि, महेंद्रपालने गुर्जर प्रतिहारवंशीय नृपतिका बोध होता है अथवा बंगालके पालवंशी किसी राजाका । सम्भव है, पराक्रमी तिहार महेंद्रपालका छोटा बहाने भी माना हो । शिलालेखका सम्पूर्ण पाठ अभी तक दुष्स्पष्ट है, तथापि इतना अवश्य ज्ञात होता है कि, यह महेंद्रपालके राज्यकालके प्रथम वर्षके आयुष्मानमें स्थित जनपद नामक एक वीर-भिषु द्वारा, बुद्धदेवके उद्देश्यसे, उत्सर्गित हुआ । इसकी धातु प्रकृतिसे यह ईसाकी सप्तम-नवम शताब्दियोंकी लिपिमें लिखा गया, ऐसा प्रतीत होता है ।

सन् १८२७ की खोदाईमें उपजन्म एक गुप्तकालीन ताम्रप्रासन (Copper Plate) पहाड़पुर-स्तूपकी त्रिविध बहुत कुछ प्रकाश डालता है । पुरातत्त्व विभागके पूर्व क्षेत्रके धीमुख पवित्रत कारीनाय दीक्षित एम० ए० महोदयने इस ताम्रप्रासनका पाठोद्धार कर इसकी १५६ गुप्त-संख्या अर्थात् १०६ ईस्वी सन्का होना निश्चित किया है । इस ताम्रप्रासनमें सुहन्दरी तथा उसके उपरान्त उसके उत्तराधिकारियोंकी अस्पष्टतामें स्थित निर्गम्य अर्थात् जैन-साधुओंके भटगोहली नामक ग्राममें स्थापित एक विहारके प्रोपकरणसमर्थके निमित्त, किसी माह्वय-दम्पती द्वारा, भूमिदानका उल्लेख है । इसमें बुद्धगुप्तका नाम उल्लिखित हुआ है । अर्थात् अर० सी० मजुमदारके अनुसार यह बुद्धगुप्त, जिसका राजवकाल ईस्वी सन् ४७६ से ५०० पर्यन्त है, गुप्त-वंशीय अन्तिम नरेश था । इसका राज्य बंगालमें लेकर मालवातक विस्तृत था । उस समय तथा पालवंशी राजाओंके समयमें भी, उत्तरीय बंगाल पुण्ड्रवर्धनभुक्तिके नामसे अभिहित होता था एवम् अतिका दक्षिण भाग कोटिवर्ष नामक विषय (District) से आक्रान्त

था। पुरद्वर्धनका प्रधान नगर थाजकल थोगरा जिजेका महिस्थान नामक स्थान है। ऐसा बोध होता है कि, स्लेमपुरधर्मपाल-विहा। पुरद्वर्धन-मुक्तिके कोटिवर्ण-विषयमें सम्मिलित था। हो सकता है कि, बुद्धगुप्त पादलि-पुत्रमें सिंहासनारुढ़ होनेके पूर्व पौरद्वर्धनमें प्रान्तीय शासक (अर्थात् उपरिक्त महाराज) रहा हो; क्योंकि तरकालीन प्रचलित प्रथाके अनुसार राजपुत्रदेव भट्ट-रकोंको प्रथम प्रान्तीय शासकोंकी हैसियतसे शासनवृत्ति सीधनी पड़ती थी। यतः बुद्धगुप्तका इस स्तूपके निर्माण और फलेवर-शुद्धिसे अवश्य घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। स्तूपके गर्भमें पाये जानेवाले फलकों (*plaques*) की तक्षणशैली तथा उनके ऊपर हिन्दू-देव-देवियोंकी प्रतिरूपितियाँ (*representations*) भी मूल मन्दिरके साथ गुप्तवंशका सम्बन्ध स्थापित करती हैं। पीछे पाल-नृपतियोंके समयमें यह मन्दिर बौद्धधर्म चोतक विहारके रूपमें परिणत हो गया।

पहाड़पुर-स्तूपकी खोदाई अथावधि जारी है। अव-तक जो अंश बाहर निकला है, उससे पता चलता है कि, इस सुदृढ़ विहारका प्राङ्गण दस एकड़ भूमिमें था तथा यह सर्वतोभद्र (शर्मात् चतुर्मुख) धाकृति-वाले मन्दिरके चतुर्दिक् निर्मित किया गया था। बंगालमें पथरका अभाव होनेके कारण सम्पूर्ण इमारतें ईंटोंकी बनायी गयी थीं, वेबल रतगर्भों और प्रधान कोशोंमें पथरका उपयोग किया गया था। हिन्दू-विश्रवासके अनुसार मन्दिरके निःसरण (*front*) की ओर यस्ती होनी चाहिये एवम् शेष तीन कोशोंका स्थान निर्जन। इसप्रकार मूल मन्दिरके प्रत्येक चतुर्दिक् एक-एक मन्दिर और भी प्रजग्मित किया गया था। मूल मन्दिरकी पनावट वर्गाकार ईंटोंसे निर्मित छत्रं जैसी थी, जिसकी ऊँचाई करीब ७५ फीट होगी और जिसका अवशिष्टाधार (*reliquary*) शूराहमि था।

ऊपरसे मिट्टी हटाकर प्रवेश हुआ है। किन्तु कोई भी स्मृति-चिह्न-संज्ञा (*relic casket*) उसके तलमें उपलब्ध नहीं हुई है, यद्यपि इसके रखनेका स्थान बना है। प्रत्येक मन्दिरमें गर्भ-गृह (*inner sanctuary*) है और उसमें प्रतिमापीठ (*pedestal*) वर्तमान है; किन्तु किसी भी अचिष्टाधी देव-देवीकी मूर्तिका पता नहीं। सम्भव है कि, आस्तमितियों या लुप्यनकारियोंकी लुब्ध दृष्टि ही उनके दृष्टेदका कारण हो। गर्भ-गृहके अग्रभागमें पथरके स्तम्भों-पर निर्मित मण्डप या मण्डपके चारो ओर होकर प्रदक्षिणापथ बना था, जो एक मन्दिरसे दूसरे मन्दिरतक चला गया था। दीवारोंकी सजावटके निमित्त उनके निम्न भागका परिसर (*dado*) श्रुतिष्का-फलकों (*terra cotta plaques*) से जड़ित था। पथके किनारे-किनारे ईंटोंके बने आसन (*benches*) थे। विहारमें प्रवेश करने का प्रधान मार्ग उत्तरकी ओर से था और साधारण जमीन से कतिपय सीढ़ियों तै फर विहारके शम्भर जाना होता था। प्रधान तोरण द्वार (*main gateway*), जो सुदृढ़ और बहुस्तम्भयुक्त था, एक सीधी-चौड़ी बीथि द्वारा, जिसका चढ़ाव क्रमशः प्रदक्षिणापथकी ओर था, मन्दिरके साथ सम्बद्ध था। इस तोरणद्वारके दक्षिण और वाम भाग में ५१ प्रकोष्ठ (*cloisters*) प्रत्येक ओर एक सीधी कतार में बने थे और उनके सामने एक प्रस्तरस्तम्भावलम्बित तथा वेनी-युक्त आचताकर दालान (*corridor*) था, जिसके द्वारा एक प्रकोष्ठमें दूसरे प्रकोष्ठमें प्रगुप्त जा सकता था। दो-एक सुदृढ़ प्रकोष्ठोंमें आभ्रमवागियोंके निमिष वे उपयोगी चीजें मिली हैं—जपमालाके श्राने, एक सुदृढ़ प्रस्तरमूर्ति, घातु-मुद्राएँ। सबसे विशेष उल्लेखनीय “श्री धर्मपालसोमपुरीय विहार” शब्दांकित शृंगमय मुद्रा (*seal*) है, जिसका भिन्न ऊपर हो चुका है।

केवल प्राकारमूल (*plinth*) और आगमके अति-रिक्त और कुछ नहीं शेष रहा है, जिससे यह कहा जा

सके कि, विहार प्रारम्भमें एकतल्ला ही था अथवा उसमें दो तीन तल्ले भी थे। मन्दिर और प्रकोष्ठ-समूहके मध्यमें सहन, मन्दिर-बाह्यकोष्ठ और कूपके भग्नावशेष पाये गये हैं। देवनेसे विदित होता है कि, विहारमें स्वास्थ्य-सम्बन्धी विधानोंकी भी गुंजायश की गयी थी। एक कमरेसे दूसरे कमरेमें, एक आँगनसे दूसरे आँगनमें, केवल जलप्रवाही ही नहीं, बल्कि मल-पय (sewer) भी बने थे। दक्षिण और, ए. ई. ३०० के ऊपर, पाखानोंकी कतार बनी थी, जिसकी ढालू नालियाँ इस समय भी अच्छी अवस्थामें वर्तमान हैं। चतुर्कोण (quadrangle) से बाहर, नदीके छतपर, कमसे कम एक मकानका चिह्न अभी तक दृष्टिगोचर होता है। मूलकी नीचे बहुत थगोंमें ध्वस्त हो गयी है। परिणाम यह कि, निम्नतल (basement), जिसकी शिल्प-सुपमा अभी तक फल-शभावसे अनुपपन्न है, अधिकतर जल निम्न रहता। भवनमें चारों तरफ प्रकारमूलके ऊपर और कारनिशके ठीक नीचे मृत्तिका-फलकोंकी एक सुदीर्घ श्रेणी है, जिसमें बंगालमें अधिकतासे पाये जानेवाले पत्थर, पत्थर, मत्स्य, हर्म, सर्प, शिला, घोड़े, इतिका और पृथ्वीकी आकृतियाँ बनी हैं। प्राकारमूलके निम्नभागमें खाँचों (niches) में बड़े अनेक शिलापट (tablets) हैं, जो हिन्दू-देवताओं-सम्बन्धी बहुतसी बातों और रामायण तथा महाभारतके वीर पुरुषों और नायियोंकी चरित्राभाधारक नीरव आख्यान करते हैं। इन चित्रोंमें बहुतोंका समीचीन समीकरण नहीं हो सका है। किन्तु जोसेसे बौद्ध चित्रोंके भी प्रिय मालूम पड़ते हैं। एक पट तो श्वेताम्बर लीन-साण्डके सप्त विद्वानोंसे विमृष्ट है, जैसा कि, कूपके ऊपर लीन-स्वस्तिकका चिह्न स्पष्टता से मृष्ट करता है। इनकी तपणरीकी पिटुके गुलकालका स्मरण कराती है। हिन्दू-मूर्तियोंमें हम शिव, दुर्गा, गणपति, कालिदेव, धीरुग, बलराम, अग्नि प्रभृति देवताओंके प्रिय पाते हैं। केवल

भेद इतना ही है कि, दुर्गा दसभुजावाली नहीं हैं। मृत्तिका-फलकोंमें अनेक दृश्य हैं, जिनका विशद वर्णन कठिन है। उनमें कुछपर तो केवल एक ही मनुष्य—पुरुष या नारीका साकार बना है, जो या तो नृत्य कर रहा है या योद्धाकी तरह तीर-तरकश बाँधे खड़ा है। कुछ चित्र गुलभाव-प्रदर्शक हैं, जैसे माता और पुत्रका या विवाह-संयुक्त दम्पतीका। दूसरे चित्रार्कषक विषयोंमें एक मनुष्यका सिंह द्वारा हनन होना, पूर्ण दिग्भग भावमें एक वेश्या, घोड़ी पड़ने एक सप्त पुरुष दृष्टादि हैं। इनके अतिरिक्त नाना प्रकारके पशु-पक्षियोंका चित्र पाया जाता है, जैसा कि, ऊपर कहा जा चुका है।

जहाँ तक पता चलता है, उपारणका प्रधान विषय था लिङ्गचिह्न, मूर्ति-मन्त्र, योद्धासंघ तथा सद्धर्म-पुण्डरीक। लकड़ी, पत्थर या किसी धातुकी बनी एक भी प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई है, यद्यपि अनेक प्रतिमा-पीठ वर्तमान हैं। इससे बड़ा अनुमान होता है कि, या तो मूर्तियाँ मिट्टीकी बनी थीं, जो कालप्रभावसे नष्ट हो गयीं अथवा ये स्थानांतरित की गयीं। केवल हालमें बोधि सखी एक बड़ा मूर्ति, चतुर्कोणके दक्षिण-पूर्व भागमें, पायी गयी है। सन् १९२६ की खोदाईमें कठिपय प्रस्तर और काँसेकी शुद्ध मूर्तियाँ मिली हैं।

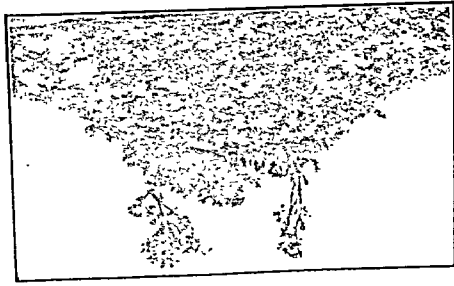
पहाड़पुर-मन्दिरका स्थापत्य और भास्कर्य बगलकी शिल्प-कलाके वैशिष्ट्य, अलङ्कार और परिचयदोष तथा तत्कालीन लोगोंकी उन्नत सभ्यताके परिचायक हैं। स्तूपका चतुष्पार्वं उच्चमूर्ति द्वारा वेष्टित होनेके कारण ऐसा अनुमान होता है कि, मूल मन्दिर सीमा प्राचीनसे आवेष्टित था। ईसाई सप्तम शताब्दीमें चीन परिव्राजक ह्वेनत्सङ्ग जिस समय इस प्रदेशमें आया था, उस समय प्रमगवश पुस्तकालय २० मघासनों और अग्रवय लीन विमर्शियोंके अस्तित्वका उल्लेख किया था। उसके अग्रम-मृत्तान्तमे यह भी पता चला है कि, पारमार्थिक मूर्तिमें,



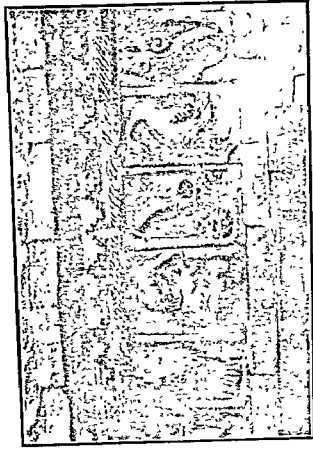
११६—रत्न और घेनुकासुर मय (पटालपुर)



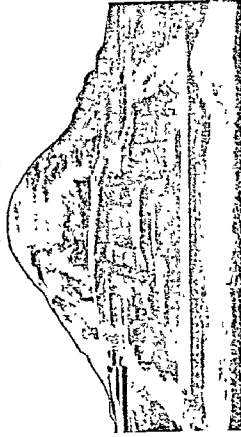
११७-बलराम और राधाकृष्ण (पहाड़पुर)



११०—खोदाईसे पहले पहाड़पुर



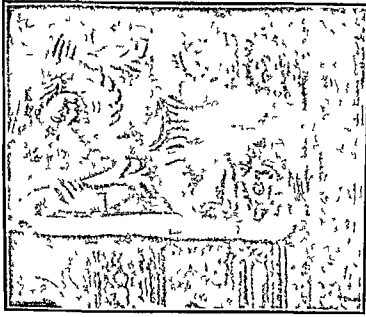
१११—मृत्तिका-फलक-विभूषित प्राकारमूल (पहाड़पुर)



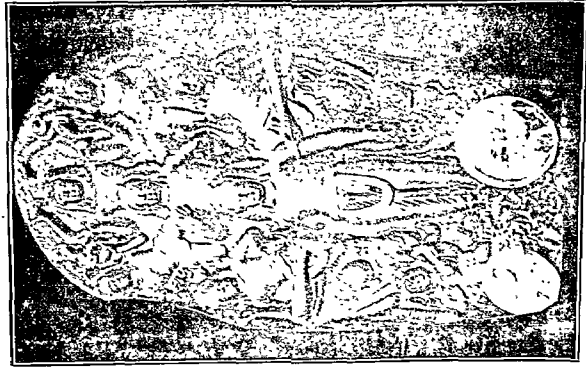
११२—खोदाईके अनन्तर पहाड़पुर



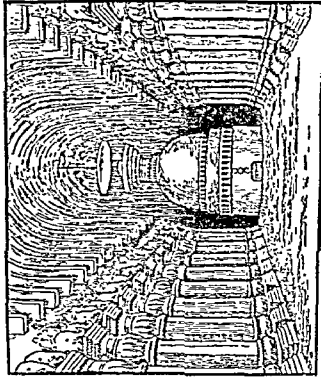
१०८-उपर वायो ओर लैमूर, ऊपर दाहिनी ओर मारमोलेट, नीचे वायाँ ओर सीधियन, नीचे दाहिनी ओर खानमुल सरतोपिथिकस, बीचमें मानव-रूप चिम्पाजी ।



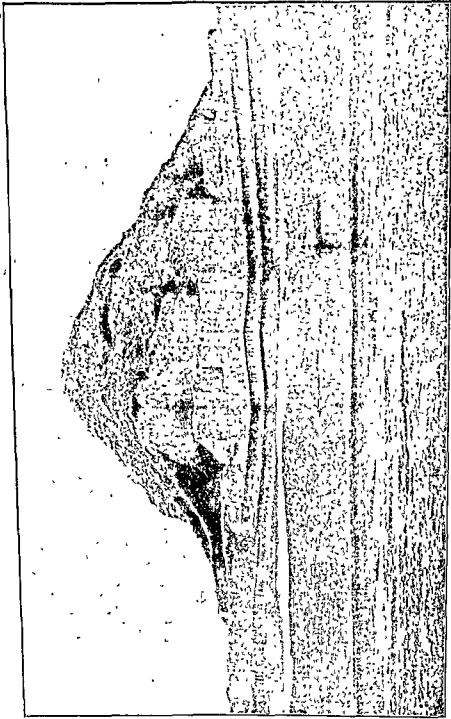
१०९-पहाडपुरकी रोदाईमें प्राप्त श्रीकृष्ण



११४—परेल (वरमई) की अद्वितीय शैव-प्रतिमा



११५—कालिकाई चैत्य-गुहा



११३—खोशिके अनन्तर पहाड़पुर

समयके पहले ले जाना नहीं चाहते थे, प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे अब यह शङ्क-समयतक पहुँच जाती है।

ईस्टर्न बंगाल रेलवेकी मुख्य लाइन (जो फल-फल्लेसे दार्जिलिंग जाती है) पर, साताहार जंक्शनके उत्तरमें, तीसरा स्टेशन जमालगंज है, जहाँसे तीन मील पश्चिम पहाड़पुर है। इस नगर मिट्टीकी नितान्त समतल भूमिपर एक छोटासा टीला है, तो भी उसकी ओर ध्यान जरूर आकृष्ट होता है। उसमें एक चक्र १०० फूटनक (अब भी ७० फूटनक) ऊँचे टीलेका नाम "पहाड़" पडनेमें कोई आश्चर्य नहीं। इसी "पहाड़" के पान जिस गाँवकी बस्ती है, उसे "पहाड़-पुर" कहते हैं। खोजमें मिली कई मिट्टीकी मुहरोंसे इस गाँवका नाम "सोमपुर" प्रतीत होता है, और इस गामका तथा यहाँके "महाविहार"का नाम तिब्बतके लामा तारानायक ग्रन्थमें तथा "पद्म-सम्-छोन-जुङ"में पद्म बुद्धगया और नालन्दाके शिलालेखोंमें उल्लिखित है। मुसलमानों आक्रमणके बाद (इसकी तरहमें सदीमें) यहाँका उतुग मन्दिर और उसकी चारों ओर भिक्षुओंका निवासस्थान पद्म छोटे-छोटे मन्दिर इत्यादि उजाड़ होकर पौडहरके रूपमें परिणत हो गये। १२० वर्ष पहले डा० बुकनन हैमिल्टन (जिन्हें उत्तर बंगालमें ईस्ट इण्डिया कंपनी ने सर किस्मकी शाखीय जाँच करनेके लिये नियुक्त किया था) की आज्ञा इस अत्युच्च "पहाड़" पर पड़ी।

लगभग ८० वर्षके पहले पुरातत्त्व-विभागके प्रथम नेता जनरल सर अलेक्जेंडर कनिंघम साहबने यहाँ आकर खोज करनेकी कोशिश की, किन्तु यहाँके जमींदारोंकी अनुमति न मिलनेके कारण उन्हें सफलता न मिली। उस समय उस टीलेके पडे-बडे वृक्षोंके जंगलमें तैडुओंका शिकार होता था। बाह्य वर्ष पूर्व, जब पुरातत्त्व विभागका

पूर्वोक्त फेन्ड (Circle) स्थापित हुआ, तब इस जगहकी रक्षा "संरक्षित कीर्ति" (protected monument) के तौरपर होने लगी। प्रथमः यहाँका जंगल साफ किया गया। १९२२-२३में फल्लकता-ग्रिन्विचालय और राजशाहीकी "धारेन्द्र अनुसन्धान-समिति"की ओरसे यहाँ कुछ खोज हुई, किन्तु १९२५-२६ सालतक चिचले ऊँचे टीलेपर हाथ न लगाया गया। उस वर्षसे भारत सरकारने, खोजके कामके लिये, अधिक रुपया मंजूर किया और हर साल १०-१५ हजारतक रुपये इस काममें खर्च होते आ रहे हैं। अब पहाड़पुरका काम तो समाप्तप्राय है, किन्तु महाखान (प्राचीन पुण्ड्रवर्धन), घाणगढ़ (प्राचीन कोटिगढ़) जैसी निर्यात प्राचीन नगरियाँ, जिनसे अग्रद्वार ही प्राचीन बंगालकी सन्ध्यातकी निशानियाँ प्राप्त हो सकती हैं, द्रव्याभावसे मिट्टीके अन्दर ही दबी हुई हैं।

लगभग ११०० फूट लम्बे और उतने ही चौड़े चतुष्कोणारुति टीलोंसे परिवेष्टित इस "पहाड़"का दृश्य कुछ और ही है। इतस्तत् ईंटोंके टुकड़े, प्रचुर परिमाणमें, पाये जाते हैं, जिनसे देखनेवालेकी प्रतीत होता है कि, यहाँ चारों ओर भिक्षुओंकी कोठरियाँ और बीचके "पहाड़"में उनके पूजा स्थानपर कोई स्तूप रहा होगा। किन्तु जैसे नमूने-पर यह चतुस्तल मन्दिर बना है, वैसे कोई दूसरा नमूना भारतवर्षमें नहीं रहनेके कारण इसका अन्दाज नहीं हो सकता। इस मन्दिरका वर्तमान दृश्य देखते ही इसकी कारीगरकी अपूर्वता प्रतीत होगी। इस मन्दिरका वस्तुशिल्प-प्रकार (Style of architecture) उत्तर भारत पद्म दक्षिण भारत—दोनोंक ही मन्दिरोंके दृग—से सर्वथा भिन्न है, और, जो शिल्प रीति ब्रह्मदेश, जामा और पौरस्त्य द्वीप

समूहके प्राचीन मन्दिरोंमें द्वष्टिगोचर होती है, उसकी नौच, मालूम होता है, इस पहाड़पुरके मन्दिरमें डाली गयी थी। इस शिल्प-रीतिके बहुतल मन्दिर, पहाड़पुरमें, चौतल्ले हैं और जावाका “बोरो-बुदुर” दसतल्ला है। प्रत्येक तल्लेका फर्श (*ground plan*) सब तरफ समान—यानी सर्वतोभद्र है। पहाड़पुरके मन्दिरकी लम्बाई-चौड़ाई ३२६ फीट है और मन्दिरकी हरणक ओर तीन तीन कोने हैं, जहाँ दीवार मुड़ी हुई है। सिर्फ उत्तरकी तरफ ऊपर चढ़नेकी मुख्य सीढ़ी थी; इसलिये वहाँ एक निकला हुआ कोना है; और, इस तरफ लम्बाई २५ फीट अधिक है। ऊपरके तल्लेमें कोनेकी संख्या कम होती गयी है। दीवारोंके भाग, चित्र-विचित्र पत्थर या ईंटोंके कामसे, सुशोभित हैं। बोरोबुदुरकी दीवारोंमें, भगवान् बुद्धका सारा जीवन चरित्र, पत्थरमें, पाया जाता है। पहाड़पुरमें, सबसे निचले तल्लेकी दीवारोंमें, अनेक सुन्दर प्रस्तर-मूर्तियाँ लगायी हुई हैं, जिनमें कृष्णचरित, रामायण, महा-भारतकी कई कथाएँ और अन्यान्य देवताओंकी मूर्तियाँ हैं। दीवारोंमें चारों ओर कारुकाय शोभित ईंटें और आयताकार दण्डमुष्मय पट्ट (*Oblong terra cotta plaques*) हैं, जिनकी संख्या कई हजार है। पहाड़पुरके मन्दिरकी विशेष कारीगरी इन बातोंमें भारतीय उपनिवेशोंसे समानता रखती है। इसका कारण जाँचनेसे यही प्रतीत होता है कि, भारतीय सभ्यता गुप्त-समयमें पूर्वाह्नित बृहत्तर भारतमें फैली हुई थी, जो बंगालके प्राचीन बन्दर-नामूलित (आधुनिक ताम्रकु) से याहर गयी होगी। यह स्वाभाविक ही था कि, जिन प्रान्तसे यह सभ्यता याहर गयी, वहाँका जिया, धर्म, शिष्य आदिका अधिक अंतर उपनिवेशोंपर पड़ा। जावा

आदिमें उपलब्ध शिल्पके नमूनोंका आदि मूल संशोधकोंको वहाँ या भारतमें नहीं मिलता था। वह अब रोदाईमें, इस मन्दिरके निकल आनेसे प्राप्त हो गया।

ऊपर उल्लिखित प्रस्तर-मूर्तियाँ, जो मन्दिरकी बाहरी दीवारके निचले हिस्सेमें लगी हैं, बंगालके प्रस्तर-शिल्पके सबसे अच्छे और सबसे पुराने नमूने हैं। इन सब मूर्तियोंके अखण्डित रहनेका कारण यही है कि, इनके सामनेकी भूमि क्रमशः ऊँची होती गयी तथा बौद्धधर्मके भावमें हिन्दू देवताओंके प्रति-कूल होनेसे इन मूर्तियोंके ऊपर दो फूट मिट्टी चढ़ जाने दी गयी। पीछे मुसलमान-युगके आक्रमणसे बौद्ध-विहारोंको जैसी हानि पहुँची, वैसी इस नीचो दवे भागकी न हो पायी। इन मूर्तियोंमें अधिकांश मूर्तियाँ घेण्णव और शैव-सम्प्रदायोंसे सम्बन्ध रखती हैं। इनका समय ईसाकी छठी शताब्दीके लगभग होनेसे या तो किसी पुराने मन्दिरसे यह लायी गयी या मन्दिर ही उसी समय बनाया गया। इस बातमें तो कोई सन्देह नहीं कि, जब यह मन्दिर बनाया गया, तब दीवारोंमें जगह-जगह मध्य या कोने में इन मूर्तियोंको लगा दिया गया। कई मूर्तियोंमें एक तरफकी कारीगरी पत्थरमें है और दूसरी ओर-की ईंटोंमें है। कारण, पत्थर कुछ दूरसे लाना पड़ता था और मिट्टीका काम वहीं बन सकता था। सभी मूर्तियोंमें प्रथम श्रेणीकी मूर्तियाँ हैं श्रीगुण्ण की बाल लीलाकी। इनमें भी एक युग्ममूर्ति, जो कि श्रीगुण्ण और राधाकी कहा जा सकती है, सबसे चिराप महत्त्वकी है। श्रीगुण्णकी बाललीलाको अनेक स्थानोंके शिल्पियोंने बनाया है (जैसे मधुरा, यदामी, मंडोर, जोधपुर आदिमें), किन्तु राधागुण्णकी मूर्ति आजतक किसी भी पुराने स्थान या रोदाईमें नहीं

प्राप्त हुई थी। एक ही दीवारमें राधाकृष्ण, यमुना और बलरामकी मूर्तियाँ, थोड़े-थोड़े अन्तरसे, लगी हुई हैं। इससे राधाकृष्णकी मूर्ति स्थिर करनेमें कोई सन्देह नहीं रहता। जयदेव फनिने सुप्रसिद्ध "गीत गोविन्द"में श्राराधाकृष्णका लीलाका वर्णन पाया जाता है। उससे कई सदियों पूर्व वर्णनमें राधा कृष्णका पूजा होती थी, इसका प्रमाण अब मिलता है। दोनों मूर्तियोंके वेश, अलङ्कार और मुद्रा सीधी सादी और गौरवपूर्ण हैं। इस मूर्तिके पास हा लगायी हुई यमुनाकी मूर्ति बड़ी सुन्दर है। इस मूर्तिपर सप्त यथोचित अलङ्कार दिखाये गये हैं, और, इसके बल्लकी लहरें बड़ी चतुरतासे बनायी गयी हैं। यमुना अपने बाहन कछुवेके ऊपर बैठी है, एक अनुचर उनके सिरपर छत्र धारण किये हुए है। एक और दासी हाथमें कण्ड या पिढारा लेकर खड़ी है। पीछे कमलनालपर दो फूल लिले हैं जिनपर इस युग्म बैठे हैं। यमुनाके पास ही बलरामका मूर्ति है। ऊपर शपको फनें है, एक हाथमें सुरापात्र, दूसरेमें हल है। इनसे बलराम का परिचय शीघ्र ही हो जाता है। छातीपर यज्ञोपवीत, कटिपर कटिवन्ध, उदरमें उदरवन्ध आदि गुप्त-समयकी मूर्तियोंमें पाये-जानेवाले भूषण इस मूर्तिमें हैं। पासमें खड़ी दासी है, उसके हाथमें सुरापात्र विशेष ध्यान योग्य है। आगे जाकर, कुछ फासलेपर दीवारमें बड़ी सुन्दर मूर्ति है, उसमें बलरामका धनुकासुरके साथ युद्ध दिखाया गया है। कुछ सिंहका और कुछ गधेके रूपका राक्षस बलरामका हाथ पकड़े खड़ा है और, बलराम बायें पैरको राक्षसकी गर्दनपर रखकर दाहिने हाथसे राक्षसको मारना चाहते हैं। यह घटना ताल्लनमें हुई थी, इसे पीछेके ताल्लन दिखला रहे हैं।

बलरामकी विशेष-अवस्थाको, उनके सिरपर बालोंकी तीन लम्बी चोटियाँ और गलेमें पद्म तथा कमरकी शृङ्खला, सूचित कर रहे हैं। कालिदासने श्रुत चरने ११ वे सर्गके प्रथम श्लोकमें ("कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये। काक पक्षधमेत्य याचित ॥") रामके "काक-पक्ष"का उल्लेख किया है। गोरे मुँहके दोनों ओर काले लम्बे बाल ठीक कौवेके पक्षके समान दिखायी देते हैं। इस मूर्तिमें तथा अन्यान्य मूर्तियोंमें बालकका छत्र इन काकपक्षोंसे पहचानी जाती है (धनारसके भारत-कला-भजनमें एक कार्तिकेयकुमारकी मूर्ति है उसमें भी पद्म और काक पक्ष हैं)। चादूर और मुष्टिकसे, कृष्ण और बलरामका, एक मूर्तिमें मल्ल युद्ध दिखाया गया है, और, एकमें श्रीकृष्णका यम-लज्जुन-भेद—यानी, दो अजुनवृक्षों (जिनमें दो असुर नष्ट हो गये थे) को तोड़कर असुरोंको मुक्ति दान दिखाया गया है। इन दोनों मूर्तियोंमें भी काकपक्ष इत्यादि चिह्नोसे बाल-मूर्तिकी पहचान होती है। एक मूर्तिमें कृष्णका गोवर्धन उद्धरण भी है। श्रीकृष्णका जन्म, वसुदेवका उन्हीं गोखुल ले जाना इत्यादि मूर्तियाँ सन्दिग्ध हैं। इस बातमें कोई सन्देह नहीं कि, विशेषतया कृष्णलीलाको माननेवाले लोग यहाँ वसे थे। एक इन्द्रकी भी अति सुन्दर मूर्ति है, जिसमें इन्द्रकी पहचान उसके पीछे पड़ा ऐरावत है। एक चित्रमें अश्विका मूर्ति है, जिसमें सिर्फ पीछे ज्वाला है, परन्तु सात हाथ, चार सर्ग, दो मस्तक इत्यादि पुराणोक्त चिह्न कोई नहीं है। यमकी मूर्तिमें उसका बाहन भैंसा नहीं है, किन्तु उसके तथा उसके अनुचरोके हाथमें गोलसा पाश (रस्सी) दिखाया गया है। मन्दिर की पूर्व दिशामें इन्द्र, आग्नेय कोणमें अग्नि और

दक्षिणमें यम—इस तरह उस-उस दिशाके स्वामी, ठीक स्थानपर, लगे हुए हैं; किन्तु धाकी दिक्पाल नहीं मिलते। शिवकी तीन-चार भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी मूर्तियाँ मिलती हैं। एक चित्रमें, एक हाथमें, त्रिशूल है, दूसरेमें वरु-मुद्रा और गलेमें नाग है। दूसरेमें, कानमें सर्प-कुण्डल, हाथमें रक्षाशमाला कमण्डलु धारण किये शिवजीका भिक्षाटन दिखलाया गया है। एकमें केवल नन्दी और हाथमें त्रिशूल ही है। एकमें, सिर-के ऊपर, खाली चन्द्रकला है। इन सभी मूर्तियोंमें शिवजीको दिग्गम्बर, ऊर्ध्वलिङ्ग, त्रिनेत्र, और, प्रायः सर्वत्र कमण्डलु तथा अक्षमालाका धारक दिखलाया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि, शिवजीके तपस्वी रूपको, यहाँके लोग, अधिक मानते थे। एक मूर्ति, जो और कहीं अवतक नहीं पायी गयी है, पूर्व की दीवारमें लगी है। इसमें शिवजीको, एक स्त्री, एक पात्रमें, कुछ दे रही है; और, उसके पीछे दूसरी स्त्री, अपना हाथ सिरपर रखे, दुःख प्रकट कर रही है। उसका बालक उसे पकड़े हुए है। यह दृश्य उस समयका हो सकता है, जब पृथ्वी देवीने जगत्के रक्षार्थ शिवकी, समुद्र-मन्थनसे निकले विषको पान करनेको, प्रार्थना की थी। इस दृश्यको देगकर पार्वती दुःखित हो रही हैं और कार्तिकेय भयसे उन्हें लपेटे हुए हैं। शेष और वैष्णव-मूर्तियोंके साथ आकाशमें उड़ते हुए गन्धर्व, त्रिमूर्ती भगवता, डंडेपर सिर देने द्वार-रक्षक आदि की मूर्तियाँ भी पायी जाती हैं। एक चित्रमें रामायणकी पालि धीरे सुग्रीवके युद्धकी कहानी है। रामके पदोंके अनुसार सुग्रीवने, युद्धके समय, गलेमें फूलोंको माला पहनी थी, जिससे पहचान पर रामने पालिको पाणसे मारा था। मूर्तिमें भगवते हुए गानगोमेंसे एकके गलेमें माला है। पात ही

एक स्त्री-मूर्ति (तारा) और एक बालक (अङ्गद) है। एक दूसरे चित्रमें, एक हाथ सिरपर और एक हाथमें दो बड़े पत्थर लिये, वानर दिखाया है, जो सेतु-बन्धनके उपक्रमकी सामग्री बतला रहा है। महाभारतकी कथाओंमेंसे एक ही, इन मूर्तियोंमें, पायी जाती है। वह श्रीकृष्ण और अर्जुनका युद्ध है। एक रथमें अर्जुन और पासमें मुख नीचे किये हुए स्त्री-मूर्ति सुभद्रा है। सामने गरुडा-रुद्ध श्रीकृष्ण है। और मूर्तियोंकी अपेक्षा इस मूर्तिकी कारीगरी सामान्य है। सब मूर्तियोंमें बौद्धधर्मसे निश्चित सम्बन्ध रखनेवाली एक ही मूर्ति है, जो पद्मपाणि बोधिसत्त्वकी है। इस मूर्ति तथा इसकी बगलके पारिपार्श्वकोंके मुख तोड़ दिये गये हैं, जिससे यह मालूम होता है कि, यह मूर्ति-भजकोंके हाथमें पड़ी थी। सब पत्थरकी मूर्तियोंकी संख्या ६३ है।

पत्थरकी मूर्तियोंके ऊपर दीवारमें ईंटोंकी चित्र-पट्टिकाएँ लगी हैं। ७००-८०० पट्टिकाओंके टुकड़े दीवारोंसे निकलकर बाहर पड़े पाये गये और १५०० के ऊपर दीवारमें लगे मिले, जिन्हें फिर चूनेको पक्का बँधाईमें जोड़ दिया गया। इनमें हर प्रकारके जानवर, पशु-पक्षी, देवी-देवता, आदमी, फल-फूल, घर-द्वार इत्यादि चित्रित हैं। पञ्चतन्त्रकी विप्यात कथाएँ कई जगह दिखायी गयी हैं। तीन-चार पट्टिकाओंमें “कीलत्पाटी” यन्त्रकी कहानी दिखायी गयी है! लकड़ीका तिरछा टुकड़ा, उसपर सवार, हाथमें कील लिये, यन्त्र, पञ्चतन्त्रकी उक्त कथाको याद दिलाता है। इसकी कहानियोंमें शत्रु न्यूने, दौतने रस्मी घाटकर जालमें फँसे सिंहको फँसे बचाया, यह किन्ना मशहूर है। भाग्यगर्गमें एक घेरा पिम्बा, सिंहके स्थानमें हाथी रखकर, प्रग-

लित था; क्योंकि पहाड़पुरमें एक पट्टिकापर हाथी और उसके शरीरपर तीन चूहे हैं, जिनमें एक गले की रस्तीको और दूसरे गले और पिछले पैरोंमें लगी हुई रस्तीको दाँतोंसे काट रहे हैं। दो-एक चित्रोंमें कूपके अन्दर देखते हुए सिंहका दृश्य है। यह भी उस पञ्चतन्त्रकी कहानीसे सम्यन्ध रखता है, जिसमें, अरण्यमें, दूसरे सिंहके पास ले जानेके बहाने, परगोश ने सिंहको कूपपर ले जाकर उसीकी प्रतिध्वनि और प्रतिविम्बके द्वारा उसका विनाश किया। इन सभी कहानियोंसे, जो अतक किसी पुराने मन्दिरमें नहीं पायी गयी हैं, पञ्चतन्त्रकी प्राचीनता और उसका भारतीयोंके मनपर प्रभाव मालूम होता है। यद्वा-देशमें रहनेवाली जंगली जातियों (शयर, भिल्ल) की—जो वस्त्रकी जगह पत्ते पहनती थीं और जिनका प्रधान व्यवसाय तीर-कमानसे वन्य पशुओंका शिकार करना था—बहुत-सी प्रतिमाएँ पहाड़पुरके शिल्पियोंने, लोगोंके मनोरञ्जनार्थ, बनायी हैं। इन चित्रोंमें बौद्ध और ब्राह्मण-धर्मके देवी-देवता—जैसे, बुद्ध पद्मपाणि, मञ्जुश्री, तारा इत्यादि तथा शंखचक्र-धारी चतुर्हस्त विष्णु, गोपाल, कृष्ण (एक पुरुष सिरपर दहीका मटका लिये हुए है; इसके सिरपर दूसरा मनुष्य छत्र धारण किये है, जिससे उसका राजत्व प्रकट होता है), गरुड़, शिव (इनकी एक शम्भुजमूर्ति भी इनमें है), ब्रह्मा, गणेश इत्यादि पाये जाते हैं। ऐसा कोई मन्दिर या बौद्धस्तूप नहीं पाया जाता, जिसमें दोनों धर्मोंके पूज्य देवी-देवता पास-पास स्थापित हों। इससे यह मालूम होता है कि, कबौजके राजा हर्षवर्धनके प्रयागके पञ्चवार्षिक उत्सवके वर्षान्तमें, जो एक दिन ब्राह्मणोंको दान, दूसरे दिन बौद्ध यतियोंका सम्मान कर सब धर्मोंके प्रति समभाव दिवानेकी यात पायी जाती है,

उसका अनुगमन, प्रायः उसी समय, इधर पूर्व भारतकी जनता भी कर रही थी। प्रायः बाल-वंशके अन्तिम शासनकालमें (११-१२ सदियोंमें) इस मत सहिष्णुताका लोप हो गया था। उस समय बौद्ध मतके वज्रयान-पंथका प्रचार अधिक था, जिसकी अनेक देवी-देवताओंकी मूर्तियोंमें ब्राह्मण-धर्मके देवताओंसे द्वेष प्रकट किया गया है (जैसे “यमान्तक” यमको मारनेवाला, कई देवताओं के साथनोंमें “ब्रह्मादि दुष्ट देवता,” इस तरहका उल्लेख है। एक अगलोकितेश्वरके वाहन हरि अर्थात् विष्णु बनाये गये हैं !)।

पहाड़पुरकी मृच्चित्र-पट्टिकाओंमें प्राणियोंकी कितनी ही मूर्तियोंमें बहुत अच्छी कारीगरी की गयी है। एक भैसेका चित्र, चरते हुए एक हरिणका चित्र, परस्पर लिपटे तीन बानरोंका चित्र, हाथियोंके अनेक लोलाओंवाले चित्र, हंस, मयूर, कोकिल, शुक इत्यादि पक्षियोंकी विविध गति दिवानेवाले चित्र विशेष उल्लेखयोग्य हैं। बंगालके विशेष वृक्ष-वनस्पति, ताल और कदम्ब, चम्पक और कदली, पाये जाते हैं। वन्य पशुओंमें बाघ, तेंतुआ, सूअर, गीदड़ इत्यादि हैं; किन्तु इनके चित्रोंमें स्वाभाविकता कम है। मनुष्योंमें, ढाल और खड्ग लिये हुए योद्धा, रथमें तथा घोड़ेपर सवार सैनिक, हर प्रकारका शरीर-विन्यास करनेवाले नट, ढोल, करताल, शहनाई तथा बाघ वजानेवाले वादक, ध्यानमें निमग्न तथा कंकाल शेष योगिजन, गवाक्षसे देखती ललनाएँ इत्यादि, विविध प्रकारके चित्र हैं। गङ्गा और सिन्धु की उपत्यकाओं अर्थात् पंजाबसे बंगालतकके उत्तर भारतीय प्रदेशमें, अति प्राचीन समयसे आज तक, नाना प्रकारके मिट्टीके बर्तन और खिलौने पाये जाते हैं; किन्तु मिट्टीके चित्रोंके इतने अधिक प्रकार

और कही नहीं पाये जाते ।

इन सब प्रस्तरमूर्तियोंको और मृच्चित्रोंको देवकर दर्शनाभिलाषी उत्तरकी तरफ बने हुए सोपान-मार्ग (सीढ़ी) से पहले तल्लेकी प्रदक्षिणा कर, उस की दीवारोंपर लगी मिट्टीकी मूर्तियोंको देखा हुआ, दूसरे तल्लेपर पहुँचता था । वहाँ वह चारों ओर बने मण्डपोंमें पूजा करता होगा । इन मण्डपोंमें एक अन्दरकी तथा एक बाहरकी ओर दो कमरे हैं । बाहरके कमरोंकी छत पत्थरके खम्भोंपर खड़ी थी । इन पत्थरोंमेंसे एकपर लगभग दसवीं सदीके आरम्भके गुर्जर-प्रतिहार-वंशीय राजा महेंद्रपालके समयका स्तम्भ दान उल्लिखित है । कई वर्षों तक पालोका प्रदेश इस राजाके हस्तगत था, इसका यह प्रमाण है । मण्डपके बाहर प्रदक्षिणा-मार्गमें, एक ताम्रपत्र पाया गया है, जिसमें गुप्त-वर्ष १५६ (सन् ४७८-६) में एक ब्राह्मण नाथ शर्मा और उसकी भार्या रामीकी, घट-गोहाली ग्राममें, निर्ग्रन्थ (जैन) साधु गुहनन्दीके विहारमें, अर्हत्तों (जैन-तीर्थङ्करों) की पूजा-सामग्री (गन्ध, धूप आदि) के लिये पुण्ड्र वर्धन विषय (आधुनिक उत्तर बंग)में, तीन ग्रामोंमें, जमीन, अशर्फी देनेका उल्लेख है । यह विहार प्रायः इसी स्थानपर है । गोहाली ग्राम प्रायः पहाड़पुर्के वायव्य कोणका गोहाल भीटा ग्राम होगा । उस समयकी धर्म संहिष्णुतापर ध्यान देनेसे, ब्राह्मणका जैन-मन्दिरको दान देना, कोई असम्भव नहीं । छठी-सातवीं शताब्दियोंमें यहाँ जैन-धर्म लुप्त हो गया था तथा सब लोग बौद्ध और ब्राह्मणधर्मके अनुयायी बन गये थे, जिससे उस समयके चित्रोंमें जैनियोंकी कोई मूर्ति नहीं मिलती । आठवीं सदीके अन्तमें पालवंशके राजा धर्मपालने इस मन्दिरका जीर्णोद्धार किया, चारों ओर फोटियाँ बनवायीं और यहाँ

एक बौद्ध-महा-विहार भी बनवाया । तबसे जैन या ब्राह्मणधर्मके निशान कम होते गये । इस समयकी भी अनेक बौद्ध-मूर्तियाँ, मध्यस्थित मन्दिर और विहारोंमें, पायी गयी हैं ।

सबसे ऊपर जो मन्दिरका गर्भगृह था, उसका ईंटोंका फर्श, जमीनसे कोई ६५ फीट ऊँचाईपर, पाया गया है । यह कमरा कोई १३॥ फीट लम्बा और उतना ही चौड़ा है । इसकी दीवारें बहुत मोटी हैं और नीचेसे वहाँ पहुँचनेको, दक्षिण तरफसे, एक ईंटोंकी ऊँची सीढ़ी है । ऊपरसे दीवारोंके साथ-साथ खोदते हुए मालूम हुआ कि, दीवारें ४५ फीट तक गहरी हैं । मुख्य मन्दिरकी दीवारें इतनी मजबूत थीं, इसी लिये इसकी छत और दीवारोंके ऊपरी भागके नाश हो जानेपर भी वह षैलरके रूपमें रह गया । जब यह पूर्ण था, तब चारों तरफ, कई कोसोंसे, दिखायी पड़ता था ! मण्डपोंके ऊपरकी दीवारोंमें तीन तरफ गवाक्ष हैं, जिनमें उत्सव आदिके समय रोशनी की जाती होगी, जो दूर तक दिखायी पड़ती होगी ।

मुख्य मन्दिरकी चारों ओर और विहारकी चतुःशालाके अन्दर पाकशाला, भोजनगृह, छोटे-मोटे स्तूप इत्यादि अनेक इमारतोंके अवशेष हैं । बाहर भी, नदीके किनारे, एक ईंट पत्थरोंसे बना पक्का घाट और एक चव्तरा है, जिसपर स्नान और धोनेका प्रबन्ध था । विहारके कमरे कोई १३ फीट लम्बे और चौड़े हैं । इन कमरोंके फर्श तीन बार बनाये गये थे; सबसे पहले प्रथम पाल-युग (८-६ सदीयोंमें), फिर मध्य-पाल युग (१० वीं सदीमें), और, आपसमें अन्त्य पाल युग (११-१२ वीं सदीयोंमें) । किन्तु ये सब मुख्य मन्दिर छठी और सातवीं शताब्दियोंके पुराने मन्दिरके पीछेके हैं ।

सिया चौद-मूर्तियोंके इनमें और मूर्तियाँ फम पायी गयी हैं। पाल-समयके कई सिक्के, धर्मपाल-विहारकी मुहरें, ताँबेके घर्तन, चित्र-विचित्र मणि, ताड़की लकड़ीके फोयले आदि चीजें, उत्तरके विहार में, मुख्य प्रवेश-गृहके पासके कमरेमें, पायी गयी हैं। इससे मालूम होता है कि, यहाँ विहारका भण्डार था। अन्तमें यहाँके भिक्षु, जिनका ४००-४५०

घण्टेक इस विशाल विहारमें निवास रहा होगा, अपनी सभी वस्तुओंको लेते गये होंगे, जिससे यहाँ छूटी हुई बहुत फम चीजें (अन्य जगहोंकी अपेक्षा) पायी गयी हैं। जो मिट्टी-पत्थरकी वस्तुएँ बच गयी हैं, वह बंग-भूमि ही क्यों, सारे भारतवर्षकी सभ्यता, शिल्प और धर्मपर वास्तविक प्रकाश डाल कर भारतीयोंके मुँहको उज्ज्वल कर रही है।

अश्वपति-वंशके सूर्यवर्माका एक शिला-लेख

प० लोचनप्रसाद पाण्डेय

जब मैं "सरस्वती" पत्रिका, पण्ड १७, भाग १ का, अवलोकन कर रहा था, मुझे "सूर्यवर्माका शिला-लेख" शीर्षक एक लेख दृष्टिगोचर हुआ। "सूर्यवर्मा" शब्दसे मैं परिचित था। मुझे यह सूझी कि, यह शिला-लेख, सूर्यवर्माको जान-नेमें, सहायक हो सकता है, जो महाकोसलके हर्ष-गुप्तका श्वशुर था। राजा सूर्यवर्माका उल्लेख मगधवर्माके वंशसे सम्बद्ध था, यह लक्ष्मण-मन्दिरके शिला-लेखमें मिलता है (यह शिला-लेख अभी रायपुरके अजायबघरमें सुरक्षित है)। यह लेख प्राचीन श्रीपुरमें मिला है, जो महानदीके किनारे है। सूर्यवर्माकी पुत्री वासदा हर्ष-गुप्तके साथ व्याही गयी थी। इसका पुत्र महा-शिवगुप्त था, जिसका दूसरा नाम वाकाजुन भी था। वासदाके पुत्र (महाशिवगुप्त)के राज्य-कालमें, रानी वासदाने एक सुन्दर मन्दिर, अपने योग्य पतिके स्मरणार्थ, बनवाया। इसी मन्दिर-में वह लेख निहित हुआ। श्रीपुरके शिला-लेखके अक्षर सूर्यवर्माके शिला-लेखके अक्षरसे बहुत

अधिक मिलते-जुलते हैं, जिनका कुछ अंश "सर-स्वती"में प्रकाशित हुआ है। सूर्यवर्माका मूल शिला-लेख लखनऊके अजायबघरमें रखा है। यह अवधमें, बाराबंकी जिलेके अन्तर्गत, हड़हा ताल्लुके-के एक गाँवमें मिला था। यह संस्कृतमें, २३ श्लोकोंमें, है। इसके प्रशस्तिकार कविका नाम रचि-कान्ति है। यह मिहिरवर्मा द्वारा पुदाया गया था। इसका वर्ष विक्रम-संवत्का ६११ वाँ वर्ष अथवा ५५४ ई० है। यह समय हमारे कामका है; क्योंकि, इससे हम हर्षगुप्त और उसके पुत्र महाशिवगुप्तके कालका निर्णय, निश्चित रूपसे, कर पायेंगे। राजा सूर्यवर्माका परिचय देनेके लिये, इस शिला-लेखके साथ, एक छोटी भूमिकाकी आवश्यकता होगी। लेखका प्रारम्भ शिवकी स्तुतिके साथ होता है, जो दो श्लोकोंमें है। तृतीय श्लोक इस प्रकार प्रारम्भ हुआ है—

"सुत-शतं लेभे नृपोऽश्वपतिश्चैव स्वतादयद्गुणोदितम्।
तत्प्रसूता इरिहवृत्तिरुषो मुसराः क्षितीशाः क्षतरयः ॥"

अश्वपतिसे मुखर अथवा मौखरी वंशका प्रारम्भ

होता है। वंशावली हरिवर्मासे शुरू होती है। इसने अपना नाम ज्वालामुख रखा। इसके पुत्र आदित्यवर्माने यह करनेमें प्रसिद्धि पायी (श्लोक ८, ६ और १०)। इसका पुत्र ईशानवर्मा हुआ (श्लोक ११-१६), जिसने आन्ध्र राजाको पराजित किया, जिसके पास एक हजार हाथी थे। उसने मुलिकाओं-को भी हराया, जिनके पास दस हजार घोड़े थे। उसने गौड़ोंको जीता, जो समुद्र-तटपर रहते थे। उसकी सेना अश्वस्थ थी। वह सदाचारी और धार्मिक था। उस शक्तिशाली राजाका पुत्र सूर्य-वर्मा था। एक दिन, जब राजकुमार सूर्यवर्मा शिकारके लिये बाहर गया हुआ था, उसी समय उसने एक प्राचीन शिवमन्दिर देखा, जो बहुत ही सुन्दर था। उसको आश्चर्यसे उस प्राचीन मन्दिरका जीर्णोद्धार हुआ। उसका पुनः निर्माण हुआ और शिला-लेखकी स्थापना, उस राजकुमारके महत्त्व-पूर्ण कार्योंके स्मरणार्थ, की गयी। मन्दिरका जीर्णोद्धार विक्रम-संवत् ६११ में किया गया, जिस समय राजा ईशानवर्मा अपने शत्रुओंको पराजित कर राज्य कर रहा था।

इस लेखसे एक विशेष महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक रहस्यका उद्घाटन यह होता है कि, मुघलराजाकी उत्पत्तिका पता चलता है। हमें इस बातका पता नहीं था कि, मुघल-राजाकी उत्पत्ति कहाँसे हुई। हमारा यह शिला लेख इस विषयमें एकदम स्पष्ट है। इस वंशके मूल-पुरुष अश्वपति थे, जो सती सावित्रीके पिता थे—वही पौराणिक सावित्री देवी, जिसका नाम प्रत्येक हिन्दूके घर-घरमें व्याप्त है।

महाभारतके घाणपर्वको पढ़नेसे मालूम होता है कि, सावित्री, अपने पतिव्रत्य धर्मके प्रभावसे,

सत्यवान्के प्रति अनन्य स्वामि-भक्तिके कारण, न केवल अपने पतिको पुनर्जीवित कर सकी, अपितु, अपने पिताके लिये १०० पुत्र प्राप्तिका वरदान भी पाया और उनकी अन्धता भी दूर कर सकी। मैं यहाँ महाभारतसे कुछ अंश उद्धृत करता हूँ—

सावित्रीने यमसे कहा—

“हे मानदाता, चूँकि आपने मेरी दूसरी इच्छा-की पूर्ति की, मेरा सौभाग्य, जो पवित्र और पुण्य कर्म द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार इस बार भी आप मनोवाञ्छित फल देनेको प्रस्तुत हैं। इस हेतु मेरी यह अभिलाषा है कि, सत्यवान् जीवन लाभ करें, क्योंकि मैं उनके बिना मृतक-तुल्य हूँ। मैं उनके बिना सुखी बननेकी इच्छा नहीं रखती, स्वर्ग जानेकी भी कामना नहीं करती। मैं धन-पेश्व-र्यका उपभोग नहीं चाहती, मैं तो अपने स्वामीके बिना जीवित भी नहीं रहना चाहती। आप पहले ही यह वरदान दे चुके हैं कि, मुझे एक सौ पुत्र हों, पर तो भी आप मेरे पतिको लिये जा रहे हैं। इस हेतु मेरी यह प्रार्थना है कि, सत्यवान् फिरसे जीवन लाभ करें, जिससे आपकी बात भी सत्य निकले।”

मार्कण्डेयने कहा—

“तब, सूर्यके पुत्र यम बहुत प्रसन्न हुए और बोले, पवमस्तु!” सत्यवान्को उन्मुक्त करते हुए उन्होंने सावित्रीसे कहा—“अथ सुभगे, देखो, मैं तुम्हारे पतिको उन्मुक्त करता हूँ। सङ्घर्षोद्भव कन्ये, तुम अपने साथ उन्हें ले जा सकती हो। वह नीरोग हो जायँगे और सर्वदा विजयी बने रहेंगे। + + + + तुम्हारे पित्तको भी तुम्हारी मातासे सौ पुत्र उत्पन्न होंगे; और, तुम्हारे देव-तुल्य भ्रातृ-गण पुनः पौत्रोंके साथ मालवके नामसे व्याप्त होंगे।” *

साचित्रोके पिता मद्र-देशाधिपति थे। सत्यवान्-
के पिता, युमत्सेन, शाह्य-देशके राजा थे।

मद्रदेशके राजा अध्वपति सज्जन, उदार और
चतुर थे। इन्होंने अध्वपतिले, मुगुर-वंशवाले, अपने-
को सम्भूत यतलाते हैं।

सूर्यवर्माकी वंशावली इस प्रकार है—

अध्वपतिरे वंशमें एक हरिवर्मा नामक राजा
हुआ, जिसका पुत्र आदित्यवर्मा था। आदित्य-
वर्माका पुत्र ईश्वरवर्मा हुआ, जिससे ईशानवर्मा-
का जन्म हुआ। ईशानवर्माका पुत्र सूर्यवर्मा
हुआ, जिसका उल्लेख शिला-लेखमें मिलता है।

ये 'वर्मा' राजागण मालवाके अधिकांश
भागोंपर और असीर-गढ़पर (जि० नेवाड़, C. P.)
अधिकार जमाये हुए थे। मुद्रार्थे इस सिद्धान्तके
पक्षमें हैं। ये मुद्रार्थे सूर्यवर्माकी समयकी हैं, जो
ईशानवर्माका पुत्र और आदित्यवर्माका पौत्र तथा
महाराज हरिवर्माका प्रपौत्र था।

यह प्रतीत होता है कि, मुखरवंशकी अनेक
शाखाएँ थीं, जो एक ही समयमें मगध, कान्यकुब्ज
और मालव देशोंपर शासन कर रही थीं। ईशान-
वर्माने, जो मुगुर राजाओंमें एक शक्तिशाली
अधिपति गिने जाते थे, आन्ध्र-देशाधिपतिको पराजित
किया था; इनके १००० गज-दलकी सेना थी; इन्होंने
मूलिकाओंको विजित किया, जिनके पास १००००
घुड़सवार थे; इन्होंने गौड़ोंको इस प्रकार वशीभूत
किया कि, वे समुद्रतटके देशको छोड़ देनेपर
बाध्य हुए, जो नीचे लिखे श्लोकसे स्पष्ट ज्ञात
होता है—

“जित्वा न्नाधिपतिं सहस्रगणितप्रेषाक्षरद्वारणम्
व्यावर्गगन्धुतानि सत्पुत्ररान् सङ्गवारेण (मु)लिकान्
कृत्वा चार्थात्तमोचिस्थलमुगे गौडान्समुद्राश्रया—

गध्यासिष्ट नहन्ति शिखरः सिंहाभनं यो विती ॥”

(—१३वाँ श्लोक)

ईशानवर्माके राज्य-कालमें एवम् इस समयके
कुछ पूर्व या पश्चात् महाकोसल-देश अत्यन्त शक्ति-
शाली जान पड़ता था। कोसलके अधिपति “प्राक्
परमेश्वर”की उपाधिसे विभूषित होते थे, इसका
अर्थ है पूर्वीय प्रान्तका स्वामी।

लक्ष्मण-मन्दिरके शिला लेखसे, जो चालाजुन
शिवगुप्तके समयका है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि,
सूर्यवर्माकी राजधानी और राज्य कोसलसे पश्चिम
किसी स्थानमें था—यही महाकोसल राज्य है।

राजा सूर्यवर्मा, जो कोसलके राजा हर्यगुप्तका
श्वशुर और रानी वासुदेवाका पिता था; और, जिसके
विषयमें यह कहा जाता है कि, श्रीपुरका, (जिला
रायपुर, सो० पा०) विशाल ईंटोंसे निर्मित, मन्दिर
इमोंने बनवाया था, सम्भवतः वही सूर्यवर्मा था,
जो मुगुरवंश ईशानवर्माका पुत्र था, जैसा कि,
वर्तमान शिलालेखसे जान पड़ता है।

मैं अब इस लेखको, लक्ष्मण-मन्दिरके शिला-
लेखसे कतिपय श्लोकोंको उद्धृत कर, समाप्त करता
हूँ, जिसकी चर्चा पूर्वमें की जा चुकी है—

“स्थान विराहचितमेतदभून्ममेति

लक्ष्मीः प्रसूतिसमये यमुवाह हर्षम् ।

तेनावृतः सततमेव शुभमगम्यः

श्रीहर्षगुप्त इति नाम ततो [य जहे]

तस्मादजायत महाशिवगुप्तराजो

धर्मावतार इति निश्चित्य प्रतीतः ।

मीमेन यं सुत इव प्रथमः पृथायाः

पृथ्वी जिगाय रणकैसरिणानुजेन ॥१२॥”

× × ×

तस्येह जन्मजयिनो जननी जनानाम्
ईशास्य शैलतनयेव मयूरकेतोः ।

विस्मापनी विपुधलोरुधियां चभूव

श्रीवासटेति नरसिंहतनोः सटेव ॥१५॥

निष्पके मगधाधिवत्स्यमहतां जातः कुले वर्मणां
पुरायामिः कृतिभिः इतीकृतमनःकम्पामुधो भोजिनाम
यामासाध सुतां हिमाचल इव श्रीसूर्यवर्म्मा नृपः

प्रायप्राक्परमेश्वररघुशुता गर्वानितर्क पदम् ॥१६॥

“विख्यात वर्म्मा-वंशमें उत्पन्न, मगधपर शासन
कान्तेके हेतु प्रभावशाली, प्रसिद्ध (और) पुण्यशील

राजा सूर्यवर्म्मा, जिसने अपने धर्म कार्यों से
देवताओंके हृदयमें आतङ्क उत्पन्न कर दिया था,
इस कन्या (वासदा) को प्राप्त कर “प्राक् परमेश्वर”
के अत्यन्त गौरवपूर्ण श्वशुर-पदको प्राप्त किया, जिस
प्रकार हिमाचलने अपनी कन्या पार्वतीका विवाह
परमेश्वर शिवके साथ करके प्राप्त किया था ।”*

“प्राक् परमेश्वर”से यह ज्ञात होता है कि,
इनका राज्य सुविशाल था, जो पूर्वमें कोसलके नाम
से ख्यात है । महाकोसल अथवा दक्षिण कोसलकी
प्रसिद्धि इसीसे स्पष्ट है कि, यह कोसलके अति-
रिक्त इन दो नामोंसे अधिक विश्रुत है ।

देवगढ़

या० कायतापूसाद जैन

देवगढ़ जिला मर्सीमें एक प्राचीन स्थान है । खलि-
पुरमें १६ मील और जाखलौन रेलवे स्टेशनसे सिर्फ सात
मीलपर है । जैन सम्प्रदायका यह एक मान्य तीर्थ है और
रैक्डों यात्री अज्ञात कालसे इसकी वन्दना करते आये हैं ।
देवगढ़का महत्त्व, पुगतत्वकी दृष्टिसे, विशेष है । यह गुप्तकालसे
लेकर १५-१६वीं शताब्दियोंतक हिन्दी लेखनकलाके विकास-
क्रमके अध्ययनके लिये अच्छे साधन उपस्थित करता है । इसके
साथ ही इसका शिल्पनैपुण्य भारतीय-कलाका एक खास नमूना
है; और, इसके लगभग २०० शिला-लेख, भारतीय इतिहासके
लिये, कामकी चीजें हैं ।

देवगढ़ एक छोटी-सी रमणीक पहाड़ी है । सारी पहाड़ी-
को पुराने जमानेसे तीन परकोटोंने घेर रखा है । पहाड़ा
परकोटा प्रायः भभावशेष है । इसकी मोटाई लगभग २१
फीट है और यह ६०० फीट इतक पहाड़ीके किनारे-किनारे
बसा गया है । एक द्वारके मार्गसे इस किलेके अन्दर

पहुँचनेपर उत्तर-पूर्वकी ओर सोलह जैनमन्दिरोंका समूह मिलता
है । उनमेंसे कुछ सुरक्षित हैं और उनकी कारीगरी बड़ी ही
सुन्दर है । यहाँपर एक गुफा भी है, जिसे “सिद्धगुफा”
कहते हैं । उसमें, एक छोटा-सा लेख, गुप्तकालका है । वहीं
एक दमरा लेख है, जिसमें यह कथन है कि, राजा वीने
सन्वत् १३४५ में कुरारको जीता था ।

देवगढ़में जाखलौनके खुन्देले राजा वर्मनगढ़मिहका एक
समय राज्य था । अपने जीवनके अन्तिम समयमें यह राजा
राज-पाठ त्यागकर इस पहाड़ीपर आ गया था और सन् १२५४
ई० में स्वर्गवासी हुआ था ।

देवगढ़के जैनमन्दिर प्रायः भिन्न-भिन्न समयके बने हुए
हैं । स्थानीय जनतामें यह प्रसिद्धि है कि, इन जैनमन्दिरोंको
पनाब्य जैन-व्यापारी पारासाह और उनके दो भाई देव त
और खेवयतने बनवाया था । इस समय कुल बड़े मन्दिर
३१ हैं । छोटे-मोटे मन्दिर और भी बहुतसे हैं । जैनमूर्ति

योंमें ३० फीट ऊँचाई तककी मूर्तियाँ हैं, जो अपनी शान्तिव्यवस्थासमूहसे दूरकरके हृदयको मोह लेती हैं। मानस्यमम आदिका भास्कराकार्य भी देखते ही बनता है। दुःख है कि, किमी मुसलमान बादशाहने इस प्राचीन स्थानको बहुत-कुछ तहस-नहस कर डाला है और तबसे इस स्थानकी सँभाल भी कुछ न थी। किन्तु अन्दर घना जंगल हो गया था और मन्दिर शो-धीनके रहनेके स्थान बन गये थे। किन्तु सन् १८१० और १८१८ में सरकारने धीयुत दयारामजी साहनीको भेजकर इस स्थानका उद्धार कराया और अब यह स्थान जैन समाजके आधीन है, जो इसके उद्धारके लिये प्रयत्नशील है।

राजघाटीवाले लेखसे प्रकट है कि दशगढ़ दुर्गको राजा

कीर्तिवर्माके मन्त्री वत्सराजने बनवाया था। इसी कारण यह किला “कीर्तिगिरिदुर्ग” कहलाता है। किन्तु जैनधर्मका यह स्थान प्राचीन कालसे केन्द्र रहा है, यह बात इसके पुरातत्त्वसे स्पष्ट है।

बीबीस तीर्थद्वारोंसे बीसकी रासनदेवताएँ यन्त्रियोंकी ओर मूर्तियाँ यहाँ मिली हैं, वह अन्यत्र कहीं देखनेको नहीं मिलती। यही बात यहाँकी “ज्ञानशिला”के विषयमें कही जा सकती है। न० १ वाले मन्दिरके दालानमें यह विचित्र शिला अंकित है। इस शिलापर १८ भाषाओं और १८ लिपियोंके नमूने लिखे हुए हैं, जिन्हें सखानामदी नामक व्यक्तिने लिखाया था।

स्तेपमें देवगढ़का यह परिचय है और इससे इसका महत्त्व स्पष्ट है।

पालोंके शिलालेख

वा० विनोदविहारी राय, बेदरल

पालवरीय राजाओंके जो अबतक शिलालेख मिल चुके हैं, वे ये हैं—

(१) खलीमपुरका ताम्र-लेख (धर्मपाल), (२) गुँगेर-का ताम्रलेख (देवपाल), (३) नालन्दाका ताम्रलेख (देवपाल), (४) भागलपुरका ताम्रलेख (नारायणपाल), (५) वनगढ़का ताम्रलेख (महीपाल प्रथम), (६) सोर-नाथका शिलालेख (महीपाल प्रथम), (७) धामगाँधीका ताम्रलेख (विमलपाल तृतीय), (८) मनहली या मानडा लोका ताम्रलेख (मदनपाल)।

इस सवाके सम्बन्धके अन्वय शिलालेख—

(क) महाबोधि शिलालेख (केशवभास्कर), (ख) घोख शिलालेख (वीरदेव), (ग) गढ़ शिलालेख (गुण या गौरव मिश्र), (घ) वागीरवरी शिलालेख, (च) शत्रुघेन-शिलालेख, (छ) नालन्दा शिलालेख (पालादित्य), (ज) कृष्ण हारका शिलालेख (निरवादिप), (झ) कमोजी-शिलालेख (वैद्य), (ञ) मिथुनका नान्दश शिलालेख, (गोपाल तृतीय), (ड) मित्र भिन्न मूर्तियोंमें, पैतोंके

नीचे, खुदे हुए शिलालेख एवम् इस सम्बन्धमें प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोंके लेख आदि।

खलीमपुर-शिलालेखसे हमें मालूम हुआ है कि, दण्डविष्णु नामके कोई विद्वान् सभी शाखोंमें पारंगत पण्डित थे। वे पालवशियोंके पूर्वज थे। उनका पुत्र चापट, अपने शत्रुओंके लिये, काल-समान था। सम्भवतः किसी राजाके यहाँ सेनापति था। उसके पुत्र गोपालको सर्वसाधारण्ये, देशको “मरत्य-न्याय”के पञ्जे छद्मानेके अनिप्रायसे, राजा बनाया। “मरत्य-न्याय” से तात्पर्य है, सबजों द्वारा निर्णयोंका सर्वस्वापहरण। वास्तवमें हम देखते हैं कि, गुप्तोंके बाद और पालोंके पहले, यद्वालेमें, किसी भी राजाके लिये, निरपद्रव राज्य करना संभव कठिन था।

सत्रहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें तारानाथ नामक एक विष्णवीय ऐतिहासिक हो चुके हैं। उनके इतिहासमें जिला है कि, गोपाल यद्वालेके राजा मनोजीत हुए थे। उन्होंने, यद्वालेका शासन-मूय हाथोंमें लेनेके बाद, मगध

सिंहासनको अधिष्ठान किया था। किन्तु उस इतिहास-ग्रन्थकी यह बातें प्रामाणिक नहीं जैचनीं। कारण, देवपालके शिलालेखोंसे पता चलता है कि, उन्होंने समुद्रतटके सभी देशोंको जीत लिया था (शिलालेख, तीमरा पथ)। इसमें तो कोई समदेह ही नहीं कि, इस समुद्रमे तापर्थ्य बङ्गालकी खाड़ीमे ही है। मेरा तो विचार है कि, गोपाल मगधके ही राजा मनोनीत हुए थे; और, कुछ दिनोंके बाद, उन्होंने समुद्रतट (बङ्गालकी खाड़ी) तकके सभी देशों (बङ्गाल)को जीता था। गोपालके पुत्र राजा धर्मपालने, अपनी राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) से, इस खलीमपुर-शिलालेखके छोदे जानेकी आज्ञा दी थी।

इसी शिलालेखसे ज्ञात होता है कि, धर्मपालने भोज, मत्स्य, मद्र, वुरु, यदु, यवन, अवन्ती, गान्धार, किरा (किरात ?) और कन्नौजके राजाओंपर विजय पायी थी तथा फिर उन्हें लौटा भी दिया था। देवपालके नालन्दा और मुँगेरमें स्थित शिलालेखोंसे यह घटना और भी प्रमाणित हो जाती है।

राजशेखरके प्रभावकचरित और प्रयन्त्रकोप नामक ग्रन्थोंसे पता चलता है कि, वप्पभट्टि (सुरपाल) वि० सं० ८०७ या ई० सं० ७५१ में वर्तमान थे। उन दिनों राजा यशोवर्मा कन्नौजका शासक था। यशोवर्माकी मृत्युके बाद उसका पुत्र आमराज (चक्रायुध) कन्नौजका शासक मनोनीत हुआ। वप्पभट्टि इसी आमराजके दरबारमें राजपण्डित थे। सम्भवत धर्मपालने आमराजको उसके सिंहासनपर पुनरासूद कर—जैसा कि, उपर्युक्त वर्णनमे प्रकट होता है—वप्पभट्टिको अपने यहाँ बुला लिया। किन्तु, कुछ ही दिनोंके बाद, आमराजने किसी प्रकार वप्पभट्टिको अपने यहाँ बुला लिया। धर्मपाल आमराजकी इस कार्यवाहीमे बहुत असह्य हुआ; और, उसने उसे (आमराजको) कहला भेजा कि, तुम

अपने किसी भी राजपण्डितको—जिसे तुम मयैष्टेष्ट विद्वान् समझते हो—हमारे राजपण्डित वर्धनकुंजरके साथ शास्त्रार्थ करनेके लिये भेज दो, शर्त यह होगी कि, जिसके राजपण्डितकी, इस शास्त्रार्थमें, हार हो जायगी, उसका सारा राज्य विजेताका हो जायगा। आमराज भी यह गया। वप्पभट्टि और वर्धनकुंजरमें शास्त्रार्थ झिझा; वर्धनकुंजरकी हार हो गयी। धर्मपालने अपना सारा राज्य आमराजको दे दिया; किन्तु उसने (यह समझकर कि, मुझे इसने पराजित कर मेरा राज्य लौटा दिया था) राज्य लौटा दिया—उसे किन्ने राज्यसिंहासनपर बैठा दिया। इस कथाकी पुष्टि खलीमपुर-शिलालेख (के बारहवें पथ) से होती है। लिखा है कि, धर्मपालने कन्नौजको जीतकर फिर उसीके राजाको वहाँकी गद्दीपर बैठा दिया था।

जिन-हरिवरामें लिखा है कि, स० सं० ७१२ या स० ७६३ ई० में उत्तरमें इन्द्रायुध, दक्षिणमें वृष्णराज पुत्र श्रीयशभ [राष्ट्रकूटोंका भ्रुवराजा], पूर्वमें अवन्ती-राज और पश्चिममें वत्सराज राज्य करते थे।

भागलपुर-शिलालेखमे ज्ञात होता है कि, धर्मपालने कन्नौजके इन्द्रराजको पराजित किया था और वहाँके सिंहासनपर चक्रायुधको बैठाया था। यह चक्रायुध (आमराज) इन्द्रराज [इन्द्रायुध]का पिता था। इससे हम कह सकते हैं कि, उपर्युक्त राजपण्डितोंके घोर शास्त्रार्थके बाद इन्द्रायुध अपने पिताको सिंहासन-च्युत कर, आप उसकी लगहपर, रामा वन बैठा था। इसलिये वह जिन-हरिवरामके अनुसार, स० ७६३ ई० में, कन्नौजका शासक था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, राजपण्डितोंका शास्त्रार्थ स० ७६० ई० में हुआ था और इसके पड़ले, सम्भवत लगभग स० ७८६ ई० में, धर्मपाल अपने पिताके सिंहासनपर बैठाया जा चुका था। इसमे गोपालका सन् ७८६ ई० तक राज्य काला सिद्ध होता है।

राष्ट्रकुशोंके राजा गोविन्द तृतीयके सुदराये हुए राघवपुरके ताम्रलेखमें हमें पता चलता है कि, पश्चिमकी ओर (गुर्जर) के किसी वसराज नामक राजाने गौड-देशपर विजय पायी थी। गोविन्द तृतीयके पिता राजा ध्रुवने उसमें दो वृत्र [Parasols] ले लिये थे, जो उन्हें गौड विजयमें मिले थे। गोविन्द तृतीयके छोटे भाई इन्द्रराजके पुत्र कर्कराजके स० स० ७३४ या सन् ८१२ ई० के ताम्रपत्रमें लिखा है कि, 'दो वृत्रोंमेंसे एक गौडा विपत्तिका शीर एक वट्ठाविपत्तिका था।' किन्तु चूँकि, धर्मपालने सिद्धासन स्तुत होनेका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता, इसलिये हमने यह निष्कर्ष निकलता है कि, धर्मपाल वसराजमें युद्ध करनेके निमित्त बगलमें आये थे और यहीं उड़ोने अरने दोनों वृत्रोंकी बैतयन्तियाँ लोयी थीं।

खलीमपुर-ताम्रपत्रमें लिखा है कि, 'धर्मपालने, विद्या युद्ध किये ही, अरना लोया दुध्या राज्य प्राप्त कर लिया था [ग्यारहवाँ पद्य], उसकी शक्तिशाली सेनाको देखते ही इन्द्र [इन्द्रराज या महेन्द्र] भाग गया था।' यह घटना सन् ८१२ ई० के बाद—सम्भवतः ८१३ ई० की है, जिस समयतक गोविन्द तृतीयने राज्य किया था।

देवपालके शिलालेखोंसे पता चलता है कि, धर्मपालने राष्ट्रकूट राजा श्रीपारावल्की लडकी रन्ना या राणा देवोके साथ विवाह किया था। प्यारीके स्तम्भ लेखसे ज्ञात होता है कि, सवन् ११७ या ईस्वी सन् ८६१ ई० में राष्ट्रकूट धिपति पारावल्के मन्त्रीने इस स्तम्भका निर्माण कराया था। हमने यह प्रकट होता है कि, पाल उच्च कुलके क्षत्रिय थे।

अवन्तीवर्माके ताम्रलेख सवन् १८६ या सन् ८९६ ई० में लिखा है कि, 'बहुकधवलने धर्मका सर्वनाश किया था।' सम्भवतः इसका यही अर्थ हो सकता है कि, बहुकधवलने धर्मपालको पराजित किया

था। कीर्तन मन्त्रायण विचार है कि, यह बहुक धवल मिदिरभोजका एक मामन्त था। हो सकता है कि उस युद्धमें, जिसमें लगभग सन् ८४३ ई० में मिदिरभोजने धर्मपालसे कनौज ले लिया था, बहुक धवल भी रहा हो। इन घटनाओंके संघटन कालपर विचार करनेपर हम कह सकते हैं कि, सन् ८४३ ई० में धर्मपाल एक उठते हुए राज्यके शासक थे।

किन्तु, धर्मपालके शिलालेखमें लिखा है कि, वे अपने पिताके निर्वर्तित राज्यके निर्दग्धनपर बैठे। इससे यह कदा अनुकियुक्त नहीं होगा कि, धर्मपाल सन् ८४३ में वर्तमान थे; और, अपने राज्यमें शान्ति स्थापना करने तथा उसमें जान डालनेमें वे सफल हुए थे। तारानापका मत है कि, धर्मपालने ६४ वर्षोंतक राज्य किया था। सम्भवतः लगभग ७८६ में उनका राज्याभिषेक हुआ था। इसमें ६४ जोड़ देनेसे ८५० होता है। सन् ८५० ई० में धर्मपालके शासनकालका अन्तिम वर्ष समाप्त हुआ था। यदि बहुकधवलने धर्मपालको लगभग सन् ८४३ ई० में पराजित किया होगा, तो शेष सात वर्षोंवा समय, धर्मपालके लिये, अपने राज्यमें शान्ति स्थापित करनेके लिये काफी था। अतः यह विचार स्थिर करना अनुचित नहीं होगा कि, धर्मपालने ६४ वर्षों—लगभग सन् ७८६ ई० से ८५० ई०—तक राज्य किया था।

अपने शासनकालके ३२ वें वर्षमें उन्होंने महा सामन्त नारायणवर्माके पक्षमें खलीमपुर-शिलालेखमें सुदधाया था। इस शिलालेखमें, जाट-देशके दाक्षायी द्वारा नरनारायण नामक देवताकी पूजाके निमित्त, पुण्डरीकन मुक्तिमेंसे चार गाँव दिये जानेकी बात ब्रिद्धी है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि, धर्मपालने महदाके समीपस्थ पुण्डरीकन मुक्तिके कुछ भागको,

जहाँ यह शिलालेख मिला है, अपने पुत्र त्रिभुवन-पालके द्वारा, अधिष्ठित कर लिया था, जो सम्भवतः अपने पिताके ही जीते जी मर गया था ।

वारेन्द्र-पक्षीमें लिखा है कि, धर्मपालने, राधाके मट्टनारायणके पुत्र आदिशान ओष्काको, (*Adi Gyan Ojha*) धमसारा नामक गाँव, दान कर दिया था, जो सम्भवतः शायिहल्य-गोत्रज सन्तानहीन नारायणकी मृत्यु हो जानेके बाद ही वारेन्द्रमें आये थे । वे (आदिशान) वारेन्द्रके शायिहल्य-गोत्रजोंके मुख्य पूर्वज थे । इससे देवपालके शिलालेखोंसे इन बातोंकी अच्छी पुष्टि होती है कि, धर्मपाल वर्णाश्रम धमका अनन्य सहायक था (पाचवाँ पद्य) - । राजाजदास वनजीने अपने "*The History of Bengal*" में लिखा है कि, धर्मपालने स्वर्णरेख नामक किसी ब्राह्मण को करंज नामक एक गाँव दे डाला था । किन्तु यह स्वर्णरेख सुसेनकी दसवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुआ था, जो धमसारावाले आदिशान ओष्काके समकालीन था । दान लेनेवाले इन दोनों ब्राह्मणोंमें दो सौसे भी अधिक वर्षोंका अन्तर पड़ता है ।

केशवभारवने अपने शासनकालके २६वें वर्षोंमें एक सिद्ध-मूर्तिकी स्थापना की थी तथा साधु-सन्तोंके लिय एक साजाप भी खुदवाया था । इसका एक शिलालेख "बोधगया"में मिला है ।

धर्मपालकी मृत्युके बाद देवपाल उसकी गद्दीपर बैठा । अपने शिलालेखोंमें उसने स्पष्ट रूपसे खुदवा दिया है कि, "उत्तरमें केदार (बदरी या बद्री), पूर्वमें गंगा-सागर-संगम और पश्चिममें गोकर्णके बीचकी भूमिमें धर्मपालका अविष्वक्त (*unataged*) एवं शान्तिमय राज्य था, जिस पैत्रिक सम्पत्तिका अब वह मालिक था ।" धर्मपालके राजकी दक्षिण-सीमामें बिम्बवर्धन अधिपति पायी गयी है । गदह-रत्न-

शिलालेखमें लिखा है कि, देवपालके शासनकालमें धर्मपाणि नामक व्यक्तिके मन्त्रिवरके समयतक इस राज्यका विस्तार इसी प्रकार था (पाँचवा पद्य) । धर्मपाणिके पोते केदार मिश्रके मन्त्रित्वमें देवपालने समुद्रतक दक्षिण भारतवर्ष (*Deccan*) की जीत लिखा था । उसने हूणों, द्राविड़ों तथा उत्कल और गुर्जर-देशके राजाओंको डूरी तरह परास्त किया था ।

नारायणपालके शिलालेखमें ज्ञात होता है कि, 'धर्मपालको चाकपाल नामक एक सहोदर छोटा भाई था । इस चाकपालके जयपाल नामक एक पुत्र था । देवपालकी आज्ञामें उसने उत्कल और प्राग्योतिपुरको जीत लिया था ।'

अपने शासनकालके ३६ वें वर्षमें देवपालने नालन्दा-शिलालेखको खुदवाया था । इससे यह बात पक्की हो जाती है कि, देवपालने ४० वर्षों—लगभग सन् ८२० से ८६० ई०—तक राज्य किया था ।

देवपालके राज्य-विस्तारकी उत्तरी सीमामें हिमालय पर्वत-श्रेणियाँ, दक्षिणी सीमामें सेतुगन्ध, पश्चिमी सीमामें समुद्र और पूर्वी सीमामें खीरोद-समुद्र अर्थात् बङ्गालकी खाड़ी थी (मुँगेर-शिलालेखका पाँचवा पद्य) ।

मुँगेर-स्थित राष्ट्रपत्रको उसने अपने शासनकालके ३३वें वर्षमें खुदवाया था । नालन्दा-शिलालेख उसके शासनकालके ३६वें वर्षका है । इस शिलालेखमें लिखा है कि, उसने अपने वनवाये हुए नालन्दा-मठके भगवान् बुद्धभट्टारकको पूजाके निमित्त, जापाके रामा वज्रपुत्रदेवको पाँच गाँव—प्रजापुत्रानवमें नन्दी-यानक नदीज ?) और मणिवतक, विद्विक्कानय (पुनन ?) में नाटिका, अष्टत्रायणमें दक्षिणमा (राजगृह-विषयान्तर्गत) और गया-विषयान्तर्गत कुमुद मुत्र-योगीमें पञ्चामक—दिये थे । यह वज्रपुत्रदेव समाम्प-धीरका पुत्र और राजा धीरधरोत्तमपञ्चक प्रदीप था ।

घोसवारा शिलालेखमें लिखा है कि, धीरदेव नामक किसी बौद्ध भिक्षुने देवपालके समय दो मन्दिर बनवाये थे, एक हृद्रशिलापर्वतपर तथा दूसरा वज्रासनपर । उसकी राजधानी मुंगेरमें थी ।

देवपालके हसी मुंगेर स्थित शिलालेखमें हमें ज्ञात होता है कि, उसे (देवपालके) राज्यपाल नामक एक पुत्र था, जो सम्भवतः अपने पिताके जाते ओ ही मर गया था । इस कारण जयपालका पुत्र विमदपाल ६१, देवपालके बाद, राजा हुआ था । यह विमदपाल यदा प्रतापी राजा था । नारायणपालके शिलालेखके आधारपर यह कहा जा सकता है कि, इसने एक सुख्यवस्थित एवं शांतिपूर्ण राज्य (unavaged kingdom) का शासन किया था (सातवीं और आठवीं पद्य) । किन्तु, इसके राजत्व कालमें एक घनघोर युद्ध हुआ था, जिसमें यह विजयी हुआ था ।

इसकी की लज्जादेवी हैदयवरीय चन्द्राणी—सम्भवतः कलचुरिके राजा कोकनकी कन्या—। राजा कोकनकी एक कन्या राष्ट्रकूटविरचित कृष्ण द्वितीयको व्याही गयी थी । राष्ट्रकूट राज कृष्ण तृतीयके दानप्रभमें लिखा है कि, कृष्ण द्वितीय गौडोंकी वरयताका प्रधारक था उपदेशक था । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, विमदपालका विवाह राजा कोकनकी दूसरी कन्याके साथ हुआ था; और, यही कारण था कि, वह अपने सादू, कृष्ण द्वितीयकी वरयताका पक्षपाती था । सम्भव है, इसी कारण उस (विमदपाल) का राज्य थोड़ी आक्रमणकारियोंकी लूट पाटसे बचा था । कृष्ण द्वितीयने सन् ८७७ से ८९३ ई० तक राज्य किया था । कुछ चाँदीके सिक्के, घोसवाराके वज्रासन विहारमें, मिले थे, जिनमें एक रानाके मस्तकके ऊपर “ओ” और नीचे “विमद” नाम पढ़ा गया है । सिक्कोंकी पीठपर एक यज्ञकी वेदी है तथा उसके दोनों ओर होता और भद्रव्युके दो चिह्न अंकित हैं । *Epigraphica Indica* के खण्ड

१, पृष्ठ १६७, में लिखा है कि, शिबदोनी (पश्चिमोत्तर प्रदेशका एक गाँव)में मालूम हुआ है कि, सन् ८०८ ई० में वहाँ विमदपालके सिक्के चलते थे । कनिंघम साइबका भी कथन है कि, वे सिक्के विमदपालके ही हैं और “मी” शब्द “मगध”का चोतक है । किन्तु मुझे विश्वास नहीं होता कि, वे सिक्के विमदपालके ही हैं । कारण, यह बौद्ध था । इसके अतिरिक्त, कृष्ण द्वितीयने सन् ८१३ तक राज्य किया था, जिससे साफ प्रकट होता है कि, विमदपालने सन् ८०२ ई० तक राज्य किया था । इसमें कोई सन्देह नहीं कि, अपने मुंगेरमें अपना सारा राज्य अपने पुत्र नारायणपालको सौंपकर आप उसने वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया था, इसलिये उसका १२ वर्षोंतक राज्य करना असम्भव प्रतीत नहीं होता । गरुड-स्तम्भ-लेखमें देवपालके बाद किसी सुरपालका नाम मिला है । ऐतिहासिकोंका विचार है कि, विमदपालका ही दूसरा नाम सुरपाल था ।

अपने पिताकी मृत्युके बाद नारायणपाल मगधके सिंहासनपर बैठा । गरुड स्तम्भ लेखके गुरुव या गौरव मिश्र एवं नारायणपालके शिलालेखके मट्टगौरव उसके राजसन्तरी थे, जिनकी तुलना परशुरामसे की गयी है । वे बड़े शूरवीर थे । किन्तु नारायणपालके शिलालेखके “विमदधीय” शब्दसे प्रकट होता है कि, जिस तरह परशुरामने क्षत्रियोंका सर्वनाश किया था और तब भी कुछ क्षत्रिय बच गये थे, उसी प्रकार सम्भवतः नारायणपालके कुछ राज्यद्वितीय उससे भ्रमण हो गये थे । “विमदधीय” शब्द महीपाल प्रथमके अष्टम शिलालेखमें भी आया है । कलचुरि-राजा सोमदेव (सन् १०७६ ई०) के एक शिलालेखमें लिखा है कि, ‘उस (सोमदेव) से पूर्वकी ६ ठी पीढ़ीके राजा गुणाम्भोधिने गौडपर विजय पायी ।’ इससे जान पड़ता है कि, गुणाम्भोधिने सम्भवतः नारायणपालसे मिथिला प्रदेशको छीन लिया था । एक

यात और दे। वनगढ़में किसी कम्पोज-वशीय राजाका सन् ६६६ ई० (शक संवत् ८८८)का एक स्तम्भ-लेख मिला है, जो इन दिनों महाराजा विनाजपुरके बागीचेमें है। इसमें लिखा है कि, वह गौड-देशका अधिपति (गौडपति) था। इससे यह मालूम होता है कि, गौड-राज्यके इस भागको कम्पोज-राजने जीत लिया था, जिसने इस शिलालेखको, सन् ६६६ ई०के पूर्व, नारायणपालके शासनकालमें, खुदवाया था। हो सकता है, इन्हीं कारणोंसे शिलालेखोंमें “विमक्त-श्री” खुदा मिलता हो।

नारायणपालने अपने शासनकालके १७ वें वर्षमें, अपनी राजधानी मुँगेरसे, इस शिलालेखको खुदवाया था; किन्तु शासनकालके २४वें वर्षमें, उदन्तपुरीके एक व्यापारीने पार्वती देवीकी एक पीतलकी मूर्तिका स्थापना की। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि, उसने २४ वर्षों—सन् ६०२ से ६६६ ई०तक—राज्य किया था। शिलालेख-सहित गरुड-स्तम्भ उसके मन्त्री भट्टगुरु द्वारा संस्थापित था। वारेन्द्रके राजवशी, कोच, मेघ और पालीय, कम्पोज-वंशकी ही शालाएँ थे।

अपने पिता नारायणपालके बाद राजपाल सिंहासनपर बैठा। वनगढ़ शिलालेखको देखकर मुझे तो ज्ञान पड़ता है कि, नारायणपालके ब.ज जिस राज्यपर उसने अधिकार जमाया था, वह उसके हाथोंमें बहुत सुरक्षित था और उसने बहुत से तालाब और मन्दिर खुदवाये तथा बनवाये थे। उस (राजपाल)के शासनकालके २४वें वर्षका एक शिलालेख नाजन्दाके प्लासावशेषोंमें मिला है। इसी कारण मेरी यह धारणा होती है कि, उसने सन् ६७० ई० तक राज्य किया था। उसने राष्ट्रकूटअधिपति तुल्लदेव लगतुरु द्वितीयकी कन्या भाग्यदेवीके साथ विवाह किया था।

उसके बाद उसका पुत्र गोपाल द्वितीय गद्दीपर बैठा। अष्टसहस्रिका प्रशासकमिताकी एक प्रति, उसके

शासनकालके १६वें वर्षमें, विक्रमशिला-विहारमें, जियायी गयी थी। अतः उसने सन् ६६६ ई०तक राज्य किया था।

उसके शासनकालके प्रथम वर्षमें ही, नालन्दामें, यागीरवरीकी एक मूर्ति स्थापित की गयी थी। उसीके शासनकालमें शम्भुसेन नामक किसी व्यक्तिने वीथगयामें बुद्ध भगवान्की एक मूर्तिकी स्थापना की थी।

गोपाल द्वितीयकी मृत्युके बाद उसका पुत्र विमलपाल द्वितीय राजा हुआ। ‘पञ्चरत्न’ ग्रन्थकी एक प्रति उसके राज्यकालके २६वें वर्षमें लिखी गयी थी। इससे उसका सन् १०२१ ई०तक राज्य करना प्रमाणित होता है। वनगढ़-शिलालेखमें उसे ‘गतिशील चन्द्र’ कहा गया है, जिसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि, उसका राज्य चन्द्रमाकी भाँति घटता गया। उसकी सेना सद्यादिसे हिमालय तक घूमती-फिरती थी। संवत् १०७२ अर्थात् सन् १०१६ ई० की ‘वीरमुक्ति’ में लिखित रामायणकी एक प्रतिने विवृत होता है कि, कर्तुरि या चेदि-वंशका गंगेयदेव—जो पर्यदेवका पिता था—उस समय गौड-ध्वजः (गौडाधिपति) कहलाता था। अतः सम्भव है, सन् १०१६ ई० के पहले उसने वीरमुक्ति या मिथिलाको विमलपाल द्वितीयके हाथोंसे छीन लिया था। उन राज्योंका उद्धार, उसके पुत्र महोपाल प्रयमने, पाड़े किए,।

विमलपाल द्वितीयकी मृत्युके बाद महोपाल द्वितीय अपने पिताके ध्वज राज्यका स्वामी बना। सम्भवतः उत्तर-राष्ट्रमें, जहाँ वह रहता था—बंगका राजा मनोनीत हुआ था। उन दिनों सम्पूर्ण बंग कई छोटे छोटे राज्योंमें बँटा हुआ था। रणेश्वर वल्लि-राइका, धर्मपाल दश-मुक्तिका तथा गोविन्दचन्द्र बगाल (गंगा नदीके मुहाने परकी भूमि)का राजा था। राजेन्द्र चोळके तिरुमालय-शिलालेखमें लिखा है कि, ‘धर्मपालको बुद्धमें मार कर उसने दशदशुक्ति अधिष्ठित कर ली; दक्षिण राइको रण-

शूमे और वंगानको गोविन्दचन्द्रसे छीन लिया । गोविन्दचन्द्र बुद्ध-क्षेत्रसे भाग गया हुआ । उत्तरराष्ट्रको पहीपा तमे, उसके हाथियोंसे और खिपोंसहित, ले लिया ।' इस शिलालेखकी खोदाई राजेन्द्रचोलके शासनकालके १२वें वर्षमें हुई थी । इससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि, जिन राजधानीमें महीपालका राज्याभिषेक हुआ था, वह उत्तरराष्ट्रमें ही कहीं थी । विग्रहपाल द्वितीय इतना कायर और शक्तिहीन था कि, वह सम्पूर्ण वंगको अपनी वृत्रच्छायामें सुरक्षित न रख सका । महीपाल अपनी स्त्रियों (राजपरिवारकी महिलाओं) की रक्षा करनेमें अप्रमथ रहता । इस प्रकार महीपाल सन् १०२३ ई० में—लगभग अपने राजकालके तीसरे और राजेन्द्रचोलसे १२वें वर्षमें—पराजित हुआ था । उसने पूर्वीय वंगालके समस्त नामक स्थानमें—जो उसके अधीन था—भाग कर शरण ली थी । वहीं—उसके शासनकालके उसी वर्ष, लोकदत्त नामक किसी सौदागरने नारायणकी मूर्तिकी स्थापना की थी । शासनकालके इसी पाँचवें वर्ष "अष्टमद्विक्का प्रज्ञापारमिता" नामक पुस्तककी एक प्रति लिखी गयी थी । छठे वर्षमें नालन्दाके कल्याणचिन्तामणि नामक एक व्यक्तिने इसी पुस्तककी एक प्रतिका नकल की थी । इससे जान पड़ता है कि, सम्भवतः इस समयतक महीपालने मगधका पुनरुद्धार कर लिया था । ११वें वर्षमें, बोधगयामें, भगवान् बुद्धकी मूर्ति संस्थापित हुई थी । बाजाद्वयके नालन्दा-शिला-लेखमें विदित होता है कि, इसी साख बालाद्वय नामक किसी व्यक्ति द्वारा नालन्दा-महाविहार की मरम्मत की गयी थी ।

आये खेमोरवर (खेमोरवर ?) द्वारा लिखित धर्षदक्षीण नामक नाटकमें लिखा है कि, कर्णाटके किसी राजाने गौडपर आक्रमण किया था; किन्तु महीपाल द्वारा पराजित हो गया । जान पड़ता है, कर्णा-

टका वह राजा राजेन्द्रचोल प्रथम था । किन्तु, वह महीपाल द्वारा पराजित नहीं हुआ था—उसने तो जीते हुए प्रदेशोंको छोड़ दिया था । राजेन्द्रचोल द्वारा पराजित होकर महीपाल समस्त चञ्चा गया था; और, कुछ दिनों बाद, उसने उत्तरराष्ट्र और वंगके अन्यान्य राज्योंका पुनरुद्धार किया था । सम्भवतः यह घटना भी उपर्युक्त नाटकमें वर्णित है; क्योंकि वह इसी विनयके अवसरपर लिखा गया था । उसके वनगढ़-शिला-लेखमें पता चलता है कि, महीपालने, अपनी राजधानी विज्ञासपुर (?)में, पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति-धर्मार्थ कुरतपञ्चिक नामक एक गाँव, एक ब्राह्मणको, दान-स्वरूप दे डाला था । दानपत्रका संवत् फट गया है; उस जगहका पत्थर टूट गया है । अतः संवत्का पता नहीं चलता ।

बौद्धोंके मुख्य तीर्थ-स्थान सात्तापथमें एक शिला-लेख मिला है, जो संवत् १०२३ या सन् १०२६ ई० में लिखा गया जान पड़ता है । उसमें लिखा है कि, स्थिरपाल और वसन्तपालने, उसी वर्ष, सात्तापथमें गन्धकुटी बनवायी थी । गौडाधिपति महीपालका नाम तो उपर्युक्त शिलालेखमें अवश्य मिलता है; किन्तु उसके नामके पूर्वमें "श्री" शब्द नहीं है । सम्भवतः इसीके आधारपर ऐतिहासिकोंका मत है कि, उसकी मृत्यु सन् १०२६के पूर्व ही हुई थी । हो सकता है, इसी समय वह उत्तरराष्ट्रसे भागकर समस्त चञ्चा गया हो । अतः तब वह गौड़-सिंहासनपर आसीन नहीं था; और, इसी कारण उसके नामके पहले "श्री" शब्द नहीं लगाया गया था । जो हो, इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि, वह कहीं-न-कहीं, सन् १०२६ ई० में, अवश्य गज्य करता रहा होगा ।

मुजफ्फरपुर जिलेके इमादपुर नामक स्थान (गाँव) में कुछ पीतलकी मूर्तियाँ मिली हैं । यह मूर्तियाँ उस महीपालके शासनकालके ४८ वें वर्षमें संकल्पित की गयी

था। अतः कहा जा सकता है कि, उसने ४८ वर्षों—
सन् १०२१ से १०६९ ई०—तक राज्य किया था।
मनहट्ट-शिलालेखसे पता चलता है कि, उसने अपने पिताके
सभी विजित प्रदेशोंको पुनर्गठित किया था।

महीपालकी मृ०पुके बाद उसका पुत्र नयपाल गौड़का
राजा हुआ। विग्रहपाल तृतीयके आमागाँछी-शिलालेख
में लिखा है कि, “अपने महासामन्तोंके मन्तरूप पर
रखकर नयपालने, उदायचल (पूर्वं-स्थित पर्वत, जिसके
शृष्ठ भागसे सूर्यका उदय होना माना जाता है) से प्रकटी-
भूत, सूर्यकी भाँति, जन्म लिया।” इससे यह कहा जा
सकता है कि, नयपालके जन्मके पहले ही राज्यके सभी
विजित प्रदेश पुनर्गठित कर लिये गये थे, और, उसने
सम्पूर्ण एवं अविभाजित गौड़-राज्यको, अपने पिताके बाद,
प्राप्त किया था।

कृष्णहार्दिक-शिलालेखमें, जो गयामें मिला है, कहा
गया है कि, नयपालके शासनकालके १५ वें वर्षमें,
विरवादित्यने, गयामें, एक मन्दिर बनवाया था और
उसमें जनार्दनकी मूर्ति स्थापित की थी। अतः मेरा
विचार है कि, उसने १५ वर्षों—सन् १०६९ से १०८४
ई०—तक राज्य किया था।

चक्रपाणिदत्तके पिता नारायण, जिसने “चक्रदत्त”
नामक एक धार्मिक ग्रन्थ लिखा था, नयपाल (चक्ररत्न)
के भोजनालयका प्रधान कार्यकर्त्ता था।

नयपालके बाद विग्रहपाल तृतीय सिंहासनावृ-
द्ध था। उसने शासनकालमें चेदियंरीय राजा कर्ण-
देवके गौड़-राज्यपर आक्रमण किया था; किन्तु पराजित
होनेपर अपनी कन्याका विवाह उसके साथ कर दिया था।
उसके शासनकालके पाँचवें वर्षमें विरवादित्यने दो मन्दिर

यमवाये और उनमें चदेश और महेस्वरकी मूर्तियाँ स्थापित
कीं। शासनकालके १३ वें वर्षमें उसने पुण्ड्रवर्द्धन-
भुक्तिके एक दरिद्र ब्राह्मणके नाम एक दानपत्र भी
सुदपाया था। उसमें लिखा है कि, वह वर्षाश्रम-
धर्मका समर्थक था। हमी १३ वें सालमें, साहा
नामक एक लोहारके पुत्र देहेक [*Deheka*] ने
विहारमें भगवान् बुद्धकी एक मूर्ति प्रतिष्ठित की थी।
इससे प्रकट होता है कि, उसने १३ वर्षों—सन् १०८४
से १०९७ ई०—तक राज्य किया था।

विग्रहपाल तृतीयके तीन पुत्र थे—महीपाल द्वितीय,
शूरपाल और रामपाल। रामपालके सबसे छोटे पुत्र मदन-
पालने अपने शिलालेखमें—जो मनहली नामक स्थानमें
मिला है—कहा है कि, विग्रहपालका लघ्वप्रतिष्ठ पुत्र
महीपाल द्वितीय, अपने पिताकी मृ०पुके पहले ही, मर गया
था, किन्तु मदनपालके शासनकालमें सम्प्रदायकर नन्दीकृत
“रामचरित” नामक काव्यग्रन्थमें लिखा है कि, “अपने
पिताके सिंहासनपर उसका राज्याभिषेक हुआ था। उसने
अपने दोनों भाइयों—शूरपाल और रामपाल—को कैद
कर लिया था। अपनी प्रजाके प्रति वह बड़ा ही निर्दयता-
पूर्ण व्यवहार किया करता था। इसके फलस्वरूप कैप-
जातीय दिव्य या दिव्यकके अधिनायकत्वमें जनताने राज-
विद्रोह मचाया और महीपाल द्वितीयको मारकर, उसके
भाई रुद्रकके पुत्र भीमको, चारेन्द्रका राजा मगनीत
किया।” “रामचरित” के इस कथानकपर वर्तमान ऐति-
हासिक विरवास भी करते हैं। इस परामय ग्रन्थकी रचना,
मदनपालको प्रसन्न करनेके अभिप्रायसे, की गयी थी,
जिसके शिलालेखमें लिखा है कि, महीपाल अपने पिताके
गीते की ही मर चुका था (त्रयोदश पद्य)। अपने पिताके

छ विग्रहशिला-विहारके बौद्ध पण्डित दीपहर श्रोत्रानने, निम्नत जाते चक्र, नेपालसे १०४१ ई० में, राजा नय-
पालको पत्त लिखा था, जो अब भी तिब्बतीय भाषामें
निदिचत है।—गुहल साहित्यायन

बाद शूरपाल और शूरपालके बाद रामपाल राजा हुआ था। महाली-शिलालेखके १५ वें पद्यसे पता चलता है कि, जिस प्रकार देवोंके अधिपति इन्द्रको असुरोंने धाम-मिश्रित किया था, उसी प्रकार राजा रामपाल भी दिव्य द्वारा, युद्धमें लड़नेके निमित्त, धाममिश्रित किया गया था; और, जिस तरह इन्द्रने असुरों द्वारा पराजित या सिंहासन-च्युत हो जानेपर भी, अपना राज्य प्राप्त किया था, उसी तरह रामपाल भी दिव्य द्वारा राज्यच्युत कर दिया गया था; किन्तु, कुछ दिनों बाद, उसने अपना राज्य प्राप्त कर लिया था। विरपात मन्त्री और तत्पश्चात् कामरूपके राजा वैद्यदेवने, अपने कमीली शिलालेखमें, कहा है कि, "विग्रहपालको चन्द्रमाके जैसा रामपाल" नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार रामचन्द्रने समुद्र लौंघकर रावणको मारा और जनकामलाका उद्धार किया, उसी प्रकार युद्धरूप समुद्रको पार कर उसने भीमको मारा और अपनी जन्मभूमि वारेन्द्रका ऊद्धार किया।" इससे तो साफ मालूम होता है कि, जिस प्रकार रामसे जानकीको रावणने अपहृत कर लिया था, उसी प्रकार दिव्यने, रामपालके राज्यको अधिष्टित कर लिया था, जिस प्रकार रामचन्द्रने रावणको मारकर जनक-लनवाका उद्धार किया था, उसी प्रकार रामपालने भीमको मारकर अपनी जन्मभूमि (जनक-भूमि) का उद्धार किया था। इन दो शिलालेखोंसे यह सहजमें ही जान जा सकती है कि, वारेन्द्रपर दिव्यने कब्जा कर लिया था, किन्तु रामपालने फिर स्वयं उसे अधिष्टित कर लिया था। पालवशीय राजाके एक प्रधान ब्रम्हाय और पुत्रके इन दो शिलालेखोंको अधिष्ठाय सम्मत्त कर हम "रामचरित"की इस कथा-पर विरोध नहीं कर सकते। वर्तमान ऐतिहासिकोंका कथन है कि, ग्रन्थकर्त्ता पालराजाके एक मन्त्रीका पुत्र था; किन्तु ऐसा सम्मत्त भारी भूल है। सन्वाचर मन्त्री लिखा है कि, उसका पिता एक मन्त्री (मन्धि-

विग्रहिक] था, किन्तु उसने यह स्पष्ट नहीं किया है कि, वह किसका मन्त्री था। "रामचरित"से साफ मालूम होता है कि, सम्भवतः वह भीमका ही मन्त्री था। अन्य मदनपालकी प्रशंसामें रचा गया था। यही कारण है कि, कविको मदनपालके शत्रुके सम्बन्धकी बातें लिखनेका साहस नहीं हुआ। अतः ऐसी दृश्यां "रामचरित"की बातें विरोधनीय नहीं हो सकती। अथ, इसलिये, यही निश्चय करना युक्तिमग्न जान पड़ता है कि, महापाल द्वितीयकी मृत्यु, उसके पिताकी मृत्युके पूर्वमें ही, हुई थी। उसके भतीजे मदनपालके शिलालेखके प्रयोद्धा पद्यसे पता चलता है कि, वह [महापाल द्वितीय] अपने साधु-स्वभाव एवं सदाचारिताके लिये धार्ष्ट्य पुरस् सम्माना जाता था—इस दृष्टिसे उसकी बड़ी रक्षा थी।

इस प्रकार विग्रहपाल तृतीयके बाद उनका द्वितीय पुत्र शूरपाल राजा हुआ था, जिनने, मेरे विचारसे, एक वर्षसे अधिक दिनोंतक राज्य नहीं किया था। मदनपालके शिलालेखके अनुसार शूरपालके शासनकालमें अकाल नहीं पड़ा—रामपालके समयमें वारेन्द्रपर दिव्य या दिव्यकक्ष अधिकार हो गया था, किन्तु पड़ोसी राजाओंकी सहायतासे उसने इसे पुनः प्राप्त कर लिया था।

रामपालने अधिक दिनोंतक राज्य किया था। उसके शासनकालके ४२ वें वर्षमें स्थापित एक मूर्ति मिली है। इसलिये उसका ४२ वर्षों—सन् १०८८ स ११४० ई०—तक राज्य करना निर्धारित होता है।

रामपालके बाद उसका पुत्र कुमारपाल राज्यका अधिकारी हुआ। उसके मन्त्री—कामरूपके तन्त्राहीन राजा—वैद्यदेवके कमीली-शिलालेखमें लिखा है कि, कुमारपालके शासनकालमें, वह अपने शत्रुकी छायाय, जलसेना (naval power) के साथ, दक्षिण बंग

एक युद्धमें लड़नेके लिये, भेजा गया था। किन्तु उसे सफलता नहीं मिली—वह निथम चन्द्रमाकी भाँति हो गया। कामरूपमें, वहाँके राजा तिरमके साथ लड़नेके लिये, वैद्यदेव भेजा गया था। युद्धमें तिरमके पराजित हो जानेपर कामरूपके सिंहासनपर वैद्यदेवकी राज्याभिषेक हुआ था। कुमारपाल बहुत थोड़े दिनों—लगभग दो वर्षों (सन् ११४० से ११४२ ई०)—तक ही राज्य कर पाया था।

अपने पिता कुमारपालके बाद गोपाल तृतीय राजा हुआ। मनहाजी-शिलालेखसे विदित होता है कि, गोपालकी मृत्यु तभी हो गयी थी, जब वह अपनी धायकी ही गोदमें था। “रामचरित”के अनुसार वह अपने किसी शत्रुके हाथों बध कर डाला गया था। उसके प्रियभाग सैनिकोंमेंसे मिलुम नामक एक सैनिकके शिलालेखमें लिखा है कि, उसकी स्वाभाविक मृत्यु हुई थी। सम्भवतः अपने राज्याभिषेकके कुछ दिनोंके बाद उसकी मृत्यु हो गयी थी। इससे तो यही सिद्ध होता है कि, उस (गोपाल तृतीय)ने सन् ११४२ ई० के कुछ ही महीनोंतक राज्य किया था।

गोपाल तृतीयकी मृत्युके बाद उसका चाचा मदनपाल सिंहासनपर बैठा। उसके शासनकालके तीसरे वर्षमें, पन्थी देवीकी एक प्रतिमा, विहारमें, स्थापित की गयी थी। आठवें साल उसने अपनी राजधानी रामावतीसे एक लाखलेख दान किया था, जो मनहाजीमें मिला है। जोगोका अनुमान है कि, रामावतीको रामपालने ही बनवाया था। इन दिनों उसका नाम बदलकर “रामृती” हो गया है। उन्नीसवें वर्षमें उसने एक दूसरी मूर्तिकी स्थापना की थी, जो मुँगेर जिलेके जयनगर नामक गाँवमें मिली है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं रह गया कि, उसने उन्नीस वर्षों—सन् ११४२ से ११६१ ई०—तक राज्य किया था।

मदनपालके बाद उसका पुत्र गोविन्दपाल गद्दीपर बैठा। गयाके पापाण-शिलालेखसे उसके राज्याभिषेकके समयका ठीक-ठीक पता चलता है। कारण, उसक शासनकालके चौथे वर्ष—सं० १२३२ या सन् ११६५ ई० में—यह शिलालेख लिखा गया था। यदि इस सन् ११६५ ई० को उसके शासनकालका चौथा साल मान लिया जाय, तो पहला साल सन् ११६१ ई० होता है। गयास्थित गदाधरके मन्दिरमें खुदे हुए एक पापाण-शिलालेखसे पता चलता है कि, उसके (गोविन्दपाल) के शासनकालके चौदहवें वर्ष—सन् ११७५ ई०—में गया उसके राज्यान्तर्गत था। अठारहवें वर्षमें “रुद्रसहस्रिका प्रज्ञा-पारमिता” नामक ग्रन्थकी एक प्रति लिखी गयी थी, जो इन दिनों पश्चिमाटिक सोसायटीकी लाइब्रेरीमें सुरक्षित है। चौबीसवें वर्षमें “क्षमरकोप” लिखा गया था। सैंतीसवें वर्षमें “गुह्यवली”की एक प्रति थीर अबतीसवें वर्षके ज्येष्ठ मासमें “पंचकर”की एक प्रति लिखी गयी थी। उन-तालीसवें वर्षके भाद्रपदमें “योगरत्नमाला”की एक प्रति लिखी गयी थी। यह सभी प्राचीन ग्रन्थ कैम्विन यूनिवर्सिटीकी लाइब्रेरीमें रखे हुए हैं। इन तिथियोंसे हमें मालूम होता है कि, उसके शासनकालके उन्तालीसवें वर्षतक गया उसके राज्यमें था। अक्षतीसवें वर्ष अर्थात् सन् ११८१ ई० के ज्येष्ठ मासमें सम्भवतः गयापर बख्तियार खिलजीका अधिकार हो गया। इस घटनाके बाद ही वह ग्रन्थ समाप्त हुआ था। यही कारण है कि, गोविन्दपालके खोये हुए राज्यका उल्लेख इस ग्रन्थमें आया। किन्तु सम्भवतः अपने शासनकालके ३६ वें वर्षमें गयाको, कुछ दिनोंके लिये, उसने पुनरधिष्ठित कर लिया हो और भाद्रपद इसपर अधिकार जमाये रहा हो। इस लिये ग्रन्थमें उसके राज्यका उल्लेख पाया जाता है इन प्रमाणों और घटनाओंके बलपर कहा जा सकता है कि, उसने ३६ वर्षों—सन् ११६१ से १२०० ई०—

कम-से-कम भाद्र—तक राख किया था। सम्भवतः वह इसी साल (सन् १२०० ई० में) उद्गमपुर-संग्राममें लूट मरा था। इन्हीं दिनों बोधगयामें राजा लक्ष्मण-सेनका आधिपत्य हो गया था। सन् १२०० ई० में गोइ और चंग प्रदेशोंपर मुसलमानोंका आधिपत्य हो गया।

पालोंका वंशवृक्ष—

१ गोपाल प्रथम	सन् ७८६ ई० तक
२ धर्मपाल	६४ वर्ष ,, ८२० ,,
३ देवपाल	४० ,, ,, ८६० ,,
४ विमलपाल प्रथम	१२ ,, ,, ९०२ ,,
५ नारायणपाल	६४ ,, ,, ९६६ ,,
६ राजपाल	२४ ,, ,, ९८० ,,

वर्ष	सन् ई० तक
७ गोपाल द्वितीय	१६ ,, ,, ९९६ ,,
८ विमलपाल द्वितीय	२६ ,, ,, १०२१ ,,
९ महोपाल प्रथम	४८ ,, ,, १०६९ ,,
१० नवपाल	१६ ,, ,, १०८४ ,,
११ विमलपाल तृतीय	१३ ,, ,, १०९७ ,,
१२ शालपाल	१ ,, ,, १०९८ ,,
१३ रामपाल	४२ ,, ,, ११४० ,,
१४ कुमारपाल	२ ,, ,, ११४२ ,,
१५ गोपाल तृतीय	कुछ महीनोंतक ,, ११४२ ,,
१६ मदनपाल	१६ वर्ष ,, ११६१ ,,
१७ गोविन्दपाल	३६ ,, ,, १२०० ,,

कार्लोकी गुफाएँ

प० आनन्दराव जोशी

संसारके इतिहासमें आजतक अनेक राष्ट्रोंका उत्थान और पतन हुआ है। प्राचीन कालसे आजतक अनेक संस्कृतियाँ इस संसारमें पैदा हुईं; और कुछ समयके बाद वे सर्वभक्षक कालके विशाल उदरमें विलीन हो गयीं—यहाँतक कि, सदियोंसे उनका नामो-निशान भी मिट गया है। संसारके इतिहासमें ऐसे इने गिने ही राष्ट्र और संस्कृतियाँ हैं, जिन्होंने अपना अस्तित्व, प्राचीन कालसे इस समयतक, अक्षुण्ण बना रखा है। हमारा भारत उन्ही इने गिने राष्ट्रोंमेंसे है, जिसने कितनी समय तमाम ज्ञात संसारपर अपना प्रभाव डाला था। भारतीय संस्कृतिके ध्येय—उसके उच्च आदर्श—आधिभौतिक न होकर आध्यात्मिक हैं, यह सर्व-

विश्रुत है। भारतके प्राचीन इतिहासको हृदयङ्गम करते समय उसकी यह सांस्कृतिक विशेषता अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये; क्योंकि, यह सांस्कृतिक विशेषता, भारतीयोंके जीवनमें, अनेक रूपोंसे प्रकट हुई है। प्राचीन भारतीय शिल्पकलाका इस आध्यात्मिक विशेषतासे अटूट सम्बन्ध रहा है, जिसकी झलक हमें तत्कालीन मन्दिरों, गुफाओं आदि स्मृति चिह्नोंके रूपमें इस समय दिखायी देती हैं। प्राचीन कालमें भारतीय शिल्पकला तथा खोदाईकी कारीगरी बहुत ही ऊँचे दर्जेको पहुँची हुई थी, यह बात अनेक सुप्रसिद्ध यूरूपियन स्थापत्य-विशारदों (इजिनियरों) तथा पुरातत्त्व-वेत्ताओंने मुक्त कंठसे स्वीकार कर ली है। भारतमें जो

बुद्धकालीन गुफाएँ इस समय मौजूद हैं, उनमें 'कार्लाकी गुफाएँ' अति उत्कृष्ट, दर्शनीय तथा अच्छी हालतमें हैं। इस लेखमें इन्हीं गुफाओंके विषयमें कुछ ज्ञातव्य बातें, संक्षेपमें, दी जाती हैं।

पश्चिमी भारतकी ये सुप्रसिद्ध गुफाएँ "कार्ला" (मराठी नाम "कार्लें") नामक एक छोटेसे ग्रामके निकट, एक ऊँची चट्टानपर, खोदी गयी हैं; और, इसी ग्रामके साक्षिण्यके कारण "कार्लाकी गुफाएँ" नामसे मशहूर हैं। यह ग्राम पूना जिलेकी "मावल" तहसीलमें, बम्बई-पूना-मार्गपर १८४५' उत्तर-अक्षांश और ७३ २६' पूर्व रेखांशपर स्थित है। इसका दूसरा नाम 'विहार-गाँव' है। पूनेसे यह ग्राम ३४ मील दूर है। इन गुफाओंके दर्शकोंको जी०आई० पी० रेलवेके 'मलवली' नामक स्टेशनपर उतरना सुविधाजनक होता है। यह बम्बई-पूना-रेलमार्गपर एक छोटासा स्टेशन है, जो बम्बईसे ८५ मील दूर है। रंगीन चित्रोका जगद्विख्यात "रविचर्मा प्रेस" भी इसी स्टेशनके पास है। यहाँसे "कार्ला" ग्राम दो मील तथा गुफाएँ २॥ मील हैं। कुछ वर्ष पूर्व यह स्टेशन "कार्ला" नामसे ही मशहूर था। किन्तु, सुना जाता है कि, जी० आई० पी० के "कुर्ला" तथा "कार्ला" इन दो स्थानोंके अंगरेजी हिज्जे लगभग समान होनेके कारण रेलवेके व्यवहारमें बड़ी गड़बड़ी होने लगी, जिसके फल-स्वरूप "कार्ला" स्टेशन के नाममें परिवर्तन होकर वह "मलवली" (Malavali) रखा गया। 'मलवली' के पहले, बम्बईसे ८० मीलपर, 'लोनावला' (Lonarala) नामक एक बड़ा स्टेशन

है। यह स्थान स्वास्थ्यप्रद जलवायुके लिये प्रसिद्ध है। यहाँसे कार्लाकी गुफाएँ ५ मील हैं; और, कुछ लोग इसी स्टेशनपर उतरकर इन गुफाओंके दर्शन करते हैं। सम्प्रति बम्बईसे लोनावालाका, तीसरे दर्जेका रेल किराया १॥८ है। दक्षिण-भारतके दर्शकोंको पूना-मार्गसे जानेमें सुभीता है। उत्तर तथा पूर्व भारतके लोगोंको प्रथम जी० आई० पी० के "कल्याण" जंक्शनपर उतरकर बम्बई-पूनाकी गाड़ी-में बैठना पड़ता है।

"मलवली" से कार्लाकी गुफाएँ २॥ मील दूर है, यह ऊपर बताया जा चुका है। स्टेशनसे ठेठ गुफाओंतक चैलगाड़ीका रास्ता बनाया गया है। स्टेशनपर किरायेकी चैलगाड़ियाँ मिलती हैं, जो सस्ते दाममें गुफाओंतक पहुँचा देती हैं। कार्लाकी ये गुफाएँ, सह्याद्री-पर्वतश्रेणीकी एक विशाल चट्टानमें, ४०० फुटकी ऊँचाईपर खोदी गयी हैं। गुफाएँ अपने सौन्दर्य, भव्यता तथा विशालताके लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। "एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका" में उनका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंमें किया गया है—

The great cave of Karh, excavated at a time when the style was in its greatest purity and splendidly preserved, is the largest and finest Chaitya-cave in India."

"कार्लाकी प्रसिद्ध गुफा भारतका एक अति विशाल एवं दर्शनीय चैत्य-गुहा है, जो शिल्पकलाकी अति शुद्धाग्र्यामें खोदी गयी थी और अत्यंत

७ मराठी-भाषा-भाषियों में ये गुफाएँ 'तातोंची लेणी' नाम से प्रसिद्धि हावी हैं। 'लेणी' शब्द 'लेण' वा बहुवचन है। यह शब्द संस्कृतक "लेण" (११) शब्दसे व्युत्पन्न हुआ है, जिसके बादमें 'लेण' का अर्थ "बहा-में खोदा हुआ घर" हुआ। —मेथल। निर्दोषमें भी "लेना" कहते हैं। —राहुल साहस्रायण।

यह हो अच्छी हालतमें मौजूद है।" फर्गुसन साहब अपने "पूर्वीय तथा भारतीय शिल्पकलाके इतिहास" (*History of Eastern and Indian Architecture*) में लिखते हैं—

"It is certainly the largest as well as the most complete Chaitya-cave hitherto discovered in India and was excavated at a time when the style was in its greatest purity"

"भारतमें आजतक जितनी चैत्य गुहाएँ पायी गयी हैं, उनमें यह चैत्य-गुहा निस्सन्देह बहुत बड़ी एवं सम्पूर्ण है, जो शिल्पकलाकी अति शुद्ध-वस्त्रा में खोदी गयी थी।"

रचना-कौशलके सम्बन्धमें वे एक जगह लिखते हैं—

"But the proportions of such parts as remain are so good and the effect of the whole so pleasing that there can be little hesitation in ascribing to such a design a tolerably high rank among architectural compositions"

"किन्तु उसके जिन हिस्सोंके आज हमें दर्शन होते हैं, उनकी प्रमाणबद्धता इतनी उत्कृष्ट है तथा यह सब दृश्य इतना सुहावना है कि, उसे शिल्पकला की दृष्टिसे ऊँचे दर्जेका स्थान आसानीसे दिया जा सकता है।"

दर्शक जब चट्टानकी चढ़ाईका रास्ता चलकर गुफाओंके निकट आता है, तो उसे सबसे पहले एक ३२ पहलूगले सिंहस्तम्भका दर्शन होता है। यह स्तम्भ काले पत्थरसे बनाया गया है; और, इसके माथेपर चारों ओर सिंहकी चार मूर्तियाँ खोदी हुई

हैं। इन मूर्तियोंकी खोदाईकी एक विशेषता यह है कि, उनके पिछले भाग अलग न होकर परस्पर मिले-जुले हैं। सिंहस्तम्भके आगे "एकवीरा" देवी (परशुरामकी माता रेणुका) का प्राचीन मन्दिर है। "एकवीरा" नामकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें यह अनुमान किया गया है कि, द्रविड़-देशके "अक्का अवेयार" (पूजनीय माता) शब्दसे यह बना होगा। किन्तु कोई उसका सम्बन्ध परशुरामकी मातासे—यानी जिसने परशुराम जैसे एकमात्र वीरको पैदा किया, उस "एकवीरा"से लगाते हैं। समुद्रके किनारेके धीवरोंकी वह कुलदेवता है और इस कारण वे लोग उसे बड़ी भक्तिसे पूजते हैं। यह मन्दिर, बौद्ध-धर्मियोंने, ध्यान-साधनाके लिये, बनाया था; और, इसमें देवीकी स्थापना बादमें हुई है। इस मन्दिरके घण्टेपर जो नाम खोदा हुआ है, उससे यह ज्ञात होता है कि, 'ठाना' (मराठी नाम 'ठाणे') के "जीवन-पदम" नामक धीवरने यह मन्दिर बनवाया था। साथ ही यहाँके शिलालेखसे यह प्रकट होता है कि, इस मन्दिरका जीर्णोद्धार सन् १८६६ ईस्वीमें हुआ था। इस देवीका उत्सव चैत्र मासमें, शुक्र-अष्टमीसे पूर्णिमातक, होता है। उस समय देवीके दर्शनार्थ यात्रियोंकी (विशेषकर 'कोंकण'-प्रान्तके धीवरोंकी) यहाँ घासी भीड़ होती है।

इस मन्दिरकी दाहिनी ओर छोड़कर आगे चलने पर दर्शकको गुफाओंके मुख्य मन्दिर अथवा चैत्य-गुहाका दर्शन होता है। 'चैत्य-गुहा' शब्दका अर्थ है बौद्धधर्मियोंका प्रार्थना करनेका स्थान अथवा उपासना या चिन्तन करनेका मन्दिर। इस चैत्य-गुहामें, प्रवेशके पूर्व पहले द्वारमण्डप (porch) है। इसकी चौड़ाई ५२ फूट अर्थात् चैत्य-गुहाकी चौड़ाई से कुछ ज्यादा है; और, यह दो मोटे अठपल्लू

पत्थरोंके स्तम्भोंपर स्थित है। इसके बाद चैत्यका महाद्वार है, जिसके ऊपर एक छज्जा (गैलरी) बनाया गया है। इस महाद्वारसे चैत्य गुहाकी भीतरी दीवारतककी लम्बाई १२६ फुट और चौड़ाई ४५ फुट, ७ इंच है। यह चैत्य गुहा तीन दालानोंमें विभाजित है। चैत्य-गुहाके मध्यमें एक बड़ा सभामण्डप तथा उसीकी अगल-अगल दो छोटे दालान हैं। चैत्य-गुहाके समान महाद्वार भी तीन उपद्वारोंमें विभाजित है—एक सभामण्डपके और दो क्रमशः दो दालानोंके लिये। महाद्वारकी गैलरीके ऊपर सभामण्डपका जो अर्द्धगोलाकार हिस्सा है, वह प्रकाशके लिये पुला रखा गया है। सभामण्डपकी चौड़ाई २५ फुट, ७ इंच तथा बाजूके प्रत्येक दालानकी १० फुट है। सभामण्डपकी दोनों तरफ पन्द्रह मोटे अठपहलू स्तम्भ हैं, जिनपर गजारूढ़ स्त्री-पुरुषोंकी मूर्तियाँ हैं। कुछ स्तम्भोंपर स्त्री-पुरुषोंके नृत्य दिखाये गये हैं। स्तूपके पीछेके सात तथा महाद्वारके पासके चार स्तम्भ सादे हैं। अन्य स्तम्भोंसे उनकी रचना कुछ निराली है और उनपर खोदाईका काम भी थोड़ा है। स्थानाभावसे इन स्तम्भोंका यहाँ अधिक वर्णन नहीं किया जा सकता। इस चैत्य-गुहामें महात्मा बुद्धकी अनेक मूर्तियाँ हैं। छोटे दालानोंकी दीवारपर अश्वारोहियोंके चित्र हैं। इसके अलावा और कई मूर्तियाँ तथा कारीगरीके दर्शनीय काम हैं, जिन्हें देखकर तत्कालीन वेपभूषा, केश-रचना, अलंकार इत्यादिकी कल्पना हो सकती है। सभामण्डपकी छत ४६ फुट उँची तथा अर्द्धगोलाकार है। इस छतकी एक अनूठी विशेषता यह है कि, इसमें लकड़ीकी बहुतसी कमानें लगायी गयी

हैं, जो आज भी ज्यों-की-त्यों मौजूद हैं! * फर्गुसन साहब इन कमानोंके सम्यन्धमें लिखते हैं—

"It is ornamented even at this day by a series of wooden ribs probably coeval with excavation, which prove beyond the shadow of doubt that the roof is not a copy of a masonry arch, but of some sort of timber construction which we cannot now very well understand."

"लकड़ीकी कतिपय कमानें, जो आज भी इस चैत्यकी शोभा बढ़ा रही हैं, सम्भवतः खोदाईके समयसे ही वहाँ बैठायी गयी हैं। इससे यह निस्सन्देह प्रकट होता है कि, यह छत्र किसी प्रकारके मेहराबका प्रतिरूप न होकर, कोई ऐसी लकड़ीकी बनावट है, जिसके विषयमें हम इस समय ठीक तौरसे कल्पना नहीं कर सकते।"

छतमें ये लकड़ीकी कमानें किस उद्देश्यसे लगायी गयी हैं, यह भी बताना कठिन है। फर्गुसन साहब भी इसकी मीमांसा नहीं कर पाये हैं। सुप्रसिद्ध भारतीय लेखक श्रीमान् सेन्ट निहालसिंह जी अपनी 'अर्वाचीन और प्राचीन भारत' (*India: New and Old*) नामक पुस्तकमें लिखते हैं—

"Whether it was put in merely to hide the stone, or for securing proper acoustic properties, or to facilitate hanging up banners and standards, or for all these objects, no one can tell."

"इन कमानोंका उद्देश्य केवल पत्थर ढाकने या ध्वनिशास्त्रकी दृष्टिसे कुछ सुभोगे प्राप्त करने

* 'The cave which dates from the beginning of the Christian era or earlier, has a wooden roof in a remarkable state of preservation.' —ENCYCLO, BRITANICA.

या भंडियाँ आदि लगाने अथवा इन सभी बातोंके लिये था, यह नहीं बताया जा सकता ।” भारतकी प्राचीन गुफाओंमें यही एक ऐसी गुफा है, जिसकी छत इस प्रकार लकड़ीकी कमानोंसे मढ़ी है ।

सभामण्डपके आखिरी सिरेपर, उसके मध्यमें, पत्थरका एक प्रचण्ड स्तूप है । स्तूपोंमें प्राचीन कालके किसी धर्मप्रवर्तक या गुरुके केश, दाँत आदि अथवा उनके नित्य उपयोगकी कोई वस्तु रखी जाती है । स्तूपको “दागोबा” (*dagoba*) अथवा “धातुगर्भ” भी कहते हैं । यह स्तूप चट्टानमें ही गोलाकार खोदा हुआ है और इसपर कारीगरीका कोई काम नहीं है । माथेपर लकड़ीका एक बहुत पुराना छत्र है । स्तूपकी ऊँचाई लगभग ४५ फुट और व्यास २० फुट है । कहते हैं कि, इस स्तूपमें महात्मा गौतममुद्गके शरीरका कुछ अवशिष्ट भाग रखा गया है । स्तूपसे वायव्यमें उसके माथेपर १० इंचका एक छेद है; और, सम्भवतः इसीके द्वारा बुद्धकी धातु अन्दर रखी गयी थी । इसके अलावा आठ छेद और हैं, जो अनुमानतः कोई वस्तु टाँगनेके लिये बनाये गये हैं । चैत्य-गुहाका अन्तर्भाग प्रकाशित करानेके लिये जिस सुन्दर तरीकेका अवलम्बन किया गया है, वह वास्तवमें आश्चर्यजनक है । महा-द्वारके ऊपर गैलरीका जो अर्द्धगोलाकार भाग खुला रखा गया है, वह इस ढंगसे बनाया गया है कि, सम्पूर्ण प्रकाश इसी एक मात्र रास्तेसे भीतर आता है; और, यह ठेठ स्तूपके ऊपर पड़कर तमाम अन्तर्भागको प्रकाशित करता है । आजकल इन गुफाओंको “पाण्डनरुन्य” या “पाण्डव लेणी” (यानी पाण्डवों द्वारा अपने वनवासके समय खोदी गयी गुफाएँ) कहते हैं । इस कल्पनाके अनुसार यह स्तूप “धर्मराजका सिंहासन” या “धर्मराजका डेरा” कहलाता है ।

सभामण्डप और दालानोंमें कुल २२ शिलालेख हैं । इन शिलालेखोंमें गुफाओंकी रचना करनेवालों, उन्हें खोदनेवाले कारीगरों तथा दान देनेवाले दाताओंका नामोल्लेख पाया जाता है । इसके अलावा इन शिलालेखोंसे इस बातका भी पता चलता है कि, ईसाके ७८ वर्ष पूर्व इस प्रदेशमें महाराज भूति या देवभूतिका राज्य था । चैत्य-गुहाके निकट बौद्ध भिक्षुओंके विहार (मठ या निवासस्थानके कमरे) हैं । चैत्य-गुहाके समान ये विहार भी उसी चट्टानमें खोदे हुए हैं और उनमेंसे कुछ दो मंजिले भी हैं । ये विहार बौद्धधर्मीय भ्रमणों यानी भिक्षुओंके निवास एवम् अध्ययनके लिये बनाये गये थे । प्रत्येक कमरे में एक मनुष्यके लिये काफी जगह है । विहारवासियों के उपयोगके लिये यहाँ पानीके बड़े-बड़े हौज हैं । किन्तु इस समय उनमें अच्छा पानी नहीं रहता । गुफाओंके आसपास, इसी चट्टानमें, यत्र-तत्र खोदाईके कुछ अधूरे एवम् फुटकर काम पाये जाते हैं । इस प्रकारकी अधूरी एवम् फुटकर खोदाइयाँ “कार्ला” ग्रामके आसपासकी अन्य चट्टानोंमें भी अनेक जगह पायी जाती हैं ।

पुराने तथा ऐतिहासिक महत्त्वके स्थलोंकी रक्षाके कानूनके अनुसार सम्प्रति इन गुफाओंकी देण-भाल सरकारके पुरातत्व-विभाग द्वारा होती है । कार्लाकी गुफाओंका रचना-काल प्रायः ईसाके २०० वर्ष पूर्वका माना गया है । लगभग द्वाँह हजार वर्ष पूर्वकी इन गुफाओंको देखकर तत्कालीन कारीगरोंकी बुद्धिमत्ता, हस्तलाघयता और कल्पकता का कायल होना पड़ता है । प्राचीन भारतीयोंकी अत्यन्त कारीगरीके इस स्मृतिचिह्नको देणकर हृदय पुलकित हो उठता है और “*the style reached a perfection never afterwards surpassed.*”

ये तत्कालीन कालाँके अपूर्व विकासके प्रशंसाद्वारा यथार्थ प्रतीत होने लगते हैं। पूर्वकालीन भारतीय इमारतोंकी पद्धति, भारतीय फारीगरोंका कौशल, भारतीयोंकी निस्सीम श्रद्धा आदिकी जिनको कल्पना न हो, उन्हें यहाँके ये भव्य स्मारक अवश्य देखने चाहिये। इन पद्धतियोंके लेखकको ये शुभाप्य

देगनेका सौभाग्य धारण वर्ष पूर्व—सन् १९२०में—प्राप्त हुआ था। आशा है, इन पद्धतियोंकी पाठक भी अपने जीवनमें एक बार हमारे पूर्वजोंको इन प्राचीन स्मृति चिह्नोंको देगनेका सुअवसर प्राप्त कर भारतीय संस्कृतिकी विशेषताओंको हृदयङ्गम करनेकी चेष्टा करेंगे।



दानार्णवके पुत्र महाराजा इन्द्रवर्माका टेकली=स्थित ताम्रपत्र

राजा लक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव बहादुर

सन् १९२३ ई० में यह ताम्रपत्र, हमारे टेकली-राज्यके अकवरम् नामक गाँवमें, एक किसानके द्वारा, मिला था। सम्भवत इस अकवरम् गाँवका नाम, मुसलमानोंके शासनकालमें, अकवरपुर था। यहाँ अब भी एक प्राचीन दुर्गका ध्वसावशेष पडा हुआ है। इस ध्वसावशेषके बीच मुझे एक पाषाण शिला लेख भी मिला है। इस शिला लेखमें लिखा है कि, अनन्तर्मा जोडगङ्गादेवकी एक रानीने यहाँ पर एक वैष्णव-मन्दिर निर्माण कराया था, और, शकाब्द १०४२ अर्थात् सन् ११२० ई०में स्थायी प्रदीप (Perpetual light) दान किया था। इस सम्वन्ध का मेरा लेख "East Coast" नामक एक अँग्रेजी साप्ताहिकके भाग १, पृष्ठ २८में प्रकाशित हुआ है।

उन दिनों समस्त भारतवर्षमें मुसलमानोंकी शक्ति बहुत बढ़ी-बढ़ी थी। उन्होंने हिन्दुओंके मन्दिरों, ताम्र-दानपत्रों, समाधियों और पाषाण-शिलालेखोंको चिलकुल नष्ट भ्रष्ट कर दिया था। ऐसे-ऐसे प्राचीन चिह्नोंको वे अपने नये धनवाये हुए दुर्गों में रखा करते थे।

उपर्युक्त शिला लेख और ताम्र दानपत्र, दोनों उसी दुर्गके ध्वसावशेषमें मुझे मिले हैं। इस ताम्र-दानपत्रमें तीन पट्ट, एक साथ ही, ताँदकी एक ँगूठीके द्वारा, संयुक्त हैं। फडके जोडपर उस गंग-राजवंशकी मुहर लगी हुई है, जिसमें "वर्मा" उपाधि प्रचलित थी। इस कारण यह कहा जा सकता है कि, यह ताम्रपत्र गंग राजवंशकी उस प्रथम शाखाका है, जो फलिङ्गपर शासन करती थी और जिसकी उपाधि "वर्मा" थी। प्रत्येक ताम्रपट्टकी लम्बाई ५ इंच और चौड़ाई २ इंच है। सूर्यग्रहणके अनन्तर गंग-राजवंशीय दानार्णवके पुत्र महाराजा इन्द्रवर्माने कुछ भूमि दान की थी। उसी दानके सम्वन्धका यह ताम्रपत्र है। १५४ गंग-संवत्में, महाराजा इन्द्रवर्माने, स्कन्ध शर्मा नामक एक व्यक्तिको, तत्कालीन रूपनर्तिनी प्रदेशके अन्तर्गत तुङ्गना नामक गाँवमें, विद्युदुगङ्गाकी तटवर्ती भूमि दान की थी। वह तुङ्गना आजकलका तुङ्गना नामक गाँव है और वनकी विद्युदुगङ्गा अवकी कोल्लुव गेट्टा (Kotturu Gedda) है। इस दानपत्रके लेखक थे भोगीकरके पुत्र पण्डी-

चन्द्र और ताम्रपट्टपर तोदनेवाले थे धर्मचन्द्रके पुत्र शम्भुपुरोषाध्याय । धर्मचन्द्र राज्यके गजाध्यक्ष (Superintendent of Elephants) थे ।

इस राजाका यही गंग संवत् अतक जाननेमें आया है । इसी राजाका एक ताम्रपत्र गंग-संवत् १४६ में भी लिया गया था । * इस ताम्रपत्रके भी लेखक आदित्यमोगिकके पुत्र राण्डोचन्द्र ही है । प्रथम पत्र (पट्ट) का यहिर्गुण मिलकुल सादा है । द्वितीय और तृतीय पत्रके दोनों ओर लिखे हुए हैं । अक्षर सुस्पष्ट और खोदाई अच्छी दर्शमें है । दान-पत्र-लेख, इन तीनों ताम्रपत्रोंमें, समाप्त हुआ है । तीनोंमें बायी ओर आध इंचका एक छेद है और इसीमें ताँबेकी एक अँगूठी डाला हुआ है । कड़ेका व्यास ३२ इंच है, और, इसपर जो सोल (seal) लगी है, उसमें एक पड़े वृषभका चित्र है । कड़ेके साथ पूरे ताम्रपत्रका वजन ५६ तोला है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि, तीनों पट्टोंमें पूरा दान-पत्र समाप्त हुआ है । यह दानपत्र कुल ३२ पङ्क्तियोंमें है, जिसका चित्रण इस प्रकार है—
पहलेकी पीठपर ७ लाइनें, दूसरे (सामने) में ८ लाइनें, दूसरेकी पीठपर ८ लाइनें, तीसरे (सामने) में ८ लाइनें, तीसरेकी पीठपर १ लाइन; कुल ३२ लाइनें हैं ।

इस दान-पत्रकी खोदाई तो ब्राह्मी-लिपिमें है ; किन्तु भाषा संस्कृत है । अन्तमें व्यासगीताके दो श्लोक भी दिये हुए हैं । खोदाई शुद्ध और सुस्पष्ट है ।

मूल लेख (पहले ताम्रपत्रकी पीठपर) यों है—

(१) “ऊ” स्वति सर्वैर्तुषुखरमयीयाद्विजयधर्मानिवासा-
त्वर्णिग न—

(२) गृहवासकामनेन्द्राच नामलाशिश्वप्रतिष्ठितस्य श्वराचगु—

(३) रोस्तकलभुवननिम्माधिक्युधधारस्य भगवतो गोवर्ण—

(४) स्थामिनश्चत्तकमलपुगलप्रणामाद्विगतकलिकल—

(५) हो गागमलकुलडिलको नयविनय. सम्पदाधार
स्वाति—

(६) प रापरित्यन्नाधिगतकलकल्लिगाधिराज्यः प्रवि-
ततचतुरदधि—

(७) यलिलतरगनेपडावनीलनामलयः भनेकमर—
(दूसरेके सामनेमें)

(८) संघटविजयजनिजयराष्ट्रप्रणोपनतसमस्तगाम—

(९) नचुक्कामधिप्रमामप्ररीपुत्राजितचत्तः परममा—

(१०) हेरवतो मातापितृप्रदानुभवातभीमदानार्णवयु-
ध्रीमान्महा—

(११) राजेन्द्रधर्मा रूपवति विषये सुगन्नाग्रामे
सर्वगमनेनानुदु—

(१२) निबलसमाज्ञापयल्लिखित विदिनमस्तु वो यथा-
स्मिन्नाम हल—

(१३) स्वभूमिर्नृक्षदेयदण्डनानमिनासर्वैर्भौः परिहृत्वाच—

(१४) नार्कप्रतिष्ठात् कृत्वा भ्रम्य भविषोढि भट्टारि
क्राया पुण्याभिदु—

(१५) द्वये सुवैरागे सलिलपूर्वक गृहवोक्तास्तव्याय
शाण्डि—

(दूसरेकी पीठपर)

(१६) लयसगोत्राय वाजउनेयमन्नक्षचारिणे वेदेवेदाग-
पारगा—

(१७) य इन्द्ररामेणे सप्रतापदेव विदित्वा स्वस्व-
कोपा भूमि भुजानस्य न—

(१८) केनचिदावाध काव्य सोमार्णिगान्यप्यस्य
क्षेत्रस्य प्रदक्षिणक—

(१९) मेघ बोद्धव्यानि पूर्वैष्य विदुष्यया दक्षिणेन
पुरुषपद्मा—

(२०) यथा पाषाणपेकिः पश्चिमेन शर्करावाटकः
सीमान्ताः उत—

(२१) रेणापि सेव विद्वयुद्गंगा तुंगनतटाकोरुधम-
[७५] क्षेत्रं वाग स—

(२२) यदा ब्राह्मणपलान्वाश्च निर्गत्य प्रविशति याव-
त्पच्यते भविष्य—

(२३) तथ राज्ञ प्रज्ञापयति धर्माक्रमिकमाणा मान्यतम-
(तीसरेके सामनेमें)

(२४) योगाद्वाप्य महीमनुज्ञा सदिभार्यन्दानधर्मोनुपा-
लनीयो व्या—

(२५) सगोनाथान श्लोका भवन्ति बहुभिर्बहुधा
दत्ता बहुभिधानुपालिता

(२६) यस्य यस्म यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फल
स्वदत्ता परदत्ता वा—

(२७) यत्नादक्षयुधिष्ठिरमहोम्महिमता धेष्टदानान्द्वेयोनु—

(२८) पालनं धृष्टिर्धैर्यसहस्राणि स्वर्गं निष्ठति भूमिद-
भा—

(२९) क्षेत्रा चातुमन्ता च तान्येव नरेके वसेदिति
भ्राह्मा महामहत—

(३०) रहशिशर्मा प्रवर्द्धमानविजयराज्यसंवत्सरास्त्रिलिखित—

(३१) मिव शासनं हस्त्यदध्यक्षधर्मचन्द्रसूनुना सम्भा-
विहृतेन शम्भपुरा—

(तीसरेकी पीठपर)

(३२) पाण्डयेनोक्तकीर्णमादित्यभागकसूनुना खण्डि-
चन्द्रोत्पति ”

मतलब कि, “जो गोकर्णेश्वरस्वामी इस
निखिल विश्वके स्वप्ता और प्रतिपालक हैं,
जिनकी स्थापना महेंद्रगिरिके शिखरपर हुई है,
उनके जो पूजक हैं, जिनके कलियुगके पाप धुल
गये हैं, जो निष्कलङ्क गङ्गा-राजर्शमें, उत्पन्न हुए
हैं, जो बड़े सज्जन, विनम्र और सम्पत्तिशाली

हैं, जिन्होंने अपने चाहुयलसे कलिङ्गपर विजय
पायी, जिनकी कीर्ति देशके एक छोरसे दूसरे
छोरतक फैली, जिन्होंने युद्धोंमें सदैव शत्रुओंको
पराजित किया, जिनके चरणोंमें पराजित नृपति-
योंके मणियुक्त-मुकुटधारी मस्तक झुके रहते हैं,
जो अपने माता-पिताके सेवक हैं, वे—दानार्णवके
पुत्र श्रीमहाराजा इन्द्रधर्मा कलिङ्गनगर (कलि-
ङ्गपट्टनम्) से—जो सत्र शत्रुओंमें एक मनोरम
स्थान है—रूपनति प्रान्तके तुङ्गन्न निवासियोंको
आज्ञा देते हैं कि, ब्रह्मदेयदण्डकी जोत (हलस्य
भूमि), अधिपोडि भट्टारिका देवीकी उपस्थितिमें,
इस सूर्यग्रहणके अवसरपर, स्कन्द शर्माको—जो
वेद-वेदाङ्गोंमें पारङ्गत है और वाजसनेयी, शाण्डिल्य-
गोत्रमें उत्पन्न हुए है—सूर्य-चन्द्रकी अवधितक
भूकर-विमुक्त [लाप्तिराज] दान कर दी जाती
है । कोई भी राजा इस [दानपर] के नियम-
को न तोड़े । चौहद्दी—पूर्वमें त्रिदुयुद्गङ्गा, दक्षिणमें
पापाणपङ्क्ति, पश्चिममें गन्नेका खेत, उत्तरमें
विद्युद्गङ्गा ।

“भानी नियमोंके अनुसरणके लिये व्यास द्वारा
गाये गये श्लोकोंका अवतरण दिया जाता है ।

“आज्ञाके मृतलेखाधिकारी [*Executors of the Command*]—हरिशर्मा, विजयराज्य संवत्
१५४ लेखक—हस्त्यप्रक्ष धर्मचन्द्रके पुत्र शम्भपुरो-
पाध्याय । पापाण-शिलालेखक—आदित्यभोगकके
पुत्र पण्डिचन्द्र ”

नीचे “वर्मा”—उपाधिधारी व्यक्तियोंके कुछ
उपलब्ध ताम्रपत्रोंकी सूची दी जाती है—

राजाओंके नाम गङ्गा-विजयसंवत् विवरण

१ × × × × २८ थिरलङ्की टैकली-
ताम्रपत्र ।

राजाओंके नाम गंग-विजय-संवत् विवरण	राजाओंके नाम गंग-विजय संवत् विवरण
२ हस्तिवर्मा } " ८० उल्लमके ताम्रपत्र ।	१० अनन्तवर्मा } " २५१ कलिङ्ग ताम्रपत्र ।
३ इन्द्रवर्मा } " ८७ लेखक द्वारा प्राप्त ।	का पुत्र } " २५४ विजयापट्टम्का ताम्र-
" } " ६१ अच्युतपुरम्मा ताम्रपत्र ।	देवेन्द्रवर्मा } " ३०० लेखक द्वारा प्राप्त ।
४ राजेन्द्रवर्मा- } " लेखकके भाई	०११ देवेन्द्रवर्मा } " ३०८ सन् १६१८ "South
का पुत्र } " ११० द्वारा प्राप्त ।	अनन्तवर्मा } " Indian Lpig"की
देवेन्द्रवर्मा } " १२८ चिकाफोलका	०१२ राजेन्द्रवर्मा } " ३०६ जारजङ्गी-ताम्रपत्र ।
" } " १३६ ताम्रपत्र ।	१३ इन्द्रवर्मा } " ३४२ B. & O. R. S. के
" } " १४६ पुर्लेपेट "	१४ देवेन्द्रवर्मा } " ३४२ B. & O. R. S. के
६ दानार्णवका } " १५४ लेखक द्वारा प्राप्त ।	का पुत्र } " ३४२ B. & O. R. S. के
पुत्र इन्द्रवर्मा } " १५४ लेखक द्वारा प्राप्त ।	राजेन्द्रवर्मा } " ३४२ B. & O. R. S. के
७ गुणार्णवका } " १८३ चिकाफोल	१५ देवेन्द्रवर्मा } " ३५२ चिकाफोलमें मिला
पुत्र } " (Chicacole) में प्राप्त ।	का पुत्र } " ३५२ चिकाफोलमें मिला
देवेन्द्रवर्मा } " १८४ अदावाका ताम्रपत्र	१६ यज्ञीके पुत्र } " ३६७ छडीबलसाका ताम्रपत्र
" } " १६६ सिद्धान्तमूर्ति प्राप्त ।	इन्द्रवर्मा या } " ३६७ छडीबलसाका ताम्रपत्र
८ देवेन्द्रवर्माका } " २०४ एक घेदान्तीका "तला-	वस्त्रोन्मूलसिंह } " ३६७ छडीबलसाका ताम्रपत्र
पुत्र } " तेल" नामक ग्राम दान किया	उसका पुत्र } " ३६७ छडीबलसाका ताम्रपत्र
अनन्तवर्मा } " था । ताम्रपत्रका लेख लेख-	भूपेन्द्रवर्मा, } " ३६७ छडीबलसाका ताम्रपत्र
" } " कने हा पड़ा था ।	भूपेन्द्रवर्माका } " ३६७ छडीबलसाका ताम्रपत्र
९ अनन्तवर्मा } " २२१ लेखक द्वारा प्राप्त ।	पुत्र देवेन्द्रवर्मा } " ३६७ छडीबलसाका ताम्रपत्र
का पुत्र } " २२१ लेखक द्वारा प्राप्त ।	१७ देवेन्द्रवर्मा } " १०३१ (शक०)काम्यकाय-ताम्र०
इन्द्रवर्मा } " २२१ लेखक द्वारा प्राप्त ।	१८ मधुकामन्ता ५२६ (शक०) { [Vide C P No. & E P Report for 1918-19]

* सम्भवतः दानों आई ही थे ।



एक अद्वितीय प्रतिमा

श्रीयुत रयाद्योडलाल ज्ञानी एम० ए०

गत अक्टूबर मासमें बम्बई-मुनिसिपलिट्रीकी ओरसे परेल्से शिबरीतक नयी सडक निकाली जा रही थी। उस समय परेल्की गोलंजी हिल नामक टेकरीका एक हिस्सा जव खोदा जा रहा था, तब एक बड़ी भारी शिला निकल आयी। ऊपरसे कुछ मिट्टी हटानेपर मालूम हुआ कि, वह कोई मूर्ति है। शिल्पकारदेवीके मन्दिरके समीपमें ही होनेके कारण लोगोंने इसे देवी समझकर पूजा शुरू कर दिया। सभी मिट्टीसे बाहर निकलने भी नहीं पायी थी कि, उसपर गन्ध, पुष्प और पैसोंकी बौछार होने लग गयी। सारे शहरमें एक तहलका मच गया। भावुक लोग पूजा-स्नानमी खेलकर आने लगे। ऊपर कई विद्वान् और अन्वेषक महानुभाव मूर्तिकी पहचान और उसकी शास्त्रीय छान-बीनमें लग गये। पुरातत्त्वविभागके अधिकारी, स्थानीय रायल एशियाटिक सोसायटी और बम्बईकी हिस्टोरिकल सोसायटी आदिने सरकारसे इस बातका आग्रह किया कि, वह टूटकर टूटकर पेटके मुवाविक उसे संरक्षित कर स्थानाय संग्रह-स्थान (*Prince of Wales Museum*) के लिये भेंट दे दे, जहाँ जनता, पुरातत्त्व-विधाके प्रेमियों और अन्वेषकोंके लिये वह दर्शनीय रहेगी। दूसरी ओर परेल्के हिन्दुओं और वहाँके कुछ प्रतिष्ठित सद्गुरुवर्योंकी राय थी कि, यह स्थानीय जनताकी पूजाके लिये दे दी जाय, हम यहाँ मन्दिर बनाकर उसकी पूजा करेंगे। सरकारने विचार किया, और, सभी कुछ दिनोंकी बात है कि, बम्बईके कलक्टर साहबने उसका फैसला सुना दिया कि, मूर्ति परेल्की शिल्पकारदेवीके मन्दिरके टूट्टियोंके हवाले कर दी जाय,

जो उसे किसी मन्दिरमें रखें और वहाँ सर्वसाधारणको आने-जानेकी इजाजत रहे।

यव जरा इस प्रतिमाका श्वलोक्न कीजिये। यह मूर्तिवाली शिला कुछ सुखीमायल पीले रंगकी है। इसकी लम्बाई करीब १४ फीट और चौड़ाई करीब ६ फीट है। शिलाके मध्य भागमें जटा मुकुटधारी एक मूर्ति दाहिने हाथमें सुमिरनी और बायें हाथमें जल-कमण्डलु लिये खड़ी है। इसकी जटामें ज्ञान चिह्न-रूपी चन्द्रमा, भालपटमें ज्ञान-शक्ति द्योतक एक नेत्र, कमरमें कटि-मेखला, हाथोंमें कङ्कण, भुजाओपर बानूयंद और गलेमें गुलूयंद शोभा दे रहे हैं। इस मूर्तिके पृष्ठ भागसे एक दूसरी ऐसी ही मूर्ति निकली हुई नजर आती है, जिसका कमरसे ऊपरका भाग ही दृष्टिगोचर होता है। इस मूर्तिके अलङ्कार और आयुषादि सब पहली मूर्तिकेसे ही हैं, फर्क केवल यही है कि, पहलीका दाहिना हाथ विस्मयमुद्रामें है और बायेंसे कमण्डलु हथेलीमें दबा हुआ है तथा दूसरी मूर्तिके दाहिना हाथ ज्ञानमुद्रामें है और बायें हाथकी उँगलियोंमें कमण्डलु लटका हुआ है। इन दोनों मूर्तियोंके कंधोंके नीचे, पीठकी ओरसे, दाहिने और बायें एक-एक मूर्ति और निकलती हुई दीख पड़ती है। इन चारोंका एक एक पैर ऊपरकी ओर खिंचा हुआ है, मानो सभी वड़ा चाहती हैं। इन मूर्तियोंके भी जटामुकुट हैं और अलङ्कार तथा आयुषादि उक्त मूर्तियोंके सदृश ही हैं। कमण्डलु और माला तो बैसे ही हैं, परन्तु हाथकी मुद्रामें कुछ फर्क मालूम होता है।

मध्यकी दो मूर्तियोंके ऊपर दूसरीके पृष्ठ भागसे एक तीसरी मूर्ति निकली हुई है, जिसका कमरसे ऊपरका भाग नजर आता है । इस मूर्तिकी मुखाकृति और अलङ्कारादि अन्य मूर्तियोंके सदृश ही हैं; परन्तु इसके हाथ दस हैं । प्रत्येक तरफके पाँच हाथोंमें भिन्न-भिन्न आयुध हैं । दाहिनी तरफके एक हाथमें शृंग (सींग), दूसरेमें खड्ग, तीसरेमें शूज, चौथेमें डमरू और पाँचवें में अक्षमाला है । बायीं शरीरके पहले हाथमें पाश, दूसरेमें खेटक (डाल), तीसरेमें धनुष, चौथेमें खेंचरी और पाँचवें हाथमें कमण्डलु है ।

इस संयुक्त मूर्ति-समूहके नीचे अर्थात् मध्यकी पहली मूर्तिके पैरोंके दाहिने और बायें कुछ संगीत-शास्त्री भी बैठे हुए नजर आते हैं । बायीं तरफ एकके हाथोंमें एक तारा और करताल तथा दूसरेके हाथमें मोरचम दीख पड़ती है । दाहिनी ओर तीन व्यक्ति हैं । एकके हाथमें वीणा है और दूसरा बाँसुरी बजा रहा है । तीसरा एक हाथमें तम्बूरा और दूसरे हाथमें करताल लिये बजा रहा है । मुखमण्डलको देखनेसे मालूम होता है कि, वह महाभुज्य कोई शग भी अज्ञाप रहे हैं !

अब यह देखें कि, यह मूर्ति है किस देवताकी ? उस देवताके किस स्वरूपको व्यक्त करती है; और, मूर्तिशास्त्रके अनुसार, उसका क्या नाम हो सकता है ? इस मूर्ति समूहके विषयमें अवलोक जो छान-बीन की गयी है, उससे मालूम होता है कि, मूर्तिशास्त्रके किसी उप-लब्ध ग्रन्थमें कूबह ऐसी मूर्तिका वर्णन या चित्र नहीं है ! कूबे-मदे पुरातत्त्ववेत्ताओंकी भी राय ली गयी; परन्तु वे भी निश्चयात्मक रूपसे इसके विषयमें राय देनेमें असमर्थ हैं । वस्तुतः जैसे रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्रों (Sciences) में छान-बीन की जा रही है, वैसे ही छान-बीन और खोज करनेकी, मूर्तिशास्त्रमें भी आवश्यकता है । रोद है कि,

इस शास्त्रकी तरफ पुरातत्त्वान्वेषकोंका बहुत कम ध्यान है । कुछ इने-गिने व्यक्तियोंके सुपयत्नके कारण आज जो कुछ बच सका है, वह शनीमत है, वरना शायद हिन्दू-जनता अपनी प्राचीन मूर्तियोंके स्वरूपोंको पहचान भी नहीं सकती ।

ऐसी परिस्थितिमें हम इस कठिन समस्याका पूर्ण-रूपसे हल तो नहीं कर सकते; परन्तु कुछ शास्त्रासुक्ता कल्पनाएँ अवश्य कर सकते हैं, जिनसे और विद्वान् इसपर विचार कर कुछ निश्चयात्मक उल्लेख कर सकें ।

प्रायः जितनी भी मूर्तियाँ (हिन्दू-धर्मासुक्ता) हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु और शिवके भिन्न भिन्न स्वरूपोंको व्यक्त करती हैं । कोई-कोई विद्वान् शक्ति अर्थात् देवीकी मूर्तियोंका एक चौथा विभाग करते हैं; परन्तु बहुधा इन शाक्त मूर्तियोंका, शैव मूर्तियोंमें, शुमार कर लिया जाता है । अब हमें इस मूर्तिको देखना चाहिये कि, यह किस विभागमें आ सकती है । इस मूर्ति-समूहमें, सब पुरुष-स्वरूप होनेसे, शक्तिके स्वरूपकी तो कल्पना ही नहीं हो सकती । अब रहे ब्रह्मा, विष्णु और शिव । इनके स्वरूपोंकी पहचानके लिये इनके विशेष लक्षणों और खास-खास अङ्ग-ङ्कारों एवम् आयुधोंपर विचार करना होता है । विष्णुके आयुध शङ्ख, चक्र, गदा इत्यादिका, इन मूर्तियोंके आयुधोंमें सर्वथा अभाव होनेके कारण (और विष्णुके शिरपर जटा-मुकुट नहीं हो सकते, इन कारणोंसे) यह कहा जा सकता है कि, यह विष्णुका कोई स्वरूप नहीं । ब्रह्मा और शिव दोनोंके मस्तकोंपर जटा-मुकुट होते हैं, दोनोंके हाथोंमें कमण्डलु और मालाएँ होती हैं, जो कि, इन तमाम मूर्तियोंमें हैं; परन्तु ब्रह्माके विशिष्ट लक्षण अर्थात् चतुर्भुज और वेद-पुस्तक इत्यादिके इसमें अभाव और शिवके विशिष्ट चिह्न अर्थात् जटा-मुकुटमें शरद्वचन तथा लज्जाटमें तृतीय नेत्रके इसमें अस्तित्वके कारण यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि, यह ब्रह्माकी मूर्ति नहीं हो

सकती, हो संकता है, तो केवल शिवके किसी स्वरूपकी। अतः मूर्ति-शास्त्रमें वर्णित शिवके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंके साथ प्रस्तुत मूर्ति की तुलना करनेसे जो साम्य दृष्टिगोचर होता है, उसके आधारपर कुछ कल्पनाएँ, पाठकोंके समक्ष रखी जाती हैं।

संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण-रूप शिवके स्वरूपको महेश मूर्ति नाम दिया गया है। इस मूर्तिके पाँच मस्तक होने चाहिये, जिनमेंसे केवल चार ही देखे जा सकें। हर एक चेहरेकी नाक, कान, मुख आदि तो साधारणसे हों, परन्तु आँखें खीन हों। महेशके पैर दो; परन्तु हाथ दस हों, जिनमेंसे दो-दो अभय और वरद मुद्राओंमें हों, बाकी दाहिनी ओरके चार हाथोंमें क्रमशः शूल, परशु, वज्र और खड्ग पद्म वायि तरफके चार हाथोंमें क्रमशः खेटक, अङ्गुश, पाश और घण्टा हों। इनके वखादि और यज्ञोपवीत शुद्ध श्वेत हों, इत्यादि।

इस लक्षणवालीके साथ प्रस्तुत मूर्तिकी तुलना करनेसे हाथोंकी संख्या और उनमेंके कुछ आयुधोंका साम्य-दीख पड़ता है। इसके अतिरिक्त मध्यकी तीन मूर्तियोंको उत्पादक, रक्षक और संहारक, ऐसे तीन स्वरूपोंका धोतक माना जा सकता है। परन्तु इसमें बगलसे निकली हुई चार मूर्तियोंके विषयमें कोई सन्तोषजनक कारण नहीं दीखनेसे इस कल्पनामें शङ्का होती है। §

दूसरी कल्पना सदाशिव-मूर्तिकी है। × सदाशिव शिवका यह स्वरूप है, जो पद्मासनपर विराजमान है। उनके जटा-मुकुटाजङ्घ्रित पाँच मस्तक, मध्यमें तृतीय नेत्र और दस भुजाएँ हैं, जिनमें दाहिनी तरफ क्रमशः शक्ति, शूल, खट्वाङ्ग, अभय और प्रसाद तथा बायी तरफ क्रमशः भुजङ्ग, अक्षमाला, डमरू, नीलोत्पल और मातुलङ्ग (विजोरा)की कल्पना की गयी है। जटामुकुटमें चन्द्र और अन्य आभूषणोंके साथ यज्ञोपवीत भी पहने हुए हैं।

इस वर्णनके साथ तुलना करनेसे हाथोंकी संख्या और कुछ आयुधोंके साथ-साथ जटामुकुट, चन्द्र और तृतीय नेत्रका साम्य-दीख पड़ता है। इस मूर्तिके चित्रको देखनेसे एक और बातका साम्य दीखता है। वह है एक सिरपर दूसरे सिरका होना। † सदाशिव मूर्तिके आगे महासदाशिवमूर्तिके वर्णनमें हमें अधिक मस्तकोंकी संभावनाका भी पता चलता है। महासदाशिव-मूर्तिके * २१ मस्तकों, १० हाथों और ७१ नेत्रोंवाले शिवस्वरूपका वर्णन और चित्र देखनेसे यह अनुमान हो सकता है कि, यह महासदाशिवकी मूर्ति है।

शुद्ध चन्द्र, कर्मे और भोगके कारण सकल मर्त्तोंका शिवकी संहारक शक्तिके प्रतापसे, नाश होनेके पश्चात् जो नीच-योनि और अधम जीवोंके कर्मादिको सुधारकर उपम कच्चतक पहुँचाते हैं, वे शिवके अंश-रूप

§ देखिये T. A. Gopinath Rao कृत Elements of Hindu Iconography, Vol. II, Part II, पृष्ठ ३७६।

§ आयुधोंको पुरष-स्वरूप मानना आयुध-पुरषोंकी प्रतिमाओंका मूर्ति-शास्त्रमें आधार है। इसी प्रकार नीचे दी दो मूर्तियोंके चार-चार हाथोंकी कल्पना कर दो हाथोंके भगवानों दो-दो हस्तपुरषोंके बनानेकी कल्पना यदि स्वीकृत हो सकती हो, तो फिर कोई शङ्का (इसे महेश-मूर्ति माननेमें) बाकी नहीं रहती।

× देखिये T. A. Gopinath Rao कृत Elements of Hindu Iconography, Pl. II, Vol. II, पृष्ठ ३७२। † देखिये एक मूर्तिशास्त्र, प्लेट ११३। * देखिये एक मूर्तिशास्त्र, प्लेट ११४।



७ अष्टमस्तुतिः शिवशक्त्याः शक्तिशक्त्याः शक्तिशक्त्याः
 शक्तिशक्त्याः शक्तिशक्त्याः शक्तिशक्त्याः
 शक्तिशक्त्याः शक्तिशक्त्याः शक्तिशक्त्याः
 शक्तिशक्त्याः शक्तिशक्त्याः शक्तिशक्त्याः

[illegible]

ॐ नमः शिवाय नमो भगवते वासुदेवाय
नमो भगवते वासुदेवाय नमो भगवते वासुदेवाय
नमो भगवते वासुदेवाय नमो भगवते वासुदेवाय



“विघ्नेश्वर” कहलाते हैं। विघ्नेश्वर न हैं—अनन्तर, सूक्ष्म, शिवोपम, एवनेत्र, एकचन्द्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डी। इनके लटा-मुकुट और तीन नेत्रवाला एक मुख होता है। यज्ञोपवीतधारी इन विघ्नेश्वरों के चार हाथों में से पिछले दो हाथों में शूल और दण्ड होते हैं, और, अगले हाथ धर्म्य और वरद मुद्राओं में होते हैं। एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार पिछले दो हाथों में बाण और त्रिशूल तथा अगले में से एक हाथ का अश्वजि मुद्रा में होना आवश्यक माना गया है। यह छोटी विघ्नेश्वरों के सामान्य लक्षण हैं; परन्तु हर एक की कुछ न कुछ विशेषता भी होती है, जिनका वर्णन यहाँ, विस्तार भयसे, नहीं किया जाता। विघ्नेश्वर की कल्पना हमारी मूर्तिके लिये कतनेका कारण एक ही है, और, यह है एकपाद त्रिमूर्ति नामक विघ्नेश्वर की जंघाओं में से दाहिने और बाएँ, प्रस्तुत मूर्तिके समान ही, अगलसे निकलनेवाली प्रतिमाओं का साम्य। ये प्रतिमाएँ भी हमारी प्रतिमाओं की तरह, एक पैर ऊँचा किये हुए, उड़ने की कल्पना करती हैं। परन्तु एकपाद मूर्तिके शरीर से निकलनेवाली मूर्तियाँ चतुर्भुजधारी प्रज्ञा और विष्णु की हैं, जिनके हाथों से छुआ, वेद-पुस्तक, कम-पञ्च, माला और शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि, उक्त देवताओं के विशिष्ट आशुष भी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य विघ्नेश्वर-मूर्तियों के वर्णन से प्रस्तुत मूर्तिके साम्य का साम्य नहीं होल पड़ता। एक महाजुभाषने इसे सकल विघ्नेश्वरों की एक मूर्ति होने का अनुमान किया है; परन्तु यह सरासर भूल है।

मेरे एक संगीतशास्त्र-विशारद मित्र की कल्पना है कि, सम्भवतः यह संगीतेश्वर नामक शिव का स्वरूप हो। उनका कथन है कि, शिवजी के कमल-में से समस्त रागों और रागिनियों का उद्गम माना गया है; इस कारण संगीतशास्त्र के उपासक देवता शिवजी

हैं। इस मूर्ति-संस्कृति के सात अंग सम्भवतः सात-रागों की प्रतिमाएँ हों; और, मध्य की तीन मूर्तियों का एक दूसरे के ऊपर बनाने का भावार्थ शायद तीन ग्राम, अथवा, मध्यम और पञ्चम, हों, जो कि, क्रमशः एक दूसरे से उच्च स्तर में गाये जाते हैं। परन्तु इस कल्पना का, मूर्तिशास्त्र में समर्थन नहीं होने से, इस बात कुछ कहा नहीं जा सकता।

इसी प्रकार एक और कल्पना की, विद्वानों के विचारार्थ रखकर, कल्पनाओं की परस्पर को सगास करवा हूँ। यह तो निर्विवाद है कि, यह मूर्ति शिव की है। चित्र देखने से पाठकों को मालूम हो सकता है कि, मध्य की तीन और बागल की चार, इस प्रकार कुल सातों प्रतिमाओं के शारीरिक अवयव, अलङ्कार और मुखाकृति इत्यादि सर्वथा एक-से हैं, और, वे आपस में ऐसे संयुक्त हैं कि, एक ही घूब की शाखाओं या एक ही पुरुष के अङ्ग से दीप्त पड़ते हैं। अतः इस प्रतिमा को यदि सरासरी शिव कहा जाय, तो क्या आपत्ति है? मूर्तिशास्त्र में ऐसी मूर्तिका या इन नाम का उल्लेख नहीं है; परन्तु यह एक नयी रीति है। शर्त यह है कि, पुरातत्त्वशास्त्रविशारद पवित्र लोग इसे स्वीकार कर लें।

इस मूर्तिको शिव का स्वरूप मानने में एक यह पठराज किया जा सकता है कि, यज्ञोपवीत विहीन मूर्ति शास्त्रविद नहीं हो सकती। सम्भव है, यह कोई बौद्ध-मूर्ति हो, क्योंकि, हिन्दुओं के मुकाबिले बौद्ध-धर्म में भी, पिछले काल में, देवी, गणपति, शिव आदिके समान मंडुप्री, विभ्रान्त की अथवा अक्रिय-श्वर आदिकी मूर्तियाँ प्रचलित की गयी थीं। उनके आशुष और आशुष आदि भी क्रीव-क्रीव हिन्दू-मूर्तियों के सदृश ही होते हैं। मध्य पश्चिमा और दिक्पत की अर्न्तर्गत मूर्तियों के तिर और अङ्ग एक दूसरे के ऊपर बने

हुए देखे गये हैं। वेसे ही बौद्ध मूर्तियोंमें “हरि हरि हरि-वाहन” की प्रतिमामें भी लगातार तीन मूर्तियाँ एक-पर-एक थनी हुई दीख पड़ती हैं। यह सब कुछ सत्य है; परन्तु इस मूर्तिका बौद्ध होना ठीक नहीं जँचता, क्योंकि पहले तो इस मूर्तिके आयुध प्रायः सबके सब नाश-कारक हैं, जो बौद्धधर्मके अटल सिद्धान्त अहिंसासे विरुद्ध हैं। दूसरे शिव प्रतिमाके सारेके सारे लक्षण इसमें मौजूद हैं। यज्ञोपवीतका अभाव साफ तौरसे कारीगरकी भूल मालूम होती है, और, शायद, इस मूलके ही कारण, जिसका सुधारना असम्भव था—क्योंकि यज्ञोपवीतकी रेखाएँ दृढ़की सतहसे उठी हुई बनानेके लिये पहलेसे ही उसका खयाल रखना जरूरी था—(इस शिलाकी अन्य मूर्तियोंका काम खास तौरपर बाजे बजानेवाली मूर्तिको देखिये), अधूरा छोड़ दिया गया है। कारीगरकी न जाने किस दमग और झरमानोंसे, न जाने किस आधारसे बनायी हुई मूर्ति अष्टपुष्प ही रह गयी! यह कभी किसी मन्दिरमें रखी ही नहीं गयी, क्योंकि यह जहाँसे मिली है, उसके नीचे और आस पास उसी प्रकारके पत्थरकी ज्योंकी त्यों असंख्य चीजें (जैसी कि, पत्थर तराशते वक्त निकलती हैं) फैली

हुई मिली थीं। तो फिर यह प्रश्न होता है कि, क्या यह मूर्ति पूजने योग्य है? हिन्दुओंके, तैंतीस दोटि देवता होते हुए भी वे चाहे जिसकी पूजाके लिये उद्ग्रीव हो जाते हैं। उनके लिये तो हर एक चीज पूजने योग्य है, परन्तु यदि सच पूछा जाय, तो प्रस्तुत प्रतिमा पूजने योग्य हरगिज नहीं है, क्योंकि पहले तो यज्ञोपवीत न होनेसे यह शास्त्रानुकूल और शुद्ध नहीं है। दूसरे यह अपूर्ण और खरिदत है। ऐसी मूर्तियोंका पूजन करनेवालेको, धर्मशास्त्रके सिद्धान्तानुसार, प्रायः श्रित्तका भागी होना पड़ता है। तीसरे यह कि, अभी इसके स्वरूपके विषयमें कोई निश्चय नहीं हुआ है। चौथे यह कि, यदि यह मूर्ति पूजने योग्य ही होती, तो हमारे पूर्वज इतनी मेहनतको बरबाद ही क्यों होने देते। तथापि सरकारसे स्थानीय हिन्दुओंने मूर्ति माँग ही ली है। अब देखें, वे उसके लिये कैसा शानदार मन्दिर बनवाकर समय, धन, शक्ति और धार्मिक सिद्धान्तोंका व्यय करते हैं! धार्मिक दृष्टिसे यह मूर्ति चाहे जैसी हो, परन्तु पुरातत्त्वान्त्रिकोंकी दृष्टिसे तो यह मूर्ति बिलकुल अद्वितीय और मूर्तिशास्त्रमें एक नवी चीज है।

मथुराकी कला, संग्रहालय और पुरातत्त्व

वा० वासुदेवशरण गोमिल एम० ए०

शूरसेन प्रदेशकी राजधानी मथुरा नगरी भारतकी सप्तमहापुरियोंमें है। यह प्रागैतिहासिक समयसे जगद्वन्द्व भागवान् श्रीहृष्णचन्द्रकी जन्मभूमिके रूपमें, अति पवित्र तीर्थकी भाँति, विख्यात रही है। घात होता है, इसी कारण

बौद्ध भिक्षुओंने भी मथुराको अपने धर्मका प्रसिद्ध केन्द्र कल्पित किया, क्योंकि यहाँ सुदूर भागोंसे प्रतिवर्ष एकत्र होनेवाले श्रद्धालु जन-समुदायकी धार्मिक भावनाओंके सम्पर्कमें आना बहुत सुलभ था। नारायणीय भागवत धर्मके प्रधान पुराण

भगवान् वासुदेव हैं; अतएव क्या आश्चर्य, जो उनके जन्मसे पवित्र हुए भूप्रदेशमें सर्वप्रथम भक्ति-प्रधान महायान बौद्ध-सम्प्रदायके विशेष अंकुर पृवृद्ध और पल्लवित हुए हों। पुरातत्त्व-प्रमाणोंसे [यथा वेसनगरमें प्राप्त हीलियोडोरस नामक भागवत यवनदूतका मण्डवज तथा उद-यपुर रियासतके नगरी या प्राचीन मञ्जुमिका-स्थानमें भगवान् संकर्षण और वासुदेवके निमित्त भागवत पाराशरी-पुत्र गाजायन-निमित्त पूजाशिला-प्राकार] यह सिद्ध होता है कि, भक्तिसमाप्लुत भागवतधर्मका जन्म ईसासे पूर्व द्वितीय शताब्दीमें भली भाँति हो चुका था और एक विशाल भूप्रदेशमें उसका यथेष्ट प्रचार भी हो गया था। अतएव ही इस भक्ति-सङ्गको अनुप्राणित करनेवाला हृत्स्थान मथुरा हो रहा होगा। मथुरामें यह प्रवाह ईस्वी प्रथम शताब्दी पूर्वके निकट बौद्ध धर्माचार्योंके द्वारा भी आत्मसात् किया गया; और, ईस्वी सन्के प्रारम्भ कालमें ही उस महायान-सम्प्रदायका आविर्भाव हुआ, जिसमें भगवान् बुद्धके बोधि-सत्त्व-रूपकी प्रतिमाएँ कल्पित करके भावुक जनोंको भगवान्के साक्षात् तादात्म्यका शुभावसर प्रदान किया गया।

यह निश्चय है कि, मथुराने महायान-धर्मके आन्दोलनमें बहुत कुछ हाथ बँटाया। यहाँके शिल्पियोंने बुद्धकी मूर्तिकी कल्पना करके मानसिक भावनाओंको मूर्तिमान् कर दिया था और मथुरा नगरके तक्षक उत्तरी भारतमें भास्कर-शिल्पके सर्वप्रथम गुरु बनकर बैठे।

मथुराकी कलाका प्रारम्भ प्रायः उतना ही प्राचीन है, जितना कि, भारतवर्षके अन्य स्थानों—वोधगया, भरतुत, सांची आदि—में उपलब्ध बौद्ध-

कलाका आदिकाल। यहाँपर शुङ्ग-कालकी अनेक प्रतिमाएँ और वेदिका-स्तम्भ तथा सूची प्राप्त हो चुकी हैं। इनमें बहुत ही उत्कृष्ट कलाका एक नमूना मथुरा संग्रहालयका नं० १३४१, सूचीपण्ड है, जो यहाँके गायत्री टीलेसे मिला था। इसके अतिरिक्त वेदिका-स्तम्भ (नं० जे० २) भी शुङ्ग-कलाका अच्छा उदाहरण है। इसकी रचना बहुत कुछ भरतुत-के वेदिका-स्तम्भोंसे मिलती है। पाठक जानते हैं कि, शुङ्ग तथा कुषाण-कालमें चैत्यों, स्तूपों या बोधिवृक्षोंकी चारों ओर, परिक्रमा-मार्गको घेरनेके लिये, एक चहाखीवारी बनायी जाती थी, जिसे संस्कृतमें वेदिकाशिला-प्राकार [*Railings*] कहते हैं। इस वेदिकाके चार भाग होते थे—(अ) स्तम्भ, जिन्हें पाली-लेखोंमें धम्म कहा गया है। ये रसमे प्रायः चौकोर हो होते थे; पर कभी कभी इनके कोनोंको कोराकर इन्हें अठपहलू भी बना देते थे। धम्मोंकी दोनों ओर तीन-तीन चूल्हे होती थी, जिनमें सूची या वेडे पत्थर लगाये जाते थे। (आ) सूचीमें वेडे पत्थर, जो कि, दो स्तम्भोंके बीच आड़े लगाये जाते थे। स्तम्भ और सूची, दोनोंपर ही बहुत सुन्दर कारीगरी रहती थी। इनपर उत्कीर्ण यक्षिणी भारतीय कलाका अति उत्कृष्ट उदाहरण है। (इ) भूधन्य सिरदल [*Coping stone*]। पाडे हुए स्तम्भोंको आपसमें जोड़कर स्थित रखनेके लिये उनके ऊपर अच्छी तरह तराशे हुए पत्थर लगाये जाते थे, जिनपर बहुत तरहके बेलूटे और पशु-पक्षी बने रहते थे। (ई) पिण्डिका [*Base stone*]। प्रत्येक स्तम्भके नीचे एक आलम्बन-पिण्डिका रहती थी, जिसपर स्तम्भ खड़ा किया जाता था।

इन प्रकारके शिवा-प्राकार [*Railings*] का

उल्लेख नगरीसे मिले हुए संस्कृत-शिलालेखमें है, जिसका समय, डा० डी० आर० भण्डारकरने, ईसासे तीसरी शताब्दी पूर्वका अनुमान किया है। [A. S. Memoir, No. 4]। अशोकने अपने समिनिदेवी-स्तम्भ-लेखमें 'चहारदीवारीको सिला-विगड-भोचा अर्थात् शिला-चिकट-भित्ति अथवा शिलामय प्राकार' ही कहा है। मथुराके प्रासादोंकी चारों ओर, शुंग-कालमें, तथा कुषाण-कालमें, इस प्रकारके शिला-प्राकार बहुत विशिष्ट रूपमें विद्यमान थे। शुंगकाल-के स्तम्भ और सूची तो थोड़ी ही संख्यामें प्राप्त हुई हैं; पर कुषाण-युग [ईस्वी प्रथम शताब्दीसे ३०० ई० तक] के वेदिका स्तम्भोंकी संख्या अनगिनत है। इन स्तम्भोंपर यक्षों और यक्षिणियोंके अक्षय्य निधि-सम्पन्न शृङ्गारप्रधान जीवनका चित्रण है। कर्णिका-प्रासाधनमें प्रसक्त, केश-रचनामें तन्मय, दोहद-क्रीडामें संलग्न, पुष्प-भञ्जिकांमें विभोर, मुग्धा-ओंके विभिन्न हाव-भावोंको, दम्पतियोंके क्रीडा-चरित्रोंको, उत्कीर्ण करनेमें कुषाणकालीन तक्ष-फोने अपने कौशलकी पराकाष्ठा दिखलायी है। पुष्पप्रस्थित केश पाश, यवाङ्कुर, दन्तपत्र, अंबेयक, मुक्तावली, पालम्ब, केयूर, अंगद, कटक, रत्न-जटित मेखला तथा पुलम्बमान दुकूलोंके मण्डन-सम्भारोंसे सन्तताङ्गी यक्षाङ्गनाओंके सफल चित्रणसे वेदिकाके स्तम्भ एकदम जगमगा उठे हैं।

यह बात सर्वविदित है कि, कुषाण युगसे पहले भगवान् बुद्धकी प्रतिमा नहीं पायी जाती अर्थात् बोधगया, सांची और भरहुतकी विपुल फला-सामग्रियों केहीपर भी भगवान् बुद्धकी मूर्तिका चित्रण नहीं मिलता। मूर्तिकी जगह बुद्धका चित्रण दापी, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र और स्तूप आदि चिह्नोंसे किया जाता था। ये चार चिह्न क्रमशः भगवान्

बुद्धके जीवनकी चार घटनाओंसे सम्बन्ध रखते हैं— हाथी जन्मसे, बोधिवृक्ष-सम्बोधीसे, धर्मचक्र प्रथम उपदेशसे और स्तूप-परिनिर्वाणसे इनका सम्बन्ध लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ और कुशीनारासे है। शुंग-कालमें सभी जगह केवल इन चिह्नोंके द्वारा ही बुद्धका चित्रण किया जाता था। मथुरामें भी बोधिवृक्ष, धर्मचक्र और स्तूपके चिह्नोंकी पूजा पायी जाती थी। इसके अतिरिक्त बुद्धके भिक्षापात्र और उष्णीषकी पूजा भी मथुरा-कालमें दिखायी गयी है [मथुरा-संग्रहालय, न० आई० एक]।

शुंगकालकी एक अत्यन्त विशाल और उल्लेखनीय प्रतिमा मथुरा-संग्रहालयमें स्थित परलम यक्ष-के नामसे प्रसिद्ध है। इसके विषयमें बहुत अधिक लिखा जा चुका है। अधिक विद्वानोंकी सम्मतिसे हम इसे यक्षकी विशाल मूर्ति माननेको बाध्य होते हैं। भारतवर्षमें अभीतक इस प्रकारकी दस विशाल प्रतिमाओंका पता चल सका है—१ मथुरामें उपलब्ध परलम यक्ष। २ मथुराके बरोदा-स्यानसे प्राप्त यक्ष। ३ मथुराके एक गाँवमें पूजी जाती हुई मनसादेवी यक्षी। ४ मथुराके एक गाँवमें अचिरप्राप्त विशाल यक्ष। ५ पटना-संग्रहालयकी दीदारगंजमें मिली चामरग्राहिणी यक्षी। ६ बेस-नगरसे मिली यक्षी, जो अब इंडियन म्यूजियममें है। ७ पवायासे मिला हुआ मणिभद्र यक्ष, जो ग्वालियर म्यूजियममें है। ८—९ पटनेसे मिले हुए दो विशाल यक्ष, जो कलकत्तेके म्यूजियममें हैं। १० सांचीमें मेजर किन्केडको प्राप्त विशाल यक्षकान्ठ, जो विलायतके चिक्टोरिया-अल्यट म्यूजियममें है। इनके अतिरिक्त ग्मियकी पुस्तक (*History of Fine Arts*, P. 64) में येमनगरमें पड़ी हुई एक विशाल स्त्री-मूर्तिका भी जिक्र है, जिसे यहाँके लोग

नेलिन कहकर पूजते थे। यह भारतवर्षकी बहुत प्राचीन कला थी, जिसके चार उदाहरण शारसेन-देशमें ही मिले हैं। कुपाण-युगके विशाल-काय बोधिसत्वोंके तक्षणका भाव इन्हीं मानवी मूर्तियों-से ग्रहण किया गया मालूम होता है।

परन्तु मथुरा प्रदेश कुपाण-कालकी कलाके लिये भारतवर्षमें सत्रसे धनी स्थान था। यहाँके शिल्प-कारों द्वारा निर्मित ये मूर्तियाँ सारनाथ, श्रावस्ती तथा कुशीनारामें भी पायी गयी हैं—(१) कनिष्कके तीसरे वर्षमें भिक्षु बल द्वारा निर्मित बोधिसत्वकी सारनाथवाली मूर्ति। (२) उसी त्रिपिटक-पण्डित बलकी दो हुई श्रावस्तीमें प्राप्त विशाल बोधिसत्व-मूर्ति। (३) श्रावस्तीके जेतवनमें मिली हुई मथुरा के शिल्पकार शिमित्र द्वारा निर्मित बोधिसत्वकी विशाल प्रतिमा। (४) मथुराके दिन्न नामक तक्षक-की बनायी हुई कुशीनाराकी विशाल निर्वाण-प्रतिमा। ये सत्र मूर्तियाँ मथुराके चकतेदार लाल पत्थरकी बनी हैं।

मथुराकी सोदाईमें अनेक सैकड़ोंकी तादादमें बोधिसत्व और बुद्धकी मूर्तियाँ मिल चुकी हैं। उनमेंसे बहुत सी लपनऊ, कलकत्ता, म्यूनिख, बोस्टन तथा अन्य संग्रहालयोंमें पहुँच गयी हैं। मथुराके म्युजियमकी उत्कृष्ट प्रतिमाएँ निम्नलिखित हैं—ए १, ए २, ए ४० और ए ५। इस नियमों यह ज्ञातव्य है कि, ए १ और ए २ मूर्तियाँ बिल्कुल एकसी हैं। दोनों बुद्धकी हैं, परन्तु ए १ को शिलालेखमें बोधिसत्व और ए २ को बुद्ध कहा गया है। सारनाथकी बड़ी मूर्ति भी बुद्धकी है, पर लेखमें उसे बोधिसत्व कहा गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि, मथुरा कलाके बिल्कुल प्रारम्भमें बुद्ध और बोधिसत्वकी मूर्तियोंमें अन्तर

नहीं था। कुछ कालके बाद लोग बुद्धको भिक्षु रूपमें और बोधिसत्वको राजसी ठाटमें दिवाने लगे। सम्बोधसे पहले शाक्यमुनिकी संज्ञा बोधिसत्व है और ज्ञानके बाद बुद्ध।

महायान बौद्ध-धर्ममें मंत्रेय और पद्मपाणि अज-लोकितेश्वर, दो प्रमुख बोधिसत्व हैं। मथुरामें ये दोनों पाये जाते हैं; यद्यपि पद्मपाणिका चित्रण अभी तक केवल एक ही मूर्तिमें मिला है। बुद्धकी मूर्तियों में मुद्राएँ जानने योग्य हैं। मथुरा कलामें निम्न-लिखित मुद्राओंका पता लगता है—(१) अमय-मुद्रा, (२) ध्यान मुद्रा, (३) भूमिस्पर्श-मुद्रा और (४) चौथी मुद्रा धर्म चक्र-प्रवर्तन मुद्रा है, जो अधिकतर सारनाथमें मिलती है; पर जिसके कुपा-णोत्तर युगके दो-एक उदाहरण मथुरामें भी मिले हैं।

साँची और भरहुत कालसे ही भारतीय कलामें यक्षोंका प्राधान्य रहा है। यक्ष तथा कुपिण्डित वामनोपर स्थित स्त्रियोंको सत्र विद्वानोंने यक्षिणी माना है। उन्हीं यक्ष-यक्षियोंके अधिपति कुबेर और उनकी स्त्री हारीतीके अनेक रूप, मथुराकी कुपाण-कलामें, पाये जाते हैं। भगवान् बुद्ध संयम प्रधान जीवनके आदर्श हैं, यक्षाधिपति कुबेर भोग-प्रधान जीवनके आदर्श हैं। महायान बौद्ध धर्मसे अनुप्रा-णित कला बुद्ध और कुबेरका सम्मिलन हैं। एका गी कुबेर मृत्युका जीवन है, एकागी बुद्ध केवल संघारामोंके लिये है। गृहस्थों और कुटुम्बिनियोंके लिये, जिनका सैकड़ो बार उल्लेख मथुराके शिलालेखोंमें हैं, भगवान् बुद्ध और कुबेरका समन्वय ही जीवनका आनन्दमय विकास या मज्झिम मार्ग है। यही माध्यमिक सम्प्रदाय है, जिसे महायानधर्मके अग्रगण्य और नागार्जुन आदि घुत्तपर आचार्योंने उद्घोषित किया।

जहाँ एक ओर प्रधासनमें विराजमान समाधिस्थ भगवान् गौतमकी मूर्तिके साक्षात् करनेकी लोगोंमें उत्कण्ठा थी, वहीं दूसरी ओर हारीती-समेत आसवपायी, एक हाथमें मधुपात्र तथा दूसरेमें रत्नोंका प्रसव करनेवाली न्यूली लिये हुए, कैलासपर विराजमान यक्षराज कुबेरकी प्रतिमाका लालित्य भी कम भाव-ग्राहक न था। इसी कलाने धर्मको निर्जीव या एकांगी होनेसे बचाया। लोग, संसारको त्याग कर संघारामोंमें जानेकी अपेक्षा, अपने प्रासादोंको ही देवधाम बनानेका प्रयत्न अधिक श्रेयस्कर समझते थे। संसार और धर्मका बहुत ही स्पृहणीय समन्वय उन चैत्योंमें हुआ, जहाँ बाहर तो शत-संख्यक वेदिका स्तम्भोंमें इन्द्रियोंके अनन्त विस्तृत जीवनका दर्शन होता था और भीतर मनोभावोंपर अंकुश रखनेवाले अरूपहार्थ भगवान् बुद्धकी प्रतिष्ठा थी। यह तप और शृङ्गारका मेल था। शृङ्गारका यह उदाम प्रदर्शन केवल तपःपूत होनेके लिये ही था। बुद्ध और कुबेरका ही एकनिष्ठ भाव मदन-दहन करनेवाले वृषाधिरूढ़ भगवान् शङ्करके रूपमें प्रकट हुआ। शङ्करके इसी भावको लेकर गुप्तकालके महाकविने कुमारसम्भवका गीत गाया।

मथुरा-संग्रहालयमें दो कुबेरोंके चित्र हैं। C. 31. कुपाण-समयका पिचिण्डिल कुबेर हैं, उसके बाँधे हाथमें उलटी न्यूलीसे रत्न विचर रहे हैं। C. 5. कुबेर गुप्तकालीन है, जिसके पात्रमें द्वाक्षासव अथवा मेघ-दूतवर्णित फल्गवृक्षप्रसृत रतिफल नामक आसवकी मधुपात्रको उसकी खरी ढाल रखी है। इसी समन्वय में C. 2 संख्यक कुबेरका आपान द्वय (Bacchanalian scene) भी उल्लेखयोग्य है।

जम्भाल या कुबेरकी पत्नीका नाम चौद्ध-ग्रन्थोंमें हारीती है। यह देवी प्रसवकी अधिष्ठात्री है। फलामें

इसका प्रदर्शन बच्चोंके साथ किया जाता है। इसकी गोदमें, चरणोंके पास तथा कंधोंपर भी, कई बच्चे दिखाये जाते हैं।

कुपाण-समयमें बनी हुई नागदेवताओंकी भी अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। नाग पातालके स्वामी हैं; अतएव पुष्करिणी, उदपान, जलाशयके सन्नि-कट नागोंकी स्थापना की जाती थी। इनमें अति प्रसिद्ध छड़गाँवका नाग है, जिसे महाराज राजाति-राज हविष्कके राज्यकालमें, सेनहस्ती और भोगुक नामके दो व्यक्तियोंने, अपनी पुष्करिणीमें, प्रतिष्ठापित किया [मथुरा म्यु० C. 13]। चौद्धोंके अनुसार सुचुल्लिन्द नामने भगवान्के ऊपर छाया की थी और नन्द, उपनन्द नामोंने उन्हें स्नान कराया था। जैनों के अनुसार सुपार्श्व और पार्श्वनाथ तीर्थकरोंकी निशानी नागोंका फणाटोप है। इनमेंसे सुपार्श्व नामक सातवें तीर्थकरसे मथुराका घनिष्ठ सम्बन्ध बताया जाता है। हिन्दुओंमें भी भगवान् कृष्णके बड़े भाई बलरामजी शेषनागके अवतार कहे जाते हैं। विष्णुके अवतारके साथ शेष [Remainder] का अवतार भी आवश्यक है। शेष अनन्त है, जिसने आधारसे पूल्यमें विष्णु रहते हैं। अतएव यह मालूम होता है कि, नागोंकी पूजा तीनों धर्मोंके अनु-गामियोंको मान्य थी। शिलालेखोंसे ज्ञात हुआ है कि, नाग दधिकर्णका मन्दिर, मथुरामें, हविष्क-विहारके समीप था। नाग दधिकर्णकी एक प्राचीन मूर्ति भी यमुनामेंसे मिल चुकी है, जो अथ मथुराके संग्रहालयमें है।

मथुरामें एक स्थान फाँकाली-डीला है। यहाँसे जैन, बौद्ध और हिन्दू, तीनों धर्मोंके देवताओंकी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। फिर भी यह जैन-धर्मका ही सबसे महान् केन्द्र था। यहाँसे मिले हुए शिलालेखों-

के आधारपर डाक्टर बूलरका मत है कि, ईसाकी दूसरी शताब्दीके पूर्वमें, ककाली-सीलेमें, जैनोंका एक बहुत बड़ा प्रासाद था (*Lp. Ind, Vol II P 319*) ।

इसीके प्रायः सौ वर्ष बाद उसी स्थानपर एक दूसरा प्रासाद बनाया गया । शुद्ध कालमें देवस्थान को प्रासाद कहते थे, जैसा कि, बेसनगरसे मिले हुए शिलालेखों में भागवत मन्दिरको प्रासादोत्तम कहा गया है [*A S R 1913-14, P 190*] । जैनधर्मों के तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ ईसासे द्वितीय शताब्दी पूर्वमें ही बनने लगी थीं । खारवेलके हाथी गुम्फ लेख [ई० १६५ पू० के लगभग] में “देवाय तन-सत्कार” तथा “जिन-सन्निवेश”का वर्णन है । खारवेलने कलिङ्ग देशके अधिष्ठाता जिनकी प्रति माहा सन्निवेश या स्थापन कराया था । इसी लेखमें “चक्र”का भी वर्णन है, जो कि, बौद्धोंके धम्मचक्रके समान ही धर्मका चिह्न था । मथुरामें जैनोंकी बहुत सी मूर्तियाँ ककाली-सीलेसे मिली हैं, पर निश्चय रूपसे यह कहना कठिन है कि, उसमेंसे कितनी कुपाण कालसे पूर्व युगकी हैं । हाँ, प्रासादोंके तोरण और उपान्त भागोंके टूटे हुए खण्ड अवश्य ही शुद्ध काल तकके मिले हैं ।

तीर्थङ्कर मूर्तियोंको छोड़कर अन्य सब बातोंमें मथुरा-कला जैन और बौद्ध-मन्दिरों तथा विहारोंके लिये बिल्कुल एक-सी थी । जनसमाजके देवी-देवता यक्ष और नाग, कुबेर और यक्षी, दोनों धर्मोंमें ही समान रूपसे पूज जाते थे । धर्मचक्र और त्रिरत्न चिह्नोंमें भी उभयत्र समानता है ।

हिन्दुओंके देवी-देवताओंकी दृष्टिसे मथुराकी कला, भारतवर्षके अन्य सब स्थानोंसे, अधिक महत्त्वपूर्ण है । यद्यपि भागवत धर्मके प्राण-रूपके

जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओंका चित्रण कुपाण-समयकी कलामें नहीं पाया जाता [शायद नवम्बर १३४४ शिलापट्ट इसका अपवाद है, जिसमें प० दयाराम साहनीके मतानुसार वसुदेवका नवजात रूपको लेकर यमुनापार करना दिखाया गया है, और, जो कुपाण-समयका कहा जा सकता है], तथापि भक्तिधर्मके अनेक देवताओंका श्रीगणेश मथुरा-कलामें ही पाया जाता है । हम केवल सक्षेपमें उनका नामोदलेख यहाँ करना चाहते हैं—

(१) विष्णुकी चतुर्भुजा मूर्ति । इसका आदिम रूप कुपाणकालीन योधिस्तत्त्वोंसे मिलता है । वैसी ही अभयमुद्रा और दुकूल ग्रहण मुद्रा तथा किरीट और अन्य परिधान दिखाये जाते हैं । प्रारम्भ में केवल गदा और चक्र, इन्हीं दो आयुधोंकी कल्पना की गयी थी । क्रमशः चारों आयुध और फिर आयुध पुरुष भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं । यह विकास मथुरा संग्रहालयकी मूर्तियोंमें स्पष्टतया देखा जाता है । (२) वाराह और नृसिंह । विष्णुकी कुछ ऐसी मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनमें बीचका स्तिर विष्णुका है तथा एक ओर वाराहमुख और दूसरे कन्धेपर नृसिंह-मुख दिखाया जाता है । (३) सूर्य । सूर्यकी सबसे शुरुआती मूर्तियोंमें उन्हें कुपाण सम्राटोंकी तरह स्तिर दिखाया गया है । पैरों में जूते, कंचुकी और प्रावरणका घेप, बायें हाथमें, घुटनोंके बीचमें, एक छोटा राक्षस तथा दाहिने हाथमें कमल है । इसी रूपका उत्तरोत्तर विकास कुपाण, गुप्त तथा मध्ययुगकी कलाओंमें देखा जाता है, और, इन सबके उदाहरण मथुरा संग्रहालयमें उपलब्ध हैं । (४) शिव । शिवके एकमुखी तथा पञ्चमुखी शिवलिङ्ग बहुत मिलते हैं । एकमुखी शिवलिङ्गकी कल्पना ईस्वी सन् पूर्वकी है । घेम और कनिष्कके

सिक्कोपर भी शिप और नन्दीकी मूर्तियाँ हैं। अतएव कुपाणकलामें भी शिप पार्वती और नन्दीकी कोरकर बनायी हुई (Carved in the round) अनेक मूर्तियोंका मिलना स्वाभाविक है (५) सिंहवाहिनी दुर्गा या पार्वतीकी मूर्तियाँ भी मिली हैं। (६) महिषासुरमर्दिनी दुर्गा। यह आश्चर्यकी बात है कि, भक्ति प्रधान शूरसेन प्रदेशमें भी इस शक्तिकी इतनी अधिक पूजा प्रचलित थी। कुपाण, गुप्त और मध्यकालमें इस देवीकी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीयके गुप्त संवत् ६१ [ई० ३८०—८१] के लेखसे मालूम होता है कि, माहेश्वर उदितार्च्यसे पहले दस माहेश्वर आचार्य और हो चुके थे। अतएव यहाँकी शैव-परम्परा, जो भैरव-स्वरूपकी उपासिका थी, बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित थी। (७) ब्रह्मा। मथुरा-कला-में बुद्धमथ्रुल पितामह ब्रह्माकी चतुर्भुज मूर्तियाँ भी मिलती हैं। (८) इन्द्र। यज्ञधर-रूपमें। (९) कार्तिकेय। मयूरवाहनपर आरूढ़। (१०) सरस्वती। हंसवाहन सरस्वतीकी एक अति प्रसिद्ध कुपाणकालीन मूर्ति, कंकाली टीलेसे मिली थी, लखनऊ संग्रहालयमें है। एक दूसरी मथुरामें है। (११) सप्तमातृका। (१२) नवग्रह। (१३) गजलक्ष्मी।

इस प्रकार ब्राह्मणधर्मके पौराणिक देवताओंका प्रारम्भिक विकास मथुरा-कलामें हो पाया जाता है; अवश्य ही बौद्ध विहारोंके साथ-साथ हिन्दुओंके भी अनेक देवालय मथुराकी शोभाको बढ़ाते थे। महाराज अशोकने तृतीय शताब्दी पूर्वमें अपने आप को सब सम्प्रदायोंका सम्मान करनेवाला कहा था। द्वितीय शताब्दी पूर्वके पारबेलने भी अपने आपको "गुणविशेषबुद्ध" सर्वपापघ्नपूजक सर्वदेवायतन-

संस्कारकारक" धर्मराज कहा है। यही इस देशकी सत्तातन दण्डनीति थी। इसीके अनुसार कुपाण-सम्राटोंने अपने राज्यमें सब धर्मोंका सम्बर्धन किया।

मथुरा-कलाका संक्षिप्त ज्ञान करानेके बाद यहाँके जगत्पुसिद्ध संग्रहालयके विषयमें भी कुछ बता देना लाभदायक होगा। कुपाण-कलाके लिये इस संग्रहालयके समान समृद्ध संसारका और कोई भी अजायबघर नहीं है। हाँ, कंकाली-टीलेसे १८८६, १८६० और १८६१ में जो एक सहस्रके लगभग प्रतिमाएँ और लेख प्राप्त हुए थे, वे उस समय लखनऊके अजायबघरमें पहुँचा दिये गये थे और तबसे अद्यतक वहीं हैं। परन्तु फिर भी मथुराके अजायबघरमें कुपाण-सम्राट् देवपुत्र कनिष्क और घेम्की मूर्तियाँ अति प्रसिद्ध हैं। महाक्षत्रप चण्डनकी मूर्ति भी, जो भाटमें मिली थी, यहीं है। इसके अतिरिक्त शुङ्ग कालकी तथा प्राचीन कालकी सर्वाधिक प्रसिद्ध परब्रह्म यक्षकी मूर्ति भी इसी संग्रहालयकी शोभाको बढ़ा रही है। यहाँ भगवान् बुद्धकी पञ्चम शताब्दीमें बनी हुई मूर्ति है [4, 5], जो बुद्धकी उपलब्ध पापाण प्रतिमाओंमें सबसे अधिक सुन्दर है। इस संग्रहालयमें लगभग चार सहस्र प्रतिमाएँ और मृण्मय प्रतिरुतियाँ [terra col- las] हैं। उनमें शुङ्ग-कालसे मध्य काल तककी भारतीय कलाका तथा भारकर और वास्तु-शिल्पका विकास देखनेको मिलता है। प्रतिपर्प यहाँ विदेशोंसे अनेक पुरातत्त्ववेत्ता और फला-प्रेमी लोग दर्शन और अध्ययनके लिये आते हैं। इस समय संग्रहालयका विशाल भवन यहाँ सबसे स्वच्छ और निस्तृत रयान डेम्पीयर पार्कमें स्थित है। अभी तीन वर्ष हुए पुष्कल धनराशि ध्यय

करके यह बनाया गया था। इस भवनमें मूर्तियोंकी सजावट जिस सुन्दर ढंगसे हुई है, उसकी प्रकामालोकनीयतापर हठात् मुग्ध हो जाना पड़ता है। इस संग्रहालयका पुराना इतिहास संक्षेपमें यह है—सन् १८७३ में मथुराके कलक्टर, तुलसीकृत-रामायणके पुस्तिक अंग्रेजी अनुवादक, ग्राउस साहब-ने कलक्टर कचहरीके पास बनी हुई एक अत्यन्त सुन्दर इमारतमें सन उपलब्ध मूर्तियोंका संग्रह करके अजायबघरके पूर्व रूपका प्रारम्भ किया। ग्राउस साहबने स्वयं भी मथुराके अनेक टीलोंमें जोदायी कार्या, और, जो सामग्री उन्हें मिली, वह उस इमारतमें इकट्ठी करते गये। सन् १८८१ में अजायबघरके रूपमें वह संग्रह सार्वजनिक कर दिया गया, पर अभी और देख रेख नहीं थी। सन् १८८६ में म्युजिसिपलिटिने ३) मासिकपर एक फारिश नियुक्त कर दिया और १९०८ तक यही दशा रही। सौभाग्यसे सन् १९०७ में डाक्टर बोगल साहबका ध्यान इस संग्रहकी ओर आकृष्ट हुआ; और, उनके उद्योगसे, जनवरी १९०८ में, राय बहादुर (पीछे १९१२ में उपाधिप्राप्त) प० राधाकृष्णने सहायक कम्यूटरकी हैसियतसे, मथुरा-पुरातत्त्व और संग्रहा-लयके लिये, कार्य करना शोकार किया। यही इस सत्याके वैभवका कारण हुआ। पण्डित राधा-कृष्ण, पुरातत्त्वमें, धर्मेय गुप्त अलेक्जेंडर कर्ति-घमके शिष्य थे। वे इस विद्यामें जन्मसिद्ध थे। उनके समान दिग्गज पुरातत्त्व शोधककी देख-रेखमें लगातार २३ वर्षोंतक मथुराके अजायबघरने बहुत उन्नति की। परन्तु यद्य, छडगॉन नाग, कनिष्क, घेम, चट्टन आदि विख्यात मूर्तियोंकी प्राप्त करना पण्डितजीका ही काम था, वेद है कि, इतने दीर्घ कालतक संग्रहालयकी सेवा करके राय बहादुर

पण्डित राधाकृष्णजीका गत वर्ष स्वर्गवास हो गया! परन्तु यह सन्तोष है कि, वे अपने समस्त प्रयत्नोंके फलस्वरूप इस महार्घ संग्रहको विशाल नवीन भवनमें सुसज्जित देखनेका सौभाग्य प्राप्त कर सके!

हालैंडके प्रकाण्ड विद्वान् डाक्टर बोगलने, सन् १९१० में, मथुरा-संग्रहालयकी एक सर्वाङ्गपूर्ण सूची (Catalogue) तैयार की, जिसे संयुक्त प्रदेशकी सरकारने प्रयागसे प्रकाशित किया। उसका मूल्य ३।। है। सूची प्रकाशित हो जानेके बादसे इन बार्स वर्षों में और अनेक महत्त्वपूर्ण शिलालेख और मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इस समय उस सूचीका नवीन और पूर्ण संस्करण तैयार किया जा रहा है; और, आशा है, उसके प्रकाशनसे निकट भविष्यमें इस संग्रहालयके विषयमें जनताका परिज्ञान और अधिक बढ़ेगा।

जिस प्रकार यूरोपमें एथेंस नगरी प्राचीन रत्नों-का भण्डार है, वैसे ही इस देशमें शूरसेन-प्रदेश और उसकी राजधानी मथुरा नगरीको प्रज्ञतत्त्वकी एक अत्यन्त समृद्ध खान समझना चाहिये। यहाँ अभीतक जो कुछ मिल चुका है, उसे देवकर दाँतों-तले अँगुली दबानी पड़ती है। मथुराकी चारों ओर असंख्य टीले हैं। वे भरतपुर, कामरन, हाथ-रस, और अलीगढतक फैले हुए हैं। इन टीलोंमेंसे प्रायः हमेशा ही कुछ-न-कुछ प्रज्ञ-सामग्री उपलब्ध होती रहती है। भविष्यमें जब इन स्थानोंका पूरी तरह अनुसन्धान होगा, तब जो सामग्री मथुरा जिलेसे प्राप्त होगी, उसके विषयमें बहुत आश्चर्य है। कितने ही टीले ऐसे हैं, जो केवल धुसचकर छोड़ दिये गये थे। उनमेंसे जो मूर्तियाँ और लेख मिलेंगे, उनमेंसे भारतवर्षके इतिहासके अनेक सदृश्य

प्रश्नोंपर नया प्रकाश पड़नेकी आशा है। मथुराके टीलोंके पास जो कूर्पे हैं, उनमेंसे भी हमेशा चीजें मिलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त यमुना-नदीकी तहमेंसे भी अवतक हजारों मूर्तियाँ मिल चुकी हैं। प्रसिद्ध ईसापुरका यूप यमुनामें ही मिला था।

सन् १८५३ में कनिंघम साहबने कटरामें कुछ खोदाई और खोज शुरू की, जिसमें उन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीयका शिलालेख मिला, जो अब यहाँके संग्रहालयमें है। इस खोजका हाल, कनिंघम साहबने, अपनी रिपोर्टकी पहली जित्दमे दिया है। सन् १८६२ में उन्होंने कटरामें फिर खोदाई की, जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण जो चीज़ उन्हें मिली, वह भगवान् बुद्धकी मूर्ति थी, जो कि, लेखके अनुसार गुप्त-संवत् २३० में भिक्षुणी जयभट्टाके द्वारा यशविहारमें स्थापित की गयी थी। इस समय यह मूर्ति लखनऊके अजायबघरमें है। सन् १८६० में कलबटरी कचहरीको बनानेके लिये शहरसे दक्षिणकी ओर एक टीला साफ किया गया, जो किसी समय हुविष्का विहार था। इसमें हजारों प्रतिमाएँ, वेदिका-स्तम्भ, तोरण, सूची और खम्भे प्राप्त हुए, जो कि, पहले आगेरे भेजे गये, फिर इलाहाबाद और बादमें लखनऊ और मथुरा को भेज दिये गये। सन् १८७१ में कनिंघम साहबने कंकालो-टीले और चौबारा-टीलोंकी खोदाई करायी, जिसका विस्तृत विवरण, उन्होंने, अपनी रिपोर्टके तीसरे भागमें, प्रकाशित किया। इसके साथ अनेक महत्त्वपूर्ण चित्र और शिलालेख भी प्रकाशित किये गये। चौबारामें चौदोंके अनेक स्तूप थे। इनमेंसे एक प्राउल साहबकी सोनिकी एक पेटी मिली थी, जिसमें बुद्धके कुछ अवशेष थे। इसी तरहकी पत्थरकी एक मञ्जूषा, चौबाराके दूसरे स्तूपमें, कनिंघम साहबको प्राप्त हुई, जो इस समय कलकत्तेमें है।

सबसे अन्तिम बार, सन् १८८२ में, कनिंघम साहब मथुरा आये और सीतलाघाटी, अर्जुनपुर मुहल्ला तथा अन्य कई टीलोंका शोध करनेपर कितनी ही महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ प्राप्त कीं। टा० फ्युहररने १८८६ से १८६१ तक कंकालो-टीलेमें जो खोदाई की, उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उस अवसरपर जो सामग्री प्राप्त हुई, वह इस समय लखनऊमें है। मथुरा-कलाका दक्षिणपाद यदि मथुरामें है, तो चामपाद लखनऊके संग्रहालयमें समझना चाहिये।

उसके बाद सन् १९०८ तक विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। उस वर्षमें राय बहादुर पण्डित राधाकृष्णके उत्साहके कारण मथुराके पुरातत्त्व-विषयक काममें नयी जान पड़ गयी। सन् १९१० में ईसापुरके पास यमुनामें दो यूप मिले, जिनमेंसे एकपर वासिष्कके राज्यकालका लेख है, जिसे छान्दोग्यशाखाध्यायी भारद्वाजगोत्रीय एक ब्राह्मणने द्वादशरात्र-यज्ञके अन्तमें प्रनिष्ठापित यूपपर उत्कीर्ण कराया था।

सन् १२ के फरवरी मासमें, पण्डित राधाकृष्णने सौभाग्यसे माट स्थानमें (मथुरासे ६ मील उत्तर एक गाँव), खोदाई आरम्भ की। यहाँ उन्हें महाराज राजातिराज देवपुत्र कनिष्क तथा महाराजराजातिराज देवपुत्र कुषाण-पुत्र शाहि वेम और चएन (महाक्षत्रप)की जगत्प्रसिद्ध मूर्तियाँ प्राप्त हुईं। इनके कारण मथुरा-संग्रहालय और पण्डितजीकी कीर्ति एकदम समस्त विद्वन्मण्डलमें दिग्दिगन्ततक फैल गयी। इसी वर्ष अर्थात् १९११ की शीत ऋतुमें पण्डित राधाकृष्णने मोरा और गणेशरा नामक रथानोंपर खोदाई करायी, जहाँ उन्हें उत्कीर्ण 'ईटें' प्राप्त हुईं। मोराकी 'ईटें'पर निम्नलिखित लेख है—'जीव-पुनाये राजभयाये वृहा स्यातिमिति चि तु यशमताये

कास्तिम् ।" अर्थात् 'बृहस्पतिमित्रको दुहिता, राज-
भार्या और जीवित पुत्री यशोमतीको द्वारा वनवाया
गया ।' इस लेखको अक्षर ईसासे दूसरी शताब्दी
पूर्वको हैं । प्रसिद्ध खारवेलने अपने हाथीगुम्फ लेखमें,
अपने आपको, बृहस्पतिमित्रका विजेता कहा है—

"मागधं च राजानं बहसतिमित् पादे वन्दाम
पयति" [*Ep Ind. Jan., 1930, P. 80*] ।
बहुत सम्भव है कि, इसी मगधेश्वर बृहस्पतिमित्रकी
दुहिता यशोमती मथुराको राजाकी भार्या रही हो ।
मथुरातक शुङ्ग-वंशका प्रभाव अवश्य था । पाञ्चाल
देशकी राजधानी अधिकच्छत्राकी राजा आपादसेनने
अपने आपको इसी बृहस्पतिमित्रका मातुल कहा है
[*Ep Ind Vol., II, P 242*] । इससे ज्ञात होता
है कि, किसी समय, ईसाकी द्वितीय शताब्दी पूर्वमें,
मगध, पाञ्चाल और शूरसेनको राजा पारस्परिक

विवाह सम्बन्धसे बंधे हुए थे । मोरा स्थानकी ये
ईंटें इस समय मथुराके संग्रहालयमें विद्यमान
हैं और इस देशकी उत्कीर्ण ईंटोंमें सर्वप्राचीन हैं ।

इसके बाद गोसना, महोली, पालीखेड़ा, सलेम
पुर, जैसिंहपुरा, गिरधरपुर, गायत्रीढोला, वाजना
आदि अनेक स्थानोंपर पुरातत्त्व सम्बन्धी शोधका
काम पण्डित राधाकृष्णने कराया; और, उनके त्याग
तथा अनपगत परिश्रमके फलस्वरूप मथुरा-कलाके
अति उत्कृष्ट स्तलोंका आविष्कार हुआ, जिससे
मथुराके प्राचीन गौरवकी विशेष वृद्धि होनेके साथ
ही भारतीय इतिहासका भी बहुत हित हुआ ।

इस छोटेसे लेखमें मथुराकी कला, उसकी तीनों
धर्मोंकी मूर्तियों तथा पुरातत्त्वका, अतीव संक्षेप
से, जो दिग्दर्शन मात्र कराया गया है, आशा है,
वह पाठकोंको रुचिकर होगा ।

भारतकी चित्र-विद्या-सम्बन्धी खोज

वा० मोतीचन्द्र एम० ए० [लडन]

सम्प्रदायी उन्नतिके साथ ही कलाओंकी भी उन्नति
होती आयी है । भारतवर्षमें मूर्तिशास्त्र तथा चित्रकलाका
विकास कबसे हुआ, इसका कहना बड़ा ही कठिन है ।
वैदिक कालमें मूर्तियोंका होना सिद्ध नहीं होता । पर
मोहनजोदारो तथा हरप्पाके जो मूर्तियाँ पायी गयी हैं,
उनमें सिद्ध होता है कि, उस समय भारतवर्षमें मूर्ति-
कला उन्नतिपर थी । श्रवणक यह ठीक तीरसे नहीं कहा
जा सकता कि, उस सम्प्रदायके प्रवर्तक किन जातिके
मनुष्य थे । परन्तु यह कदा भारतीय थी, इसमें सन्देह
नहीं । ईसाके ५०० वर्ष पहले भारतमें इन मूर्ति चित्र
कलाओंकी बहुत बड़ी उन्नति हुई थी । यौद्धके पार्श्विक
ग्रन्थोंमें ऐसे बहुतसे पात्र दिये हैं, जिनमें प्रतीत होता

है कि, ये कदाएँ उस समय जिनकी उन्नत थीं । पाणि-
निने तो स्कन्द तथा शिवकी मूर्तियोंका त्रय विवक्षित
होना साफ-साफ लिखा है । डा० स्टन कोनोने "इन्दियन
ऐंटीक्विरी" के किसी विद्वाने यद्धमें इस विषयपर श्रद्धा
प्रकाश डाला था । परन्तु तथा पठनामें पायी गयी
यह-मूर्तियाँ ईसाकी चौथी शताब्दीमें बनी थीं । भरहुत,
साँचीकी कला प्रौढ़ है । इसकी प्रौढ़ता मानेमें कई
शताब्दियाँ लगी होगी ।

भारतीय चित्रकलाका तत्पने शरद्धा उदाहरण
भरहुतकी गुफाओंमें पाया जाता है । इसका समय
ईसाके १०० वर्ष पहलेमें होता १०० वर्ष बादतक है ।
इन विरोधा महाप्रत्यक्ष और भी यह बात है, जब कि,

हमें विदित है कि, इस कलाका प्रभाव सारे एशिया भरमें फैला था। स्रोतन्, मध्य एशिया, तुर्कवाइ, यमियाँ, तिब्बत इत्यादि देशोंसे जितने चित्र प्राप्त हुए हैं, उनपर अजन्ताकी छाया साफ-साफ दीव पड़ती है। लेडी हेरियम द्वारा उतारे हुए इन चित्रोंका वर्णन लारेन्स विनियमने तथा इंडिया सोसायटी द्वारा प्रकाशित *Ajanta Frescoes* नामकी पुस्तकमें, बहुत ही श्रद्धा, किया है। अजन्ताके भित्तिचित्रोंका महत्व एशियाकी सम्पूर्ण कलापर डटना ही है, जितना कि, असीती, सियेना तथा फ्लोरेंसके चित्रोंका यूरोप तथा यूरोपीय कलाके इतिहासपर है। पूर्वीय एशियाकी कलाके मार्गका सम्बन्ध बौद्धधर्मके इतिहासके हर एक पहलूसे है। उस कलाका प्रत्येक विद्यार्थी सर्वदा अजन्तापर टटिपाव किया करता है; क्योंकि वह जानता है कि, अजन्ता ही बौद्धचित्रकलाका एक उत्कृष्ट नमूना बच गया है, जिसकी सृष्टि बौद्धधर्मने अपने जन्मस्थान भारतवर्षमें, अपनी मिशाल हार्दिक प्रेरणा द्वारा, की। मध्य एशिया, स्रोतन्, तुर्कवाइ, तुर्कान तथा शीर-शीर स्थानोंमें जो इन पिछले वर्षोंमें भित्तिचित्र पाये गये हैं, उनसे अजन्ता के प्रति हम खोर्गोका उल्लाह और भी बढ़ जाता है; जैसे कि, बौद्धधर्मकी महायान शाखासे अपनी मध्य एशिया, चाद तथा लापानजी यात्रामें अपनेको नये रूपमें परिणत कर दिया तथा उन जातियाँ तथा धर्मोंकी बहुत-सी वस्तुएँ अपनेमें मिता लीं, उसी प्रकार बौद्धोंकी कलाने भी उन सुदूर देशोंमें अपना बोला बदलकर एक नया रूप धारण कर लिया। प्राचीन तथा बादकी कलाओंमें जो समान बात है, वे तो अलग ही हैं। आधुनिक जापानी कलामें चिह्नों तथा मूर्तियोंकी शारीरिक प्रभावशाली इत्यादि उद्गम-स्थान भारत है। चीन तथा जापानके चित्रोंकी तुलना

अजन्तासे करनेपर भेद भी साफ प्रकट हो जाते हैं। यह बात सत्य है कि, अजन्ताके चित्र एक मनुष्यके परिश्रमके फल नहीं हैं; इनका विस्तार सदियोंतक होता रहा है और इनमें बहुत-सी रीतियों एवं भावनाओंका समिश्रण है। फिर भी सुदूर पूर्वीय देशोंके चित्रोंमें, जिनका कि, हमको ज्ञान है, वे सास अलग तथा गुण नहीं मिलते, जो कि, अजन्ताकी कलामें है। बौद्ध-चित्रकारोंकी सर्वोत्तम कृतियाँ चीन या जापानमें कलाके उस अङ्गमें सम्पक रखती हैं, जो सर्वदा विचार-रहित ध्यानमें विरवास रखता है। उस ध्यानकी वस्तुएँ अमिताभ तथा उनके मानसिक पुत्र अवलोकितेश्वर हैं। ये स्वामभूमिपर चित्रित किये जाते हैं तथा अपनी अलौकिक प्रतिभासे जगमगते रहते हैं। शाक्यमुनिके लौकिक जीवनका उल्लेख शायद ही कभी होता हो। पर अजन्तामें हम अपनेको ऐसी कलाके सम्मुख पाते हैं, जो उक्त कलासे प्रायः हर एक बातमें भिन्न है। अजन्ताके चित्रकार अलौकिक चमत्कारोंसे दूर दीप्त पड़ते हैं। उनका सम्बन्ध उस वातावरणसे नहीं जान पड़ता, जहाँ कि, देवता तथा अस्तराय आकाशमें विचार रही हों। उनका सम्बन्ध इस सत्यलोकके मनुष्यों, पशुओं, हरे-भरे पीचों, घूप तथा छायासे है। उनकी सबसे अच्छी कृतियोंके विषय जातक-कथाओंमें लिये गये हैं। यहाँ जीवनके गहन तारोंका सामना करनेका अच्छा अवसर था। इन चित्रकारोंने किसी गान सिद्धान्तका अनुकरण नहीं किया। इन लोगोंने भारत-वर्षीय मनुष्योंके दैनिक जीवनको उसी तरह चित्रित किया, जैसा कि, उन्होंने उसे देखा। इन इन चित्रोंके पीछे धार्मिक भावनाएँ दिदी देखते अवश्य हैं; परन्तु इन इनको मनुष्यके धर्मोंके प्राकृतिक प्रभावमें पूर्ण अवगम पाते हैं। ०

चित्र कलाको जनताके सम्मुख उपस्थित करनेका सर्वप्रथम श्रेय Lt. James Edmond Alexander को है। आपने "Transactions of the Royal Asiatic Society" में, सन् १८१० ई० में, 'Notice of a visit to the Cave temples of Ajanta in the East Indies' नामके लेखमें अजन्ता-सम्बन्धी कुछ बातें लिखीं; पर उस समय किसीका ध्यान उस तरफ नहीं गया। वहालकी दक्षिण-पश्चिम सोमायटीके गुप्तपुरमें भी इस सम्बन्धमें कुछ चर्चा चली, फिर भी इस ओर किसीका विशेष ध्यान नहीं गया। इस सम्बन्धमें कुछ सरपारने भी खबर ली तथा कुछ तस्वीरें खींचकर लन्दन भी भेजी गयीं, पर आग लग जातेसे ये सब भस्म हो गयीं। पहले पहल इस सम्बन्धमें कार्य करनेवालोंका विवरण लेहो हेरिफमने अपनी पुस्तकमें किया है। कुछ वर्षों बाद ग्रिफिथ साहबने अपने हाथों अजन्तासे चित्र उतारनेका भार लिया। सन् १८६७ ई० में लन्दनमें इस सम्बन्धी सर्वप्रथम पुस्तक "The Paintings in the Buddhist Cave temples of Ajanta" नामकी पुस्तक प्रकाशित हुई। आगम्यवश ग्रिफिथके द्वारा खींचे गये बहुतसे चित्र नुमायशमें जल गये। इससे बड़ा भारी नुकसान हुआ, क्योंकि अब वे चित्र उतार नहीं जा सकते थे। ग्रिफिथने अजन्ताके बहुत चित्रापर बानिंश कर दी थी, किन्तु उसका धतर उलटा ही पड़ा। बहुतसे चित्र तो पूर्णतया नष्ट तथा काले पड़ गये। रही सही फोर कसर अन्धभक्तों, चित्रोंपर फूज माला चढ़ाकर, पूरी कर दी। अभी बहुत दिन नहीं हुए, साधु लोग इन गुफाओंमें रोटी धनाया करते थे। एक अंग्रेज कलाप्रेमी को यहाँतक सूची कि, आप अजन्ताकी एक तस्वीर ही काटकर अपने घर ले गये। आजकल यह तस्वीर बोस्टन म्यूजियममें है। अभी हालमें ही यजदानी द्वारा

सम्पादित "अजन्ता" नामकी पुस्तक *Hyderabad Archaeological Department* द्वारा प्रकाशित हुई है। यह अजन्ता विषयक सबसे अच्छी पुस्तक कही जा सकती है। इसमें उस समयके वहाँ तथा आभूषणोंका अच्छा विवरण है, जो अजन्ता-विषयक और पुस्तकोंमें नहीं पाया जाता। अजन्ताके ही सिद्धान्तोंपर आगम्य गुफाओंके चित्र भी हैं। इसपर सबसे अच्छी पुस्तक "Bagh Caves" नामकी पुस्तक *Gwalior Archaeological Department* द्वारा प्रकाशित हुई है। देने भी "My pilgrimage to Ajanta and Bagh" नामकी एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। श्री एन० सी० मेहताने भी "रुडीन इन इन्डियन पैटिंग" में सिचिनादसाल में पाये गये भित्तिचित्रोंपर अच्छा प्रकाश डाला है। अजन्ताके सम्बन्धमें समय समयपर अच्छे लेख "ब्रिलिगटन मोगजिन"में प्रकाशित होते रहे हैं।

अभी हालमें ही बहुतसे संस्कृतमें ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनसे चित्रशास्त्रपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सबसे अच्छा विवरण विष्णुधर्मोत्तरपुराणके तृतीय खण्डमें है। इसका अनुवाद भी डा० रत्नेला कामरिश द्वारा कलकत्तेसे प्रकाशित हो चुका है। दूसरी उपादेय पुस्तक इस सम्बन्धमें "समाराज्य सूत्रधार" है। गायकवाड़ ओरियंटल सिरिज द्वारा इस पुस्तकका प्रकाशन हुआ है। आभास्यवश इस पुस्तकका पाठ इतना अशुद्ध तथा अधूरा है कि, पढ़ने तथा समझनेमें बड़ी ही कठिनाई पड़ती है। श्रीरत्नेने १७ वीं शताब्दीमें "शिवपरव" नामकी एक पुस्तक लिपी। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी तथा सरल है। इसका प्रकाशन ट्रावनकोर संस्कृत सिरिजमें हुआ है। तिब्बती भाषासे जर्मन भाषामें अनुवादित होकर "विश्वलक्षण" नामकी एक पुस्तक भी छपी है।

जिन सज्जनोंको विशाल भारतके चित्रकलासे स्नेह हो, उनकी सर कारेल स्टाइन द्वारा लिपी गयी पुस्तकोंका

अवश्य अध्ययन करना चाहिये। *Ancient Khotan, Ler India, Innermost Asia* आदि पुस्तकोंमें इस विषयपर बहुत-सी सामग्री मिलेगी। इस विषयपर फूले, पेलियो, डेके, फार् लीकाक इत्यादि विद्वानोंने भी अच्छा कार्य किया है। तिब्बती चित्रोंके सम्बन्धमें रूबसे अच्छी पुस्तक, जो मेरी निगाहोंमें आयी है, वह रूरिच-की है। स्लावेन वाइट इत्यादिके बहुतसे लेख इस सम्बन्धमें हैं।

सातवीं शताब्दीके बाद चित्र-कलाका हास हो चला। एलोराकी गुफाओंके चित्र इस बातके प्रमाण हैं। इन चित्रोंमें परम्परा तो अजन्ताकी कलाकी ही है; परन्तु विषय निर्जीवसे हैं। इस सम्बन्धमें बहुत थोड़ा कार्य हुआ है। एलोराका सचने अच्छा विवरण डाक्टर कुमारस्वामीका *"Frescoes at El'ura"* नामक लेख *Ostasiatische Zeitschrift Heft 1/2, 1926* में छपा है।

११ वीं शताब्दीसे १४ वीं शताब्दीतकके चित्रोंके सम्बन्धमें श्री एन० सी० मेहता तथा डाक्टर कुमारस्वामीका नाम विशेष उल्लेखनीय है। डाक्टर कुमारस्वामीने *"Catalogue of Indian Collection in Boston Museum"* में इस कालके जैन-चित्रोंपर अच्छा प्रकाश डाला है। "यसन्तविज्ञान" पर श्री एन० सी० मेहताका लेख भी पठनीय है। इस कालके बौद्ध-चित्रोंपर ई० एड्रेनबर्गने "रूपम्" के जनवरी, सन् १८२०, के अङ्कमें, अच्छी विवेचना की है।

सोलहवीं शताब्दीसे भारतमें मुगलोंका राज्य प्रारम्भ होता है। तभीसे फारसकी चित्र-कलाका बहुत बड़ा असर भारतीय चित्र-कलापर पड़ा। बहुत दिनोंतक १२ वीं शताब्दीके बादके चित्र दक्षिण-पश्चिम चित्रोंके नामसे प्रसिद्ध थे। डाक्टर कुमारस्वामीने राजपूत पेंटिंग यानी राज-पुतानेके चित्रों और मुगल-चित्रोंको अलग अलग किया। सन् १९१२ में आपकी "राजपूत पेंटिंग" प्रकाशित हुई।

आपकी देखा-देखी इस विषयपर अन्य विद्वानोंने भी अच्छा प्रकाश डाला। डा० स्मिथने भी इस सम्बन्धमें अपने मत *"History of fine arts in India and Ceylon"* में प्रकट किया। डाक्टर कुमारस्वामीने *"Catalogue of the Indian collection, Museum of fine arts Boston"* में राजपूत-चित्रकलाका बहुत ही विद्वत्ताके साथ विवेचन किया है। श्री ओ० सी० गाल्लोली ने भी, इस विषयपर, समय-समयपर अनेक लेख प्रकाशित कराये हैं। मोगलोंकी चित्र-कलाके सम्बन्धमें मि० पर्सी ब्राउनने सबसे अच्छा कार्य किया है। आपकी पुस्तक *"Indian Paintings under the Moghals"* अपने विषयकी सबसे अच्छी पुस्तक है। *"Court Painters of the Grand Moghals"* नामकी पुस्तक भी विद्वत्पूर्ण है, चाहे हम उसमेंकी हर एक बातसे सहमत हों या न हों। यहाँ मैं उन पुस्तकोंकी एक छोटीसी सूची दे देना चाहता हूँ, जो इस विषयके लिये अत्यन्त उपयोगी है—

1. *History of Indian and Indonesian art. Koomarswamy.*

2. *Smith's History of fine arts in India and Ceylon.*

3. *Catalogue of the Indian Collections in the museum of fine arts, Boston. Edited by C. Seamy. Vol. 10-VI.*

4. *Indian Book Painting. Kuhnelt and Goety*

5. *Die Kunst Indien Deiry.*

6. *Indian art in the British Empire Exhibitions*

7. *Indian Sculpture and Painting, 1928. Macell.*

8 Himalayan Art. French.

9. Les peinture indienne dans l'epoque Mughal Setkonkine.

भारतीय चित्रकलाके हर एक प्रेमीको रायल एशियाटिक सोसायटीकी रिपोर्ट तथा मुद्रापत्र, "रुग्म" "रूप-लेखा", इत्यादि सोसायटीके मुखपत्र Art and

Letters, मार्च रिप्यू, बरलिगटन मेगज़िन, Revue des arts asiatique, Ostasia tische Zeitschrift, Jahrbuch der indische Kunst इत्यादि पत्रों तथा Boston Museum of Fine Arts, ब्रिटिश म्यूजियम मेगज़िन इत्यादि द्वारा प्रकाशित फ़ैदलग अत्यन्त उपयोगी हैं।

श्वे-डेगोन पगोडा ❀

वा० धर्मचन्द्र सेपका "चन्द्र"

पगोडाओंकी पवित्र भूमि ब्रह्मदेशमें पदार्पण करनेवाले पृथ्वेक यानीकी दृष्टि सबसे पहले श्वे-डेगोन-पगोडाके मणि-मण्डित स्वर्ण-शिखरकी ओर जाती है, जिसकी शोभा सूर्य-रश्मियोंके संघर्षसे सौगुनी अधिक हो जाती है। रंगूनमें जहाज द्वारा प्रवेश और प्रस्थान करनेपर शहरका सर्वप्रथम और अन्तिम दृश्य जो दीख पड़ता है, वह यही पगोडाका स्वर्ण-शिखर है।

उस निशाल दिव्य देवालयकी ओर प्रतिष्ठा-पूर्ण नेत्रोंसे अवलोकन करने तथा इस बातपर ध्यान देनेसे कि, शताब्दियोंसे असंख्य तीर्थ-यात्रियों द्वारा किस श्रद्धा और भक्ति-भावसे यह देखा जाता है, पृथ्वेक मनुष्यका हृदय अनायास ही अभूतपूर्व आनन्दानुभव करने लग जाता है। निस्तन्देह यह एक ऐसी अपूर्व और आश्चर्यजनक वस्तु है, जिस पर समस्त वर्मानिवासी गर्व कर सकते हैं।

जिस पर्यट शिखरपर पगोडा स्थित है, देखनेमें तो यह आसपासके स्थलसे बहुत ऊँचा दीख पड़ता है; किन्तु शहरसे उसकी ऊँचाई सिर्फ १६० फ़ीट

है। उसका ऊपरी भाग समतल करक ६०० फ़ीट लम्बी और ६८५ फ़ीट चौड़ी चौरस भूमि, पगोडा बनानेके लिये, बनायी गयी थी। इसकी नींव कच और किसने डाली, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

इसासे पूर्व ५८५ में (चतुर्थके शिलालेख १४८५ ई०से पूर्वके नहीं मिलते) एक बार बंगालमें भयानक अकाल पड़ा। इस बातकी खबर तपस्सु और लल्लिक नामक धर्मी व्यक्तियोंको लगते ही वे दो बड़ी-बड़ी नावोंमें चावल भरकर, अकाल-पीड़ितों के सहायताार्थ, बंगालको चल पड़े। वे अपना काम पूरा करके लौटनेवाले ही थे कि, एक नद (देवता) ने प्रकट होकर उनसे कहा—“तुम लोग यहाँसे बोधगया जाओ। वहाँ तुम्हें बुद्ध-देवके दर्शन होंगे।” उसके कहनेपर वे दोनों सहृदय दानी धर्मी बोधगया चले गये। वहाँ भगवान् बुद्धको, बोधिवृक्षके नीचे, ध्यानावस्थ बैठे पाया। उन्होंने बुद्धदेवके पवित्र चरणोंमें मधु भेंट की। वदलेमें बुद्धदेवने अपने आठ बाल दिये

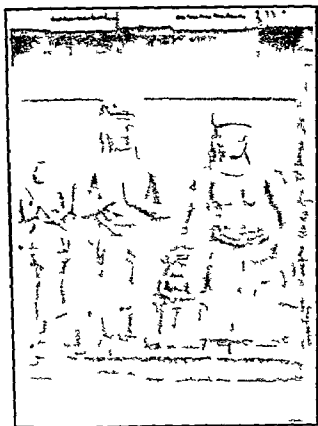
और उनको उस स्थानपर गाड़कर एक पगोडा (बौद्ध-मन्दिर) बनानेकी आज्ञा दी, जहाँ दण्ड, जलका पात्र और उनके पूर्वजोंके चख्र पहलेसे गड़े पड़े हैं, बुद्धदेवकी आज्ञाके अनुसार जब ये रंगूनके "बोटाडाऊ" (अब यहाँ शहर बस गया है, उस समय जंगल था) नामक स्थानपर पहुँचे, तब एक देव (नट)ने प्रकट होकर इनको सूले नामके देवतासे भेंट करनेका आदेश दिया। बहुत खोजनेपर सूलेसे भेंट हुई। जिस जगह सूलेसे भेंट हुई थी, वहाँ इस समय "सूले-पगोडा" स्थित है। उन्होंने उस नटको सहायतासे उस स्थानको ढूँढ़ा, जहाँ बुद्धदेवने वालोंको गाड़नेकी आज्ञा दी थी। एक पात्रमें उन पवित्र वालोंको रखकर उन्होंने वहाँ एक २७ फीट ऊँचा पगोडा बनवाया। इस पगोडा-को सात बार निर्माण किया गया है। कहते हैं, समय-समयपर इस पगोडाके लिये ईंटोंको बनानेमें जो मिट्टी काममें लायी गयी थी, उसके फलरूप सुप्रसिद्ध "रायल लेक" बन गयी है। भारतवर्षमें ही नहीं, यूरोपमें भी इसको-सी सुन्दर और दर्शनीय लेक (झील) नहीं है। पगोडाकी निर्माण-सम्बन्धी कथाको उसके पूर्वी फाटकपर बहुत सुन्दर भोदे हुए अक्षरोंमें वर्णन किया गया है। चारों दिशाओंमें चार विशाल प्रवेश-द्वार हैं। अंगरेजोंके अधिकारमें आनेके बाद पश्चिमी भाग बन्द कर दिया गया। इस समय दक्षिणी भाग प्रधान तथा परम्प्रेमोगी मार्ग है। दरवाजेकी दोनों ओर "छिन्दे" (एक प्रकारके कल्पित सिंह) की विशाल मूर्ति स्थित है।

पगोडाके प्रवेशद्वारकी सीढ़ियोंपर चढ़नेसे पहले जूते और मोजे हाथमें ले लेने पड़ते हैं। हाथमें लिये हुए पगोडापर घूम-फिर सकते हैं, किन्तु पहने हुए नहीं जा सकते। पगोडापर आनेके लिये

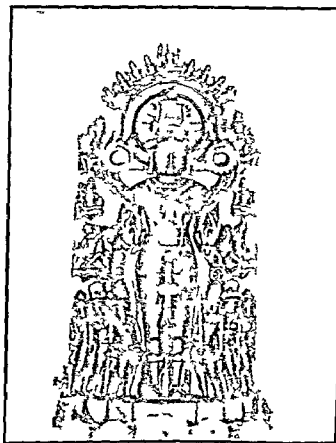
जो सीढ़ियाँ बनी हैं, उनके किनारे-किनारे, नीचेसे ऊपरतक, जगह-जगह, छोटी-छोटी दूकानें, नव-युवती बर्मा स्त्रियाँ लगाये बैठी रहती हैं। उनकी सज-धज देखने लायक होती है। वे यात्रियोंसे बड़े ही मधुर शब्दोंमें पूजार्थ सुगन्धित पुष्प, ध्वजाएँ, पत्र-छत्रक (कागजके छाते), मोमबत्तियाँ, धूपबत्तियाँ और सोनेके पात्रादि खरीदनेके लिये आग्रह करती रहती हैं। बुद्धदेवकी मुख्य पूजाकी सामग्री यही है। वहाँ कोई रुपया-पैसा नहीं बढ़ाता। उसी रास्तेमें, दाहिनी ओर, एक छोटा-सा बाजार है, जहाँ दूसरी विविध वस्तुओंके अतिरिक्त खाने-पीनेकी चीजें भी मिलती हैं। मांसादिसे पगोडाके भीतर भी किसी तरहका परहेज या धृणा नहीं है। वहाँ भी पकाया और खाया जाता है। उत्सवके अवसरपर नृत्य-बाद्यके साथ ही विशेष रूपसे खाद्य-वस्तुओंको दूकानें भी लगायी जाती हैं। सीढ़ियोंकी अगल-बगल बड़ी-बड़ी बेंचें, विश्राम करने के लिये, पड़ी हैं। सीढ़ियोंकी बायीं ओर कई एक "ज़यात" (विश्रामालय) हैं। ऐसे "ज़यात" पगोडा पर भी बहुतसे हैं, जो चारों ओरसे घुले हुए हैं। ये उन यात्रियोंके लिये हैं, जो सदैव आया करते हैं। दूर देशोंसे आनेवाले यात्री भी यहीं विश्राम और भोजन करते हैं। इनमें ठहरनेके लिये भाड़ा नहीं देना होता। जयतक यात्री चाहें, ठहर सकते हैं। ये "ज़यात" अधिकतर उत्तम संगतराशी, गिट्ट और काचकी पर्याकारीसे, बड़े ही सुन्दर ढंगसे, सजे होते हैं। पगोडाके बाहर, दक्षिणी प्रवेश-द्वारके पास ही, कई बड़े-बड़े "ज़यात" हैं, जिनमें अधिकांश "पुङ्गो" (बौद्ध मिक्षु) रहते हैं। सीढ़ियोंकी छतोंपर बहुत सुन्दर रंग-विरंगी चित्रकारी और संगतराशी है। यहाँ गीतमयुद्धके पूर्व जीवनकी



१३८—४थी सदीके बौद्धस्तूपोंसे प्राप्त मिट्टीके बर्तान
(मीरपुरखास, सिन्ध)



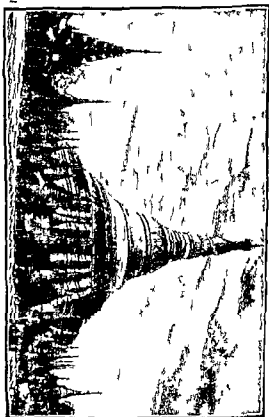
१३९—प्राचीन पाषाणमयी गृहस्थ प्रतिमाएँ



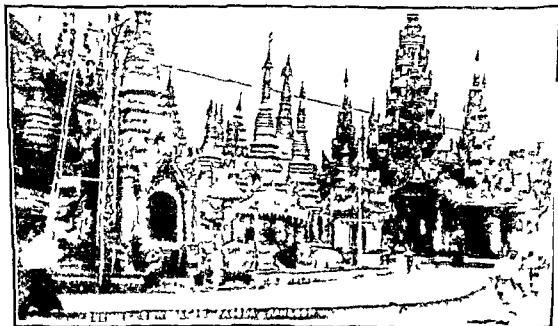
१४०—हाँसी (जि० हिसार) की सूर्यप्रतिमा
(मध्ययुगान)



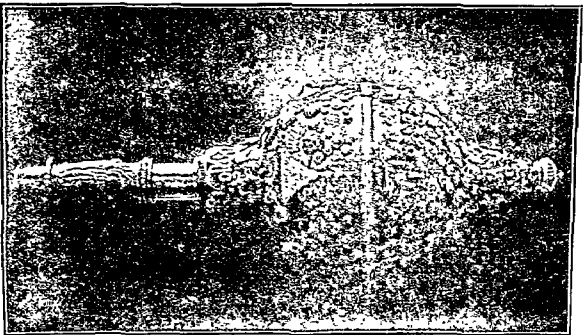
१४१—श्वे डेगोन पगोडा, स्मृत



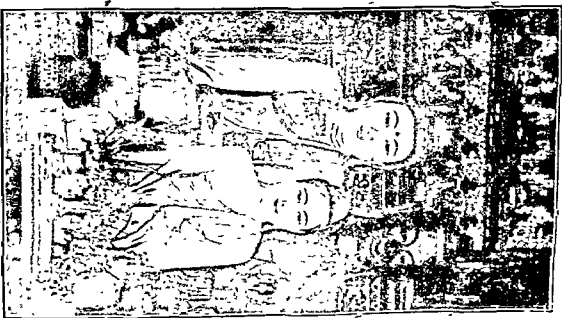
१४२—धर्माके राजा मीडून मीन,
जिल्होने श्वे डेगोन पगोडापर स्थर्णवि
ब्राह्मदित छत्र बढाया था



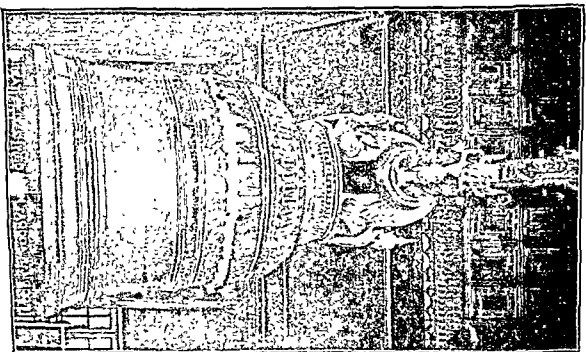
१४३—श्वे-डेगोनके विभिन्न मन्दिर



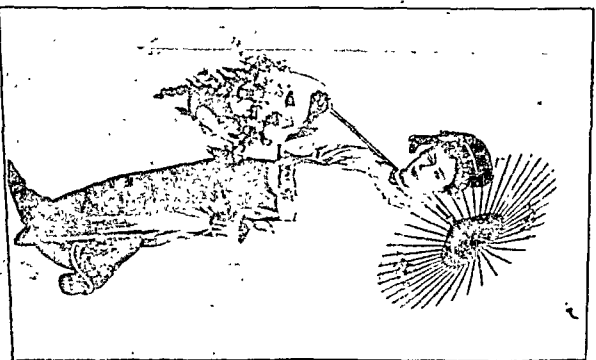
१४४—पूरे डोंगो नया स्वर्णचूड



१४५—पूरे डोंगो पणोडाको चौकसुनिया



१४६—एव-इगोनका महाधट, जो संसारमें तीसरा है



१४७—पूजाभिलाषिणी परम-मूर्ति

घटनाओंमेंसे एकका इतिहास (जिसमें उन्होंने दान-पुण्यके उत्तम गुणोंका सोदाहरण दिग्दर्शन करवाया है) है। भिन्न-भिन्न नरकोंके दृश्य, इसके साथ ही बुद्ध, काश्यपके दो चित्र (जो गौतमकी मूर्तिके ऊपर गमनार्थ निषेधके भाव प्रकट करते हैं) हैं।

सीढ़ियोंकी चढ़ाई समाप्त होते ही चवूतरपर, सामने, एक विशाल मन्दिर दीख पड़ता है। उसमें बुद्धदेवकी छोटी-बड़ी बहुतसी मूर्तियाँ हैं। चवूतरपर पेसे-पेसे कई मन्दिर हैं। मन्दिरोंमें मूर्तियोंके आगे सहस्रों मोमवस्त्रियाँ और अगरवत्तियाँ जलती रहती हैं। पूजार्थ लाये हुए पुष्प मूर्तियोंपर नहीं चढ़ाये जाते। वे सब गुलदस्तोंमें रख दिये जाते हैं। मन्दिरोंमें, भगवान् बुद्धकी मूर्तियोंके सामने, यहीं स्त्री, पुरुष, बालक और बालिकाएँ, घुटनोंके बल बैठकर, करबद्ध 'फया ! फया !!!' (पगोडा) करते दीख पड़ते हैं। जिस श्रद्धा और भक्ति-भावसे वे प्रार्थना करनेमें तल्लीन नजर आते हैं, वह स्मरणीय है।

इस चवूतरके बीचो-बीच एक और बहुत ऊँचा और गोल चवूतरा है। यह घंटेके आकारका है। ज्यों-ज्यों यह ऊँचा उठा है, क्रमशः पतला होता गया है। इसके ऊपरकी चोटी नुकीली और बहुत ऊँची है। शास्त्रमें इसी मीनारको पगोडा कहते हैं। यहीं भाषामें इसका नाम "जुँदी" (चैत्य) है, यद्यपि साधारणतः यह "फया" कहलाता है। इसकी ऊँचाई ३७० फीट और लम्बाई-चौड़ाई १,३५५ फीट है। यह ऊपरसे नीचे तक स्वर्ण-पत्राच्छादित है। इसपर प्रायः स्वर्ण-पत्र चढ़ते हैं। कहते हैं, इसकी नींवमें बुद्धदेवके वे पवित्र आठो घाल गड़े हैं।

पगोडा चारह खण्डोंमें विभक्त है—(१) फर्श, (२) तीन मंजिलें, (३) घंटा, (४) मिश्रा-पात्र, (५) बँधी हुई पगड़ी, (६) कमलका फूल, (७) बेलैकी कली, (८) पीतलका पत्र—जिसपर छत्र टिका हुआ है, (९) छत्र, (१०) पुष्प, (११) तीरका पर, और (१२) होरेकी कली। स्वर्णपत्राच्छादित छत्र जो चोटीपर लगा हुआ है, उसे माण्डलेके राजा मिण्डन मीनने, सन् १८७१ ई० में, चढ़ाया था। उसकी कीमत ६० हजार पौण्ड आँकी जाती है। व्यास १३ फीट ६ इंच; ऊँचाई ४७ फीट और वजन सचा टन है। इसके ऊपर पन्द्रह हजार घंटे लगे हुए हैं। उनमेंसे १०० घंटे सोनेके हैं और शेष सब चाँदीके हैं। तीरका पर और होरेकी कली रत्नजटित हैं। उसमें ३६६४ लाल, ५४१ पन्ने और ४३३ होरे हैं ! यह छत्र पिछली बार, जब सन् १६३० में भूकम्प हुआ था, पगोडाकी चोटीसे चवूतरपर गिर पड़ा था। बादमें जीर्णोद्धार करके, वड़े समारोहके साथ, पुनः चढ़ाया गया था।

प्रवेश द्वारसे दाहिने हाथकी ओर मुड़नेपर पगोडाका ट्रस्टी-कार्यालय मिलता है। उसके अधिकारमें पगोडाकी सम्पूर्ण सम्पत्ति है। यह एक निर्वाचित समिति है। धनकी सन्दूक दोहरी संकिलोंसे जकड़कर, ताला लगाकर, रखी हुई है। उसकी ओर, एक छोटी घंटीके द्वारा, दर्शकोंका ध्यान आकर्षित किया जाता है। उसमें पगोडाके जीर्णोद्धारके लिये द्रव्य एकत्र किया जाता है। पगोडाकी मरम्मतका काम कभी बन्द नहीं होता, कुछ-न-कुछ सदैव चलता रहता है !

पगोडाके फर्शकी चारों ओर खम्भोंपर सप्ताहके दिनोंके नाम और पास ही जानवरोंके नाम दीप्त पड़ते हैं। ये सप्ताहके आठ दिनोंके सिवा

बुधवारके मध्याह्नोत्तर—अर्धरात्रिके समयतक, “याहू” (राहु) अधिक है। वरमों लोगोंका विचार है कि, जब कभी ग्रहण पड़ता है, तब इस “याहू” नामक नूतन ग्रहसे सूर्य और चन्द्र प्रसित होते हैं। प्रत्येक वरमों लडकेका नाम, जिस दिनमें वह पैदा होता है, उसी दिनके आरम्भ होनेवाले अक्षर-पर रखा जाता है। दिन सदा याद रखा जाता है, भले ही तारोख भूल जाय! वह दिवस, जिसमें मनुष्य पैदा होता है, “नैन” कहलाता है। इन “साइन-बोर्डों”से प्रकट होता है, वह अपनी “नैन-फैडल” (वस्ती) लाल या पीले मोमकी, अनेक प्रकारके पशुओंके आकारकी बुद्धको, समर्पण करे। ग्रह, जिसका कोई-न कोई जानवर प्रतिनिधि होता है, सप्ताहके प्रत्येक दिनको अधिष्ठित करता है। स्थिति निम्न प्रकार है—

सोमवार	चन्द्र	व्याघ्र	पूर्व
मंगलवार	भौम	सिंह	आग्नेय
बुधवार (मध्याह्नतक)	गजकार	दक्षिण	

बुध

बुधवार (मध्याह्नोत्तर) फरहीन गज वायव्य
याहू

बृहस्पतिवार	बृहस्पति	चूहा	पश्चिम
शुक्रवार	शुक्र	शूकर	उत्तर
शनिवार	शनि	दैत्य	नैऋत्य
रविवार	सूर्य	गेलन	ईशान

गेलन एक पक्षीको कथित जानि है। यह भीमाकार बतलायी जाती है। मेघ पर्यन्तके भागों-मेंमें (बौद्धोंका विश्व मन्त्र) एकको रक्षा करने है। पिदर मन्त्रधर्मी बौद्ध विचारोंपर यहाँ कुछ विचार करना भाव्यक है, जो सरमरी तौरपर ये हैं—

विश्वके मध्यमें “म्यों-मो टौंग” या मेघ शिखर सबसे ऊँचा है। इस शिखरपर देवोंकी छः बैठक है। यह चार द्वीपोंसे घिरा हुआ है। दक्षिणी द्वीपपर मनुष्य निवास करते हैं। पाँच सौ लघुद्वीप उसकी चारों ओर स्थित हैं। इनपर बौद्ध और अन्य-मतावलम्बी भारतीयोंको छोड़कर अन्य अँग्रेज आदि जातियाँ रहती हैं। उत्तरी द्वीप देवोंका आनन्ददायक देश है। वहाँ एक वृक्ष उत्पन्न होता है, जिससे समस्त आवश्यक वस्तुएँ (वस्त्र, साफ और पक्के चावल तथा वे सभी वस्तुएँ, जो जीवनके लिये उपयोगी हैं) प्राप्त होती हैं। इस जीवनमें सिर्फ यही मुक्ति है कि, वहाँके निवासियोंको उसी द्वीपमें वारम्बार पुर्नजन्म लेना पड़ता है।

आगे बढ़नेपर उत्तरकी ओर “ट्युगुएडोंग” नामक लम्बे बाँसपर सर्पाकार लम्बी ध्वजाएँ फहराती हुई दिखायी देती हैं। इन बाँसोंका उपयोग मालूम करना वस्तुतः असम्भव है; क्योंकि यह किसीको नहीं प्रतीत होता कि, वे किस अभिप्रायसे लगाये गये हैं। उनमेंसे कुछके शिपरोपर “हिन्धा” नामक बड़ा भारी पक्षी दृष्टिगोचर होता है, जो कि, वरमों धर्मशास्त्रमें धार्मिक पक्षी माना जाता है (मेजर स्पीयरमेनेन इसको भगवान् विष्णुका चाहन गरुड़ बतलाया है)। स्थानीय जनश्रुति यह है—

महात्मा गौतमकी धर्मपत्नीने उनसे निर्वाण जानकी अनुमति माँगी और उन्होंने यह स्वीकार कर लिया। पूछा, “यह किस रूपमें जाना चाहेंगी।” उन्होंने पक्षीके रूपको पसन्द किया। अतः जहाँ कहीं पगोडा बनाया जाता है, “हिन्धा” पक्षी वहाँ निरुद्ध हो पाया जाता है, ताकि यह मृत्यु होनेपर विछुड़ न सके। इन बातोंमेंसे एक

की जड़में चढ़नेका प्रयत्न करते हुए मनुष्य और उन्हें नीचेकी ओर खींचते हुए साधियोंके चित्र हैं। उनकी चोटीपर एक लघुमूर्ति अपने पैरोंमें एक पत्थरको पकड़े हुए दृष्टिगोचर होती है। गिगेशैंट द्वारा रचित, गौतमकी जीवनीमें वर्णित निम्नाङ्कित दृष्टान्तको प्रकट करनेके निमित्त, ये मूर्तियाँ बनायी गयी हैं—

“यह उचित नहीं है, आप ऐसे तुच्छ कार्यमें प्रवृत्त हैं।” मगर वह सतर्क धनिक इस तरह उनके धोखेमें न आया, वह अपनी पूर्व प्रतिज्ञापर दृढ़ रहा और छः दिनोंतक इन तमाम प्रार्थनाओंका विरोध करता रहा। सातवें दिन मोग्गलान भोजन-पी तलाशमें उधर जा निकले। उनको, जो कुछ वहाँ हो चुका था, सारा वृत्तान्त यह सुनाया

की एक लेटी हुई मूर्ति है। दीवारोंपर, चारों ओर, बुद्धदेवकी जीवनी खोदी हुई है। उसके पास ही एक हालमें एक बड़ा भारी घण्टा है। यह थारा-वाड़ी (तारावती) के राजा द्वारा, सन् १८४० ई०में, समर्पित हुआ था। संसारके सबसे बड़े घण्टोंमेंसे यह तीसरा है। इसकी ऊँचाई १४ फीट, गोलाई २२॥ फीट और मोटाई १५ इंच है; मुँहके पाससे, व्यास ७॥ फीट और इसका वजन ४२ टन है।

सन् १८५३ ई० में अँगरेजी सिपाहियोंने इस पवित्र घंटेको ले जाना चाहा। पगोडासे उठाकर जहाजपर रख लिया। लेकिन "महागन्ध" (महाघंट) (मधुरोच शब्दवाला) को जहाजमें रखते ही जहाज उल्ट गया और रंगून-नदीकी तहमें फँस गया! उसको निकालनेके सारे प्रयत्न व्यर्थ गये। अन्तमें यर्मो लोगोंको उसको निकालनेकी आज्ञा दी गयी। वे इसमें सफल हुए और उस घण्टेको अपने पुराने स्थानमें स्थापित कर दिया। इस घंटेके नीचे हिरण-की साँगे पड़ी रहती हैं। उन्हींसे यात्री लोग इसे यजाते हैं। लोगोंका ऐसा विश्वास है, जो मनुष्य इस घंटेको जितनी बार बजायगा, उसे उतनी ही बार यर्मोमें आना होगा। जो पुनः यर्मोमें आना पसन्द नहीं करते, वे यजाते भी नहीं!

पगोडामें कहीं-कहीं "वीलू" (कल्पित राक्षस) की मूर्ति पायी जाती है। यह मनुष्य-मांस-भक्षी है, विशेषतः बच्चोंका। रक्त नेत्र, लम्बे-लम्बे दाँत, छायाहीन और देवीशक्ति-युक्त है। यर्मो माताएँ अपने दुःखदायी बच्चोंको डरानेके लिये मुख्यतः घैसे ही प्रयोग करती हैं, जैसे अपने यहाँ 'होआ'का!

पगोडामें जगह-जगह "नटों"की मूर्तियाँ और चित्र बने हुए हैं। नट यर्मोलोगोंके एक प्रकारके देवता हैं। यर्मो लोगोंके जीवनमें "नट"का विश्वास

बहुत बड़ा कार्य करता है। यदि वे उन्हें प्रसन्न न रखें, तो न जाने "नट" क्या कर डालें। वे अपने कार्योंमें इन विचारोंसे नियन्त्रित रहते हैं। यदि यर्मो विवाह करता है या भवन-निर्माण करता है, तो पहले "नटों" से सम्मति प्राप्त कर लेता है! यह बतलाना निरर्थक है, यह बुद्ध-सिद्धान्तके विलकुल विपरीत है; परन्तु यह अत्यन्त प्राचीन कालकी परम्परागत रूढ़ि है।

उत्तरी दरवाजेसे पगोडाकी, ओर सीधे जाते हुए दर्शकोंको दाहिनी ओर "जयात"से ढका हुआ लघु-कूप-छिद्र दीप्त पड़ता है। यह सुरंग-मार्ग पगोडाके कोप-स्थानको जाता हुआ अनुमान किया जाता है। कोई भी ऐसा नहीं, जो नीचे पहुँचने और वहाँ क्या है, यह पता लगानेका साहस कर सके; परन्तु कोप-स्थान-सम्बन्धी कहानियाँ और सञ्चित द्रव्य वहाँ हैं, यह स्वीकार किया जा सकता है।

भीतरी स्थानोंके सामने, छोटे गिरजाघरोंके समान, विशाल-प्रतिमा स्थित चार मन्दिर बने हुए हैं। ये मन्दिर बड़ी हुई भोमाकार बुद्ध-प्रतिमाओंसे सजे हुए हैं। इनके आलोंमें जो कारीगरीका काम हैं, वह बड़ा ही सुन्दर है। उन सहस्रों दीपों और मोमवत्तियोंसे (जो वहाँ जलायी जाती हैं) कई स्थानोंमें मोटे सोनेका मुलम्मा और गहरा हो जाता है। गौतमकी विविध प्रकारकी सैकड़ों प्रतिमाएँ चारों ओर बनी हुई हैं। छतके चित्र घड़े परिश्रम-पूर्वक लकड़ीपर चित्रित किये गये हैं। उनमें कोई नाच रहा है, कोई लड़ रहा है, कोई आकाशमें उड़ रहा है और कोई सिरपर हाथ रखे ध्यानमग्न है। सिंहके सामने चावल और पुष्पादि बढ़ानेके लिये ऊँचे पथरके चतुरे बने हुए हैं। यह बढ़ाया

सम्पूर्ण पगोडाका होता है; केवल उसी मन्दिरका नहीं।

प्रत्येक मन्दिरकी छतोंकी पङ्क्तिपर पङ्क्ति है, जो बहुत-सी मंजिलोंके आकारको प्रकट करती हैं, हालाँकि, वे एक ही होती हैं। एक ही मंजिल होनेका कारण यह होता है कि, बौद्ध भिक्षु अपने ऊपर किसीका होना अपमान समझते हैं। इस तरहका गृह निर्माण केवल धार्मिक इमारतों, राज महलों और उच्चपदस्थ कर्मचारियोंके लिये ही हो सकता है, औरोंके लिये नहीं।

दर्शक मूर्तियोंके आधिक्यसे सदैव भ्रममें पड़ जाते हैं। वस्तुतः वे सब बुद्धदेवकी ही हैं; किन्तु उनके बनानेका धार्मिक ढग तीन तरहका है।

वैठी हुई मूर्तियोंमें भगवान् बुद्ध पालथी मारे बैठे दिखाये गये हैं। बायाँ हाथ खुला हुआ पालथी पर और दाहिना हाथ खुला हुआ दाहिने घुटनेपर टिका है। अँगुलियाँ पृथ्वीकी ओर झुकी हुई हैं। बोधिवृक्षके नीचे ध्यानावस्थित बैठे हैं। वे उस ढग की समझी जाती हैं, जहाँ उन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ था। यह सर्वत्र एक से आकारकी पायी जाती है।

खड़ी मूर्तियोंमें बुद्धदेव खड़े हुए, उपदेश देते हुए, दिखाये गये हैं। दोनों हाथ उठाये हुए हैं या दाहिना हाथ कन्धेके पास खुला हुआ है। हथेली बाहरकी ओर है। सुननेवालोंको विश्वास दिलाया जाता है कि, वह अभयदायक है। पगानवालोंकी मूर्तियोंका यह ढग ही उसमें प्रेम और दानका ढग भी प्रकट करता है। जो खुला हुआ हाथ, सामने हथेली किये, लटकता है, उससे भगवान् बुद्ध अपने उपदेशोंसे दान (आशीर्वाद) प्रदान करते हैं।

लेटी हुई मूर्तियोंमें बुद्ध निर्वाण प्राप्त कर रहे हैं। दाहिनी करवट लेटे हुए हैं। दाहिने हाथपर सिर

टिका है। दूसरी ओर, बायें पैरपर, चाम हस्त पूरा फैला हुआ है। पगोवाली १८१ फीट लम्बी विशालकाय मूर्ति इसका उत्तम प्रमाण है। इस प्रकारकी निर्मित मूर्तियाँ “शिन चिन था-ल्यॉंग” कहलाती हैं। जो मूर्तियाँ उनकी मृत्युसमयकी द्योतक हैं, वे भी इसी प्रकारकी हैं। उनमें सिर्फ हाथपर सिर टिकनेके बजाय हाथ तकियेपर टिका हुआ है। प्राचीन मूर्तियोंके ढंगसे शान्ति और वडम्पनके भाव प्रकट होते हैं, और, आधुनिकोंसे प्रायः मुस्कराहटके। पगोडामें सरसे अधिक वैठी, उससे कम खड़ी और उससे भी कम लेटी हुई मूर्तियाँ हैं।

मगोलियनकी अपेक्षा निरोप आर्य-आरुतिकी मूर्तियाँ हैं। निरोपत पेगनमें, टेवेटमें ऐसी ही मूर्तियाँ पायी जाती हैं। यह तेलंगजातिके लोगोंका शहर है। इनकी प्रतिमाएँ भी आर्य-आरुतिकी हैं। तेलंग लोगोंने साहित्य और सभ्यता भारतसे ही प्राप्त की है।

बुद्धके भिन्न भिन्न चिह्न ये हैं—लौ (कर्णभूषण) कर्णोंको छूते हैं। सिरकी चोटीपर चालोंका गुच्छा है और निराले ढगके टेढ़े चाल एकमें जुटे हुए हैं। पिछली बातके लिये बतलाया जाता है, उस महा-त्यागवाली रात्रिमें, जिस दिन राजकुमार सिद्धार्थने राजमहलको छोड़ा था, अपनी तलवार निकालकर उन्होंने एक इंच लम्बी शिपा काट डाली और चालों की यह लम्बाई ठीक वैसी ही रही।

अधिकांश मूर्तियोंकी आँतोंके बीचमें माथेपर जुल्लें हैं। उनके चारों ओर यह किंवदन्ती प्रचलित है कि, वे खोचनेपर बढ़ जाती हैं और ढीली छोड़नेपर फिर छोटी हो जाती हैं।

वैठी हुई मूर्तियोंके पैरोंने तलवे सीधे घुटनोंपर हैं और दाहिना पाँज कुछ आगे है। सन्देशशील प्राग्-

णोंको अपना बुद्धत्व जतलानेके लिये गौतम प्रायः अपने पाँवके घे चिह्न (३२ लक्षण) दिखलाया करते थे, जो एक सन्धे बुद्धके पैरों होते हैं। घे सर्व्व इसी आसनसे बैठा करते थे, जिससे लोग बिना किसी असुविधाके इन आश्चर्यजनक चिह्नोंको देख सकें, जो उनके इस उत्थानके निर्देशक थे। पगोडाकी उच्च भूमिपर, कहा जाता है, बुद्धदेवके चरण-चिह्न हैं। उत्तरीय द्वारकी दाहिनी तरफ 'ताजौंग' (यह भी 'ज़यात' की तरह चित्रमालय है, सिफ पूजार्थ, रहनेके लिये नहीं) में एक पेसा ही उदाहरण है, जो सर्पाविष्ट है। यहाँपर बर्मी राजाओंके समान ब्रह्माभूषणयुक्त बुद्धदेवकी घड़ी हुई विशाल प्रतिमा है।

यह कहा जाता है, जहाँ कही बुद्धदेव चलते थे, एक कमलका पुष्प उनके पैरोंके नीचे पैदा हो जाता था, जिससे उनके पैरोंका संस्पर्ग पृथ्वीसे न हो। इसी लिये केवल बर्मा और सीलोनमें ही उनके चरण-चिह्न मिलते हैं।

इससे आगे सुसंगठित चट्टानोंमें निकला हुआ एक बड़ा भारी बट-वृक्ष मिलता है। बर्माके सारे पगोडोंके नमूने इन चट्टानोंमें मिलते हैं तथा बुद्धदेवके जीवनकी कई घटनाएँ भी यहाँ अङ्कित हैं। इसके पास ही शान-छतरियाँ (छाते) हैं, जो लोहेकी बनी हैं। बौद्ध-पूजा विधानमें इनका बहुत भाग है।

दक्षिणी दरवाजेपर फिर पहुँचनेके लिये, घूमने

के पहले ही, वहाँ एक बड़ा ही मनोमोहक सुन्दर चीन "टाजौंग" (बौद्ध-मन्दिर) मिलता है। यह चीनके बौद्ध संन्यासीके अधिकारमें है। उसकी संग-तराशी और मूर्तियाँ चीनी ढंगकी हैं। घे देखने योग्य हैं।

पगोडाकी नाँवपर सहस्रों छोटे बड़े मन्दिर बने हुए हैं। घे सब भिन्न-भिन्न मनुष्योंके भिन्न-भिन्न समयोंमें बनाये हुए हैं। उनमेंसे एकको देखनेसे मालूम होता है, कठघरोंमें बुद्धदेवकी मूर्ति है; और, उससे पहले—कठघरोंके बाहर—उसके संरक्षकोंकी मूर्तियाँ, चढ़ावेका शोभाश फूल, मोम-बत्तियोंका जला हुआ हिस्सा और एक नागराजकी मूर्ति है।

पगोडाके पूजनका मुख्य चढ़ावा चावल, मोम-बत्तियाँ, पुष्प, कागजके छाते और जल है।

जलसे भरे हुए मिट्टीके तेलके पीये पगोडापर पड़े रहते हैं। यानी लोग पैसे देकर प्रार्थनाके बाद बुद्ध-प्रतिमापर या चतूरेके फर्शपर चढ़ाते हैं। जल-दानका पुण्य माना जाता है।

सन् १६३१ ई० में पगोडाके चतूरेपर एक भयङ्कर अग्निकाण्ड हो गया था, जिससे कई बड़े-बड़े मन्दिर जलकर नष्ट हो गये। करोड़ों रुपयोंका नुकसान आँका जाता है। उतनी लागतके और वैसे मन्दिर तो अब बन नही सकते, फिर भी मरम्मतका काम चल रहा है।



उत्तरकाशिका शक्तिस्तम्भलेख

१० श्रीमद्र शर्मा तैलंग, वेद-शास्त्रार्थी

हरद्वारसे १४० मील दूरपर, गंगोत्तरीके रास्तेमें, सुप्रसिद्ध उत्तरकाशी है। कहा जाता है कि, उत्तरकाशी टिहरी राज्यका सीसरा शहर है; स्कून, डाकखाना, खुनि-निपज बोर्ड आदि इस बातका समर्थन करते हैं। यात्रियों के लिये दो धर्मशालाएँ हैं, जिनमें काशी कमलोजाले-की प्रसिद्ध है। उत्तरकाशीका विश्वनाथ-मन्दिर बहुत प्रख्यात है। कई विद्वानोंसे मालूम पड़ता है कि, मन्दिरका संस्कार ४-५ वार हो चुका है। परागके सुन्दर टुकड़ों और मूर्तियोंसे इसकी प्राचीनताका पता सहज ही लग जाता है। मन्दिरके आँगनमें ही, सामने, एक शक्तिस्तम्भ है, जिसे त्रिशूल, ध्वजस्तम्भ या जयरतम्भ भी कह सकते हैं। इसका नीचेका हिस्सा, करीब एक हाथ लम्बाईमें, ताँबेके शिखरसे प्रसिद्ध किया हुआ है। लोगोंका कहना है कि, इस तरहके सात शिखर जमीनके भीतर हैं। ऊपरकी, १७ फीट तक लम्बाईमें, पीतलका हिस्सा है। ऊरी कोनेमें, वहाँ त्रिशूल और फासा बना है, तीन फीट लम्बाईमें जोड़का हिस्सा मालूम पड़ता है। इसकी कुल ऊँचाई प्रबो-नजसे २१ फीट है। दो फीटकी मोटाईसे षटकोण बना है। इसके दो पक्षप्रतिफल तीन पक्षिकोंका एक लेख, दो फीट लम्बा, छोटा गया है।

हमने पड़लेसे सुन रखा था कि, रास्तेमें पुरातनकी कुछ सामग्री मिलेगी; इसलिये शिला-पत्र लेखोंकी छाया उत्तारनेके साधन साथ रख लिये थे। हम अपने साथियोंसे स्तम्भ लेखको साफ कर ही रहे थे कि, बीचमें पुजारी-जीका आगमन हुआ। वे मारे गुस्सेसे बोलेने लगे -- "आप लोगोंने इन चीजोंसे शक्तिही पवित्रताको नष्ट कर

दिया है। इसे शुद्ध करनेके लिये भारी खर्च देना होगा, अन्यथा अगर लोगोंके ऊपर मुकद्दमा चलेगा।" बहुत कश-सुनीके बाद, 'मशाराज'को दृष्टिवा दे, हमने अपने कार्यकी पवित्रताको सिद्ध कर दिया। तीन घंटे परिश्रम किया गया। लेखकी छाया बहुत उत्तम आयी। लेख तीन पक्षिकोंमें है। पहली पक्षिक कुछ छोटे अक्षरोंसे लिखी गयी है; इसमें शार्दूलविकीरित छन्दका एक श्लोक है। दूसरीमें बड़े अक्षरोंसे उसी छन्दका एक और श्लोक है। तीसरीमें बहुत बड़े बड़े अक्षरोंसे एक 'सामरा' लिखी गयी है। पूरा लेख शुद्ध संस्कृतमें साफ और सुन्दर है; केवल एक अक्षर ठीक नहीं मालूम पड़ा। इस लेखके एक एक श्लोकको, सुविधाके वास्ते, चार पादोंमें काटकर मैंने बजाक बनवाया है, नहीं तो यह पक्षिक बहुत कष्टी हो जाती। पाठ इस प्रकार है—

पहला श्लोक—

“ॐ आसीद्यः चित्तिपो गणेश्वर इति प्रख्यातकीर्तिर्नरैः
चक्रे येन भवस्य वेश्म हिमवच्छृणोच्छृत दीप्तिमत्
हृत्वाणु ॐ र्जनजाधिपः स्वहृषी सामात्यभाग्यश्रिय
स्मृत्वा शकसुहृत्स्वस्तुस्मना यातः सुमेवांश्वर ॥

दूसरा श्लोक—

पुत्रस्तस्य महाभुजो विपुलदुर्गमीनान्तोरस्थलः
रूपत्यागनयैरनगघनदव्यासानतीत्योदृतः
नाम्ना श्रीगुह इत्युदारचरितः सद्धर्मधुर्यस्तता
शक्तिः ॐ शत्रुमनोरथदमयनां शम्भोश्चाराप्रतः ॥

तीसरा श्लोक—

प्रातः प्रातर्भयूतिरुहभिरविरल शर्वरं ध्यान्तमन-

न्नालं चंश्चारुतारानि करपरिकरोदारशारोदररं

स्व विम्व चित्रविम्वाम्बरतलतिलकं यावदकीं विधेते

तावदकीर्तिः सुकीर्तेशिचरमरिमथनस्यास्तुराज्ञःरियरेयं।३।*

मतलब कि, “प्रजानुरागी ‘गणेश्वर’ नामक राजा अत्यन्त उन्नत श्रीविश्वनाथका मन्दिर बनवाकर, मन्त्रियों-सहित अपनी राज्य-जघमीको अणु समझकर और उसे प्रियजनोके वशमें देकर इन्द्रकी मिश्रताकी यादमें उत्सुक हो, सुमेरु-मन्दिर (स्वर्ग या कैलास)को, चला गया ॥१॥” (इस श्लोकमें जो “हिमश्चूडोच्छ्रितं” है, इससे यह स्पष्ट नहीं प्रतीत हो रहा है कि, उसने सम्पूर्ण मन्दिरको बर्नवाया या शिखरोंका ही संस्कार कवाया था। “वनजाधिप” शब्दसे यह जंगली राजा मालूम पड़ता है। “शक्रपुङ्ख” राजाको अत्यन्त बलशाली सिद्ध करता है।)

“राजा गणेश्वरके बाद उसके पुत्र श्रीगुहके हाथमें

राज्य आया, जो अत्यन्त बलशाली, विशाल नेत्र और छद्म वस्त्र-स्थलवाला था। उसने सौन्दर्यमें मम्मथको, दानमें कुबेर को, नीति या शास्त्रोंमें वेदव्यासको जीत लिया था। वह धार्मिकोंका अगुआ और बड़ा उदार था। उसने ही भगवान्‌के सामने इस शक्तिस्तम्भकी स्थापना की थी। उसे देखते ही शत्रु लोग डर जाते थे, क्योंकि वह प्रतपी और सुन्दर गुणवाला था ॥२॥”

“जबतक भगवान्‌ सूर्य अपनी तरुण किरणोंसे गाढ़-म्भकारको नष्ट करके नक्षत्रोंकी चित्र चर्याको मिटाकर गगनफलकमें अपने विम्बरूपी तिलकको लगाते हैं, तबतक प्रतापी राजा गुहकी यह कीर्ति सुरिधर रहे ॥३॥”

लिपिके विचारसे हम कह सकते हैं कि, यह राजा विक्रमीय संवत्‌की ५ वीं या छठी शताब्दीमें हुआ होगा। इस स्वर्ग-लेखकी लिपि गुप्तकालीन लिपिके आसपासकी हो सकती है। कविता प्रसादगुण-पूर्ण और यमक-भूषित है। खेखे पदले ‘अ’ और अन्तमें ‘ठ’ लिखा गया है। प्राचीन पदविके अनुसार यह चिह्न आद्यन्त द्योतक हैं।*

जैन-मूर्तियाँ

चा० कामताप्रसाद जैन

भारतीय पुरातत्त्वके आधारपर यह देल खोना जरूरी है कि, आखिर जैनोकी मूर्तियाँ कितनी प्राचीन हैं। भारतीय पुरातत्त्वमें मोहजोदारोकी सामग्री सर्वप्राचीन है। यह ईश्वरी सन्ने लगभग चार हजार वर्ष पहलेकी है। उस सामग्रीमें कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनकी नासाप्र-

धान-मुद्रा ठीक वैसी ही है, जैसी जैन-मूर्तियोंकी होती है। उन्हें कोई-कोई विद्वान्‌ मातृ-सम्प्रदायकी बताते हैं। + मनु महाराज मातृको यह सन्निध निर्दिष्ट करते हैं, जो वेद-विरोधी थे। उनमें ज्ञान-महल-लिखद्विप्रविद्‌ आदि जातिपोंको परिगणित करते हैं। Δ इन ज्ञान-आदि

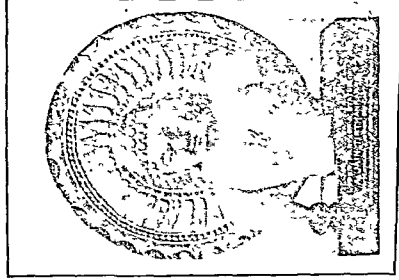
* ‘नि’ अक्षर ८५६में गूढ़ गया है। —लेखक।

+ दानमें ‘धर्म’ का नाम प्रसिद्ध है। —लेखक।

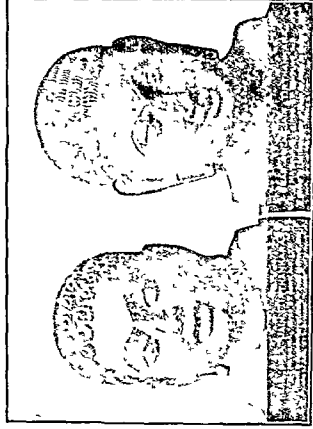
Δ स्तम्भ-जैगुके तीन चित्र मन्थन मुद्रित हैं। —‘गंगा’-गम्भादक।

+ *Survival of the Pre-Historic Civilisation of the Indus Valley*, pp 23-31

Δ मनु० १०।१०-२२।

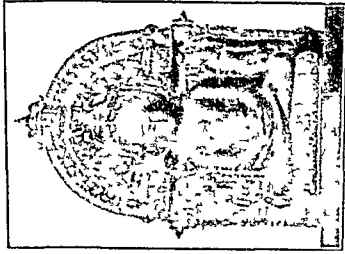


११८—एक जैन-नीर्यदूरकी प्रतिमा
(मधुग, छठी शताब्दी)
(अजयदे और विष्णोरिया म्युजियम,
लंदनकी आग्रासे)



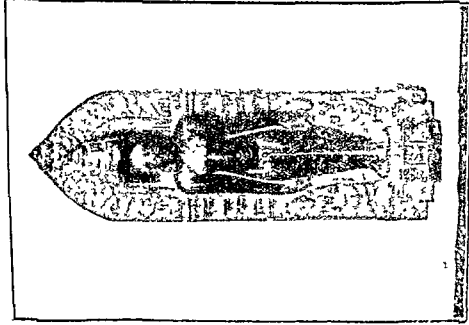
११९—दो जैन मूर्तियोंका शिरोभाग
(मधुग, छठी शताब्दी)
(अजयदे और विष्णोरिया म्युजियम,
लंदनकी आग्रासे)

गङ्गाका "पुरातत्त्वाङ्क"

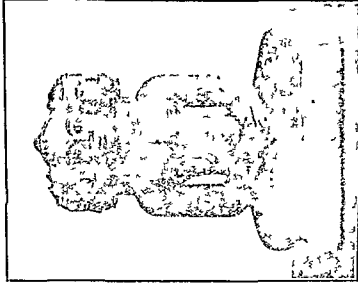


१३०—शाल्तिनाथजी

(मंगर १२२५ वैशाखसुदी ५, सोमवार)
(मिडिय म्युजियम, लंडनकी आवाससे)



१३१—दिसपर जैनोकी काले पत्थरकी प्राचीन मूर्ति



१३२—१५ फीट ऊँची चतुर्भुज जिन प्रतिमा
(संवत् १६२६ के लेखके साथ)
(अलमई और विक्टोरिया म्युजियम,
लंडनकी आवाससे)

जातिपोंके चित्रिय प्राचीन कालसे जैनधर्म-भुक्त मिलते हैं। अथर्ववेद (१५) में एक महावारायका जो वर्णन दिया है, वह ठीक जैन-वीर्यङ्करके चरित्रके समान है। * ऐसे ही कारणोंको देखकर किम्बो विद्वानोंने वाराणसीके प्राचीन जैनी माना है। इसके अनुसार यदि सिन्धुदेशकी उपायकाके प्राचीन निवासी वाय माने जायें, तो जैन-मूर्तियोंका आस्तित्व आजसे लगभग ४-५ हजार वर्ष पहले पहुँचता है !

चैमे मथुराके पुरातनमें ए० मि० बूचरने 'एक देव-निर्मित जैन-स्तूप (भ० पार्वनाथ, ई० पू० ८ वीं श० के समयका) मित्रा चतुर्थाया था, और, जैन-स्तूप मूर्तियों से अलंकृत होता है, यह जैनशास्त्रोंसे स्पष्ट है। इस दशमें ईस्वी पूर्व ८ वीं शताब्दीमें जैन-मूर्तियोंका अस्तित्व मिलता है। उन्नीसके प्रख्यात हाथी-मुक्ताबाले शिलालेखमें कहा गया है कि, कलिङ्गके यदि जितेन्द्रकी निज मूर्तिको मगध का नन्दराजा ले गया था, उसको कलिङ्ग-वक्रवर्ती श्रीऐल खारवेल वापस कलिङ्ग ले आये थे। † यह उल्लेख भी उस प्राचीन कालमें जैन-मूर्तियोंको प्रचलित चतुर्थाया है।

अब यह देखिये कि, यह जैन-मूर्तियाँ थीं कैसी ?

जैनोंके शास्त्र इस विषयमें एकमत नहीं हैं। दिगम्बर-सम्प्रदायके शास्त्र कहते हैं कि, जैन-मूर्तियाँ सदा नम्र बनी हैं। † इसके विपरीत श्वेताम्बर-सम्प्रदायकी धारणा है कि, प्राचीन जैन-मूर्तियाँ न नम्र थीं और न वक्षालङ्कारयुक्त। ‡ पीछे वह सम्प्रदाय बलों और अलङ्कारोंसे भूषित मूर्तियाँ बनाने लगा। किन्तु श्वेताम्बर-मतानुसार प्राचीन जैन-मूर्तियोंका वेश कुछ समकर्म नहीं आता कि, वह कैसा था ! बहिक मथुरासे ईस्वी प्रथम शताब्दीकी जो जैन-मूर्तियाँ मिली हैं, और, जिनपर श्वेताम्बराचार्योंके नाम अङ्कित हैं, वे ठीक वैसी ही नम्र हैं, जैसी कि, दिगम्बर पुराते हैं। + उच्चर प्रसिद्ध भारतीय उग्रोत्तिपी वाराहमिहिर भी जैन-मूर्तियोंको नम्र प्रकट करता है। † इन बातोंको देखते हुए यह बात ठीक जैसी है कि, जैन-मूर्तियाँ पहले-पहल नम्र ही बनायी गयी थीं।

अच्छा, तो यह नंगी मूर्तियाँ बनाया किस चीजकी गयी थीं ? इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है। बहुत सम्भव है कि, छातु या पाषाणकी मूर्तियाँ बनी हों। जैन-अपिगण गिरि कन्दराओंमें ध्यान-रत रहते थे। उन पर्वतोंको खोदकर ध्यानके लिये साधन-भूत मूर्तियाँ,

* भगवान् पार्वनाथ, प्रस्तावना, पृष्ठ ३२-४६।

† *Jaina & other Antiquities of Mathura, P. 13*

‡ पृष्ठ १२। मि० जायसवाल इन सम्बन्धमें लिखते हैं — "In line 19 it is clearly stated that King Nanda had taken away image known as 'the Jina of Kalunga,' and that after the defeat of Bakasat-Mitra, the Kalunga Emperor brought it back to Kalunga along with other trophies... The datum proves... Jina images about or rather before 450 B.C." — *Journal of the Behar & O. Res. Society, XIII 245*

× प्रतिष्ठासारेन्द्रा, म० १।

† 'जुडिङ्ग जिणपदिमया नगिणतं नेव नदि म पत्रमो। देण नागाटण भेमो उमणसि सम्भो ॥७॥' (श्वचनपरीक्षा)।

+ *Jaina & other Antiquities of Mathura, pp 46*

‡ "भाजानुलम्बवानु धीवन्ताः प्रसन्तमूर्तिसिध। दिग्बसास्तदयो रुन्नाश्च बायोर्द्धता देव ॥" ४५॥ ५५॥ (वाराहमिहिर-गणिता)

जैन-ऋषियों द्वारा, बनवायी जाती होंगी। ऐसी अव्यक्त प्राचीन मूर्तियाँ कई स्थानों पर आज भी मिलती हैं। * पीछे काठ, प्रस्तर-लेप, धातु, रत्न, चित्र आदिकी मूर्तियाँ बनने लगी थीं।

आजकल दो तरहकी जैन-मूर्तियाँ मिलती हैं—(१) दिगम्बर,—(२) श्वेताम्बर। दिगम्बर-जैन-मूर्तियाँ बिलकुल नग्न होती हैं; और, कोई-कोई आठ प्रातिहार्य और यज्ञ-यविणी सहित होती हैं। वे तीर्थङ्करोंके अतिरिक्त दिगम्बर साधुओं तथा सिद्ध भगवान्की भी होती हैं; बिन्तु उनके साथ शासनदेवताओंकी भी मूर्तियाँ बनायी जाती हैं।†

इन मूर्तियोंके बनानेके स्थान, दिगम्बर-जैन-शास्त्रोंमें, मानसलभ, तोरण, प्रासाद, स्तूप, चैत्यवृक्ष, गन्ध-कुटो आदि कहे गये हैं। दक्षिण भारतमें जैन-मन्दिरोंके आगे मानसलभ बनानेका बहुत रवाज है। श्रवणबेलगोत्रमें दर्शनीय मानसलभ हैं। ‡ उत्तर भारतमें कुशाऊँ (गोरखपुर जिले)में स्थित गुप्त कालका मानसलभ उल्लेखनीय है। वह अशोकके स्तम्भोंके तर्जका सिंह-मूर्तिते वेष्टित था। × चित्तौड़में भी एक ऐसा ही मानसलभ अस्त्रा बना हुआ है।† तोरण जैनमन्दिर अथवा स्तूपके

मुख्य द्वारको कहते हैं। देवगढ़ (काँसो), खजुराहो (खजुराहोखण्ड) और दक्षिण भारतके अनेक जैनमन्दिरोंके द्वारोंपर दिव्य मूर्तियाँ स्थापित मिलती हैं। प्रासाद जैनमन्दिरके विशाल सभा-मण्डपको कहते हैं। इनमें बड़े-बड़े ताक बनाकर जैन-मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं। इनकी दीवारोंपर भी जैनमूर्तियाँ अङ्कित होती हैं, जो 'आयागपट' कही जाती हैं। पल्लोरा, अन्नता आदि स्थानोंके जैन-गुफा-मन्दिरोंमें ऐसे प्रासाद देखनेको मिलते हैं। स्तूप जैन-ऋषियोंकी सिद्धगति-प्राप्तिके प्रतीक हैं; वह परकोटे और तोरणों-सहित बने होते हैं। मधुरा, वज्रशिला आदि स्थानोंमें जैन स्तूप मिले हैं। चैत्यवृक्ष, कल्पवृक्षोंकी तरह, मनोहर होते हैं; और, उनके अधो-भागमें तीन जगज्जुक्त प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं। गन्धकुटी वह छोटा सा मन्दिर या वेदी है, जिसमें तीर्थङ्कर भगवान्की मूर्ति, प्रातिहार्यादि सहित, स्थापित की जाती है।

दिगम्बर-जैनमूर्तियोंकी बनावट, उनके धातु, श्रोत और विद्ध बैल-सिंह-सर्प आदिकी समानता मिथदेशकी प्राचीन मूर्तियोंसे बतायी जाती है, जेमे प्राचीन जैन-केन्द्रोंकी थोड़ा-उगमें देश-भेदके लक्षण देखनेको मिलते

* सोनागिरि, चढ़वानीजी, पद्मपद्ममलय आदि स्थानोंपर ऐसी प्राचीन मूर्तियाँ हैं।

† प्रतिष्ठाकारोंद्वारा ग्रन्थमें लिखा है कि, "मूर्ति प्रतिमाको तीन वर्णों, दो चरणों, मशोकपुत्र, पुण्ड्रिणि बाने, सिंहासन, आमण्डल, दिव्यभाषा, पुष्पपर्वा—इन आठ प्रातिहार्योंसे शोभित करे।†††। इसके बाद स्थिर और चल, दोनों प्रतिमाओंमें सिंहासनके नीचे जेवा शस्त्रमे कदा है, वैद्य ही, सीधी बगलमें, भगवान्के निम्न दो तथा बायीं तरफ यज्ञ और यज्ञोको खड़ा करे।†††। "जो शान्त, प्रसन्न, मन्द्यस्व, नासाग्रस्थित, अग्रिचारी दृष्टिवाली हो, जिनका भगवतीभग हो, प्रनुभम वर्ण हो तथा शुभ लक्षणों गणित हो, तब आदि चर्च दोषोंसे रहित हो, मशोकपुत्रादि प्रातिहार्योंसे युक्त हो और दोनों तरफ यज्ञ-यज्ञोसे वेष्टित हो, ऐसी मूर्ति-प्रतिमाको बनवाये ॥"

चौबीस तीर्थङ्करों २४ यज्ञ और यज्ञिणी सागमदेवता हैं। कहीं-कहीं उनही प्रलय भी मूर्तियाँ बनी हुई मिलती हैं, जेमे सोमिया (मालिखर) और फौनोदेवी (जयपुर)में।

‡ दिग्वि जैन-शिला-लेख-प्रद (मणिचन्द्र-ग्रन्थमाला)।

× J. R. A. S., Vol. 9, pp 168.

+ राजपूतानेका इतिहास, भाग १।

हैं। उड़ीसा, मथुरा, गिरिनगर और काञ्चपुर जैनोंके प्राचीन केन्द्र हैं। उन्हींके अनुरूप जैन-मूर्तियोंमें भी अज्ञोपाह्नकी वनावटमें भिन्नता मिलती है। उड़ीसाकी मूर्तिवाँ मथुरा और गिरिनगरकी मूर्तियोंसे कुछ अनुरी हैं। वहाँ अकपर ऋषभनाथजीकी मूर्तिके बाळ, लश्याँकी शङ्खमें, एक मुकुटकी तरह, सँवारे हुए मिलते हैं—यह अन्य मूर्तियोंकी तरह घुँघराळे नहीं हैं। वहाँ ऐसी मूर्तिवाँ भी मिलती हैं, जिनमें तोषंङ्करके माता-पिता बालक भगवान्‌को गोदमें लिये हुए हैं अथवा मूत्रमें कुत्ता रहे हैं। इसी दरपके ऊपर ध्यानाकार मूर्ति है। दक्षिण भारतकी मूर्तियोंमें द्रविड़-जातिकी सस्कृतिका प्रभाव देखनेकी मिलता है। वहाँ संप-कण-मण्डल-मुक्त मूर्तिवाँ अधिक मिलती हैं। श्रीचपभदेवके पुत्र रावर्षि बाहुबलिकी विशालकाय मूर्तिवाँ भी वहाँ खूब मिलती हैं। अथर्ववेदग्रन्थमें उनको एक मूर्ति २७ फीट ऊँची है; और, उसका शिष्य कप्ये इतना मनोहर है कि, सारे ससारसे लोग उसको देखनेके लिये आते हैं। मथुरा अथवा दक्षर भारतकी मूर्तियोंमें ऐसी मूर्तिवाँ भी मिलती हैं, जिनके चार मुख होते हैं। लखनऊके अज्ञातवधामें संकारयके निष्ठके मिलो हुई एक मूर्ति है; और, लन्दनके

विक्टोरिया म्युजियममें भी एक मूर्ति इसी प्रकारकी है।

जिन-मूर्तियोंकी तरह दिगम्बर जैनोंमें चरण चिह्न भी पड़े जाते हैं। प्रसिद्ध जैनतीर्थ समेदशिखर (*Parasnath Hill*) और पावापुर-जल-मन्दिरमें चरण-चिह्न ही चितानित हैं। लाखों यात्री उनकी पूजा करते हैं।

श्वेताम्बर-सम्प्रदायकी मूर्तिवाँ वस्त्र और झलझाँसे सुसज्जित घनायो जाती हैं। उनके नेत्र बहुमूर्त्य रखोंसे जड़े होते हैं और उनके मुकुट करोड़ों खरपोंकी लागततकके बनाये जाते हैं। शत्रुञ्जय (पालीताना)में विराजमान भगवन् आदिनाथकी मूर्ति इस प्रकारका एक उल्लेखनीय नमूना है। जारूके प्रसिद्ध जैनमन्दिर भी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय-मुक्त मन्त्रिबर तेजपाल-वस्तुबालकी अत्यन्त-मूर्तिवाँ हैं। वह संसारकी श्रेष्ठ वस्तुओंमें एक है। वहाँकी मूर्तिवाँ सोने चाँदीकी हैं। दिगम्बर-सम्प्रदायमें भी सोने-चाँदीकी मूर्तिवाँ, कई स्थानोंपर, मिलती हैं। जैनरुद्री (मैसूर)में होरा-माणिक मोती आदि खरोंकी मूर्तिवाँ दर्शनीय हैं।

सर्वेषमें जैनमूर्तियोंका यही परिचय है और इससे उनका महत्त्व स्पष्ट है। वे न केवल मनुष्यके ज्ञान ध्यानके लिये एक साधन हैं, बल्कि उनसे भारतीय शिष्यका सौन्दर्य्य और मूर्त्य बढ़ गया है।



मुगल-सम्राट और उनके समाधि-मन्दिर

५० पीताम्बर भा

दुनियाकी सात आश्चर्यजनक चीजोंमेंसे मुगल-सम्राट् शाहजहाँकी वेगम मुमताजकी कब्रपर बना हुआ एक ताजमहल है। इस ताजमहलके निर्माणमें सम्राट्ने साढे सात करोड़ रुपये खर्च किये थे। यह अद्वितीय ताजमहल आगरा दुर्गसे एक मील पूरव, यमुना-तटपर, संगमरमरसे बने हुए २११ वर्गफीटके प्लाटफार्मपर, सुशोभित हो रहा है। शाहजहाँने मुमताजसे १६१२ ई० में विवाह किया था। मुमताजने अपने सौन्दर्यसे बाबरशाह-पर अटल अधिकार जमा लिया था। १६२६ में मुमताजकी मृत्यु हो गयी। मरते समय उसने शाहजहाँसे ये दो निवेदन किये थे—(१) "तुम अपना दूसरा विवाह नहीं करना, (२) मेरी कब्रपर एक ऐसी इमारत बनवाना, जो दुनियामें बेजोड़ हो।" उस वली-भक्त चादशाहने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। सन् १६३१ ई० में शाहजहाँने उसकी कब्रपर ताजमहलकी नींव डाली और १६४८ ई० में उस अनुपम महलको पूरा किया। संगमरमरसे यह गगनचुम्बी महल तैयार किया गया है। उसकी शिखर-फलाक्री देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पता है। ताज-महलके प्रधान कमरोंमें २७ फीट ८ इंच लम्बी और २२ फीट ८ इंच चौड़ी चित्रित, मूल्यावान् पथरोंसे निर्मित, मुमताज वेगमकी कब्र है, और, उससे ६ इंचके अन्तरपर बादशाह शाहजहाँकी कब्र भी उसी तरह सुसज्जित है। दोनों कब्रें बहुमूल्य मोती-जवाहरातोंसे जड़ी गयी थीं। अब उनकी जगहपर नकली पत्थर ढाड़ दिये गये हैं। कब्रके पाषणोंमें रैखरके ६६ नाम यद्दे सुन्दर अक्षरोंमें खोदे हुए हैं। कब्रें यही सुन्दर बसायी गयी हैं। उनके पर्यटकों की गयी नकली देवते हो बनती हैं। शाहजहाँकी मृत्यु १६६६

ई० में हुई थी। उसकी कब्र भी मुमताजकी कब्रकी तरह उसके उताधिकारी द्वारा सजाया गयी थी। इन कब्रोंके ऊपर संगमरमरकी जाली इस खूबीके साथ बनायी और सजायी गयी है कि, देखते ही बनती है। सुना जाता है, कुशल शिषियोंके द्वारा सात वर्षमें यह तैयार करायी गयी थी। पहले यह मोतियोंसे जड़ा और सोनेकी बनायी गयी थी। ताजके चारों कोनोंपर चार सुन्दर मीनार बने हुए हैं, जिनके भीतर पेचीली गोल सीढ़ियाँ बनी हुई हैं, जिनसे मीनारकी गगनचुम्बी चोटीपर लोग मुगलतासे खद जाते हैं। प्रत्येक मीनार १०१ फीट ऊँचा है। ताजकी दूसरी ओरके सब मीनार कुड़-कुड़े हुए बने हैं। उनको इस रूपमें झुकाकर बनानेकी रहस्य एक जर्मन-यात्रीने बताया था कि, ये इसलिये इस रूपमें बनाये गये हैं कि, यदि कभी भविष्यमें किसी कारण मीनारें टूट गिरें, तो ताज-जैसी सुन्दर इमारतपर किसी प्रकारका धक्का न पड़ूँच सके। ताजके चारों पार्श्वोंमें हरी-भरी लताओंकी एक सुन्दर उपवाटिका है, जो सुन्दर चदारदीवारोंसे घिरी हुई है। घाटिकमें प्रवेश कर ताजमें जानेके लिये सरयन्त सुन्दर और बहुत ऊँचा सिंहरा बना हुआ है। यह सिंहरा १६२१ ई० में सुन्दर मूल्यावान् संगमरमर और संगमूलाका बना हुआ है। इसपर भी टेढ़े-मेढ़े सुन्दर अरबी अक्षरोंमें कुरानकी आयतें उद्घृत हैं। सिंहराके ऊपर छोटे हुए अक्षर छोटे यद्दे होते हुए भी नीचेसे देखनेसे बराबर माजूम होते हैं। ऊँचे नीचे स्थानपर स्थित रहनेके कारण एक ही चीज छोटी बड़ी दिगयी पड़ी है; क्योंकि दूरीके अनुसार वस्तुओंका आकार छोटा माजूम होता है। इसी कारण ऊँचे नीचे स्थानोंपर छोटे हुए अक्षर, किसी विशेष

नियमके अनुसार, छोटे और बड़े बनाये गये थे, जिससे नीचेसे देखनेवाले दर्शकोंको बराबर मालूम हों। सुना जाता है कि, एक अमेरिकन यात्रीको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था। प्रवेश करनेपर भी उसको इस नियमका पता न लगा कि, कितनी दूरीपर छोटे-बड़े अक्षर अङ्कित करनेसे सब समान दिखायी पड़ेंगे !

इसके अतिरिक्त आग्रा दुर्गके भीतर अनेक सुन्दर हमारतें उन मोगल बादशाहोंकी बनवायी हुई हैं, जिनको देखते ही उनके अतुल प्रशंसका पता लगता है। दरबारे-आम और जहाँगीरी महलकी सुन्दरता देखते ही बनती है। दरबारे-आम शाहजहाँके द्वारा १६४१ ई० में बनवाया गया था। यह २००×३७० वर्गफुट है। यह चारों ओर सुन्दर छज्जोंसे घिरा हुआ है, जो लाल पत्थरके बने हैं। इसके खम्भे, छत और मेहराब चिकने-उज्जले पत्थरोंके बने हुए हैं। इसमें ३६ फीट व्यासकी एक बावली है, जिसके ऊपर बहुमूल्य आभूषणोंसे अलङ्कृत एक सिंहासन बना हुआ है। इसी दरबारे-आममें जनताके भाग्य निर्णयकी समा बैठती थी।

जहाँगीरी महलको देखनेसे आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। पत्थरपर भी हुई नकशी देखते ही बनती है।

उसको देख भारतीय शिल्पकला-विशारदोंकी निपुणता-पर अविमान होता है। बादशाह अकबरके द्वारा इस महलकी नींव डाली गयी थी; और, जहाँगीरने इसको १६११ ई० में पूरा किया था। यह पहले दो मजिला था। सम्पूर्ण महल लाल पत्थरका बना हुआ है। इसमें सात कचहरियाँ बनी हुई थीं। इसकी चारों ओर अठपहलू पत्थर लगे हुए हैं। पूर्वकी ओर, मध्य भागमें, अठपहलू पत्थरोंसे इसका सुन्दर सिंहद्वार बना हुआ है। यह भीतरसे १३२ वर्गफीटका बना हुआ है। इस महलकी भव्यता देखते ही बनती है। सैकड़ों वर्षका बना हुआ महल आज भी नया जैसा प्रतीत होता है। इन इमारतोंकी मनवृत्ति देखते ही बनती है। आजकलकी बनवायी हुई इमारतें इतनी मजबूत नहीं देखी जाती हैं।

बादशाह अकबरने स्वयं अपना समाधि मन्दिर, पन्द्रह लाख रुपये खर्च करके, बनवाया था। यह सुन्दर दर्शनीय महल, आगरेसे २ मीलकी दूरीपर, सिकन्दरामें बना हुआ है। अकबर बादशाहके मरनेपर इसी महलके भीतर उनकी कब्र बनवायी गयी थी। दिल्लीमें भी हनुमन्त-सम्राटोंके कितने ही दर्शनीय मवन हैं।

भारतीयोंका लिपि-ज्ञान

साहित्याचार्य "मग"

सभ्यताका विकास साहित्यके द्वारा होता है और विकसित साहित्यके समय लिपिकी उद्भूति होती है। अपने मनोभावोंको अभिव्यक्त करनेके लिये भाषाकी आवश्यकता होती है; और, उन्हीं यथावत् सुरक्षित रखनेके लिये लिपिही। पुरातत्वके लिये लिपि एक खास बात है।

आदि लिपि चट्टान कारण विद्वानोंने पताया है कि, क्विचोके पाव शगर पत्र लिखनेकी ज़रूरत होती थी, तो लेखक काष्ठकृतक आदिपर उलटी-सीधी, तिखी रेखाएँ खींच देता था, और, जो पत्रवाहक होता था, वह उन रेखाओंका अर्थ समझकर पत्र पायेवालेको सब समझा

चलता है कि, ग्रामियनका अलिफ् और खरोष्टीका अ, ग्रामियन पेशरीका वेध और खरोष्टीका य, मिश्रके शिलाफलकका गिमेल और खरोष्टीका ग, मेसोपोटामियाका शिलालिपिका दलेय और खरोष्टीका द एक-से ही हैं। यही क्यों, और और शिलाखेजोंमें भी ग्रामियन अक्षरोंसे खरोष्टीका मेल खाता है। सारांश यह कि, ग्रामियनके दोस्रो अक्षर, किसी न किसी रूपमें, खरोष्टीसे मिल जाते हैं। खरोष्टी लिपि सेमिटिक लिपिकी ही भाँति दायी ओरसे बाँयी ओरको लिखी जाती है।

किंती अनिश्चित कालसे (सम्भवतः ईसा पूर्व आठवें शतकसे) भारतमें ब्राह्मी लिपि खूब रूपपाटे, अशोकके समयतक, चलती आ रही थी। बादमें भी इसका दौर-दौरा भारतमें कुछ दिनोंतक रहा। फारनाइने जयपुर-राज्यके नागर नामक स्थानसे बहुतसे ताँबेके सिक्के ढूँढे थे, जिनपर केवल ब्राह्मीके ही अक्षर हैं। ये सिक्के ई० सन्के चौथे शतकतक चलते थे। फिर खरोष्टीने पाँच फौजाना शुरू कर दिया। ईसा पूर्व पाँचवाँ शताब्दीमें भारतके वे सीमान्त प्रदेश, जो उत्तर पश्चिममें हैं, फारसके साम्राज्यमें मिल गये थे। इस समय खुश, दरिदास आदि हाखामानिखीय (Arhaemenian)-बर्षीय पारसी सम्राटोंका राज्ज भूमध्य सागरसे लेकर पञ्चनदतक फैल गया था। उसी समय भारतीयोंने अपने पारसीक साम्राज्य से खरोष्टी लिपिकी अपनाया। धीरे धीरे यह फैलने लगी और ईसाकी सुरुआत बाद, कई शताब्दियोंतक, चलती रही। उत्तरापथमें इसका प्रचार सम्भवतः ईस्वी सन्के १२ वें शतकतक था।

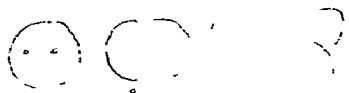
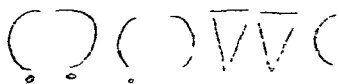
यह बात, शिलाखेजों और मुद्राओंके द्वारा पुरा-साधकोंने सिद्ध कर दी है कि, ईसा पूर्व पाँचवें शतकमें भारतीयोंके चरच पूर्ण थे। पर अब देलना यह है कि, वे केवल पथोंपर ही खिजा करते थे या और किसी जगह भी। कागजोंपर (भूर्जपत्रोंपर) या कपड़ोंपरके

लिखे लेख हस्तने दिनोतक सुरक्षित नहीं रह सकते थे। ऐसे लोगोंमें लिखी पुस्तक तो कीलकाचरोंकी ही मिल सकती है। कीलकाचरोंके लेख मिट्टीपर, कीलकों द्वारा, लिखकर पका जिये जाते थे। कीलकाचरोंमें लिखी पुस्तकोंकी एक जाइनेरी मेसोपोटामियामें मिली है, जो ईसा पूर्व २१०० वर्षोंकी मानी जाती है। भार तीनोंके घर कीलकाचरोंका रवाज नहीं था। हाँ, यूनानी लेखक नियार्कसने, जो ईस्वी सन्के पूर्व चौथे शतकमें वर्तमान था, अपनी विवरणोंमें लिखा है कि, भारतवासी रुईके पत्तर या कागजपर लिखा करते थे।

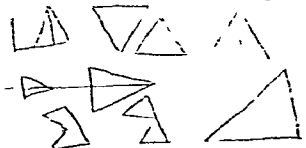
ईसा पूर्व चतुर्थे शताब्दी पाणिनिका समय है। इनके समयमें भी एक यवन-लिपि चलती थी। सम्भव है, उसका निर्माण खरोष्टीमें हो गया हो या कीलकाचरका ही नाम यवन लिपि हो। बौद्धोंका ग्रन्थ “ललितविस्तर” ईसाके पूर्व त्रयाः प्रथम शतकमें सगृहीत हुआ है। इसमें ब्राह्मी आदि अठारह प्रकारकी लिपियोंका नाम दिया गया है। मालूम नहीं, वे सब लिपियाँ कहाँ प्रचलित थीं, पर इतना जोरके साथ कहा जा सकता है कि, पुरातत्त्व-विभागवालोंकी उन लिपियोंमें लिखे लेखोंका पता अवतक नहीं चलता है। आगे चलकर शायद पता चले। हाँ, उनकी ब्राह्मी, खरोष्टी आदि प्रसिद्ध लिपियोंके जो कोटियों लेख मिले हैं।

हिन्दुओंके (वैदिक) धर्मग्रन्थ, बौद्धोंके धर्मग्रन्थ या जैनियोंके धर्मग्रन्थ पहले जगामो ही रटे जाते थे, इसलिये उनमें उजट फेर होनेकी काफी गुंज इश रह सकती थी। उनमें लिखी बातें तब प्रामाणिक हो सकती हैं, जब कि, पृथ्वीके भीतरसे उनके पोषक प्रत्यक्ष प्रमाण निकल आयें। पृथ्वी-गर्भसे अभीतक जो केवल ब्राह्मी लिपि ही प्राचीन लिपियोंमें निकली है। अन्य लिपियाँ जब विकसित प्रायंगी, तब उनके अनुकूल यातायात स्पष्ट हो सकता है।

विक्रमखोल (जिला सम्बलपुर)



गोपुरा रत्न (उद्दिष्ट - ...)



देता था। इसी प्रकार जय दस-पाँच बार आपसमें पत्र-व्यवहार हो जाता था, तब लोग एक दूसरेके मनोभावोंसे परिचित रेखाओंका कुछ-कुछ अर्थ समझने लगते थे। हर एक परिवार अपने लिये "ट्रेड मार्क" की तरह एक साङ्केतिक चिह्न रखता था, जो अभी भी खोदाईके मूर्त्ताओंपर मिलता है। ऐसे ही आधारपर पहले चित्रलिपि यनी थी।

भारतके आदिनिवासी अनार्य थे। उनकी सभ्यताके कुछ चिह्न मोड़जोदारोंमें मिलते हैं। यह सभ्यता ईसासे पूर्व तीन हजार वर्षोंकी कड़ी जाती है। इस खोदाईमें कितने ही शिलाखोज आदि मिले हैं; किन्तु वे अभीतक पढ़े नहीं गये।

भारतीय वैदिक आर्य भी लिपिका ज्ञान रखते थे। अक्षरोंके ऊपर तो धुँधला—किन्तु, अक्षरोंके ऊपर वैदिक ग्रन्थोंसे अक्षर प्रकाश डाला जा सकता है। जो० तित्रक तथा जैकोमी आदि विद्वान् भी आर्योंको गणितज्ञ मानते थे। ऋग्वेद (निर्माणकाल ई० पू० २०००-१५००) में लिखा है कि, सूर्य (वरुण) ५०२६ योजन रोज चक्रता है। उषा सूर्यसे ३० योजन आगे रहती है। इसी लिये यह सूर्योदयसे आधा दण्ड पहले ही उदित होती है (११२२३८) । छल्ल वसुवेंद (निर्माणकाल ई० पू० १५००-१०००) के सतरहवें अध्यायके दूसरे मन्त्रमें परार्द्ध-संख्या बतायी गयी है—“एका च, दश च दश च, शतश शतश, सहस्रश सहस्रश। युतश चायुतश, नियुतश नियुतश” इत्यादि। शतपथब्राह्मणके अग्निचयन-प्रकरणमें वेदोंके अक्षरोंका हिसाब इस प्रकार लिखा है—“प्रजापतिने ऋग्वेदके अक्षरोंसे १२०००, यजुर्वेदके अक्षरोंसे ८००० और सामवेदके अक्षरोंसे ४००० बृहती (३६ अक्षरोंके) दण्ड बनाये।” इस गणितसे यह जाना जाता है कि, ऋग्वेदमें १२००० × ४६ = ५५२००० अक्षर तथा यजुर्वेदके और सामवेदके मिशानेसे ८००० + ४००० × ३६

= ४३२००० अक्षर होते हैं। इतने अक्षरोंका गिना बाना, बिना अक्षपात किये, नहीं हो सकता है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि, वे अक्ष लिख लेते थे।

यह सही है कि, वे वेदोंको गुरुमुखमें सुन-गुनकर ही याद रखते थे (इसीसे वेदका एक नाम श्रुति भी है) ; लेकिन वे हिसाबी कहे जा सकते थे; क्योंकि वे सङ्गठन, व्यवकलन और गुणन आदिकी क्रियाओंको जानते थे। पञ्चादशमें १०+५, त्रिंशत्में १०×३ और एकोनविंशमें २०-१ संकलन, गुणन और व्यवकलन कर ऐसी संख्या उम्होंने निर्धारित की थी। ऋग्वेदमें इस तरहके बहुतसे मन्त्र हैं। “द्विदश” २×१०, “पष्टि सहस्रा नवति नव...” ६००००+६०+६ आदि प्रयोग हैं। शंकोका प्रम-विकास, ५० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओभाजीके मतसे भारतमें ही, हुआ है।

भारतीयोंका एक दल इस विषयमें बहुत जोर लगाता है कि, वे अक्षर लिखना भी जानते थे। इसी तरह दो-चार पुराने पश्चिमीय विद्वानोंने भी कुछ ऐसा ही कहा है। प्रो० विलसनने कहा है कि, “हिन्दुओंके पास जवसे साहित्य है, तबसे लिपि, भी है।” प्रो० हौरेनने भी इन्हींकी हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा है कि, “हर एक खोज इस तथ्यको पुष्ट करती है कि, प्रायश्चित्त प्राचीन कालमें भी भारतको लिपि-कला ज्ञात थी।” कार्लट जोन्स जेर्ना भी इसी दलमें सम्मिलित हैं। इनका कक्ष है कि, हिन्दुओंके पास ईसासे २८०० या अमाहमके ८०० वर्ष पहले हिन्दुओंके धर्मग्रन्थ मौजूद थे। राय बहादुर ५० गौरीशङ्करजी शोका भी इसी सिद्धान्तके समर्थक हैं।

जो हो, उस समय जैसी भी लिपि चलती हो, किन्तु इन दिनों पुरातत्व विभागालोने खोदाई करके उसका कुछ भी प्रायश्चित्त प्रमाण नहीं पाया है। हाँ, ईसाके पहले पाँचवें शतकका शिलाखेल विपरहवामें प्राप्त हुआ है, जिसकी लिपि प्राचीन कही जाती है। इस खेपके अक्षर

सर्वाव्यवपूर्ण है, अतः इन्हें पुष्ट होनेमें कुछ जल्दा समय लगा होगा, यह बात स्वीकरणीय हो सकती है। जायस-वाजजीको भी सगवलपुरमें एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जो बहुत पुराना कहा जाता है; लेकिन यह अभी तक पढ़ा नहीं गया है। हालमें ही बङ्गालके घोषरा जिडेमें एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमें अकाल-पीडितोंकी सहायताकी बातें, माझी लिपिमें, लिखी हैं। डा० भण्डार-काने इसका सम्पादन कर इसे ईसा पूर्व चौथे शतकका ठहराया है।

भारतकी इस माझी-लिपिका जन्म सेमिटिक-लिपिसे हुआ है। सन् ईसवीके पहले, ७२० और ८६० वर्षों-तकमें, फिनिसीय वणिक्, व्यापार करनेके लिये, भारतमें, ईरानकी खाड़ी होकर आया करते थे। भरकचड़ और सुपारक इनका केन्द्र था। ये बातें बौद्ध-ग्रन्थोंमें भी पायी जाती हैं कि, पहले भरकचड़ (भदोच) व्यवसायका केन्द्र था। उन्हीं दिनों ये अपनी लिपि लाये थे और भारतमें छोड़ गये थे।

सेमिटिक-फिनिसीयोंके कुछ बीस अक्षर हैं—अलिफ्, वेय, गिमेज, दलेय, हे, वाव, जईन, चेम्, योद, काफ्, जमेद, मोम, नून, समेज, फे, छदे, कोफ्, रेप, यिन और जो अर्थात् थ, द, ग, दा, ह, व, ज, च, प, क, ख, म, न, स, फ, छ, ख, र, प और ल या ट। ये दार्वासे दार्वा और लिखे जाते हैं।

इस वर्णमालासे भारतीय वर्णमालाकी उत्पत्ति इस-लिये मानी जाती है कि, इसके अक्षरोंसे माझीके कितने ही अक्षर मिल जाते हैं; और, मित्रनेपर इसके वर्णोंका बैसा संकेत होता है, बैसा ही संकेत उस अवस्थामें माझी-का भी होता है।

इस सेमिटिक-लिपिमें यद्यपि सब व्यञ्जन ही-व्यञ्जन हैं, स्वर केवल एक अलिफ् है; पर इसी अलिफ्का व्रम-विकास था, इ, ई, आदि हैं। यह दार्वा औरने लिखी

जाती है और माझी दार्वा औरने लिखनेवालोंकी स्वन्यता है। मोक्ष-लिपि भी सेमिटिक-लिपिसे उत्पन्न हुई है; पर दार्वासे दाहिनी ओर लिखी जाती है। केवल वामावर्त और दक्षिणावर्त सन्देह करनेकी जगह नहीं हो सकती है।

माझी लिपि सदा ही दार्वा औरने दाहिनी तरफ लिखी जाती है। जनरल कनिंघमने जो पुराने एक सिक्के-का हवाला देकर कहा है कि, “इसकी गति दार्वा और है”; यह ठीक नहीं है। साँघा टाङनेवालेकी गलतीसे बहुत जगह उलट-पेर हो जाया करता है। यही हाजत पुराने सिक्कोंमें भी हुई है। आन्ध्रवंशके राजा शातकर्णीके सिक्केपर भी यही उलट फेर देखा जाता है। पार्थियन अक्षरमालाके भी एक सिक्केपर खरोष्ठीका कुछ अक्षर उलटा छप गया है। पटनेमें जो अभी हालमें एक मुद्रा मिली है, उसके ‘अगपजश’का ‘म’ भी उलटा ही अंकित है। यह दोष साँघा टाङनेवालोंका ही कहा जा सकता है। अवतक जितने भी माझीके लेख मिले हैं, उन्हें देखकर यह कहा जा सकता है कि, माझीकी एक ही गति है—दार्वासे दार्वा और।

ग्रीक दार्शनिक ज़ेनो तथा इतिहासज्ञ ड्यूटार्क और टलिटस चित्राचरका आदि-अविज्ञान मिश्रमें मानते हैं। बात भी सही है; लेकिन जनरल कनिंघमको “अशोक-लिपि”में ही चित्राचरका छाया-चित्र दीख पड़ता था। जो भी इसका नियंत्रण वे नहीं कर सके कि, इस छाया-चित्रका जोज अशोक-लिपिमें कब पड़ा! प० श्याम-शास्त्रीने भी अपनी ऐसी ही धारणा व्यक्त की है कि, पहले देवताओंकी मूर्तियोंके वदने साङ्केतिक चिह्न पड़े जाते थे, जिन साङ्केतिकोंका क्रम विकास ही माझी-लिपि है।

पाश्चात्य पण्डित वूलरके विचारसे भारतीय खरोष्ठी-लिपि की उत्पत्ति भी फिनिसीय-लिपि की धार्मिक-शास्त्रासे हुई है। सकाराकी शिखा-लिपि की एकत्र करनेसे पता

इन दिनों भारतीयोंकी जितनी ही लिपियाँ हैं, वे सब इसी ब्राह्मीकी सन्तान हैं। अशोकके समयतक सादे भारतमें ब्राह्मी लिपि चलती थी। खरोष्ठीको ओम्हाजी ब्राह्मीसे ही उद्भूत मानते हैं। इनका कहना है कि, यदि ब्राह्मी और खरोष्ठी एक ही मूलकी शाखा हैं, तो ७०० वर्षोंके भीतर ही इनके अक्षरोंकी समानता क्यों नष्ट हो गयी? मतभ्रम यह कि, खरोष्ठीका मूल किन्तिशीय नहीं है। लेकिन ओम्हाजीके इस मतसे अधिक विद्वान् सहमत नहीं हैं।

ब्राह्मीके मुख्यद्वया दो भेद हैं—उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरीमें गुप्त, कुटिल, नागरी, शारदा, बँगला आदि लिपियाँ हैं। दक्षिणमें—पश्चिमी, मध्यप्रदेशी, तेलगू, कनाड़ी, ग्रन्थ, कन्नड़ और तामिल आदि लिपियाँ हैं।

ब्राह्मीका सिर बढ़कर जय लम्बा होने लगा, तब ब्राह्मीका रूप विकृत हो गया, स्वरोंके चिह्न बदल गये, तब गुप्त लिपि हुई। ईस्वी सन्के चौथे पाँचवें शतकोंतकमें यह चलती थी। इसका गुप्त लिपि नाम इसलिये हुआ कि, वह गुप्त काल था। इस लिपिके ही मेलजोलसे कुटिल लिपि निकली। अपनी कुटिल आकृतियोंके ही कारण यह लोगोंमें कुटिल लिपि कहलायी थी। यह ईस्वी सन्के छठेसे नवम शतकतकमें चलती थी। इसकी सन्तति शारदालिपि थी, जिसका प्रसार प्रायः आठवें शतकमें था। यह कारभार और पञ्जाबमें चलती थी।

कहते हैं, नागरी और बँगला भी कुटिलकी ही सन्तान हैं। नागरीका प्रचार नवें शतकसे और दसवें शतकसे देखा जाता है। यह काल-निर्धारण पाँच मुद्राओं और शिलालेखोंके आधारपर किया गया है।

दक्षिणमें—पश्चिमी लिपि काठियावाड़, गुजरात, नासिक, खानदेश और हैदराबाद आदिमें, पाँचरसे नवें शतकतकमें, मिलती है। मध्यप्रदेशी लिपि मध्यप्रदेश तथा हैदराबादके कुछ उत्तरी हिस्सोंमें और मुम्बईखण्डके

कुछ भागोंमें, पाँचवें से आठवें शतकमें, मिलती है। तेलगू और कनाड़ी लिपि पन्ड्रहूँके अहातेके दक्षिणी विभागमें, मराठा प्रदेश, शोलापुर, बीजापुर, बेल्गांव आदिमें, पाँचवें से चौदहवें शतकतकमें, चलती थी। ग्रन्थ लिपि मद्रास अहातेके उत्तरी दक्षिणी प्रदेशोंमें, सातवींसे पन्ड्रहूँ सदीतकमें, चलती थी। कन्नड़ लिपि मद्रासके चिकाकोल और गजामके बीचके प्रदेशोंमें, ७-११ वीं सदीतक चलती थी। तामिल लिपि मद्रासके पश्चिमी तटपर और ग्रन्थ-लिपिके चलनेकी जगहपर, साठवें शतकसे ही, मिलती है। घटलुत लिपि तामिल-लिपिका ही भेद है। सातवें से चौदहवें शतकतकमें इसका प्रचार देखा जाता है। इसमें वर्षोंकी बहुत कमी है। संस्कृतके श्लोक आदि इसमें कठिनतासे लिखे जा सकते हैं। इन दिनों इन भाषाओंकी जो लिपियाँ हैं, वे बदलते-बदलते इस रूपमें आया है। तेलगू तथा कनाड़ी आदिके प्राचीन शिलालेखोंकी लिपियाँ देखकर यही बोध होता है। सूत्रमतासे देखनेपर अक्षरोंका क्रम विकास साफ दीखता है।

एक ब्राह्मी लिपिकी अगर विचारार्थी अच्छी तरह सीख जाय, तो वह अन्य लिपियोंको, थोड़े ही परिश्रमसे, सीख सकता है और शिलालेख आदिको भी कुछ कुछ पढ़ सकता है, क्योंकि सारी लिपियाँ ब्राह्मीसे ही उद्भूत हुई हैं। शिलालेख पढ़नेकी जिसे उत्कट इच्छा हो, वह राय बहादुर पं० गौरीशङ्कर दीराचन्द ओम्हा द्वारा लिखित “भारतीय प्राचीन लिपिमाला”को पढ़े। इसमें प्रत्येक अक्षरका क्रम विकास, अच्छी तरहसे, समझाया गया है। शिलालेखोंके भी अनतिनत नमूने हैं। इसका मूल्य २५ है और प्राप्तिस्थान—राजकुलाना मुनिबन, चन्नमेर है। भारतीय भाषाओंमें यह अपने विषयकी दृष्टिसे ही पुरतक है।

चित्रापरकी उत्पत्ति जोग मिश्रदेशमें बताते हैं। पहले अगर खुशीकी बात बाहिर करनी पड़ती थी, तो

लोग स्त्रीका चित्र बनाकर उसके हाथमें फाँफ दे देते थे ! दुःख होता था, तो सिरपर हाथ रख देते थे ! पीछे इसीके आधारपर ध्वन्यात्मक (*Phonetics*) अक्षर आविष्कृत हुए। जैसे हगल पक्षीकी शकल “ह” की हुई, हाथकी शकल “ह” की हुई इत्यादि। अक्षरोंके बदले ये ही चित्र लिखे जाने लगे।

चीनियोंके अक्षर भी एक तरहसे चित्रात्मक ही हैं। इस भाषाका पूर्ण परिचित होनेके लिये किसीको भी १२००० अक्षरोंसे परिचित होना पड़ता है ! इनकी लिपिकी गति किसी भी देशकी लिपि-नातिसे नहीं मिलती, क्योंकि इनकी लिपि ऊपरसे नीचेकी ओर दौड़ती है और फिर दाँयसे बायें।

पर्यटकोंपर, काष्ठकलशोंपर और कीलकाचरोंमें मिट्टीपर जो लोग सब जगह लिखते ही थे, पर कागजपर लिखनेकी बात बहुत कम मिलती है। ईसा पूर्व ३२७ सालमें यूनानी यात्री गिआकॅलने अपनी विवरणियोंमें लिखा है कि,

“भारतवासी पत्थर या रुईके घने कागजपर अक्षर लिखा करते थे।” दुपुनसंग (७ वीं सदी) भारतसे लौटती बार २० घोड़ोंपर पुस्तकें लादकर ले गया था।

भारत-मित्र देशोंमें लोग “पेपिरस”की छालपर लिखा करते थे। पेपिरस सरकण्डेकी नातिका एक वीधा है। इसकी खेती मिश्रमें और नील-नदीके दलदल प्रदेशमें हुया करती थी। छाल छड़ाकर, कई छालोंको खेँसे थिपकाकर, धूपमें सुलाकर और धिकनी चीनोंसे उसे घोंटकर लोग उसपर लिखा करते थे। मिश्रकी प्राचीन कब्रोंमें इस तरहके लिखे पत्रें अभी, भी यत्र तत्र, मिलते हैं। ईसा पूर्व दो हजार बरसोंकी पुगानी कब्रोंमें भी इस तरहके पत्रें मिले हैं। पेपिरसके लेख दो हजार वर्षोंसे भी अधिक ठहरते हैं। पाषाणको छोड़कर इसका खेल सर्वाधिक टिकाऊ होता है।

किसीकी भी उन्नति एकवारगी ही नहीं हो जाती; क्रमशः होती है। लिपियोंके विषयमें भी यही बात रही है।

भारतके सिक्के

साहित्याचार्य “मग”

किसी भी देशका उत्थान और पतन बहुत कुछ इतिहासके ऊपर अवलम्बित रहता है, किन्तु भारतका प्राचीन इतिहास अभी भी अन्धकारके गर्भमें विलीन है। ईरानी बादशाह दाराने पञ्जाबपर कब चढ़ाई की, महमूद गजनवीने भारतसे कब लोहा लिया और सिकन्दर कब भारतपर चढ़ आया आदि आदि बातोंका कुछ भी प्राचीन उल्लेख नहीं है। हाँ, इनकी याद-गारमें, अन्वेषण करनेसे, कुछ शिलालेख ताम्रपत्र या सिक्के आदि मिल जाते हैं।

सिक्कोंसे पुराने इतिहासका बहुत-कुछ पता चलता है। शिलालेखों द्वारा राजवंश निर्धारणमें जिनकी सहायता नहीं

पहुँची है, उससे कहीं अधिक साहाय्य प्राप्त हुमा है इन छोटे-छोटे सिक्कोंके द्वारा।

मुद्राकी चलाबी, भारतमें, वैदिक आर्योंके समयसे ही है। निष्क या सुवर्ण राजसे सफा उल्लेख वेदोंमें मिलता है। मुद्राकी जगह उन दिनों सोनेकी धूलि भी पैलीमें रखकर व्यवहृत होती थी। चाँदीके भी सिक्के चलते थे। उनका नाम पुराण वा धरण था। तबिके सिक्के कर्पापण कहलाते थे।

सुवर्ण या निष्क तो अमूलक कहीं भी नहीं मिला है; लेकिन चाँदीके चौकोर या गोल सिक्के भारतके सभी प्रदेशोंमें मिलते हैं। इन चौकोर सिक्कोंपर छेनीका दाग (*Punch*)

Mark) है। यूनानियों के भारनेके पहले भी भारतमें चाँदीके टुकड़े चलते थे। सिकन्दरके सप्तशिलामें किसी राजाने ८० टेलेट मूल्यका चाँदीका टुकड़ा, उपहारमें, दिया था। उन दिनों जो सिक्के यहाँ चलते थे, वे यहाँके तौलपर। चौकार भिक्कोर राजा केवल भारतमें ही था।

पहले सिक्के यों ही विपशाङ्कित बनते थे, पर जंगलसाजी होने लगी, तब नकड़ी सिकोंका प्रचार रोकनेके लिये राजाओंने वनपर चिह्न लगाना शुरू कर दिया। लेकिन भारतीयोंके चिह्न लगानेकी नीति अल्प देसोंसे भिन्न थी। गोलार्द्धपर सिकोंका प्रसार, भारतमें, ग्रीक-सदृशसे हुआ है।

व्यापार करते समय बाहरसे भी विदेशी सिक्के भारतमें आते थे। ईसा पूर्व ४४६ में लीडियाका राजा क्रीसस फारसके राजा कुशसे हारा था। इसी क्रीससका एक सोनेका सिक्का, पञ्जाबके बन्धु जिलेमें, सिन्धु नदीके पश्चिमी तटपर, कुछ दिन हुए, मिला है। अनुमान किया जाता है, सन् ईस्वीके ३२१ वर्ष पहले यह सिक्का भारतमें आया है।

प्रासिक सिक्कोंके साथ यूनानके एयेन्स नगरके वे सिक्के भी, जिनपर उल्लूकी तन्वीर चली रहती थी, पूर्वी जंगल में व्यवसायके काममें आते थे। जब एयेन्स नगरमें (ई० पू० ३२२ सन्ने) सिका नदी बने लगी, तब उल्लूकी सिक्के भी नकलपर भारतीयोंने बाजकी छापवाला सिक्का बनाना शुरू किया। सिकन्दरके समयमें राजा सुभुतिने पचवदमें एयेन्सकी नकलपर सिक्के बनवाये थे। ये सिक्के चाँदीके थे। इनपर एक और कल्पे (शिरस्त्राण) पहने हुए राजाका मुख और दक्षी तरफ कुक्कुटी मूर्ति थी। सिकन्दरके नामके चौकोर सिक्के भी भारतमें मिलते हैं। ये सिक्के चाँदीके हैं।

ईस्वी सन्के २०६ वर्ष पहले अश्वमेध गान्धातक आया था। चातुर्वर्गके राजासे उसकी गद्दी दोरती थी। उड़ी सबसे सम्भव भारतीय तथा ग्रीक मुद्राओंका एक समान बैरा हुआ। और, ग्रीक मुद्राओंमें भी भारतीयोंकी नकल गयी एवम् चौकोर सिक्के बनने लगे।

जिस समय भारतके उत्तर-पश्चिम प्रान्तमें ग्रीक शासन फैला हुआ था, उसी समय उत्तर-भारतमें शक और हिन्दू-शासन भी जारी था। इन दिनों शक-राजाओंके जितने सिक्के पाये गये हैं, वे माकिदनीय, सलोनीय, वाह्लीक तथा पासीय मुद्राओंके समान हैं।

मथुराके शक क्षत्रियोंकी कितनी ही मुद्राओंमें ग्रीकका प्रचुरता देखा जाता है। कुछ सिक्कोंमें शुग और हिन्दू राजाओंके सिक्कोंका भी सादृश्य है।

महाक्षत्रप नन्दानका जन्म छहवाँ-वसामें हुआ था। सुगन्दसे जो मुद्राएँ पायी गयी हैं, उनमें इन्हींकी मुद्रा प्रथम है। इन्हींके समय चतुर्वा अभ्युदय हुआ था। साकन्दके प्रचारक भी ये ही हैं। इनके वंशजोंकी मुद्राओंमें "रण्य महाक्षत्रप" लिखा रहता है।

शक-राजा वासुदेवकी मुद्रापर ग्रीकलिपि लिखी रहती थी और शिव या नन्दीकी मूर्ति रहती थी, परन्तु पीछेकी मुद्राओंमें बैठी हुई देवीकी मूर्ति रहती थी। बादमें ग्रीक-लिपिके बदले अस्पष्ट नागरीलिपि चली जाने लगी। इस तरहकी मुद्राएँ हणोंके शासनकाल चली थीं।

युक्त प्रदेश, राजपुताना और मालवाके नाना स्थानोंसे हण-मुद्राएँ प्राप्ति हुई हैं। इनमें कितनी ही मुद्राएँ मिली हैं। तोलाणका आधिक्य राजपुताना और मालवाके फैला हुआ था। मालवाइमें इसकी बहुतसी मुद्राएँ मिली हैं। मालवामें इसकी अश्वनी मिली है।

पुराणोंमें जिन शुग-मित्र राजाओंके नाम पाये जाते हैं, उनके वंशज राजाओंकी मुद्राएँ अगोचर और पचालसे मिलती हैं। इन मुद्राओंपर आधीके प्रचार हैं। इनके शासनमें शुग और चाणक्यका भी प्रचार था।

भारत-मुद्राएँ सीरे और तांबेके मेलसे बनी हैं। शुगरके बौद्धत्वमें भारतके कुछ राज्य खण्ड पाये गये हैं। उत्तर-भारतीय मुद्राकी गढ़न से मुद्राएँ मिलती हैं। इनकी गढ़न और चतुर्वा क्षत्रियोंकी मुद्राओंकी तरह हैं।

इनपर “सूक्तो गोतमीपुत्रस्य विलिखाय कुरस” और “माढ-रीपुत्र”, “वासिष्ठीपुत्र श्रोवदसत” आदि नाम लिखे हैं। प्रवृत्तत्वविदोंने माढरी पुत्रको भरीर बताया है।

पुरी और गजामसे अनेक मुद्राएँ प्राविष्कृत हुई हैं। ये शक-कुषाणोंकी मुद्राएँ जैसी हैं। ये मुद्राएँ पड़ली शताब्दीकी मानी जाती हैं।

भान्नोंकी मुद्राओंकी तरह ही नन्द-मुद्राओंकी भी गड़न है। इन मुद्राओंपर बोधिदुम, त्रिरत्न और स्तूपके अङ्कन हैं। ये बौद्ध थे।

गुप्त वंशके प्रतिष्ठाता श्रीगुप्त थे। उनके पोते प्रथम चन्द्र-गुप्तने महापद्मजाधिराजकी सपाधि ग्रहण कर (३१६ ई०) गुप्त-संवत् और अपने नामका शिक्का चलाया था। पाटलिपुत्रमें उनकी राजधानी थी। उनकी मुद्रामें “लिच्छवय-” और कुमारदेवीका नाम अङ्कित था। उनके पुत्र समुद्रगुप्तकी मुद्रामें भद्रवसेधका नाम अङ्कित है। गुप्त-सम्राट्ने पहले, मुद्रा बनानेमें, मथुराके कुषाण-राजाओंका अनुकरण किया, पीछे स्वतन्त्र होकर मुद्रा बनाने लगे। पूर्व मालवामें सम्राट् स्कन्दगुप्तके वराध-गण ही शासन करते थे। वहाँ सुद्रगुप्तकी चाँदीकी मठनी मिली है। इसके सिवा जयगुप्त, हरिगुप्त और रविगुप्तकी मुद्राएँ भी मिली हैं।

बलभी-राजवशकी मुद्रा गुप्तोंकी तरह है। इसके एक भागमें तिरुल और दूसरे भागमें “महारक्ष्य” सपाधियुक्त राजाका नाम है। नाग-राजवशजोंकी भी कुछ मुद्राएँ मिली हैं।

पश्चिमी मगधमें मौखरी राजवशोंने गुप्त-मुद्राकी तरह ही अपनी मुद्रा चलायी थी। ईशानवर्मा और सर्ववर्माके नामाङ्कित रत्न-लघट पाये गये हैं। पल्लव-राजवंशोंकी मुद्राओंमें जटाजों और नाथोंकी छापें मिलती हैं, जिनसे पता चलता है कि, ये ब्रह्मण्यप्रिय थे। इनके जातीय चिह्नमें केशरिभूर्ति थी। मुद्राओंकी लिपि बर्माई या संस्कृत-भाषाकी लिपि है।

दाक्षिणात्यके भी अनेक दक्षिणमें २०० वर्षोंतक पाल्य-नगन राज्य किया था। इनकी मुद्रों पर भान्न और पल्लवों

की सी है। ई० सन्के २०० से ६०० तकके भीतरकी बहुतांसी इनकी मुद्रें निकली हैं। इनकी मुद्रोंपर हाथीका चित्र है।

चोल-मुद्राओंकी दो श्रेणियाँ हैं। प्रथममें राजराजेश्वर चोलके अनुसूदयके पहलेकी मुद्राएँ हैं। इन मुद्राओंमें एक तरफ व्याघ्रकी मूर्ति है और दूसरी तरफ चे-चिह्न मत्स्य और धनुष देखा जाता है। चोल-राजाओंका नाम नागरी-मन्त्रोंमें लिखा है। द्वितीयमें, प्रायः सन् १०२२ ई० में, जो मुद्राएँ बनी थीं, वे दूसरी ही तरहकी हैं। इन मुद्राओंके सम्मुख भागमें दण्डायमान राजमूर्ति और पश्चाद्भागमें उपविष्ट राजमूर्ति है। इन मुद्राओंका उन दिनों दाक्षिणात्यमें खूब प्रचार था। सिंहलमें जब चोलोंका आधिपत्य हुआ था, तब वहाँ भी इस तरहकी मुद्राएँ चलनी थीं। कलचुरि-वंशीय द्वितीय राजा सोमेश्वर (११६७—११७६ ई०)की भी कुछ मुद्राएँ निकली हैं।

सातवीं सदीमें चालुक्य-वंश दो भागोंमें विभक्त हो गया था। पश्चिम दाक्षिणात्यमें जो राज्य करते थे, वे इतिहासमें प्रतीच्य और जो कृष्णा तथा गोदावरीके मध्यवर्ती पल्लव-राज्यको जीतकर वहाँके राजा हो गये थे, वे प्राच्य-चालुक्योंके नामसे प्रसिद्ध हैं। दोनों शाखाओंकी मुद्राओंमें वराह-चिह्न देखा जाता है। प्रतीच्य चालुक्योंकी स्तब्ध-मुद्राएँ माटो और बहुत जगह प्यालेकी तरह हैं।

कादम्ब-राजाओंकी बहुतसी मुद्राएँ दाक्षिणात्यके उत्तर-पश्चिम विभागमें और मेघरके उत्तरांशमें प्राप्त हुई हैं। इनकी शकल चालुक्य-मुद्राकी ही है। बीचमें पद्मका चिह्न है। मुद्राओंपर संस्कृत-लिपि है।

यमोज और दिगीवर सोम-वंशका आधिपत्य, ६७८—११२८ ई० तक, माना जाता है। राजसालवाल, अजय पाल और कुमारपालदेवकी मुद्राएँ यमोजमें भी मिली हैं और दिगीमें भी। अजयपाल और महीपालकी मुद्राएँ दिगीमें मिली हैं। कालचुरि-वंशमें इनकी मुद्रा बहुत-सी मिली-जुलती है। अजयपालके राजे चन्द्रदेवने, १०६०

ई०में ही, हरा दिया था। कन्नौजकर चन्द्रदेवका राज्य हो गया था; पर इनकी कोई मुद्रा नहीं मिलनी है। लेकिन इन्हींके वंशज जयचन्द्र या जयचन्द्रकी मुद्रा प्राप्त हुई है।

ईस्वी सन् नवीं सदीके पहलेसे ही चन्देल-राजवंश जेनाहुनि (जयफल्गुनि) या मण्डोबा नामक स्थानमें राज्य करता था। यह कलचुरि-राजामेंके अन्वीन था। किन्तु महा-राजा कीर्तिवर्मा चेदिप्रतिने इस दासतासे अपने वंशको स्वतन्त्र कर लिया। कलचुरि इनसे हार गये। इन्होंने ही अपने खानदानमें अपने नामकी पहली मुहर चढायी। इनके नीचे नौ पीढ़ियोंतककी मुद्राएँ मिलती हैं।

चौहान-राजामें सोमेरवर और पृथ्वीराज आदिकी मुद्राएँ मिली हैं। इन मुद्रामें शुद्धवहार और बेलका चिह्न है। ११६२ ई०में पृथ्वीराजके हाथने निकलकर दिखी सुवलमनोके हाथमें लगी गयी थी। तब सुवलमानोके द्वारा जो मुद्राएँ बनायी गयी थीं, वे भी हिन्दू-मुद्रामेंके अनुरूप ही थीं।

मगधमें पालोका राज्य था; अनेक भाषिकाँके सिक्के चलते थे। उनमें विमलपालका दण्डा पाया गया है। इसके ऊपर "ध्रीविग्रह" नाम छोटा हुमा है। पुण्यस्थविर्दोष विरहात है कि, सामर्थ्यनिके शिलालेखमें जिस विमलपालद्रम्मका नाम उल्लिखित है, उसी विमलपालका यह दण्डा है।

नेपालमें पुराने जमानेकी कुछ मुद्राएँ पायी गयी हैं, जो लोभय-मुद्राकी तरह बनी हैं। कोई-कोई इन्हें गुणायध अनु-करण बताते हैं, लेकिन ढाँचा देखनेसे मालूम पड़ता है कि, यह गुणाय-वाकके बहुत पहलेकी हैं। उनकी अनुकरणपर पीयी तर्फीके आरम्भमें उहाँ लिख्यन्ति-मुद्रा प्रचलित हुई। एही सरीरक इषी प्रकारकी मुद्रा जारी थी। जिनमें गुमा-रामें "मानाह", किमीमें "गुप्ताह" नाम भेकित हैं, जिनमे मगध होता है कि, मानदेववर्माका नाम संक्षेपमें "मानाह" और गुप्तवर्मादेवका "गुप्ताह" उल्लेख गता है। किन्ति-किन्ति मुशर्न नेगलके देवता पगुपति और वेभरदका नाम भी देखा जाता है।

मेवाड़, मावाड़, दक्षिण-पश्चिम राजपुताना, मालवा और गुजरातसे कुछ स्थूल सौम्य-खाट पाये जाते हैं, जिनमें लोग "गधिया पैसा" कहते हैं। इसके ऊपर अकिन राजाका चित्र चित्तर गढ़के खर-ठा हो गया, इसलिये लोग इसे गधिया पैसा कहते हैं। इसे बनाती बार भी शिल्पनिपुणताके ऊपर खयाल नहीं किया गया था।

सुवलमानोके शासनकालमें मुद्रामेंपर अन्धी शिल्पिता नहीं हुई। हाँ, मुहम्मद गोरीसे लेकर रामगुदीन अलत-मरातक, सुवलमानो मुद्रामें, हिन्दू-मादर्सीकी रक्षा की गयी थी। सुलतान अलतमराकी अरवारोही मुद्रामें तनिक शिल्पिता भी थी। मोहम्मद गोरीसे लेकर गयामुदीनतक ६० राजाओंकी मुद्रोंपर फारसी-लिपिके साथ नागरी-लिपि भी है। भारतीयोंकी सुविधा या मनोरञ्जनके लिये किन्ने ही बादशाहोंने मुद्रोंपर संस्कृत लिखायी थी। कुतुबुद्दीनने "भूपाल", फिरोज़शाहने "बभ्रु भूमिपति", गैजउद्दीन और अलाउद्दीनने "नृप" या "नृपति:", नवोद्दीनने "पृथ्वीचन्द्र" और गयामुदीनने "धीहम्मी" लिखाया था।

बादशाह अहमदके समयमें मुद्रा शिल्पकी बहुत लगति हुई थी। इन्होंने ४२ टकाल गोल रत्न थे। दामरा भर्य पैसा था। दामरा प्राया अथेला और अथेलाका प्राया पाठला तथा पाठलेके आथेला नाम था दमरी।

४००००० "दाम"के मूल्यका साहननाह था। सोटा साहनसाह, रदय, भाग्मा, बिज्जु, पशरगोषा, कुगुन, इलाही, अकलावी, लातजउतानी और आदलमुद्राकी आदि मुद्राएँ भी क्रमशः चलनी थीं।

बर्नमारा ब्रिटिश राज्यवर्षमें मुद्रा, गिरी, दम्बा, अउरी, पवनी, हुमावी, एडमी, बवन, पैसा, अथेला और पाई चलती हैं।

मुद्राकाफे ऊपर दिखमें एक भी मौजिक प्रश्न नहीं है। ६०० टकालदाम मन्दीर-भारती (देवता) "आधीन मुद्रा"का अनुकरण काइ रामचन्द्र वर्माने किया है। बय।

भारतीय मुद्रा की प्राचीनता

१ प० वासुदेव उपाध्याय वी० एस-सी०

किसी देशका इतिहास जाननेकी बहुतसी प्राचीन सामग्री होती है, जिसमें मुद्रा-शास्त्र भी एक बहुत विशेष स्थान रखता है। मुद्रा शास्त्रके द्वारा बहुतेसे ऐतिहासिक प्रमाण एकत्र किये जा सकते हैं। भारतीय इतिहासमें तो ऐसे बहुतसे काल-विभाग हैं, जो केवल मुद्रा-शास्त्रके ऊपर ही निर्भर हैं। भारतीय इतिहासमें उन हिन्दू-बाह्लीन (Indo-Bactrian), हिन्दू-स्क (Indo-Scythian) तथा कुषाण-नरेशोंका बहुत अधिक विवरण मुद्रा-श्रोंके द्वारा ही जाना जाता है, जिन्होंने ईसा पूर्व २०० से लेकर २०० ई० तक भारतमें राज्य किया। इनका थोड़ासा विवरण भी यानी जस्टिन (Justin) तथा स्ट्राबो (Strabo) ने किया है; परन्तु वह विशेष महत्व नहीं रखता।

पाश्चात्य देशोंमें यह प्रसिद्ध है कि, क्रिसतने, जो ज़िडियाका राजा था, सबसे प्रथम मुद्रा बनवाना शुरू किया। फारसके बादशाह डेरियसने ईसा पूर्व ६००में सिक्का बनवाया। परन्तु आजकल हम सिद्धान्तका खण्डन हो गया है।

भारतीय मुद्रा-शास्त्रकी प्राचीनता सिद्ध करनेके लिये यहाँ दो प्रमाण उपस्थित किये जायेंगे। एक तो स्वयं सिक्के ही हैं, जिनको देखनेसे वे प्राचीन प्रतीत होते हैं। दूसरा प्रमाण संस्कृत, जैन तथा बौद्ध-साहित्यसे मिलेगा, जिससे यह सिद्ध होता है कि, मुद्रा शास्त्र भारतीयोंसे बहुत प्राचीन कालसे ज्ञात था।

यूरोपीय विद्वानोंका मत है कि, भारतीयोंने मुद्रा-कला प्रीम या वेबिलोनियासे सीखी। जेम्स प्रिन्सेप साहब मुद्रा कलाको भारतीय नहीं बतलाते। वे कहते हैं कि, यह

कला बैबिलियासे इस देशमें आयी। केनडो साहब बतलाते हैं कि, भारतीयोंने जब वेबिलोनियासे व्यापार करना शुरू किया, तब उन्होंने, उस देशके सिक्केकी नकलपा, अपने यहाँ भी सिक्का बनाना शुरू किया। वे प्राचीन सिक्के भारतमें कार्यापणके नामसे प्रसिद्ध थे।

सबसे प्रथम साक्षात् सिक्के ही प्रमाणमें उपस्थित किये जायेंगे, जो कि खोदाईमें निकले हैं और जो देखनेसे प्राचीन प्रतीत होते हैं। सर जान मार्शलने, १९१२ ई० में, "बीरमायड"को खोदाई की। उसमें १०२ सिक्के, एक राशिमें, मिले। उसमें सब प्राचीन सिक्के हैं। उस राशिमें बैबिलियाके राजा डिओडोरसका एक सोनेका सिक्का भी है, जिसपर सीरियाके राजा अन्तियोकस द्वितीयका नाम खुदा है। उस समयतक बैबिलिया स्वतन्त्र नहीं हुआ था; सीरियाके अधीन था। वह सोनेका सिक्का, और सबकी अपेक्षा, नवीन दिखायी पड़ता है और सब सिक्के घिसे हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि, घिसे हुए सिक्के प्राचीन हैं। डिओडोरसका काल ईसा पूर्व २२० वर्ष होना स्थिर है, अतः उस राशिमें घिसे हुए सिक्के उससे भी प्राचीन होंगे। उससे भी करीब सौ वर्ष पहले सिक्कन्दरने भारतपर चढ़ाई की थी। प्राचीन इतिहासके अध्ययनसे प्रतीत होता है कि, जब सिक्कन्दर तत्कालीन समीप पहुँचा, तब वहाँके राजा ने स्वयं उसकी आधीनता स्वीकार की तथा सिक्कन्दरको भेंटमें बहुतसी यातुप उपस्थित कीं। इतिहास-वेत्ता राजा आगिन्मको चाँदीके सिक्के (Signatus Argentum) भेंटमें देना बतलाते हैं। बिहानू लोग यह बतलाते हैं कि, सिक्कन्दरके आक्रमणसे भारतपर विशेष प्रभाव पड़ा। परिणामी

देशोंसे भारतीय व्यापार करते थे, पान्थ इसी आक्रमणके पश्चात् ही पश्चिममें भारतके विषयमें प्रसिद्धि हुई। अगर इसी आक्रमणके पश्चात् ही ग्रीकोंसे भारतका सम्बन्ध हुआ, तो यह कथन कि, भारतीयोंने मुद्रा-कला ग्रीक लोगोंसे सीखी, अप्रामाणिक तथा अविरसनीय है। सिकन्दर ईसा पूर्व ३२७ वर्षमें भारत आया और उसने चाँदीके सिक्के भेंटमें पाये। अतः यह प्रमाणित है कि, मुद्रा-कलाका भारतमें, ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें, प्रचार था।

पाठकोंके सम्मुख पथरमें खुदे दो चित्रोंका वर्णन किया जायगा, जिनसे यह ज्ञात होगा कि, भारतमें ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीमें चरकोने सिक्के व्यवहारमें लाये जाते थे और ये पुराण या धरणके नामसे प्रसिद्ध थे। पहला चित्र मध्य भारतमें स्थित भरहुतकी वेष्टनी (*Bas relief*) पर अंकित है। उसका अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि, मनुष्य किसी गाढीपर चौकोर टुकड़ उतारकर पृथ्वीपर फैला रहे हैं। इसका भाव कथानकके सहारे समझाया गया है। वह स्थान, जहाँ चौकोर टुकड़े फैलाये जा रहे हैं, राजकुमार खेतका उद्यान था। उस चारिकाको आवस्तीका सेठ अनाथपिण्डक मोल लेकर चौदसपको देना चाहता था। अपने हृदयगत भावोंको सेठने राजकुमारसे प्रकट किया। राजकुमारने उद्यानके मूल्यमें इतनी मुद्राएँ माँगीं, जितनी जूमिको ढाक ले। अनाथपिण्डकने सुहृद्भावा मूल्य दिया और अपने स्वयंको आज्ञा दी कि, सेठवनको कार्यपणने ढाक दो। चित्रमें अनाथपिण्डकके आज्ञानुसार उसके नौकर भूमिको चौकोर टुकड़ोंसे ढाक रहे हैं। कथानकमें पाठक समझ गये होंगे कि, चौकोर टुकड़े सिक्के हैं। और, यह भी प्रकट है कि, उस समय सिक्के चौकोर होते थे। यही चित्र घोषणाके मन्दिरके स्तम्भोंपर भी खुदा है। इन सब प्रमाणोंके अन्तर्गत ऐप्पन महोदयने स्थिर किया

है कि, भारतीय मुद्रा-कला देशी है तथा स्वयं यहीं उत्पन्न हुई।

अगर प्राचीन भारतीय सिक्काका ग्रीक राजाओंके सिक्कोंसे मिलान करें, जिन्होंने बैक्ट्रियामें राज्य करते हुए निकाला, तो ऐसी बहुतसी समताएँ हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि, उन नरेशोंने भारतीय मुद्राका अनुकरण किया। बैक्ट्रियाके राजा डिमितसने—जिसको ग्रीक यात्री "*King of Indians*" (भारतका राजा) बतलाते हैं—मथुरातक आक्रमण किया था। उसके सिक्कोंमें भारतीयपनकी मल्लक दृष्टिगोचर होती है। उन नरेशोंके सिक्के, जो केवल "ताहिया"पर राज्य करते थे, गोजाकार दृष्टा करते थे, पान्थ जबसे उन्होंने हिन्दू कुण्डके दक्षिणका देश अपने राज्यमें मिलाया, उसी समयसे यह अपने सिक्कोंको भारतीय मुद्रा कलानुसार अंकित करने लगे। डिमितसने भारतीय ढाणपर चौकोर सिक्के तैयार कराये थे। इसका एक मुख्य कारण यह था कि, उसे ग्रीक नरेशोंके सिक्कोंका भारतमें प्रचार करना था। अतः उस स्थानके व्यवहारका अनुकरण करना उसके लिये निवृत्त आवश्यक था। डिमितसके साथ राज्य करतेवाले "देमित्रियान"ने भारतीय लेखके साथ-साथ उन चिट्ठोंकी भी अपने सिक्कोंपर अंकित करना शुरू किया, जो भारतके प्राचीन सिक्कोंपर मिलते हैं।

उस समयके प्राचीन सिक्के भारतमें पंच-साईंके नाम से पुकारे जाते थे। उनका यह नाम इस कारणसे प्रचलित था कि, उनपर कई प्रकारके चिह्न अंकित होते थे तथा उनका आकार कई प्रकारका होता था। सुबोधोंने विमु-द्विमगमें वर्णित कार्यपणको चित्रविचित्र आकारका बतलाया है (*The Devices were punched on them so they were called Punch-marked coins*)। पहले विद्वानोंकी यह धारणा थी कि, वे चिह्न धर्म्य ही हैं तथा एक भूमिमें समान नहीं रखते। पीपुडी

खोपाईमें निकजे बृत्तने ऐसे ही सिक्के मिने हैं, जिनमें बहुसंखी समताएँ भी हैं। यह अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है कि, उन चिह्नोंमें क्या तात्पर्य है। उन चिह्नोंमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं। विद्वानोंने उन चिह्नोंको छः प्रकारोंमें विभक्त किया है—

(१) मनुष्यकी आकृति । (२) शस्त्र (धनुष, बाण आदि) । (३) पशु, (सिंह, मन्दी) । (४) वृक्ष तथा वृक्षकी शाखाएँ । (५) सूर्य मण्डल या तारागण । (६) विविध प्रकारके चिह्न ।

इस स्थानपर प्रत्येक चिह्नोंका भाव, अर्थ तथा प्रकार बतलाना असम्भव है । * इन्हीं चिह्नोंमेंसे पैन्टिलियानके सिक्केपर शेरका चिह्न है। इसका अनुकरण कर राजा एगाथोक्लियाने अपने सिक्केपर पैद या शाखाओंका चिह्न रखना शुरू किया। इससे पहलेके नरेशोंने अपने सिक्कोंपर ऐसा चिह्न नहीं रखा था, जिसका अनुकरण इन दोनों राजाओंने किया; परन्तु पंच-मार्क सिक्कोंके सिवा कोई ऐसा मूल नहीं है, जिसका अनुकरण उन्हींने किया। अतः इस कथनमें कोई भी आपत्ति नहीं है तथा सम्भाव्य सिद्ध होता है कि, ग्रीक राजाओंने भारतमें प्रचलित मुद्रा कलाका अनुकरण किया।

यौद्ध साहित्यमें जातकोंका बहुत ऊँचा स्थान है। जातकोंमें युद्धके पहलेके मारतकी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक असरका विवरण मिलते हैं; जिनसे इतिहासके जिनके मूल्यवान् सामग्री इकट्ठी हो सकता है। जातकोंमें ईसा पूर्व ७०० वर्षकी भारतीय परिस्थितिका ज्ञान होता है। कुछ जातक (ला० १।३०५) में आता है कि, किमी गृहस्थने अपने समीपवर्ती एक श्राद्धिके आश्रममें सौ सोनेके सिक्कोंको छाकर रखा दिया तथा उस मापुसे सविनय प्रार्थना की कि, आप कृपया इन सिक्कोंकी गिनाती कीजिये। दूसरे स्थानपर वर्णन आता है कि,

सर्पराज चण्डेय अपने सर्पोंकी कारामात दिखाकर प्रतिदिवस सैकड़ों या हजारों कार्पाण पैदा कर लेता था। संखपाल जातक (१।१६४) में एक कथा वर्णित है। उसमें यह दिखाया गया है कि, किसी धनवान् व्यक्तिने बोधिसत्वको दुःखमें पाकर बहुसंखी द्रव्य, दानमें, दिया। उसमें सुवर्ण मापकका वर्णन आता है। पाठकगण ऊपरके वर्णनसे समझ गये होंगे कि, जातकोंके समय (ईसा पूर्व ७०० वर्ष) में कार्पाण तथा निष्क प्रयोगमें लाये जाते थे। ये क्रमशः लोहे तथा सोनेके सिक्के थे। बुद्ध-घोषने विसुद्धिमगके आधारपर कार्पाण (जो सुवर्ण-कारके लकड़ीके तख्तेपर पड़े थे) के चित्र चित्र, दीर्घ या परिमण्डल आकारका वर्णन किया है।

महाव्यग्रन्थोंमें सिक्कोंके कई नाम पाये जाते हैं। ताँवेके सिक्कोंको 'कार्पाण' या 'धरण' के नामसे पुकारा जाता था। 'शतमान' चाँदी तथा 'निष्क' सोनेके सिक्केके लिये प्रयुक्त किया गया है। इतिहास-वेत्ता प्रोफेसर रैप्सनका कथन है कि, 'कार्पाण' ईसा पूर्व ४०० वर्षमें प्रचलित थे तथा साधारण कार्यमें प्रयुक्त किये जाते थे। मनुने राजधर्मका वर्णन किया है तथा उसमें दण्डका विधान बतलाया है। मनुकी आज्ञा थी कि, साधारण अपराधियोंको शारीरिक दण्ड न देकर आर्थिक दण्ड दिया जाय (मनु० ८।१३६)।

अपराधियोंको सैकड़ों कार्पाण दण्ड दिया जाता था। मनुके समयमें सिक्का, जो कार्पाणके नामसे विख्यात था, ताँवेका बना होता था (मनु० ८।१३६)।

संस्कृत साहित्यके महाव्यग्रन्थोंमें धापाके साथ राजधर्मका वर्णन आता है। परन्तु पाण्डुरवका धर्मशास्त्र एक राजनीतिक ग्रन्थ है। यह धर्मका प्रतिपादन नहीं करता। धापायें कौटिल्यने उसमें अपने समकालीन शासनका वर्णन किया है। उस समय मुद्राके लिये चयन

एक विभाग था, जहाँ सिक्के तैयार किये जाते थे। अर्थ-शास्त्र (२।१२) में यह बात स्पष्ट है। लिखा है, अक्षणाप्यण-का कार्य मुद्रा तैयार करना था तथा यह रूपदर्शक मुद्रा की रीति किया जाता था। रूप शब्द का अर्थ यहाँ मुद्रासे है। प्रमाणों, १०१=१, २३०क ७, में रूप्यकाप्यणको नैपिहक कहा है। चीरस्वामी रूप्य शब्द का अर्थ मुद्रा बतलाते हैं। कौटिल्यके समयमें मुद्रा की लोग "पण" कहा करते थे। इसके प्रमाणमें कौटिल्यके अर्थशास्त्र (२।१२, ३।२) आदिमें कुछ वाच्य उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध है कि, सिक्का "पण" के नामसे प्रसिद्ध था। मुद्रा-कला में निपुण मनुष्य राज्यशासनमें नियुक्त थे, जिनका कार्य एक मात्र मुद्रा तैयार करना था।

प्राचीन भारतीय व्यवस्था का वर्णन म केवल धार्मिक ग्रन्थोंमें ही मिलता है; परन्तु हमारे वैवाकरण पाणिनिने भी अपनी अष्टाध्यायीमें प्राचीन भारतीय संस्कृतिके विवरणों की रचना दिया है। अष्टाध्यायीको न केवल व्याकरणके ही लिये उपयोग किया जाता है, परन्तु इसके द्वारा सामाजिक भारतीय जीवन की सच्ची छवि है। यहाँपर केवल अष्टाध्यायी-में मुद्राके विवरण की चर्चा की जायगी। पाणिनिके सूत्र "तेन मीनम्" (२।१।३०) ने वाच्य है कि, "इससे लय किया गया।" इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि, उस कालमें, पण्योंकी भीमत्तमें, सिक्के दिये जाते थे। इसकी पुष्टि नीचे किसी बातोंमें होती है। "तेन मीनम्" के साथ-साथ पाणिनिने "बाह्वर् गोपुष्वयं वारमावाहम्" (२।१।१३) सूत्र पहले दिया है। इसने यह निश्चय होता है कि, पण्डित, कौटिल्यके सिवा, गोपुष्वके भी प्रयोग, की जाती थी। अब "तेन मीनम्" के विवरणमें "सिक्के" की रचना—यह कुछ अस्पष्ट नहीं होता। वैवाकरण

पाणिनिके कालके विषयमें बहुत मतभेद है। गोपबन्धु तथा सर रामकृष्ण मयदावर पाणिनिका समय द्रवी शताब्दी (ईसा पूर्व) से भी पहलेका बतलाते हैं। इसके प्रमाणमें इस बातसे पुष्टि होती है कि, पाणिनिने बहुतसे स्वतंत्र संघोंका नाम बतलाया है। ये संघ राजनीतिक संघ थे। पाणिनिने चौदह संघोंके विषयमें कुछ भी नहीं लिखा है। शायद पाणिनिके समयमें ये संघ विघटित न हों। संघका समय ईसा पूर्व पाँचवीं और छठी शताब्दी है। अतः पाणिनिका पाँचवीं शताब्दी (ईसा पूर्व) में होना अनुमान हो सकता है। पश्चिमीय विद्वानोंने पाणिनिका समय ईसा पूर्व ३५० वर्ष बतलाया है। पाणिनिके कई प्रकारकी मुद्राओंका नाम ज्ञात था, जो उस समय प्रचलित थीं। "विभाषा कार्पाण-सहस्राणाम्" [२।१।२३] सूत्रमें चाँदिका सिक्का आया है, जो कार्पाणके नामसे विख्यात था। कार्पाणनने पाणिनिके (१।४।२२) सूत्रपर चार्तिक लिखा है, जिसके ऊपर पतञ्जलि उदाहरण देते हैं—“परपति रूपवर्कम्, कार्पाण दशपति रूपवर्क कार्पाणम्”। इसका तात्पर्य है कि, “रूपवर्क” कार्पाण की परीक्षा करता है। नीचे जिन सूत्रोंमें ज्ञात होता है कि, “निष्क” तथा “शतमान” नामके सिक्के भी प्रचलित थे—

“शतमह्यन्ताप निष्कात्” (२।१।१३), “अस-मासे निष्कादिम्” (२।१।१०)।

शतमानका भी नाम २।१।२० में आया है। पाणिनिने स्पष्ट रीतिमें बतलाया है कि, रूप्य सभी की समान आया। जब कि, उसपर गुर्र खगोपी गयी हो—“रूप्यादाहृत्ययं वीर्यम्” (२।१।१०)।

इससे स्पष्ट होता है कि, उस समय किसीवा गुर्र खगोपी जाती होगी, सभी तो पाणिनिने “बाह्वर्” (so hammer or slarp) शब्दका प्रयोग किया

७. पाणिनिके अर्थशास्त्र में लिखा है कि, राज्यशासन में गुर्र खगोपी जाती होगी, सभी तो पाणिनिने “बाह्वर्” (so hammer or slarp) शब्दका प्रयोग किया

है। कारिकाकारने उदाहरण-रूपमें “आहतं रूपं अस्य रूपो दीनारः, रूप्यः केदारः, रूप्यं कार्पाणम्” दिया है। कारिकाकारका तात्पर्य दीनार, केदार तथा कार्पाणसे है। अतः इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि, पाणिनिके समय (ईसा पूर्व २५० वर्ष) में कई प्रकारके सिक्के प्रचलित थे तथा वे सब अंकित होते थे।

कोरयायन-श्रौतसूत्रके पन्द्रहवें अध्याय “राजसूय-निरूपणम्” में यज्ञकी वलिणामें शतमान दिये जानेका वर्णन आता है।

शतपथ-ब्राह्मणके राजसूयकाण्डमें (४, ४३, २४—२६) रथमोचनीय यज्ञका वर्णन आता है। उसमें राजाके रथके पहियेमें दो गोलाकार शतमान बाँधे जानेका वर्णन किया गया है। राजा जनकके यज्ञका वर्णन, चौदहवें काण्डमें, आता है। राजा जनकने यज्ञमें कुक्ष-पात्रालके ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दिया। ऐसा कहा गया है कि, हर एक ब्राह्मणको तीन तीन “शतमान” दिये गये। जनकके इसी यज्ञका वर्णन बृहदारण्यक-उपनिषद् (३।१।१) में किया गया है। राजा जनककी यह हार्दिक इच्छा थी कि, सब शास्त्रोंके ज्ञाननेवाले ब्राह्मणको एक स्रद्धा गायें दी जायें। जनकने हर एक गायकी सींगमें दस-दस “पाद” बाँधनेकी आज्ञा दी। महाशय रीस डेविल “पाद”को। सोनेके सिक्केका चौपाई हिस्सा तौल मानते हैं।

अथर्ववेद (२०।१२७।३) में वर्णित है कि, राजाने सैकड़ों “निष्क” ऋषिको दिये।

ऋग्वेद (१।१२६।२) में राजाने सौ, “निष्क” तथा सौ घोड़े दानमें दिये।

वैदिक इण्डेक्स (Vedic Index) के कर्ता मैक्-डनल तथा कीथ महोदयोंका कथन है, “निष्क” वैदिक कालमें अथर्व प्रचलित था। ऋग्वेदके दूसरे स्थल (मण्डल २, मन्त्र ३३) में निष्कका वर्णन है। वैदिक संस्कृतमें “निष्क”का भावार्थ हारसे है। इसका भाव यह है कि, रुद्रदेव सोनेका हार पहने हैं और वह भी “विश्व-रूपम्” है। इसी प्रकारका वर्णन जैनियोंके कल्पसूत्रमें भी आता है, जिसका भाव यह है कि, भगवती श्री सिफोंके बनाये गये हारको पहने है। इस तरहके हारका प्रयोग आज भी देखनेमें आता है। ऋग्वेदमें वर्णित “विरवरूपम्” का अर्थ मुद्रा-कलाके जानकारोंने ठीक-ठीक लगाया है। “रूपम्”का अर्थ यहाँ सुहर लगानेसे है तथा “विश्व”का अर्थ बहुत प्रकारके रूपोंसे है। इस प्रकार ऋग्वेदके समयमें “निष्क” नामक मुद्रावा प्रचार सिद्ध होता है।

वैदिक संस्कृतिके काल-निरूपणमें बहुत नम्रभेद है। भारतीय विद्वान् इसको कई हजार वर्ष पहले बतलाते हैं। स्व० लोकमान्य तिलक ज्योतिर्गणनासे इसका समय ६ हजार वर्ष पहले बतलाते हैं। पश्चिमी विद्वान् इसका समय ईसा पूर्व १५०० वर्ष ले जाते हैं। अतः। यह सिद्ध है कि, कमसे कम चार हजार वर्ष पहले भारतमें सिक्कोंका प्रचार था।



कलिंगके गंग और केसरी राजाओंकी स्वर्ण-मुद्राएँ

राजा लक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव बहादुर

गङ्गा और केसरी स्वर्ण-मुद्राओंको आजकल "गङ्गापरकलु" कहते हैं; क्योंकि उनमें "गं(या गम्)" अक्षर ही सर्वप्रथम आया हुआ है। इन स्वर्ण-मुद्राओंमें, जिनमें नन्दी है, उन्हें "नन्दीपरकलु", जिनमें सिंह है, उन्हें "सिंहपरकलु" और जिनमें लिङ्ग है, उन्हें "लिङ्गपरकलु" कहते हैं। इन राजाओं-ने समुद्र-तटवर्ती भूमिपर भी राज्य किया था; इस-लिये इनकी कुछ स्वर्ण-मुद्राओंमें नौकाओं या जहाजोंके भी चित्र हैं। कुछ ऐसी भी स्वर्ण-मुद्राएँ हैं, जिनमें मत्स्यके चित्र हैं। मत्स्य गङ्गादेवीके वाहन हैं, जिनसे यह बात प्रमाणित होती है कि, यह मुद्राएँ गङ्गा-राजवंशकी हैं। शिवलिङ्ग या शिव और नन्दीके चित्रोंका यह आशय है कि, राजा शैव-धर्मावलम्बी थे। नन्दी तो उनका वाहन ही ठहरा; मुद्राओंमें भी उसका जा चैठना उचित ही था। इन मुद्राओंको गङ्गा, केसरी या सिंह-मुद्राएँ भी, मुद्रा-हित चित्रोंके अनुसार, कहते हैं। यह सभी मुद्राएँ, पोर जलवृष्टिके बाद, उत्कलके प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान कलिङ्गपट्टनम्, सुजलिङ्गम्, दन्तपुर और सन्तवम्मली आदि स्थानोंमें ढूँढनेसे मिली हैं।

गङ्गा-मुद्राएँ ५ या ६ दाते भर (Molucca bean) हैं। इनपर ठप्पा दिया होता है। यह आकारमें छोटी हैं और ब्राह्मणोंको दक्षिणा-दान देने या देव-ताओंपर पढ़ानेके लिये उपयुक्त हैं। इनमें शिवलिङ्ग, बैठे हुए नन्दी (वृषभ), शङ्कर, दूजेके चन्द्रमा आदि के धार्मिक चिह्न हैं। सर्वसाधारणमें स्वर्ण मुद्राओं-

को प्राप्य एवं उपयुक्त बनानेके अभिप्रायसे इनकी रेजकियाँ भी—अर्द्धांश, चतुर्थांश और अष्टांशकी—राजाओंके टंकसालोंमें ढाली जाती थीं। उस समय की अठन्नी, चवन्नी या हुआन्नी सोनेकी ही होती थीं। प्रतिवर्ष सिके शासनकर्त्ता राजाके वार्षिक मुनिय (भाद्रपदकी शुक्ला द्वादशी) के दिन ढाले जाते थे। आज भी इसी तिथिको, उत्कल-राजवंशमें, सिके ढाले जाते हैं।

निम्नाङ्कित चित्रोंमें ७ सिकोंकी दोनो ओरके चित्र साथ-साथ दिखलाये गये हैं—

चित्र न० १

(क) मुद्रा न० १ के अग्र-भागमें बैठे हुए नन्दी या वृषभका चित्र है, जो बाँयाँ ओर मुँह किये हुए है। ऊपरमें दूजका चाँद है। पृष्ठ-भागमें "अक्षर" अक्षर है।

(ख) मुद्रा न० २, ४, ८, ११, १२, १३ और १५ के अग्र-भागमें हाथीके अङ्कश जैसा चित्र जान पड़ता है। इनके पृष्ठ-भागमें कुछ अङ्क प्रतीत होते हैं। सम्भवतः यह तरकाशीन शासकका शासन-संकेत है, जब यह मुद्राएँ ढाली गयी थीं। यह हाथीका अङ्कुश गजपतिको साङ्केतिक चिह्न है, जो गङ्गावंशीय राजाओंकी एक शाखा या उपाधि थी।

(ग) मुद्रा न० ३, ६ और ९ के अग्र-भागोंमें तराजूका चित्र है। इनके पृष्ठ-भागोंमें एक अङ्क और शिवलिङ्ग तथा नन्दीके धार्मिक सांकेतिक चिह्न हैं। यह तराजू "तुलापुरुषदान" का साङ्केतिक चिह्न है। गङ्गावंशीय राजाओंमें यह एक प्रकारका अनुष्ठान

या । इसका तात्पर्य यह है कि, राजाने अपने शरीरके वजनके बराबर दान किया और सुवर्णके चोगुने मूल्यकी दक्षिणा भी उसने दी।

(घ) मुद्रा न० ५, ७, १० और १४६ अम-भागमें शिवलिङ्ग, नन्दी और दूजके चाँदके चित्र और पृष्ठ-भागमें काल या सवत्-सम्बन्धी अङ्क हैं।

चित्र न० २

मुद्रा न० १ वा अम-भाग—घायों छोड़ मुँह किये नन्दी बैठा हुआ है और उसके भाधेपर दूजका चाँद है। पृष्ठ-भाग—चतुराश्रम और शासन-संवत्-सम्बन्धी अङ्क है।

मुद्रा न० २ का अम-भाग—अपने एक पजेको उठाये हुए सिंह बैठा हुआ है। पृष्ठ-भाग—“व” अक्षर है। सम्भवतः यह राजाके नामका प्रथम अक्षर है और इसमें सिंहका चित्र होनेसे यह केसरी-मुद्रा जान पड़ती है।

मुद्रा न० ३ का अम-भाग—अर्धशका चिह्न है, जो गङ्गवशीय राजपति-राजाओंका सांकेतिक चिह्न है। गङ्गवंशीय राजा राज युद्धमें बड़े विख्यात एवं ल०-२-

प्रतिष्ठ थे। पृष्ठ-भाग—चतुराश्रमका चित्र और सवत्-के अङ्क हैं।

मुद्रा न० ४ का अम-भाग—दो मछलियोंके नीचे सवत्का अङ्क है। पृष्ठ-भाग—शिवलिङ्ग, नन्दी और दूजका चाँद है। राजा देवीका चाहन मछली होनेसे यह मुद्रा गङ्ग-राजाओंकी जान पड़ती है।

मुद्रा न० ५ वा अम-भाग—दो मस्तूलों और एक पतवारवाली एक नौका है। कलिङ्ग-देशवासियों वाणिज्य व्यवसायमें अधिक उन्नत और सचेष्ट रहते थे। पृष्ठ-भाग—शिवलिङ्ग, नन्दी और दूजका चाँद है।

मुद्रा न० ६ का अम-भाग—तुलादानका सांकेतिक चिह्न तराजू है। पृष्ठ-भाग—शिवलिङ्गके नीचे अङ्क १३ है।

मुद्रा न० ७ वा अम-भाग—नन्दी। पृष्ठ-भाग—चतुराश्रम और अङ्क ३ है।

मुद्रा न० ८ का अम-भाग—“ग” अक्षर, जो गङ्ग-वराका चोतक है। पृष्ठ-भाग—चतुराश्रम और अङ्क है।

मुद्रा न० ९ का अम-भाग—शिवलिङ्ग और अन्यान्य चिह्न हैं। पृष्ठ-भाग—चतुराश्रम है।

काल-निर्णयमें ईंटे और गहराई

लिपिटवाचाय राहुल साहत्यायन

इतिहासका विषय भूत काल है, इसलिये उसे हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। किन्तु जिस प्रकार वर्तमान वस्तुओंके लिये प्रत्यक्ष बहुत ही जवर्दस्त प्रमाण है, उसी प्रकार भूत वस्तुओंके लिये जवर्दस्त प्रमाण उस समयकी वस्तुएँ हैं। वस्तुएँ प्रायः दर्शनी और सत्यवादी साक्षात् हैं। उनके लिये इतना चाहिये

कि, उनका उस कालसे सच्चा सम्बन्ध मान्य हो जाय। पौथी-पत्रोंमें तो मनुष्य भूल कर सचता या स्वार्थ-वश हर नयी लिपिमें घटा-बढ़ा सकता है, किन्तु रमपुरवा (चम्पारन) के स्तम्भ-नेखमें एक भी अक्षर-का, अशोकके बाद, मिलाया जाना क्या आसान है? सारनाथमें, ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दीमें, जिस

घोड़-सम्प्रदायकी प्रधानता थी, यहाँ उस समयकी लिपिमें उसके नामके साथ एक लेख गुदा हुआ था। उसके चार-पाँच सौ वर्ष बाद (ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दीमें) दूसरा सम्प्रदाय अधिकारारुढ़ हुआ। इसने उसी लेखमें, नामवाला भाग छिलवाकर, अपना नाम जुड़वा दिया। ऐसे भी भिन्न-भिन्न हाथों के अक्षर एक दूसरेसे पृथक् होते हैं; और, यहाँ तो पाँच शताब्दियों बाद अक्षरोंमें भारी परिधर्तन हो गया था। इसलिये यह जान-साफ मालूम हो जाता है; और, वह “आचार्योंका सर्वास्तिवादिन परिमहे” वाक्ता छोटा लेख बतला देता है कि, सारनाथका धर्म-चक्र प्रवर्तन-विहार ई० पू० प्रथम शताब्दीसे पूर्व, किसी दूसरे सम्प्रदायके हाथमें था; और, ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दीमें सर्वास्तिवादके हाथमें चला गया। इस तरह इस प्रमाणकी मजबूतीको आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। सातवीं शताब्दी-के चीनी भिक्षु युन् च्वेङ्ग अपने समयमें वहाँ साम्प्रदायिक निकायकी प्रधानता पाते हैं। युन्-च्वेङ्ग प्रथम १२ शताब्दियोंतक भारतसे दूर पड़ा रहा; इसलिये जान-बूझ कर, मिलावट कम होनेसे, अपने समयके लिये उसकी प्रामाणिकता बहुत ही बढ़ जाती है। किन्तु मान लीजिये युन्-च्वेङ्ग अपने प्रथम लिख दें कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन विहार अशोकके समयसे आजतक साम्प्रदायिकोंके हाथमें है, तो उक्त लेखके सामने इस बातकी प्रामाणिकता कुछ भी नहीं रह सकती। इसी तरह समसामयिक सामग्री पीछे ‘चि’ और लिखित ग्रन्थोंसे बहुत ही अधिक प्रमाण-भूत है। हाँ, जैसा कि, मैंने ऊपर कहा है, वहाँ हम उनकी समसामयिकताको सिद्ध करना होगा। सम-सामयिकता सिद्ध करनेके लिये निम्न बातें सबसे अधिक प्रामाणिक हैं—(१) स्वयं लेखमें दिया संवत्

और नाम, (२) लिपिका आकार, (३) गहराई, (४) प्राप्त वस्तुके आसपास मिली ईंटें और अन्य वस्तुएँ।

पहली बात तो सर्वमान्य है ही, लेकिन ऐसा संवत्-काल लिखनेका रवाज गुप्तोंके ही समयसे विशेष भिन्नता है। आन्ध्रों, कुषाणों, अशोक आदिके लेखोंमें तो राजाके अपने अभिषेकका संवत् दिया रहता है; उनका काल-निर्णय पठित है। बहुतसे लेखोंमें तो काल भी नहीं रहता! ऐसी अवस्थामें, अक्षरोंको देखकर, उनसे काल-निश्चय किया जाता है। यद्यपि इसमें दो-एक शताब्दियोंके अन्तर होनेकी सम्भावना है; किन्तु जो सामग्री सन्से प्रचुर परिमाणमें मिलती है और मनुष्य-जीवनके सभी अङ्गोंपर प्रकाश डालती है, वह अक्षराङ्कित भी नहीं होती। इसी सामग्रीकी समसामयिकताको सिद्ध करनेके लिये तीसरे और चौथे प्रमाणोंकी आवश्यकता होती है।

ऐतिहासिक सामग्रियोंमें प्रत्यक्षदर्शी लेखका, अपनी जगह खोलकर सन्-संवत्के साथ, घटनाओं का वर्णन करना, ऐतिहासिक प्रत्यक्ष है। किन्तु जब वह अक्षर या आकारसे अपने काल मानकी बतलाता है, तब भी वह अपने साथके वर्तन, दीवार, जेवर, मूर्ति आदिके बारेमें इतनी गवाही दे ही जाता है कि, इतने समयतक हम सब साथ रहे हैं। उस समयकी सभ्यता आदि सम्बन्धी बातें तो अब आपकी उनकी मूक भाषासे मालूम करनी होंगी। हाँ, यहाँ यह भी हो सकता है कि, भिन्न कालमें बनी वस्तुएँ और लेख पीछे वहाँ इकट्ठे कर दिये गये हों; किन्तु वह तो तभी हो सकता है, जब कि, संग्रहालय (म्यूजियम) की तरह यहाँ भी इकट्ठा करनेका कोई मतलब हो। लेखोंके साथ कुछ और चीजें भी सभी जगह मिला करती हैं; और, वह भी

देखा गया है कि, कालके अनुसार इनके आकार-प्रकारमें भेद होता रहता है। इसी लिये इन्हें भी काल-निर्णयमें प्रमाण माना जाता है।

देशतमें भी लोग कहा करते हैं कि, “धरती माता प्रतियर्षे जौ-भर मोटी होती जाती हैं!” यह बात सत्य है; लेकिन इतने संशोधनके साथ—‘सभी जगह नहीं, और मोटाईका ऐसा नियत मान भी नहीं।’ भारतमें गोहज्रोदारो वह स्थान है, जहाँ आजसे चार-पाँच हजार वर्षको पुरानी वस्तुएँ मिली हैं। लेकिन वहाँ आप, इन सब चीजोंको, वर्तमान तलसे भी ऊपर, टोलोंपर पाते हैं। हरप्पा में भी करीब-करीब वही बात है। हाँ, इस तरहके अपवादोंके साथ पृथिवीके मोटे होनेका नियम उत्तर भारतमें लागू है। पृथिवी कितनी मोटी होती जाती है, इसका कोई पक्का नाप-नियम नहीं है। इसके लिये कुछ जगहोंकी खोदाईमें मिले भिन्न-भिन्न तलोंकी सूची दी जाती है—

काल	गहराई (फीट)	स्थान
ई०पू० ८ वीं शताब्दी २१, २०	भोटा (इलाहाबाद)	
„ चौथी-पाँचवीं „	१७	„
मौर्य-काल		
(ई०पू० तृतीय शतक)	१६	„
„	१५	पटना
„	१३ रमपुरवा (चम्पारन)	
„	गुप्त+६, ९३ सारनाथ (बनारस)	
कुषाण-काल		
(ई० पू० प्र० श०)	१३	भोटा (इलाहाबाद)
„ (ई० चतुर्थ-पष्ठ श०) १०-२	कसया (गोरखपुर)	
„	१०	„

कुषाण-काल	१०	वसाढ़ (मुजफ्फरपुर)
„	९	भोटा (इलाहाबाद)
„	८	„
„	७	पटना

गहराईकी भाँति ईंटें भी काल निर्णयमें बहुत सहायक होती हैं; क्योंकि देखा जाता है कि, जितनी ही ईंटें बड़ी होती हैं, उतनी ही अधिक पुरानी होती हैं। यद्यपि यह नियम सामान्यतः सर्वत्र लागू है, तो भी कहीं-कहीं इसके अपवाद मिलते हैं। गुप्त-कालकी भी ईंटें कभी-कभी मौर्य-कालकी सी मिली हैं; किन्तु उनमें वह ठोसपन नहीं हैं। (जैसे-जैसे जंगल कटते गये, वैसे ही वैसे लोग लकड़ीकी किरायत करने लगे, और, इसी लिये, ईंधनकी कमी के लिये, ईंटोंकी मोटाई आदिको कम करने लगे।) मोहज्रोदारो और हरप्पा सर्वथा ही इसके अपवाद हैं। वहाँकी ईंटें तो आज कलकी ऑप्प्रेजी ईंटों-जैसी लम्बी—किन्तु, कम मोटी हैं। नीचेकी सूचीसे भिन्न-भिन्न कालकी ईंटोंका कुछ अनुमान हो सकेगा—

काल	आकार (इंच)	स्थान
ई०पू० चतुर्थ श०	१६×१०½×३	पिरहवा (वस्ती)
„	१५×१०×३	„
मौर्य-काल		
(ई०पू० तृतीय श०) २०×१४½×३½	भोटी (वहवाइच)	
„	१९½×१२½×३½	सारनाथ (बनारस)
„	१९×१०×३	कसया (गोरखपुर)
„	१८×१०×२½	„
कुषाणोंसे पूर्व	१७½×१०½×२½	भोटा (इलाहाबाद)

* भोटाका पुगना नाम यहजानी था। वहाँकी खोदाईमें एक मुहर भी मिली है, जिसमें “गङ्गातीये नियमग” (गङ्गा-तीरेके बचिर्-पक्ष) लिखा है —“गुदचर्पा” दृष्ट ५६६, ६६१।

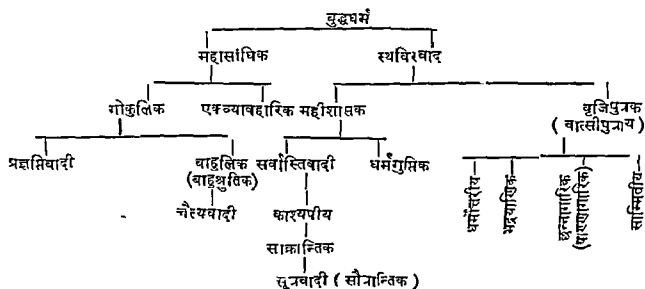
† ई० १० प्रथम और दूसरी एवं प्रथम शताब्दियाँ।

काल	आकार (इ'च)	स्थान	काल	आकार (इ'च)	स्थान
कुषाणोंके पूर्व	१४×१०½×२½ सहेट महेट (गोंडा)		गुप्त	१२×९×२ सहेट-महेट (गोंडा)	
"	१४×१०×२	"	ई० पष्ठ-सप्तम श०	१२½×१½×०	"
"	१४×६×२	"	ई० सप्तम-अष्टम श०	१२×९×२	"
* कुषाण	१५×१०½×२½ साक्षनाथ (वनारस)		ई० दशम-एकादश श०	१२×९×२	"
"	१३×१०×०½	"	"	९½×९½×२	"
† गुप्त	१४×८×२½ सहेट-महेट (गोंडा)		"	७×९×२	"

महायान बौद्धधर्मकी उत्पत्ति

त्रिपिटकाचार्य राहुल साहत्यायन

बुद्धने ४५ वर्षोंतक ईश्वरवाद, अनात्मवाद, परिवर्तन होता गया। इस प्रकार बुद्धके निर्वाणके पुस्त-वाद, जातिवाद और कितने ही अन्यवादोंके १०० वर्ष बाद, वैशाखीकी खगोलिते समय, बौद्ध विरोधी जड़वादकी सीमाके पासतक पहुँचे, बुद्धि-धर्म स्थविरवाद और महासाधिक नामक दो प्रधान एवं सदाचार-परायण धर्मका उपदेश कर ४८३ निकायों (सम्प्रदायों)में विभक्त हो गया। इससे ई० पूर्वने उन्हें निर्वाण प्राप्त किया। जैसे जैसे समय सवा सौ वर्ष बाद धार भी विभाग होकर उसके बीतता गया और जैसे-जैसे नाना प्रकृतिके लोग अठारह निकाय बन गये, जिनका वंशवृत्त, पाती बुद्धधर्ममें सम्मिलित होते गये, वेने ही वैसे उसमें 'कथावस्तु'की "अट्टकथा"के अनुसार, इस प्रकार है—



बुद्धके जीवनमें ही उनके शिष्य गन्धार, गुजरात (सूनापरान्त), पैठन (हैदराबाद-राज्य) तक पहुँच चुके थे। धीरे धीरे उनके वस्त्राह एवं सम्राट् अशोक, सम्राट् मिलिन्द, सम्राट् इन्द्राग्निमित्र आदिकी भक्ति और सहायतासे इसका प्रसार और भी अधिक हो गया। अशोकका सबसे बड़ा काम यह था कि, उन्होंने भारतीय मीमांसे बाहरके देशोंमें, धर्म-प्रचारकोंके भेजे जानेमें, बहुत सहायता की। अशोक (ई० पूर्वं तृतीय शताब्दी) के बाद बौद्ध धर्म सभी जगह फैल चुका था। उस समयतक अठारह निकाय पैदा हो चुके थे; इसलिये राजाकी सहायता, चाहे एक ही निकायको हो; लेकिन दूसरे निकायोंने भी अच्छा प्रचार किया। शुंगों और कण्वोंके बाद आन्ध्र या आन्ध्र-भृत्य सम्राट् हुए। इनकी सर्वपुरातन राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन) * महाराष्ट्र थी। पीछे धान्य-घटक भी दूसरी राजधानी बना, जो, आगे चलकर, कोसलकी राजधानी आबस्तीकी भाँति, प्रधान बन गया और पैठान सिर्फ युवराजको राजधानी रह गया। शातकर्ण्य या शातवाहन (शालिवाहन) आन्ध्र राजा, यद्यपि कुछ समयतक, उत्तरीय भारतके भी शासक थे, तो भी पीछे उन्हें दक्षिणपर ही सन्तोष करना पड़ा। बौद्ध धर्मपर इनका विशेष अनुराग था, यह उनके पक्षाइ खोदकर गुहा-विहारोंमें खुदे

शिलालेखोंसे भी मालूम पड़ता है। राजधानी धान्यक टक (अमरावती)में उनके बनाये भव्य स्तूप, नाना मूर्तियाँ, लताएँ आदि तथा चित्रोंमें अलंकृत संगमर-मरकी पट्टिकाएँ, स्तम्भ, तोरण आज भी उनकी धृष्टाके जीवित नमूने हैं। वस्तुतः बौद्धोंके लिये, शातवाहन राजवंश, ई० पूर्वं प्रथम शताब्दीसे ईस्वी तीसरी शताब्दीतक, पुराने मौर्यों या पिछले पाल-वंशकी तरह था। पहाड़ खोदकर गुहा बनाने-का कार्य यद्यपि मौर्योंने आरम्भ किया था; और, वे उसमें फह्राँतक तरक्की कर चुके थे, यह बराबर-की चमकती पालिशवालो गुहाओंसे मालूम होता है; तो भी गुहाओंको बहुत अधिक और सुन्दर ढंगसे बनवानेका प्रयत्न आन्ध्रोंने ही राज्यमें हुआ। नासिक, फार्ला आदिकी भाँति अजन्ता और एलोराकी गुहाओंका भी श्रीगणेश इन्हींके समयमें हुआ था, जो पीछेतक बढ़ता गया।

अन्धक-साम्राज्यमें महासाहिबों और धर्मो-चारीयोंके होनेका फार्ला × और नासिकके गुहा-लेखोंसे पता लगता है। पाली अभिधम्मपिटकके “कथावत्थ” ग्रन्थमें कितने ही निकायोंके मतोंका खण्डन किया गया है, जिनका विश्लेषण उसकी अट्टट्ठयाके अनुसार निम्न प्रकार है—

* पीछे पैठनके इन शातवाहनका शकोंसे भी विवाद-सम्बन्ध हुआ। इन्हें अपने देशके नामपर, रक्षिक (राष्ट्रिक) या महारक्षिक भी कहते थे। पीछे नाटकोंमें शक या शकारके लिये “रक्षिक-शाल” (राष्ट्रिक-शाल) शब्द प्रयुक्त होनेका भी यही कारण है। वैसे भारतमें अचिरागत शकोंका रग अधिक गोरा होनेसे, रजिवालेमें, राक्ष-कन्याओंकी काफी माँग भी थी। इससे भी राजाका सलाह होना ही सकता है। रक्ष या महारक्ष नाम पड़नेसे पूर्व पैठनके अस्सवासका प्रदेश ग्रन्थक कहा जाता था, और, इसी लिये शातवाहनको आन्ध्र भी कहा जाता था। पीछे, राजनीतिक कारणोंसे, उन्हें अपनी राजधानी धान्यघटकमें बनानी पड़ी, जो नि, तेलगू देशमें है; और, उसीसे इस प्रदेशका नाम आन्ध्र हो गया। ग्रन्थक और वृष्णि, दोनों ही पड़ोसी जातियाँ थीं। वृष्णियोंके बासुदेवके भार्य होनेपर ग्रन्थकोंका भार्य होना निश्चय है।

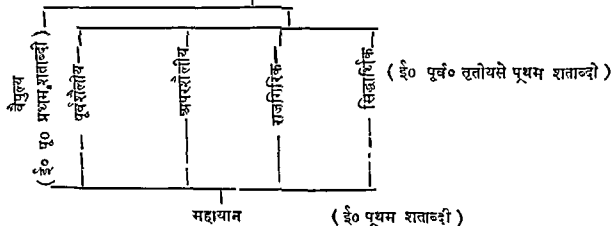
इस नकशेसे मालूम होगा कि, कुल २१४ (२१६) सिद्धान्त हैं, जिनपर “कथावस्तु” ने बहुसंकी है। उनमें १३० अन्धक आदि अर्वाचीन निकायोंके हैं, ४० सिद्धान्त बहुतेरे सम्मिलित हैं, १७ ऋ सिद्धान्तोंके विषयमें अटकथा चुप है और २७ हो ऐसे हैं, जो पुराने १८ निकायोंसे सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, कथावस्तु मुख्यतः अर्वाचीन निकायोंके ही विरुद्ध लिखी गयी है। इन अर्वाचीन आठ निकायोंमें अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थिक अन्धकोंके ही भेद हैं। इसमें अन्धकोंके ८२ सिद्धान्तोंका खण्डन हुआ है। वैपुल्यवादियों और

हेतुवादियोंके रहनेका स्थान यद्यपि नहीं लिखा है, तो भी आगे चलकर वैपुल्यवादियोंको हम आन्ध्र देशका बतलायेंगे। उत्तरापथक पञ्जाब या हिमाचल मालूम होते हैं, किन्तु हेतुवादियोंके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता। महासाधिकोंसे ही पिछले अन्धक-निकायोंका जन्म हुआ मालूम होता है। ऐसा माननेके लिये दो कारण हैं, एक तो कितने ही विवादग्रस्त विषय इनके सम्मिलित हैं, दूसरे आन्ध्र-साम्राज्यमें महासाधिकोंका + बहुत अधिक प्रचार और प्रभाव था। इस प्रकार इन्हींसे आगे चलकर अन्धकोंकी उत्पत्ति हुई।

महासाधिक (वैत्यवादी)

साम्मिलीय (ई० पू० तृतीय शताब्दी)

अन्धक



ऋ मिलाकर दखनेसे अनिश्चित सत्रह सिद्धान्तोंवाल निकाय इस प्रकार मालूम होते हैं—

अन्धक ४+१, पूर्वशैलीय १ उत्तरापथक २, महासाधिक १ साम्मिलीय अन्धक १।

भूत भविष्य कालोंके प्रसिद्धता सिद्धान्त (कथा० ११७) किमका है यद्यपि यह यहाँ नहीं दिया है, तो भी युन्ज्वेक (हुएनसाट) की “विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि” की टीकासे यह सिद्धान्त सर्वास्तिव दिया और साम्मिलियोंका बतलाया गया है। (देखिये ‘विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि’, लापटर प्रसिन्नक। पूँच मनुवाद, पृ० १६७)।

+ महासाधिकोंके भीतर चैत्यवाद-निकाय भी था। धान्यकटके इसकी प्रधानता ब्रम्हावतीमें मिले शिलालेखोंसे मालूम होती है। धान्यकटकेके स्तूपका नाम ही “महाचैत्य” था। मनुषीमूलकल्प १० पत्रमें है—

“धीपर्वते महाशैले दक्षिणा-पथ-सङ्गके। श्रीगान्यकटके चैत्ये जिनघातु-परे भुवि।”

इसी चैत्यके नामसे यहाँ वाले चैत्यवादी कह जाते थे।

पूर्वशैलीय—“कथावत्सु”की अट्टकथा

(११९) में इसे तृतीय संगीतिके बाद उत्पन्न होनेवाले अन्धक-निकायोंमें गिना है । महासाधिकाँका (धान्य-कटक-महाचैत्यका) चैत्यवाद-निकाय पुराने अठारह निकायोंमें सम्मिलित किया गया है ; किन्तु इन अन्धक-निकायोंको हम उनमें सम्मिलित नहीं पाते । इस ज़िये मालूम होता है, यह चैत्यवादियोंके भी पीछेका है । यद्यपि चैत्यवादियोंका नाम अठारह निकायोंमें होनेसे अट्टकथाचार्य उन्हें तृतीय संगीतिसे पूर्वका बतलाते हैं ; तो भी धान्यकटकके चैत्यकी प्रसिद्धि, शुद्धोंके बाद, आन्ध्रोंके प्रतापी कालमें हुई होगी । अतः यहाँके विहारके भिक्षुओंका पृथक् व्यक्तित्व खारखेल और शुद्धोंके बाद ही स्थापित होना चाहिये । यदि यह ठीक हो, तो चैत्यवादको हम ई० पूर्वं द्वितीय शताब्दीके अन्तिम भागमें मान सकते हैं ; और, तब पूर्वशैलीय आदि चारों अन्धक-निकायोंकी उत्पत्ति ई० पू० प्रथम शताब्दीमें माननी होगी । भोटिया-ग्रन्थोंसे □ मालूम होता है कि, पूर्व-शैल और अपरशैल धान्यकटकके पूर्व और पश्चिमकी ओर दो पर्वत थे । इन्हींके ऊपरके विहार पूर्वशैलीय और अपरशैलीय कहे जाते थे । धान्यकटक आन्ध्र-देशमें वर्तमान घरनीकोट (जि० गुंटूर) है । चौद-हवीं शताब्दीके ज़िखे सिंहली-ग्रन्थ “निकाय-संग्रह”से यह भी मालूम होता है कि, इन्होंने “राष्ट्रपालगर्जित” * ग्रन्थको बुद्धके नामसे प्रसिद्ध किया था । भोटमें (तिब्बत) शर्-री (पूर्णशैल) की कड़ी जानेवाली पीतलकी मूर्तियोंका दाम कई गुना अधिक होता है ।

अपरशैलीय— धान्यकटकके पश्चिमकी

पहाड़ीपर बसनेवाला यह निकाय भी चैत्यवादियोंसे निकला मालूम होता है । शेष पूर्वशैलीयकी भाँति, इसके धारोंमें, जानना चाहिये । भोटिया-ग्रन्थोंमें इसका भी जिक्र आता है । इसके बादोंपर पहले कुछ कहा जा चुका है । “निकायसंग्रह”के अनुसार इन्होंने “अलवक-गर्जित” सूत्रको घनाकर बुद्धके नामसे प्रकाशित किया ।

राजगिरिक- अन्धक थे ; किन्तु आन्ध्रमें राजगिरि कहाँ है (जहाँपर कि, इनका केन्द्र था), नहीं कहा जा सकता । “कथावत्सु”में इनके ११ सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है, जिनमेंसे आठ इनके तथा “सिद्धार्थको”के एक हैं, जिससे ज्ञात होता है, इन दोनोंका आपसमें कुछ अधिक सम्बन्ध रहा होगा । निकायसंग्रहमें इन्हें “अङ्गुलिमालपिटक”का कर्ता कहा गया है ।

सिद्धार्थक—राजगिरिकी भाँति इनके बारेमें भी नहीं कहा जा सकता कि, इनका केन्द्र आन्ध्र-देशमें किस स्थानपर था । इनके और राजगिरिकोंके सिद्धान्तोंकी समानता बतलाती है कि, इनमेंसे या तो एक दूसरेसे उत्पन्न हुआ था, या दोनोंका उद्गम एक ही था । “निकायसंग्रह”में इन्हें “गुह्वेस्तर”का कर्ता बतलाया गया है ।

यह चारों ही अन्धक-निकाय, आन्ध्र सम्राटोंके समयमें, बहुत ही उन्नत अवस्थामें थे । आन्ध्र राजा और उनकी रानियोंका बौद्धधर्मपर कितना अनुराग था, यह हमें अमरावती और

□ होइ—देल्ल—सु—बुम् (बहासा) ग, ५० = ख ।

* सम्भवतः श्रीनी त्रिपिटक “राष्ट्रपालगर्जित” (*Nanjio's 873*, स्कन्दपुर १६१६) ।

* सम्भवतः “अङ्गुलिमाली-सूत्र” (*Nanjio's 434*, स्कन्दपुर ६२१३) ।

नागाजुंनो-कोंडा में मिले शिलालेखों से मालूम होता है। इनके चारोंमें यद्यपि हमें चीन, भोटिया, पाली तथा संस्कृत-स्रोतों से कुछ सामग्री मिलती है; किन्तु वह बहुत ही अल्प है। लेकिन आन्ध्र लोग शिलालेखों के बहुत अधिक प्रेमी थे; और, आशा है, धान्यकटक तथा नागाजुंनो-कोंडा एवं गुंटूर-जिले के अन्य पुराने ध्वंसावशेषों की खोदाई पूरी होने पर हम इन सभी ग्रन्थियों की मुलम्मा सकेंगे एवम् उनसे महायान और वज्रयान के आरम्भिक दिनों तथा उनके विकास के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ेगा।

वैपुल्य (वैतुल्ल)वादी—“कथावत्यु” की अट्ठकथा में वैपुल्यवादीयों को महाशून्यतावादी कहा गया है। हमें मालूम ही है कि, नागाजुंन शून्यवाद के आचार्य कहे जाते हैं। इस प्रकार त्रैपुल्यवाद और महायान एक सिद्ध होते हैं। “कथावत्यु” में दो बातें विशेष महत्व की हैं। एक तो वैपुल्य के खण्डित सिद्धान्तों में “शून्यता” नहीं सम्मिलित है। [इनके मत संघ, बुद्ध और मैथुन के विषय में भेद रखते थे। इनका कहना था—(१) संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता तथा उपभोग करता है, न संघ को देने में महाफल है, (२) बुद्ध को दान देने में न महाफल है, न बुद्ध लोक में आकर ठहरे और न बुद्ध ने धर्मोपदेश किया; (३) खास मतलब से (एकाभिप्रायेण) मैथुन का सेवन किया जा सकता है। यह करने को जरूरत नहीं कि, ये तीनों ही बातें एक प्रकार से बौद्धधर्म में भयङ्कर विप्लव मचानेवाली थीं। विशेषकर ऐतिहासिक बुद्ध के

अस्तित्व से इनकार तथा खास स्थिति में मैथुन की अनुज्ञा। पहले में हम महायान के आरिरी विकास तक का स्पष्ट पूर्ण रूप पाते हैं; और, दूसरे में वज्रयान या तान्त्रिक बौद्धधर्म का स्फुट बीज।] दूसरी बात है, “वैतुल्लवाद” के सभी मत “कथावत्यु” के अन्तिम भाग १७ वें, १८ वें और २३ वें वर्गों में हैं। यह पहले हो कह चुके हैं कि, “कथावत्यु” का आरम्भ, चाहे अशोक की तीसरी संगीति से ही हुआ हो; किन्तु उसमें पीछे के वाद भी जुड़ते गये। इस प्रकार यह मान लेने में कोई कठिनाई नहीं मालूम होती कि, कथावत्यु का “वैतुल्लवाद” वाला भाग सबसे पीछे का है। कितना पीछे का है? इसके लिये इतना कहा जा सकता है कि, वह बुद्धोपसे ही पहले का नहीं, बल्कि नागाजुंन से भी पहला है; क्योंकि उसमें वैतुल्लवादीयों के शून्यवाद का खण्डन नहीं है। हम इसे यदि ईसा की पहली शताब्दी मान लें, तो वास्तविक समय से बहुत थोड़ा ही आगे-पीछे रहेंगे। इस बात में हम और कुछ निश्चित तार से तभी कह सकेंगे, जब हम शक, शालिवाहन-संवत् एवम् नागाजुंन के समय को, अन्तिम तार पर, निश्चित कर सकेंगे। सिंहल के इतिहास से पता लगता है कि, सर्वप्रथम राजा बलगमपाहु (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के समय में वैतुल्लवाद सिंहल में पहुँचा; किन्तु हो सकता है कि, पिछले समय में, जब चारों अन्धक-सम्प्रदाय एवम् उन्हीं की एक शाखा “वैतुल्लवाद” एक हो गये, तब सब को ही “वैतुल्ल” कहा जाने लगा हो।

महायान-सूत्रों को हम चीन में प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, अवतंसक और निर्वाण तथा

तिव्वती कन्-जूमो प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, सूत्र (प्रकीर्ण) और निर्वाणके क्रमसे विभक्त पाते हैं। अवतंसक-सूत्रोंकी वैपुल्यसे पृथक् गिना गया है; किन्तु वैपुल्य और अवतंसक एक ही प्रकारके सूत्र हैं। ७ “मंजुश्रीमूलकल्प”में हर एक पटलके अन्तमें आता है—“वोविसत्त्व-पिटकादवतंसकात् महायान-वैपुल्य-सूत्रात् ।” भोटियां भी वैपुल्य-सूत्रोंके नामके साथ आता है—“वोविसत्त्व-पिटकात् अवतंसकात् महावैपुल्य..... “सूत्रम् ।” स्वयं नन्ज्योके सूची-पत्रके ही ८७, ८९, ९४, ९६, १०१ ग्रन्थोंमें अवतंसक और वैपुल्य साथ-साथ विशेषण-विशेष्य-रूपसे प्रयुक्त हुए हैं। प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य आदि सूत्र महायानके हैं। + इसमें तो किसीको सन्देह हो ही नहीं सकता, और, इसीसे वैपुल्यवाद या पाली वेतुलवाद वही है, जिसे हम आजकल महायान कहते हैं; या यों कहिये कि, वेतुल या “वैपुल्य” वह नाम है, जिससे आरम्भिक कालमें महायान प्रसिद्ध हुआ। आरम्भमें, महायान कहलानेमें, उन्हें सकलतान हुई थी। “वेतुल” और “वैपुल्य” एक ही हैं। यही हम कयावत्थुकी अट्ठकयाके उस वाक्य-से भी समझ सकते हैं, जिसमें वेतुलवादीको महा-यल्यवादी कहा है। निकाय-सम्प्रदायमें वेतुलवादियों-को “वेतुल-पिटक” (वैपुल्य पिटक) का कर्त्ता कहा है। वही यह भी लिखा है कि, अन्धकोंने Δ “रत्नकूट” तथा दूसरे शास्त्रोंकी रचना की। “रत्न-कूट” और “वैपुल्य”, दोनों ही प्रकारके सूत्रमहा-

यानी हैं, यह हम देख चुके हैं; इस लिये महायान अन्धकों (पूर्वशैलीय आदि चार सम्प्रदाय) और वैपुल्यवादके सम्मिलित रूपका नाम है।

यह तो मालूम हो चुका कि, महायान पूर्वशैलीय आदि चार अन्धक-सम्प्रदायोंके तथा वैपुल्यवादके सम्मिश्रणमें बना है; और, जितना अंश अन्धक-निकायोंसे सम्बन्ध रहता है, वह आन्ध्र-देशके गुटूर जिलेके वर्तमान धरजोकोटकी उपज है। लेकिन वैपुल्यवादका मुख्य स्थान कहाँ था, अब हम इसपर विचार करेंगे।

यहाँपर ध्यान रखना चाहिये कि, महायान-सूत्र बराबर परिवर्तित और परिवर्द्धित किये जाते रहे हैं, इस लिये उनके मूल स्थानसे मतलब हमारा इतना हो है कि, उनके निर्माणशीलों वहाँ डाली गयी, और, परिवर्द्धन-परिवर्तन करनेमें तो सारा भारत शामिल था। वैपुल्यवादके बारेमें हमें निम्न बातें मालूम हैं—

(१) ईसा पूर्व ८ पड़ली शताब्दीमें यह सिलोन पहुँचा था

(२) इसके ८ कुछ सूत्रोंका चीनीमें अनुवाद, ईसाकी दूसरी शताब्दीमें हो, हो चुका था।

(३) इसके प्रचारकोंमें सबसे ऊँचा स्थान आचार्य नागार्जुनका है।

(४) नागार्जुनका घास-स्थान श्रीवंत और धान्यकटक था। \angle

ॐ Trium lrum Sanskrit Series LXX LXXXII.

+ स्वन्-जु ४१ ४६

Δ “अन्धको रत्नकूटविद्वत्सास्त्रान् रचना कृतः” निरुद्ध-ग्रन्थ (सीलोन सरदार द्वारा १६१८में मुद्रित)।

□ महायान। ८ नन्ज्योके सूचीपत्र, सन्ध्या २६, “गुह्यवादीभूदः”, लोहसूत्र (१४७—१८६ ई०) द्वारा प्रदर्शित।

\angle “क्लोड—ईद्वन्-मुद्र—मुद्र (लहसा) व, पृष्ठ ६६—“नागार्जुनका निवासस्थान दक्षिण भारतमें, श्रीवंतके समीप श्रीषोभनदरमें था।”

उनकी इन कृतियोंसे वञ्चित ही रहती। संप्रपेमें, भारतमें बौद्ध मन्त्र-शास्त्रके विकासका यही णंग रहा है। इस मन्त्रपान-काजकी, यदि हम निम्न क्रमसे मान लें, तो वास्तविकतासे बहुत दूर न रहेंगे—सूत्र रूपमें मन्त्र—ई० पू० ४००—१००, धारणी-मन्त्र—ई० पू० १००—४०० ईस्वी, मन्त्र-मन्त्र—ई० ४००—१२०० ई०।

इसी धारणी-मन्त्रके युगमें हम अलौकिक बुद्धके सहायक और अनुयायी कितने ही अयलोकितेरपर, गजुध्री आदि अलौकिक योधिसाधोंकी सृष्टि होते देखते हैं।

यद्यपि मन्त्रोंका माहात्म्य बढ़ने लगा। लोग इनपर धन और श्रम खर्च करने लगे। आधिष्ठातृकोंने भी इधर मन्त्रोंकी फलदायकताकी वृद्धिपर सोचना शुरू किया। उन्होंने देखा, योगकी कुछ क्रियाएँ योगीके प्रति अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न करती हैं, जिससे जोग शब्दी उनकी बात (Suggestion) पर आरुढ़ हो जाते हैं। (आज्ञाकज्ञ भी हिप्नाटिज्म और मेसेसिजिज्ममें उत्कट श्रद्धा बहुत ही आवश्यक चीज मानी गयी है) ! दूसरे उनकी मानसिक शक्ति, एकाग्रताके कारण, अधिक तीव्र हो, श्रद्धालुओंको छोटे-मोटे चमत्कार दिखानेमें या उनके कष्ट-सहनशील शक्तिको बढ़ानेमें, समर्थ होती है। योगकी कुछ प्रक्रियाओंका, बुद्धके समयके पूर्वसे ही, लोग अभ्यास करते आ रहे थे। बुद्धके बाद तो और भी करने लगे। इस लिये, बुद्ध-निर्वाणके चार-पाँच सौ वर्षों बाद, इस तरहकी उपयोगी मानसिक शक्तियोंका उन्हें काफी अनुभव हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया था कि, इस तरहके चमत्कारके लिये भक्तोंमें अन्ध-श्रद्धा और प्रयोजनोंमें तीव्र मानसिक शक्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। अब वे, एक ओर, योगसे अपनी मानसिक शक्तिकी विकसित करने लगे, दूसरी ओर, भक्तोंमें श्रद्धाकी मात्रा खूब बढ़ानेके लिये नाना ढङ्ग, ट्राटक क्रियाओं तथा मन्त्र-तन्त्रकी वृद्धिके साथ-साथ सहस्रों नये देवी-देवताओंकी सृष्टि करने लगे।

उक्त मन्त्रों और योग विधियोंके प्रचारोंकी और अनु-वर्तकोंमें दो प्रकारके मनुष्य थे। एक तो थे, जो पशुता अत्यन्त श्रद्धासे ग्रस्य हो, इन क्रियाओंको "स्वान्तः सुखाय" या "परिहाय" करते थे। उनमें उनका अपना स्वार्थ उतना न था। वे उन क्रियाओं द्वारा उस समयके मानसिक घातावरणमें तत्काल जोशोंको जाम होते देखते थे। इस लिये, अपार श्रद्धासे, उस काममें प्रवृत्त थे। दूसरे, ये बालाफ लोग थे, जो अच्छी तरह जानते थे कि, इन मन्त्र-तन्त्र-क्रियाओंकी सफलताका अधिक दारो-मदार उनकी अपनी अज्ञत शक्तियोंपर उतना नहीं है, जितना कि, श्रद्धालुकी उत्कट श्रद्धापर। इसी लिये श्रद्धालुकी श्रद्धाको पराकाष्ठातक पहुँचानेके लिये या उसे पूर्ण-रूपेण "हिप्नोटाइज्म" करनेके लिये वे नित्य नये आधिष्ठातृ करते थे। यस्तुतः फर्स्ट क्लासके आधिष्ठातृक इसी दूसरी श्रेणीके लोग थे। इसी युगमें चढ़ावेसे अपार घनराशि मर्जोंमें जमा हो गयी थी। जब इन्होंने देखा कि, आखिर बुद्धकी शिष्यासे भी हम बहुत दूर हो चुके हैं—जोग श्रद्धासे ग्रन्थे हैं ही और सभी भोग हमारे लिये सुलभ हैं, तब उन्होंने विषय-भोगोंके संग्रहकी डानी; और, इस प्रकार मद्य और स्त्री-सम्भोगका श्रीगणेश हुआ। यहाँ यह न समझना चाहिये कि, औरही चक्रके ये ही आधिष्ठातृक थे; क्योंकि इनसे सहस्रों वर्ष पूर्व मिथ, असुर, यवन आदि देशोंमें भी ऐसे चर्कोंका हम प्रचार देखते हैं। इनका काम इतना ही था कि, इन्होंने बुद्धके नामपर और नये साधनोंके साथ इन्हें पेश किया।

इस प्रकार मन्त्र, इष्टयोग और मैथुन—ये तीनों तत्त्व क्रमशः बौद्धधर्ममें प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्धधर्मको मन्त्रपान कहते हैं। इसको हम निम्न भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) मन्त्रपान (नरम) ई० ४००—७००, (२) वज्रपान (गरम) ई० ८००—१२००।

वैसे तो मैथुन्यवादमें तथा उससे पूर्वके अन्धक-



१-गङ्गापति



२-श्रीराम



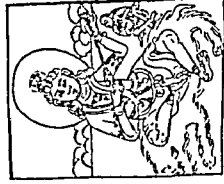
३-विरुपा



४-डोम्बिपा



५-रावरीपा



६-सरहपा



७-कंकालीपा



८-मीनपा

(५) (मान्य-राजा) शातवाहन नागार्जुनना पणिष्ठ मित्र था। +

(६) बुद्ध का मान्तिकारी सिद्धान्त इनके और ग्रन्थकोंके मिलते थे।

इससे अनुमान होता है कि, वैपुल्यवादका केन्द्र भी श्रीघान्यकटकके पास ही था। इस यातको पुष्टि मंजुश्रीमूलकल्पका यह श्लोक भी करता है—

“गच्छेद् विदिशं तन्त्रज्ञः सिद्धिकामफलोद्भवम्।

पश्चिमोत्तरयोर्मध्यं त देशः परिकीर्तितः॥

(पृ० १७५, पटल १८)।

इसमें “पश्चिम-उत्तरके बीचमें” विदिशाको प्रतलाया गया है; और, विदिशा वर्तमान भिलसा (ग्वालियर-राज्य)का ही प्राचीन नाम है। यह स्पष्ट ही है कि, लेखक दक्षिण भारतमें बैठकर ही ऐसालिय सकता है। “मंजुश्रीमूलकल्प” महावैपुल्य-सूत्रोंमेंसे है, यह पहले कहा जा चुका है। हमारी समझमें यह स्थान श्रोपर्वत या घान्यकटक ही हो सकता है।

मन्त्रयान, कर्त्रयान और चौरासी सिद्ध

त्रिपिटकाचार्य राहुल साहत्यायन

मन्त्र कोई नयी चीज नहीं है। मन्त्रसे मतलब उन शब्दोंसे है, जिनमें लोग मारण, मोहन, उघाटन आदिकी अद्भुत शक्ति मानते हैं। यह हम वेदोंमें भी पाते हैं। ओं औपद्, औपद् आदि शब्द ऐसे ही हैं, जिनका प्रयोग यज्ञोंमें आवश्यक माना जाता है। मन्त्रोंका इतिहास ढूंढिये, तो आप, इन्हें मनुष्यकी सम्प्रतापर पैर रखनेके साथ-साथ, तरकी करते पायेंगे। प्राचीन बाहुल [वेदिकोन], असुर, मित्र आदि देशोंमें भी मन्त्रका अछड़ा

घोर था। फलतः मन्त्रयान योद्धोंका कोई नया आविष्कार नहीं है। केवल प्रश्न यह है कि, योद्धोंमें इसका आरम्भ कैसे हुआ और उसमें प्रेरक-शक्ति क्या थी? पालीके ब्रह्म-जालसुत्तसे मालूम होता है कि, बुद्धके समयमें ऐसे शान्ति-सीमाग्य लानेवाले पूजा प्रकार या कल्प प्रचलित थे। गन्धारी-विद्या या आवर्तनी विद्यापर भी लोग विरवास रखते थे। बुद्धने इन सबको मिथ्याजीव (भूया ध्ववसाय) कहकर मना किया, वो भी इससे

+ दर्पचरित, सप्तम उच्छ्वास—(निर्णयमागर, तृतीय सस्कृत्य, पृ० २५०)—“समतिकामति च कियत्पिकाले कदाचित् तामेकावलीं तस्मात्तागराजान् नागार्जुनो नाम नागैरेवानीत पातालतल, भिक्षुरभिज्ञत् लेभे च। निर्गत्यसारत्वात् त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नेरेन्द्राय सुहृदे स वदौ ताम्॥” नागार्जुनने शातवाहन राजाके नाम “सुहृल्लेख नामक पत्र लिखा था, जो चीनी और मोटिया-भाषाओंमें ग्रथ भी सुरक्षित है।

† जेस खास ग्रन्थिप्रायसे मैथुनकी प्रमुद्रा (कथावस्तु २३१), जो ग्रन्थकों और इनकी एक-सी है। ग्रन्थक बुद्धके व्यवहारको लोकोत्तर मानते थे (क० व० २१८), और, यह बुद्धकी ऐतिहासिकतासे ही इनकार करते हैं—“बुद्ध मनुष्य लोकेमें (आकर) नहीं ठहरे” (१८१)। “बुद्धने धर्मका उपदेश नहीं किया” (१८२)।

‡ नहरलैवडु (नागार्जुनी-शैल, जि० गुडर)।

उनके शिष्य इन विद्याओंमें पढ़नेसे रुक न सके । बुद्धके निर्दोषको जितना ही अधिक समय बीतता जाता था, उतना ही, लोगोकी नज़रसे, उनके मानुष गुण भी शोभन्न होते जाते थे । बादबकी तहमें दिलायी पढ़ते सुधें अथवा कुहरमें टिमटिमाते चिरागकी भाँति उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व अधिक धुँधळा रूप धारण करता जाता था । जहाँ इस प्रकार मानुष बुद्ध लुप्त होते जा रहे थे, वहाँ अलौकिक गुणोंवाले बुद्धका सृष्टिका उपक्रम बढ़ता जाता था । इसी प्रयत्नमें बुद्धके जीवनकी अलौकिक कहानियाँ गढ़ी जाने लगीं । ऐसी कहानियाँ आरुपेक होती ही हैं । जब लोगोंने बुद्धकी अलौकिक जीवन-कथाओंको अधिक प्रभावशाली देखा, तब इधर झट पड़े; किन्तु कुछ दिनोंमें ही यह आश्चर्य छोड़कर पड़ने लगा । बुद्धकी वे अलौकिक शक्तियाँ अतीतके गर्भमें बिलीन हो गयी थीं । उनकी कथासे लोगोंको वर्तमानमें क्या लाभ ? तब बुद्धकी अलौकिक शक्तियोंका वर्तमानमें भी, उपयोग होनेके लिये, बुद्धके वचनोंके पारायणमात्रसे, पुण्य माना जाने लगा । उनके उच्चारण मात्रसे रोग, भय आदिका नाश सम्भवा जाने लगा ! उस समय भूत-प्रेत आजसे बहुत अधिक थे ! इतने अधिक थे कि, अभी उस परिमाणपर पहुँचनेके लिये यियासोकी और स्फिरिचुअलिज्मकी शताब्दियों मेंहनत करनी पड़ेगी ! कुछ लोगोंको इन भूतोंकी बहुत किक रहती थी । इस लिये उन्हें वशमें करनेके लिये भी कुछ सूरोंकी रचना होने लगी । स्थविरवादियोंने (जो कि, मानुष बुद्धके बहुत पक्षपाती थे) ही “आद्यानादीय-सुत्त” से छ इसका आरम्भ किया । फिर क्या था, रास्ता खुल निकला । थोड़ी ही देरमें स्थविरोंने देखा, वे इस बुद्धदीद-में तबतक वाज़ी नहीं मार सकते, जबतक वे ऐतिहासिक

बुद्धसे विपद न जुदा हों, किन्तु वह इनके लिये बहुत कदवी गोली थी । ऊपर बूरे सम्प्रदाय इसमें विरोध तरकी करने लगे । जब देखा, दुनिया भी उन्हींको ओर खिँचती जा रही है, तब उन्हींने उसमें और भी रास्ता दिखाना शुरू किया । इसका फल, हम देखते हैं कि, बुद्धके निर्वाणसे चार ही पाँच सौ वर्षों बाद वैपुल्य-वादियोंने बुद्धके लोकमें आनेसे भी इनकार कर दिया । आखिर लौकिक पुण्य उन अभिलषित अद्भुत शक्तियोंका कैसे धनी हो सकता है ?

उक्त क्रमसे पहले अठारह प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदायोंने सूरोंमें ही अद्भुत शक्तियाँ माननी शुरू कीं; और, कुछ खास सूर भी इसके लिये बनाये । फिर वैपुल्यवादियोंने, लज्जे-जम्मे सूरोंके पाठमें विजम्भ देखकर, कुछ पद्धतियों की छोटी छोटी धारणियाँ बनायीं । लेकिन मनुष्य बैलगाड़ीसे रेलतक पहुँचकर क्या हवाई जहाज़से इग-कार कर सकता है ? अन्तमें दूसरे लोग पैदा हुए, जिन्होंने जम्बी धारणियोंको रटनेमें लकड़ीफ उठाती जनतापर, अथार कृपा करते हुए, “ओं मुने मुने महामुने स्वाहा”, “ओं आ हुं”, “ओं तारे तूतारे तुरे स्वाहा” आदि मन्त्रोंकी सृष्टि की । अब अचर्योंका मूल्य बढ़ चला । फिर लोगोंको, एक-एक मन्त्राक्षरकी खोजमें भटकते देख, उन्हींने “मंजुश्रीनामसंगीति”के कहे अनुसार सभी स्वर और व्यञ्जन वर्णोंको मन्त्र करार दिया; और, अब “ओं” और “स्वाहा” लगाकर चाहे जो भी मन्त्र बनाया जा सकता था; बशर्त कि, उसके कुछ अनुयायी हों ! कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, इन सारी मेहनतोंका पारितोषिक, यदि उन्हें रुपये-आने-पाई या उसी तरहकी किसी और दुनियावी सुख-सामग्रीके रूपमें न मिलता, तो शायद दुनिया

छ “दीप निग्रय”का एक सूत्र, जिसमें यत्नों और देवताओंका बुद्धसे सवाद वर्णित है । इसमें यत्नों और देवता-ओंके प्रतिनिधियोंने प्रतिज्ञाएँ की हैं, जिनके दोहरानेसे आज भी उनके वंशज—देवताओंको, अपने पूर्वजोंकी प्रतिज्ञा, याद आ जाती है; और, वे सतानेसे वाज़ मा जाते हैं !

उनकी इन कृतियोंसे वञ्चित ही रहती। संक्षेपमें, भारतमें बौद्ध मन्त्र-शास्त्रोंके विकासका यही ढंग रहा है। इस मन्त्रयान-काजको, यदि हम निम्न क्रमसे मान लें, तो वास्तविकतासे बहुत दूर न रहेंगे—सूत्र रूपमें मन्त्र—ई० पू० ४००—१००, धारणी-मन्त्र—ई० पू० १००—४०० ईस्वी, मन्त्र-मन्त्र—ई० ४००—१२०० ई०।

इसी धारणी-मन्त्रके युगमें हम अलौकिक बुद्धके सहायक और अनुयायी कितने ही अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री आदि अलौकिक बोधिसत्त्वोंकी सृष्टि होते देखते हैं।

अथ मन्त्रोंका माहात्म्य बढ़ने लगा। लोग इनपर धन और श्रम खर्च करने लगे। आविष्कारकोंने भी ह्म मन्त्रोंकी फलदायकताकी वृद्धिपर सोचना शुरू किया। उन्होंने देखा, योगकी कुछ क्रियाएँ योगीके प्रति अर्पण श्रद्धा उत्पन्न करती हैं, जिससे लोग जल्दी उनकी बात (Suggestion) पर आरुढ़ हो जाते हैं। (आज्ञकल भी हिप्नाटिज्म और मेस्मेरिज्ममें उल्टा श्रद्धा बहुत ही आवश्यक चीज मानी गयी है) ! दूसरे उनकी मानसिक शक्ति, एकाग्रताके कारण, अधिक तीव्र हो, श्रद्धालुओंको छोटे-मोटे चमत्कार दिखानेमें या उनके कष्ट-सहनकी शक्तिको बढ़ानेमें, समर्थ होती है। योगकी कुछ प्रक्रियाओंका, बुद्धके समयके पूर्वसे ही, लोग अभ्यास करते आ रहे थे। बुद्धके बाद तो और भी करने लगे। इस लिये, बुद्ध-निर्वाणके चार-पाँच सौ वर्षों बाद, इस तरहकी उपयोगी मानसिक शक्तियोंका उन्हें काफी अनुभव हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया था कि, इस तरहके चमत्कारके लिये भक्तोंमें अन्ध-श्रद्धा और प्रयोजनोंमें तीव्र मानसिक शक्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। अथ वे, एक ओर, योगसे अपनी मानसिक शक्तिकी विकसित करने लगे; दूसरी ओर, भक्तोंमें श्रद्धाकी मात्रा गूँथ बढ़ानेके लिये भावा दड, घाटक क्रियाओं तथा मन्त्र-तन्त्रकी वृद्धिके साथ-साथ सदियों नये देश-देवताओंकी सृष्टि करने लगे।

उक्त मन्त्रों और योग-विधियोंके प्रचारकों और अनु-वर्तकोंमें दो प्रकारके मनुष्य थे। एक तो वे, जो यस्तुतः अत्यन्त श्रद्धासे मुग्ध हो, इन क्रियाओंको "स्वान्तः सुखाय" या "परहिताय" करते थे। उनमें उनका अपना स्वाधर्ष उतना न था। वे उन क्रियाओं द्वारा उस समयके मानसिक वातावरणमें तत्काल लोगोंको लाभ होते देखते थे; इस लिये, अपार श्रद्धासे, उस काममें प्रवृत्त थे। दूसरे, वे चालाक लोग थे, जो अच्छी तरह जानते थे कि, इन मन्त्र-तन्त्र-क्रियाओंकी सफलताका अधिक दारो-नदार उनकी अपनी अद्वत शक्तियोंपर उतना नहीं है, जितना कि, श्रद्धालुकी उत्कट श्रद्धापर। इसी लिये श्रद्धालुकी श्रद्धाको पराकाष्ठातक पहुँचानेके लिये या उसे पूर्ण-रूपेण "हिप्नोटाइज" करनेके लिये वे नित्य नये आविष्कार करते थे। वस्तुतः फर्स्ट क्लासके आविष्कारक इसी दूनरी श्रेणीके लोग थे। इसी युगमें चढ़ावेसे अपार धनराशि मर्तोंमें जमा हो गयी थी। जब इन्होंने देखा कि, बाहिर बुद्धकी शिष्यासे भी हम बहुत दूर हो चुके हैं—लोग श्रद्धासे ग्रन्थे हैं ही और सभी भोग हमारे लिये सुखम हैं, तब उन्होंने विषय-भोगोंके संग्रहकी डानी; और, इस प्रकार मय और स्त्री-सम्भोगका शीघ्रवेश हुआ। यहाँ यह न समझना चाहिये कि, भैरवी-चक्रके ये ही आविष्कारक थे; क्योंकि इनसे सहस्रों वर्ष पूर्व मिथ, असुर, यवन आदि देशोंमें भी ऐसे चक्रोंका हम प्रचार देखते हैं। इनका काम इतना ही था कि, इन्होंने बुद्धके नामपर और नये साधनोंके साथ इन्हें पेश किया।

इस प्रकार मन्त्र, दृढयोग और मैथुन—ये तीनों तब क्रमशः बौद्धधर्ममें प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्धधर्मको मन्त्रयान कहते हैं। इसको हम निम्न भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) मन्त्रयान (नरम) ई० ४००—७००, (२) वज्रयान (गरम) ई० ८००—१२००।

येते तो पैगुयवाद्में तथा उमते पूर्वके ग्रन्थ-



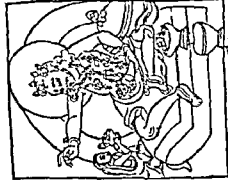
शिवमूर्तिपञ्चकम् ॥ १ ॥

१—शिवपि



शिवमूर्तिपञ्चकम् ॥ २ ॥

२—शिवपि



शिवमूर्तिपञ्चकम् ॥ ३ ॥

३—विरुपा



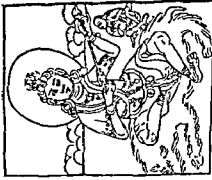
शिवमूर्तिपञ्चकम् ॥ ४ ॥

४—होमिषा



शिवमूर्तिपञ्चकम् ॥ ५ ॥

५—शक्तिपि



शिवमूर्तिपञ्चकम् ॥ ६ ॥

६—सुरक्षपि



शिवमूर्तिपञ्चकम् ॥ ७ ॥

७—कंकलीपि



शिवमूर्तिपञ्चकम् ॥ ८ ॥

८—मौनपि



१-गौराङ्गा

१-गौराङ्गा



२-चोरगिष्ठा

२-चोरगिष्ठा



३-दीपाङ्गा

३-दीपाङ्गा



४-शान्तिपा

४-शान्तिपा



५-गङ्गा

५-गङ्गा



६-जगन्नाथ

६-जगन्नाथ



७-पद्मपा

७-पद्मपा



८-गङ्गा

८-गङ्गा



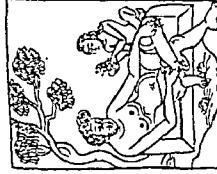
श्री देवकीश्वरपूजाय नमः ॥ १७ ॥

१७—भद्रपदा



श्री देवकीश्वरपूजाय नमः ॥ १८ ॥

१८—कवरीषा



श्री देवकीश्वरपूजाय नमः ॥ १९ ॥

१९—धनपदा



श्री देवकीश्वरपूजाय नमः ॥ २० ॥

२०—नारीषा



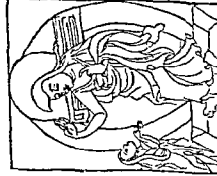
श्री देवकीश्वरपूजाय नमः ॥ २१ ॥

२१—शक्तिपदा



श्री देवकीश्वरपूजाय नमः ॥ २२ ॥

२२—तिलोपदा



श्री देवकीश्वरपूजाय नमः ॥ २३ ॥

२३—धृष्टपदा



श्री देवकीश्वरपूजाय नमः ॥ २४ ॥

२४—भद्रपदा



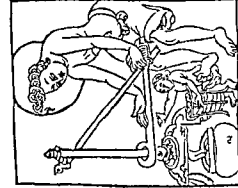
श्रीका "पुरातत्त्वाङ्क" २८

२८—योम्मिपा



श्रीका "पुरातत्त्वाङ्क" २९

२९—कालिपा



श्रीका "पुरातत्त्वाङ्क" ३०

३०—इंगिपा



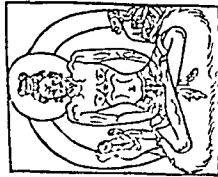
श्रीका "पुरातत्त्वाङ्क" ३१

३१—कमरिपा



श्रीका "पुरातत्त्वाङ्क" ३२

३२—दोहगिपा



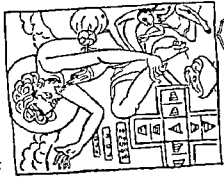
श्रीका "पुरातत्त्वाङ्क" ३३

३३—रुक्मिपा



श्रीका "पुरातत्त्वाङ्क" ३४

३४—भद्रपा



श्री हनुमन्तस्य वन्दना ॥ १७ ॥

३३—वन्देपा



श्री हनुमन्तस्य वन्दना ॥ १८ ॥

३४—कुङ्कुरिपा



श्री हनुमन्तस्य वन्दना ॥ १९ ॥

३७—महीपा



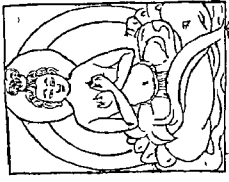
श्री हनुमन्तस्य वन्दना ॥ २० ॥

३८—अचिन्तिपा



श्री हनुमन्तस्य वन्दना ॥ २१ ॥

३९—कुम्भलिपा



श्री हनुमन्तस्य वन्दना ॥ २२ ॥

४०—भलहपा



श्री हनुमन्तस्य वन्दना ॥ २३ ॥

४६—धर्मपा



श्री हनुमन्तस्य वन्दना ॥ २४ ॥

४०—नलिनपा



३३-मृगश्रुपा



३४-लक्ष्मीकरा, ४२-इन्द्रभूति



४३-मेकोपा



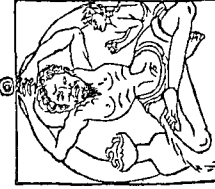
४४-कुठालिपा



४५-कर्मापा



४६-जालयरापा



४७-राहुलपा



४८-धर्वरिपा

गङ्गाका "पुरातत्वाङ्क"



इन्द्रावरिचयैर्गङ्गा (पुष्प)

५७—निर्गुणया



इन्द्रावरिचयैर्गङ्गा (पुष्प)

५८—जयान्त



इन्द्रावरिचयैर्गङ्गा (पुष्प)

५९—मित्तया



इन्द्रावरिचयैर्गङ्गा (पुष्प)

६०—मलिया



इन्द्रावरिचयैर्गङ्गा (पुष्प)

६१—चर्यटीया



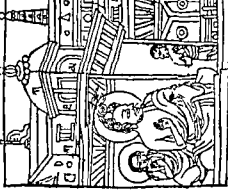
इन्द्रावरिचयैर्गङ्गा (पुष्प)

६२—कुमरिया



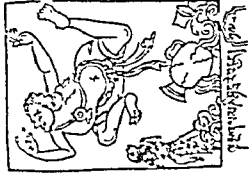
इन्द्रावरिचयैर्गङ्गा (पुष्प)

६३—चम्पकया



इन्द्रावरिचयैर्गङ्गा (पुष्प)

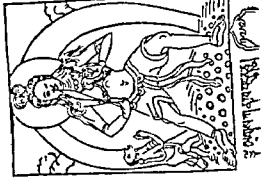
६४—जवरिया



६९—मणिमन्त्र



६६—मोक्षला



६७—किन्नरला



६८—अलकलापा



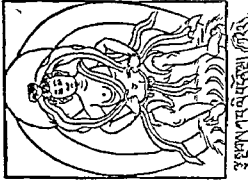
६९—मनिलापा



७०—गङ्गुलिपा

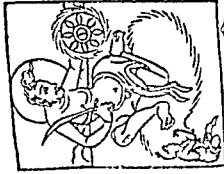


७१—उग्रलिपा



७२—अपालिपा

७३—अपालिपा



इक्ष्वाकुपुत्रस्य (१५)

७३—विलया



भृशपुत्रस्य (१६)

७४—सागरा



इक्ष्वाकुपुत्रस्य (१७)

७५—शारिका



इक्ष्वाकुपुत्रस्य (१८)

७६—पुत्रिका



इक्ष्वाकुपुत्रस्य (१९)

७७—पनहा



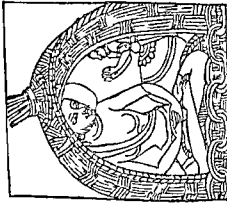
इक्ष्वाकुपुत्रस्य (२०)

७८—कोकालिया



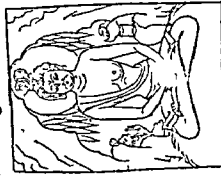
इक्ष्वाकुपुत्रस्य (२१)

७९—सर्वभक्ष्या



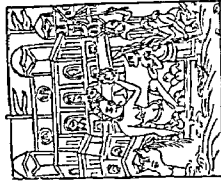
इक्ष्वाकुपुत्रस्य (२२)

८०—नागबोधिया



५९-सप्तम्युपनिषद्

८१-अनन्या



६०-अनन्या

८२-समुद्र



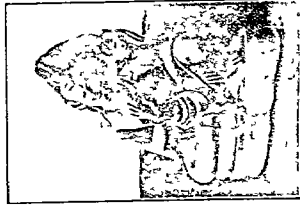
८३-मैत्रेय बोधिसत्त्व (पटना म्युजियम)

८४-सप्तमीकराके लिये देखिये, इन्द्रगुप्ति ४२।



६१-सप्तम्युपनिषद्

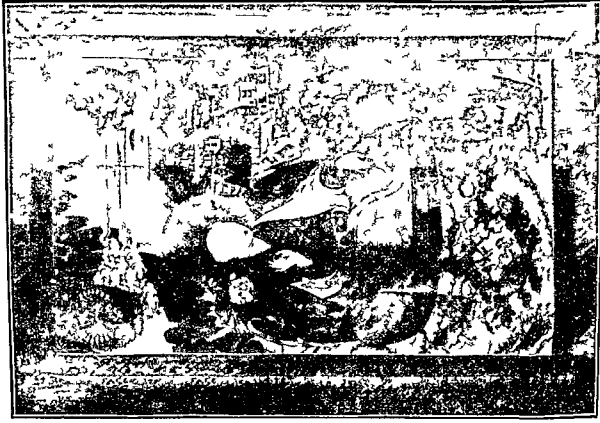
८५-भलिपा



८६-अवलोकितेश्वर (पटना म्युजियम)



८७—वेङ्कट (१९ वीं शताब्दी, तिब्बतीय आचार्य) चित्रपटसे ।



८८—पो-तो-मा (१९ वीं शताब्दी, तिब्बतीय सिद्ध) चित्रपटसे ।

निकायोंमें विशेष अभिप्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा हो चुकी थी (फयावत्यु २३।१); तो भी वह भैरवी-चक्रके रूपमें तबतक न प्रकट हो सकी थी, जतनक कि, वज्रयान न बन सका। इस पुराने मन्त्रयानकी पुस्तकोंमें “मंजुश्री-मूलकल्प” एक है। “मंजुश्रीमूलकल्प” वैपुल्य सूत्रोंमेंसे भी है। इसका मतलब यह हुआ कि, मन्त्रयान वैपुल्य-वाद या महायानसे ही विकसित हुआ है (वस्तुतः ऐलौकिक बुद्ध और अद्भुत-शक्ति-सम्पन्न धारणियोंसे बैसा होना सम्भव ही था)। “मंजुश्रीमूलकल्प”में यद्यपि हम नाना मन्त्र-तन्त्रोंका विधान देखते हैं, तथापि उसमें भैरवी-चक्रका अभाव है, और, वहाँ सदाचारके नियमोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। इस युगको यद्यपि हम गुरु-साम्राज्यकी स्थापनासे आरम्भकर हर्ष-वर्द्धनके शासनके साथ समाप्त करते हैं, तथापि इसके अङ्गुलि और विकसित होनेका स्थान उत्तर भारत न था। “मंजुश्रीमूलकल्प”के वैपुल्यवादी होनेकी बात हम कह चुके हैं। हम अपने दूसरे लेखमें * यह भी बतला चुके हैं कि, “मंजुश्रीमूलकल्प” उत्तर भारतमें न लिखा जाकर दक्षिण भारतमें, विशेषतः धान्यकटक या श्रीपर्वतमें लिखा गया है; उसमें इन दोनों स्थानोंकी, मन्त्र-सिद्धिके लिये, बहुत ही उपयोगी घतलाया गया है। इससे यह भी मालूम होता है कि, मन्त्रयानके जन्मका स्थान श्रीधान्यकटक और श्रीपर्वत है। तिस्रवीं प्रस्थोंमें तो स्पष्ट कहा गया है कि, बुद्धने बोधिके प्रथम वर्षमें, अष्टपितृत्वमें, श्रावक धर्म-चक्र प्रवर्तन किया; १३ वें

वर्ष राजगृहके गृध्रहृष्ट पर्वतपर महायान-धर्म-चक्र प्रवर्तन किया; और, १६ वें वर्षमें मन्त्रयानका तृतीय धर्म-चक्र प्रवर्तन श्रीधान्यकटकमें * किया। श्रीपर्वत * मन्त्र-शास्त्रके लिये बहुत ही प्रसिद्ध था। मालतीमाधवमें भवभूतिने श्रीपर्वतका जिक्र कई बार किया है—

(१) “दायि सोदामिनी समासादिथ अचचरिथ मन्त्रसिद्धिपदावा तिरिपग्गदे कावालिथ-व्वद धारेदि।” (अङ्क १)।

(२) “वावच्छ्रीपर्वतमुपनीय प्रतिपवं तिलश एना निरुप दुल्लमारिणो करोमि।” (अङ्क ८)।

(३) “श्रीपर्वतादिहावे सत्त्वममपतं तयैव सह सयः।” (अङ्क १०)।

वाण भी श्रीपर्वतके माहात्म्यसे खूब परिचित था; और, द्रविड-पुराणके साथ उसका सम्बन्ध जोड़नेसे उसका दक्षिणमें होना भी निश्चय होता है—

“श्रीपर्वताश्चार्यवातंसहस्राभिज्ञेन.....जरद्द्रविड-धार्मिकेन” + और “सकल-प्रणयि-सनोप-पिद्धिः श्रीपर्वतो हर्षः।” [हर्षचरित, १ उच्छवास]। इन उदाहरणोंसे अचड़ी तरह मालूम होता है कि, ढुठी-सातवीं शताब्दियोंमें श्रीपर्वत मन्त्र-तन्त्रके लिये प्रसिद्ध था। वस्तुतः मुसलमानोंके आनेके तक (बसिक हालतक) जैसे बंगाल जाइके लिये मशहूर था, वैसे ही उस समय श्रीपर्वत भी था। उसके मालतीमाधवके उद्धरणमें एक विशेष बात यह है कि, सोदामिनी एक बौद्ध-मिथुनी थी, जो प्रसावती (मालवा)से श्रीपर्वतपर मन्त्र-तन्त्र सीखने गयी थी।

* देखिये “महायानकी उत्पत्ति”।

Δ पृष्ठ ८८—“श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापयसंज्ञिके।

श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनघातुधरे भुवि ॥ तिथ्यन्ते तत्र मन्त्रा वे क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु ॥”

† “हुग-प-प-द्वर् पो” वा “छोग्-ब्युद्ध”, पृष्ठ १४ क-१४ क।

‡ नहर-बड (नागार्जुनी-कोटा, जि० गुडर)।

+ कादम्बरी (निर्गयसागर, समग्र संस्करण, पृ० ३६६)।

श्रीपर्वतके साथ यहाँ सिद्धोंके बारेमें कुछ कह देना जरूरी है। वस्तुतः श्रीपर्वत सिद्धोंका स्थान था; और, जहाँ कहीं भी संस्कृत-फाण्योंमें सिद्ध या सिद्धाचार्य-शब्द मिलता है, वहाँ प्रायः कविका अभिप्राय, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे, श्रीपर्वतके साथ रहता है। सिद्धों और उनकी भविष्यद्वाणियों (सिद्धादेशों)की हम संस्कृत-साहित्यमें भरमार पाते हैं। मृच्छकटिक (इंस्वी पाँचवीं शताब्दी) में भी—“धार्षिकनामा गोपालदारकाः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति” [अङ्क २] और “चन्द्रन् भोः स्मरिष्येति सिद्धादेशस्तथा यदि ” देखनेमें आता है। नागार्जुनको सिद्धनागार्जुन कहा जाता है। सम्भवतः नागार्जुनने ही श्रीपर्वतको अपना वास-स्थान बनाया। वज्रयानके साथ नागार्जुनको नहीं जोड़ा जा सकता, यद्यपि तिब्बती ग्रन्थकार इसके लिये नागार्जुनको ६०० वर्षकी लम्बी आयु देनेके लिये तैयार हैं; तथापि मालूम होता है कि, उनकी शिष्टांशमें मन्त्रोंकी कुछ बात थी, जिसकी प्रष्टि श्रीपर्वतके मन्त्र-तन्त्रका केन्द्र बननेसे कुछ होता है। नागार्जुनी-कोंटाकी खोदाईमें मिले लेखोंसे अब तो यह मालूम हो गया है कि, श्रीपर्वत श्रीशैल न होकर नागार्जुनी-कोंटाका “नहरवल-बहु” पहाड़ ही है। सम्भव है, वहाँसे हमें इस विषयकी कुछ और सामग्री मिले।

सातवीं शताब्दीमें मन्त्रयानका प्रथम रूप समाप्त होता है; और, उसके बाद, यह वज्रयानके घोर रूपको धारण करता है। १४वीं शताब्दीके सिद्धल-भाषाके ग्रन्थ “निकाय-संग्रह”में इसी वज्रयानकी वज्रपर्वतवासी-निकाय कहा है। मालूम होता है, श्रीपर्वत ही, वज्रयान-का केन्द्र होनेके कारण, वज्रपर्वत कहा जाने लगा। यद्यपि

वज्रयानके ग्रन्थोंमें वज्रपर्वत स्थान नहीं आता है; तथापि निकाय-संग्रहने जिन ग्रन्थोंको इस निकायका बताया है, वे वज्रयानके ही हैं। “निकायसंग्रहमें” * वज्रपर्वतवासियोंको निम्न ग्रन्थोंका कर्ता बताया गया है—

गुड़ विनय। मायाज्ञानतंत्र († Nanjio's 10-61, भोट, कन्नुर ८४१०)। समाजतंत्र (गुह्यसमाज-तंत्र कन्नुर ८३१२)। ‡ महासमयतत्त्व। तत्त्वसंग्रह (क० ८५१८)। भूत-चामर (भूतडाभरतन्त्र, क० ६३१८)। वज्रामृत (क० ८२१२)। चक्र-संवर (क० ८०११, ३)। द्वादशचक्र (कालचक्र, क० ७६१३, ४)। मेरुकाव्युदय (हेरुकाव्युदय, क० ८११२)। महामाया (क० ८२१३)। पद्मिनीचप। चतुर्विष्ट (चतुःपीठ-तंत्र, क० ८२१६, ८)। परामर्दे (महासहस्रप्रवर्दी, क० ६१११)। मरीच्युद्धव। सर्वबुद्ध (सर्वबुद्धसंयोग, क० ७६१६)। सर्वगुह्य (क्रोधराज सर्वमन्त्र-गुह्य-तन्त्र, क० ८२११)। समुच्चय (वज्रयान-समुच्चय, क० ८३१५)। मायागारीचक्रव (क० ६११६ ?)। हेरुग्वकल्प। त्रिसमयकल्प (त्रिसमयव्यूह-राजतन्त्र, क० ८८१४)। राजकल्प (? परमादिकल्पराज, क० ८६१६)। वज्रयानधारकल्प। मरीचिकल्प। गुह्यकल्प (गुह्यपरमार्ह-स्वकल्पराज क० ८३११)। शुद्धसमुच्चयकल्प (? सर्व-कल्पसमुच्चय, क० ७६१७)।

ये सभी ग्रन्थ वज्रयानके प्रासांगिक ग्रन्थ हैं; इसलिये वज्रपर्वतनिकाय और वज्रयान एक ही हैं। तिब्बतीय ग्रन्थोंमें लिखा है कि, वज्रयानका धर्म-न्याय-प्रवर्तन मुख्यने धीधान्यकटकमें किया था। इससे वज्रयानकी उत्पत्ति भी, चाग्न्ध देशमें हुई सिद्ध होती है। श्रीपर्वत और धातयकटक, दोनों ही वर्तमान गुंद्दूर जिलेमें हैं; इसलिये पीछे श्रीपर्वतके

* विशयमद् पृष्ठ ८, ६ (थीलोम सारथर द्वारा, १६२२ में, मुद्रित)।

† *Bunjio Nanjio* का चीनी विष्टिज्ञा सूचीपत्र।

‡ मर्षदके धातये वज्रयुद्धा देव्य द्वारा लिखित सूचीपत्र।

वज्रयानका केन्द्र बन जानेपर वज्रपर्वत कड़ा जाने लगा । मय, मन्त्र, इष्टयोग और स्त्री * — ये चार ही चीजें वज्रयानके मुख्य रूप हैं ।

चौथी बात (स्त्री) में तो उन्हींने जाति, कुल ही नहीं; बल्कि माता, बहनके सम्बन्धतककी व्यवहेलना करनेकी शिक्षा दी है । यह बुद्धकी मूल शिक्षासे दूर तो थी ही, महायानके लिये भी इसे श्वेदी हजम करना मुश्किल था । इसी लिये महायानसे साधारण मन्त्र-यानमें होकर वज्रयानतक पहुँचना पड़ा ।

साधारण मन्त्रयानसे कब यह उवाकामुखी फूट पड़ा,

इसके बारेमें हमें प्रायश्च प्रमाण तो मिल नहीं सकता; किन्तु ऐसी बातें हैं, जिनके बलपर हम उसका आरम्भ सातवीं शताब्दीके आसपास मान सकते हैं—

(१) सिंहलके "निकाय-संग्रह" में लिखा है—

राजा मत-बल-सेन (८४६-८६६ ई०) के समय वज्रपर्वत-निकायका एक भिक्षु सिंहलमें आया और वीराङ्गुर (विहार) में रहने लगा । उसके प्रभावमें आकर राजाने वाजिरिय (वज्रयान) मतको स्वीकार किया । इसीसे लंका में रत्न-कूट आदि [ग्रन्थों] का प्रचार आरम्भ हुआ । इसके बादके राजाने पद्यपि वज्रयानके सिद्धांत कुछ कड़ाई से

* गायकवाड-मोरियटल सीरीज, बहौदासे प्रकाशित "पुष्पमाजतन्त्र" में लिखा है—

"प्राणिनश्च त्वया घाल्या वक्तव्यं च मृषा वचः अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि ॥
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्त्वान् प्रचोदयेत् । एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशश्वतः ॥" [पृ० १२०]
"दुष्कृतैर्नियमैस्तोत्रैः सेव्यमानो न सिध्यति । सर्वकामोपमोगोस्तु सेवयैश्चाशु सिध्यति ।" [पृ० १३६]
"त्रिपमूनधुकरकानां जुगुप्सा नैव कारयेत् । भक्षयेत् विधिना नित्यं इदं गुह्यं त्रिवज्रजम् ॥" [पृ० १३६]
"नीलोत्पलदलाकारं रजकस्य महात्मनः । कन्यां तु साधयेत् नित्यं वज्रसत्त्व-प्रयोगतः ॥" [पृ० ६४]

वज्रयानके आदि आचार्यों में सिद्ध अन्नह्रवन्न भी हैं । यह ८४ सिद्धोंमेंसे एक है । इन्होंने अपने ग्रन्थ "प्रज्ञो-पायविजिञ्चय-सिद्धि" (गा० ओ० सी० बफोदा) में लिखा है—

"प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्ति-काङ्क्षिभिः ॥२२॥ ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यक्तस्थिता ॥२३॥ ...
वासणादिकुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवाम् ॥ २४ ॥ जनयित्रीं स्वसारं च त्वपुत्रीं भागिनेयिकाम् ।

कामयन् तत्तत्प्रयोगेन लघु सिध्येद्दि साधकः ॥२५॥" [पृ० २२-२५]

इनके शिष्य सिद्ध राजा इन्द्रभूतिने अपने ग्रन्थ "ज्ञानसिद्धि" में लिखा है—

"घातयेत् तिम्रोत्सर्गं परचित्तानि हारयेत् । कामयेत् परदारान्वै मृषायादमुदीरयेत् ॥ १४ ॥

कर्मणा येन वै सत्तयाः कट्यकोटिशतान्यपि । पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते ॥ १५ ॥"

मदनमदर विनिर्मुक्तो पेयापेयविनिर्जितः । गम्यागम्य-विनिर्मुक्तो भवेद् योगी सप्ताहितः ॥ १८ ॥

चाण्डालकुलसंभूतां बोम्बिकं वा विशेषतः । जुगुप्सितकुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८२ ॥ (१।)

युक्तं वैरोचनं ख्यातं परं वज्रोदकं तथा । सौन्दर्यं च यथा पद्मं वज्रपुंमेन्द्रियं तथा ॥" (२।४२)

"सिद्धममटिल्लानं दिस्वालोके पञ्चतनां गणहापेसि तथा रक्त्वं सागरन्ते समन्ततो ॥" [निकाय; सं० पृ० १७]

सरह आदिम सिद्ध हैं; और, आगे हम वक्तव्यों में कि, यह पाञ्चवंशीय राजा धर्मपाल (ई० ७६८-८०६) के समकालिक थे; इसलिये उनका समय, आठवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध, मानना चाहिये । प्रथम कहे कार्यों-से हम वज्रयानकी उत्पत्तिको, दूरी शताब्दीसे पूर्व और सरह आदिके कारण आठवीं शताब्दीसे बाद भी, नहीं मान सकते । सरह उस चौरासी सिद्धोंके आदि-पुरुष हैं, जिन्होंने लोक-भाषाकी अपनी अद्भुत कविताओं तथा विचित्र रहन-सहन और योग क्रियाओंसे वज्रयानको एक सावर्जन्यीन धर्म बना दिया । इससे पूर्व ब्रह्म, महायानकी भाँति, संस्कृतका आश्रय ले, गुप्त रीतिमें फैल रहा था । सरहसे पूर्वकी एक शताब्दीको हम साधारण मन्त्रयान और वज्रयानका सन्धि-काल मान सकते हैं । आठवीं

शताब्दीसे जोरोंका प्रचार होने लगा । सबसे मुमलमानोंके आनेतक यह बढ़ता ही गया । १२ वीं शताब्दीके अन्तमें भारतके तुर्कोंके हाथमें जानेके समयने घोर अवनति हुई और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियोंतक यह बिलुप्त तथा रूपान्तरित हो गया (बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारतमें कुछ देर और रहा) । रूपान्तरित इसलिये कि, ऊपरी वंश-वृक्षमें घापको चौरासी सिद्धोंमें गोरबनाथ, मोननाथ और चौरंगीनाथका नाम मिलेगा । यहाँ हमने इन्हें तिब्बती ग्रन्थके आचारपर दिया है । उधर नाथपंथके ग्रन्थोंमें भी चौरासी सिद्धोंके साथ सम्बन्ध होनेकी बात दिखायी पड़ती है । इसे समझनेमें और आसानी होगी, यदि आप चौरासी सिद्धोंकी निम्न सूचीपर ध्यान देंगे—

नाम	वार्ति	देश	समकालिक राजा या सिद्ध
१ लुहिषा	कापस्थ	(मगध)	राजा धर्मपाल (७६८-८०६ ई०)
२ लीलापा	"	"	सरह [६] से तीसरी पीढ़ी
३ विरुषा	"	" मगध (देवपालका देश)	राजा देवपाल [८०६-७६ ई०]
४ बोम्मिषा	चन्द्रिय	मगध	लुहिषा [१] का शिष्य
५ शम्भरीपा	"	"	[सरह (६) का शिष्य, लुहिषाका गुरु]
६ सरहपा	प्राज्ञ	[बालान्दा]	धर्मपाल (७६६-८०९ ई०)
७ कंकाळीपा *	शुद्ध	मगध	
८ मोनपा	मधुषा	कामरूप	{ कालभारपाद(४६)का शिष्य, गोरषपाके गुरु मल्लेन्द्रका पिता, देवपाल (८०६-७६ ई०) गोरषपा (६) का गुरुमाई
९ गोरषपा	
१० चौरंगिषा	"		
११ बीगाषा	राजकुमार	गौड (विहार)	दण्डपा (१६)का शिष्य, भद्रपाका शिष्य
१२ शान्तिषा	मातृज	मगध	महीपाल ६७४-१०२६, जालंधर(४६)का शिष्य
१३ तन्त्रिषा	"	"	" "
१४ धर्मिषा	धर्मकार	विष्णुनगर (पूर्व देश)	" "
१५ गण्डपा	शुद्ध	मगध	चण्डी (१६) का शिष्य

सरह आदिम सिद्ध हैं; और, आगे हम बतनायेंगे कि, यह पाञ्चवंशीय राजा धर्मपाल (ई० ७६८-८०६) के समसामयिक थे; इसलिये उनका समय, आठवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध, मानना चाहिये । प्रथम बड़े कारणों-से हम वज्रयानकी उत्पत्तिकी, छठी शताब्दीसे पूर्व और सरह आदिके कारण आठवीं शताब्दीसे बाद भी, नहीं मान सकते । सरह उन चौरासी सिद्धोंके आदि-पुरुष हैं, जिन्होंने लोक-भाषाकी अपनी अद्भुत कविताओं तथा विचित्र रहन-सहन और योग क्रियाओंसे वज्रयानको एक सार्वजनीन धर्म बना दिया । इससे पूर्व यह, महायानकी भाँति, संस्कृतका आश्रय ले, गुप्त रीतिसे फैल रहा था । सरहसे पूर्वकी एक शताब्दीकी हम साधारण मन्त्रयान और वज्रयानका सन्धि-काल मान सकते हैं । आठवीं

शताब्दीसे जोरोंका प्रचार होने लगा । तबसे मुसलमानोंके आनेतक यह बढ़ता ही गया । १२ वीं शताब्दीके अन्तमें भारतके तुर्कोंके हाथमें जानेके समयसे घोर अवनति हुई और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियोंतक यह विलुप्त तथा रूपान्तरित हो गया (बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारतमें कुछ देर और रहा) । रूपान्तरित इसलिये कि, ऊपरी वंश-वृक्षमें आपको चौरासी सिद्धोंमें गोरचनाय, मीननाय और चौरंगीनायका नाम मिलेगा । यहाँ हमने इन्हें तिब्बती ग्रन्थके आधारपर दिया है । उधर नापपंथके ग्रन्थोंमें भी चौरासी सिद्धोंके साथ सम्मिश्र होनेकी बात लिखायी पवती है । इसे समझनेमें और आसानी होगी, यदि आप चौरासी सिद्धोंकी निम्न सूचीपर ध्यान देंगे—

नाम	वांति	देश	समकालिक राजा या सिद्ध
१ लुहिया	कायस्थ	(मगध)	राजा धर्मपाल (७६६-८०६ ई०)
२ जीतापा	"	"	सरह [६] से तीसरी पीढ़ी
३ विरूपा	"	" मगध (देवपालका देश)	राजा देवपाल [८०६-८६ ई०]
४ डोमिया	चण्डिय	मगध	लुहिया [१] का शिष्य
५ शयरीपा	"	"	[सरह (६) का शिष्य, लुहियाका गुरु]
६ सरहपा	ब्राह्मण	[बाजन्दा]	धर्मपाल (७६६-८०९ ई०)
७ फांकाजीपा	शूद्र	मगध	
८ मीनदा	मनुष्य	कामरूप	{ बाजन्धरपाद(४६)का शिष्य, गोरचनाके गुरु मत्स्येन्द्रका पिता, देवपाल (८०६-८६ ई०)
९ गोरचना	
१० चौरंगिपा	"		गोरचना (६) का गुरुमाई
११ शीगापा	राजकुमार	गोड (विहार)	दयहपा (१६)का शिष्य, भद्रपाका शिष्य
१२ शान्तिपा	ब्राह्मण	मगध	महीपाल ६७४-१०२६, बाजन्धर(४६)का शिष्य
१३ सन्तिपा	"	"	" "
१४ चमरिपा	चमंडार	विष्णुनगर (पूर्व देश)	" "
१५ राटपा	शूद्र	मगध	चरंटी (२६) का शिष्य

नाम	पाति	देश	समकालिक गंगा या सिद्ध
१६ नागाजुन	माझण	पाप्पी	सरह (६) का शिष्य
१७ कणहपा	"	कर्णाटक	देवपाळ (८०३—४६ ई०)
१८ कर्णारिपा (आर्यदेव)		नालन्दा	नागाजुन [१६]का शिष्य
१९ धगनपा	शुद्ध	पूर्व भारत	आग्निपा [१२] का गुरु
२० नारोपा *	माझण	मगध	{ [महीपाल ६७४— १०२६ ई०]
२१ शलिपा '।[शीलपा] शुद्ध		"	
२२ तिलोपा	माझण	भगुनगर	नारोपा (२०) का गुरु
२३ छद्रपा	शुद्ध	"	
२४ भद्रपा	माझण	मथिघर ‡	सरहपा (६)मे तीसरी पीढ़ी
२५ दोर्दधि [द्विरदि]पा "		"	"
२६ धनोमिपा	गृहपति	सालिपुत्र	{ धनपूतिपा (११) वो शताब्दी)की तीसरी पीढ़ी
२७ कालपा	"	राजपुर	
२८ घोस्मिपा	घोसी	सालिपुत्र	
२९ फंकणपा	राजकुमार	विष्णुनगर	
३० कमरि[कंपल]रा राजकुमार		उड़ीसा	पंडापा [५२]का शिष्य
३१ हेंगिपा	माझण	उड़ीसा	सूदिपा [१]का शिष्य
३२ भदेपा	"	आवस्ती	कणहपा [१७]का शिष्य
३३ लवे (तंते)पा × शुद्ध		कौशाम्बी	
३४ कुडुरिपा	माझण	कपिल(परत) देश	मीनपा ८]का गुरु
३५ कुचि+ [कुसुलि]पा शुद्ध		"	"
३६ धर्मपा	माझण	विक्रम [शिला] देश	कणहपा[१७] और जालन्धरपाका शिष्य
३७ महीपा [महिलपा] शुद्ध		मगध	कणहपा [१७]का शिष्य
३८ अचिचिपा	लकड़हारा	धनिरूप (?)	
३९ भलह (भव)पा	चत्रिय	प०००२ [देश]	
४० नजिसपा	चत्रिय	सालिपुत्र	
४१ भूसुकुपा	राजकुमार	नालन्दा	देवपाल (८०६-४६ ई०)
४२ इन्द्रभूति	राजा	लङ्कापुर	अनंगवज्र (८१) और कंबलपा(१०)का शिष्य

* देहान्त १०३६ ई० । '। सम्भवतः मृगालीपाद भी यही है । ‡ सम्भवतः बघेलखण्डका मेहर ।

× सम्भवतः टटन (चर्मांगीति) ।

+ सम्भवतः गुजरीपा [चर्मांगीति] ।

नाम	जाति	देश	समकालिक राजा या सिद्ध
४३ मेकोरा	नटिक्	० मंगलदेश	...
४४ गुमजि (गुमजि)वा		हामेरवा	हामिवा [१२] का सिद्ध
४५ बमौर (बमौर)वा ओडा		साजिपुर	भारपुतिवा सिद्ध
४६ साजिपुरावा ' साजिपुर		मगा भो...	भगा (१०) और मगवेष्टक गुद
४७ राठुवा	"	कामरूप	सह (९) ने गीमरी पाड़ी
४८ चरि [चरि] वा "	"	"	चिरुवा [३] ने चौबी कीड़ी
४९ चोकरिवा	युद्ध	साजिपुर	
५० मेरुवा	"	साजिपुर	भीजावा [२] की चौपा कीड़ी
५१ चंकरवा	साजिपुर	"	मगाभुन (१९) का सिद्ध
५२ चंकावा (चंकावा)वा चरि		चोकर X	देवरात्र [२०१-४१ ई०]
५३ कोशीरा [कोशीरा] बोग		[बहमपुरी]	मगीरा [२] का सिद्ध
५४ चोकरवा	युद्ध	भंगलपुर	भारपुति [भीम]वाका सिद्ध
५५ गुदरिवा [गोदर]वा बिरोमर +		विशुनगर	भीजावा [२] का सिद्ध
५६ सुपिकवा	साजिपुर	भंगलपुर	
५७ चिपुनवा	युद्ध	चुप देश	
५८ जयान्त	साजिपुर	भंगलपुर	
५९ चरि [चरि]वा बहा	□	चमरा	भीनवा [८] का गुद
६० चमरा		चमरा
६१ भिगमवा	युद्ध	साजिपुर	
६२ अजिवा	< इच्छावाचिक	सलपुरी	
६३ बुमरिवा	"	कोमन श्रीदेश [?]	
६४ चरि [चरि-चमराजि]वा "		मगा	कचहवा [१७] की तीमरी कीड़ी
६५ मलिमगा [मोमनी] गुरदाभी		भगचेनगर	चुतुरिवाकी सिद्धा
६६ मेरुलावा [योगिनी] गुरदाविष्म्या		"	कचहवा [१७] की सिद्धा
६७ कचहवावा [योगिनी]	कचहवा [१७] की सिद्धा
६८ कचहवा	युद्ध	भिरलीनगर [?]	
६९ चंकाजी [चयाली]वा दर्भ		मणिपर (मेहर)	कचहवा [१७] का सिद्ध

० वर्तमान भागलपुर जिला ।

' जालपाक

० सम्भवतः हालीवा भी कहते हैं ।

X चतुर्शीतिभिन्नवृत्ति (दत्त ८६१) में नालन्दा लिखा है । + ब्य-य (मोठियामें) ।

□ चर-य चोद-य = बहोली बेचनेवाला, भार बेचनेवाला । < मर-नग चोद-पा ।

नाम	जाति	देश	समकालिक राजा या सिद्ध
७० धहुलि * (धहुरि)पा	शूद्र	धेकरदेश [?]	
७१ उधलि (उधरि)पा	वैश्य	देवीकोट	कपौरपा [१८] का शिष्य
७२ कपाल [कमल]पा	शूद्र	राजपुरी	
७३ किजपा	राजकुमार	प्रहर [शहर]	
७४ सागरपा	राजा	काँवा	
७५ सर्वभक्षपा	शूद्र	भमर [शहर]	शबरी (२) [घोटे सरह] और भूसुक्क [४१] का शिष्य
७६ नागवोधिपा	ब्राह्मण	पश्चिम भारत	नागार्जुन [१६] का शिष्य
७७ दारिकपा	११वा	उड़ीसा	लूहिपा (१) का शिष्य
७८ पुतुलिपा	शूद्र	भंगलदेश	
७९ पगह (उपानह)पा	चमार	स...नगर	
८० फोकालिपा	राजकुमार	चम्पारन	
८१ शर्मगपा	शूद्र	गौड़	डोगिमपा [४] तीसरी पीढ़ी
८२ लक्ष्मीकरा [योगिनी] राजकुमारी		सम्भलनगर	राजा इन्द्रभूतिकी बहन
८३ समुदपा		सर्वह्रिदेश	
८४ भलि [ग्यालि]पा	ब्राह्मण	छपत्रदेश [?]	

चौरासी सिद्धोंकी गणनामें यद्यपि पड़ता नम्यर लूहिपाका है; तथापि यह चौरासी सिद्धोंका आदिम पुराण नहीं था, यह ऊपर दिये वंश वृक्षसे मालूम होगा। यद्यपि इस वंश-वृक्षमें सिर्फ १० से कुछ अधिक सिद्ध आये हैं; तथापि छूटे हुएमें सरहके वंशसे पृथक्का कोई नहीं मालूम होता; इसलिये सरह ही चौरासी सिद्धोंका प्रथम पुरुष है। चौरासी सिद्धोंमें सरह, शबरी, लूहि, दारिक, वज्रचण्डा (या चण्डा) पा, जालधर, कणहपा और शान्तिपाका खास स्थान है। वज्रयानके इतने भारी प्रचार और प्रभावका श्रेय यथिकोशमें इन्हींको है। डाक्टर विनयतोप भट्टाचार्यने^१ सरहका समय ६३३ ई० निश्चित किया है। भोटिया-गर्गोंसे माझूम होता है कि, [१] शुद्धज्ञान

जो सरहके सहपाठी और शिष्य थे, दर्शनमें हरिभद्रके भी शिष्य थे। हरिभद्र शान्तरक्षितके शिष्य थे, जिनका देहान्त ७२० ई०के करीब तिब्बतमें हुआ था। [२] वहाँसे यह भी मालूम होता है कि, शुद्धज्ञान और हरिभद्र महाराज धर्मपाल + [७६६-८०६] के समकालीन × थे। [३] सरहके शिष्य शबरीपा लूहिपाके गुरु थे। यह लूहिपा महाराज धर्मपालके ~ कायस्थ [~ क्षेत्रक] थे। इस प्रकार हम सरहको, शान्तरक्षितके पहले तो क्या, समकालीन भी नहीं मान सकते।

शान्तरक्षितका जन्म ६२० के करीब, विक्रमशिलाके पास, सहोर-राजवंशमें हुआ था। फलतः हम सरहपाको महाराज धर्मपाल [७६६-८०६] वा समकालीन मान लें,

* सम्भवतः दवजोपा (चर्यागीति)। १. विहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीका जर्नल, खण्ड १४, भाग ३, पृष्ठ ३४६।

२. स-रक्ष्य ८६-८८ पृष्ठ, पृष्ठ २१२ ख—२१७ क।

+ मध्यापक दिनेशचन्द्र महाचार्यके मतानुसार ७४४-८०० ई।

× स-रक्ष्य ८६-८८ पृष्ठ, पृष्ठ २१२ ख।

~ स-रक्ष्य-८६-८८ पृष्ठ, पृष्ठ २४३ क।

तो सभी यातें ठीक हो जाती हैं। इस प्रकार चौरासी सिद्धोंका आरम्भ हम छाठवीं शताब्दीके सम्पत्ते मान सकते हैं। अन्तिम सिद्ध काजपाद [२७], नाम्न होता है, चेलुकपा [५४] के शिष्य थे। एक छोटे काजपाद भी हुए हैं। यदि यह यह नहीं है, तो इन्हींको चौरासी सिद्धोंमें जिया जा सकता है। चेलुकपा अवधूतिपा

या मीथीपाके शिष्य थे। यह यही मीथीपा हैं, जो दीपंकर श्रीज्ञानके विद्यागुरु थे और ग्यारहवीं शताब्दीके आरम्भमें वर्तमान थे। इस प्रकार अन्तिम सिद्धका समय ग्यारहवीं शताब्दीके अन्तसे पूर्व होगा। अतएव चौरासी सिद्धोंका युग ७२०—११०२ ई० मानना ठीक जान पड़ता है। इसी समय सिद्धोंकी चौरासी संख्या पूरी हो गयी थी।

* यज्ञयानकी ऐतिहासिक खोज भाटिया-(तिब्बती) साहित्यकी सहायताके बिना बिलकुल भ्रष्ट रहेगी, किन्तु, भाटिया-साहित्यका उपयोग करनेमें कुछ बातोंका ध्यान रखना जरूरी है; नहीं तो, भारी गलती होनेका डर है। पहली बात तो यह है कि, इस प्रकारकी सामग्रीमें पञ्चमवसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ बहुत ही भ्रमपूर्ण हैं। भोटके निगु-मा-पा सम्प्रदायने भोटमें एक भौतिक बुद्ध खड़ा करनेके खयालसे, इस भद्र उक्तर्मा पुरुषकी सृष्टि की। ज्यादा-से-ज्यादा इसकी ऐतिहासिकताके बारेमें इतना ही कह सकते हैं कि, शान्तास्तिदकी मण्डलीके भिक्षुओंमें पञ्चमव नामका एक साधारण भिक्षु भी था। जैसे महायानने पाली-सुल्लोके मूल्य प्रसिद्ध सुमुत्तिको सारी प्रज्ञापापरिमाणोंका उपदेश बनाकर सावित्र और मौद्ध-लयायनसे भी अधिक महत्त्वशाली बना डाला, वैसे ही निगु-मा-पा ने पञ्चमवके लिये किया। दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि, भोटमें भारतीय बौद्धधर्मके इतिहासकी सामग्री दो प्रकारकी है। एक तो उप समयकी, जब कि, भारतमें बौद्धधर्म जीवित था और उस समय भारतीय विद्वान् तिब्बतमें धर्म-प्रचारार्थ तथा तिब्बतीय विद्यार्थी भारतमें अध्ययनार्थ आया जाया करते थे। दूसरी वह, जब कि, भारतसे बौद्धधर्म नष्ट हो चुका था और तिब्बतीय ग्रन्थकार नेपाल या भारतमें आकर, अथवा भोटमें यहाँके आदिमियोंको पाकर, सुन-सुनाकर लिखते गये। इन दो प्रकारकी सामग्रियोंमें प्रथम प्रकारकी सामग्री ही अधिक प्रामाणिक है। इस सामग्रीके संग्रह करनेके समयको तोन हिस्सोंमें बाँटा जा सकता है—

[१] सप्त टि-स्तोन्-द्वे-ञ्चनसे सप्पाट् रत्न-पा चन् तक [७१६—६०० ई०]।

[२] भनिरा और उसके प्रनुयामियोंका समय (१०४२—१११७ ई०)।

[३] स-स्वय-विहाराकी प्रधानता और बु-स्तोन्-द्वे समय (११४१—१२६४) ई०।

बु-स्तोन्-द्वे बाद भारतसे बौद्धधर्म नष्ट हो जानेके कारण, फिर भोटकी सजीव बौद्ध भारतसे सम्बन्ध जोड़नेका अवसर नहीं मिला। प्रथम कालमें ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम मिलती है, जो मिलती भी है, उसे निगु-मा-पा [=प्राचीनपथी] सम्प्रदायने इतना गड़बड़ कर दिया है कि, उसका उपयोग बहुत ही सावधानीसे करना पड़ेगा। दूसरे कालमें ओम्-तोन् आदि रचित दीपककी जीवनी एवं कई और ऐतिहासिक ग्रन्थ बड़े कामके हैं। तृतीय कालकी सामग्री बहुत ही प्रामाणिक तथा प्रचुर प्रमाणमें मिलती है। इसके मुख्य ग्रन्थ हैं स-स्वय-विहारे पाँच प्रधान महन्थ-नाजामोंकी कृतियाँ [स-स्वय-स्त्र-पुन्र प्रमाणमें मिलती है। इसके मुख्य ग्रन्थ हैं स-स्वय-विहारे पाँच प्रधान महन्थ-नाजामोंकी कृतियाँ [स-स्वय-स्त्र-पुन्र] और बु-स्तोन् [१२६०—१३८४ ई०] तथा उनके शिष्योंकी ग्रन्थमाला [बु-स्तोन्-द्वे-सम्-पुन्र-पुन्र]। लुक्-पा-पद्मा-पुन्र [जन्म १६२६ ई०], लामा तारनाथ [जन्म १६७४ ई०] तथा वैसे ही दूसरे कितने ही लेखकोंकी कृतियाँ कुछ तो भोटकी पुरानी सामग्रीपर अवलम्बित हैं और कुछ खुनी-मुनाई बातोंपर। इसलिये इनका उपयोग करते वक बहुत सावधानीकी आवश्यकता है।

उक्त समयमें ही चौरासी संख्या पूरी हो जानेका एक और प्रमाण मिलता है । बारहवीं शताब्दीके अन्तमें मित्रयोगा या जगन्मित्रानन्द एक बड़े सिद्ध हो गये हैं । इनकी २० के करीब पुस्तकें भोटिया-भाषामें अन्वित हुई हैं, जिनमें "पद्मस्तमाला" तथा "योगी स्वचित्त ग्रन्थकोपदेश" हिन्दी-कविताएँ मालूम होती हैं । इन्हींके ग्रन्थोंमें "चन्द्रराज-लेख" भी है । इनके दुभा-पियोंमें थे ग्मुच्-निवासी छल-खिम्स् और खो-फु-निवासी ब्यम्स्-पई-पल् । खो-फु-न्यस्त-पई-पलकी प्रार्थनापर यह ११६७ ई० में नेपालसे तिब्बत गये और वहाँ अठारह मास रहे । यह खो-फु लोचम [= दुभापिया] । वही है, जो विक्रमशिला-विहारेके सहस्रमन्द-विभू-मल्लि-यार द्वारा नष्ट किये जानेपर वहाँके पीठ-स्थविर शापयश्रीभद्रको ११६६ में भोट ले गया । यहाँ हमारा मतलब मित्रयोगीसे है । तिब्बतमें तो यह प्रसिद्ध ही थे । इनके "चन्द्रराज-लेख" से मालूम होता है कि, यह किसी राजाके लिये लिखा गया है; और, यह भी अनुमान हो रहा था कि, यह बारहवीं शताब्दीके अन्तमें युक्तमान्त या विहारका कोई राजा रहा होगा । यह अनुमानकी जरूरत भी नहीं है । इसी समयके दोष-गयाके एक शिलालेखमें * इगका और गदहवार राजा

जयचन्द्रका जिक्र इन शब्दोंमें आया है—“अस्ति त्रिकोकी सुकृतप्रसूतः संश्रातुमामग्निप्रसवभूतः । सम्मुद्रसिद्धा-न्वयधुर्द्वभूतः श्रीमित्रनामा परमावधूतः ॥४॥ हिलाः हिलामशेषाः क्रुधमधिकरपस्त्रस्नवलासमाशु व्याधूयोदस्व-हस्तप्रणयपरतया विरगविश्वासभूमे । चेतः समीपमाणा मधुरतरदशा रत्नेपपीयूषपातैस्तितर्यन्चः सुचयन्ति स्युतमलपरलं यस्य मैत्रीपु चित्तम् । [५] उदितसकल-भूमिमण्डलैश्वर्यसिद्धिः स्वयमपि किमपीच्छन्तच्छर्पस्य शिल्पः । अभवदभयभाजः श्रद्धया बन्धुरात्मा वृष-तकृतसेवः श्रीनयचन्द्रदेवः ॥ [१०] श्रीमन्महाभोधि-पदस्थशास्त्रप्रामादिकं मन्मशेषमेव । काशीश-दीपा-गुरुद्वार यः शासनं शासनकर्णधारः ॥ (१२) सत्राणि तिस्रं शां चासामद्रणेषु निरङ्गयः । सोऽयं श्रीमज्जगन्मित्रः शारवतीकृत्य कृतस्त्वित् ॥ (१४) चेदनयनेन्दु-निष्ठया संख्ययाङ्कपरिपाटि-लक्षिते । विक्रमाङ्कनरनायवसरं ज्येष्ठ-मासि युगपद् व्यदीपयत ॥” (१५)

इसमें मित्र और जगन्मित्र, दोनों ही नाम आये हैं । काशीश्वर जयचन्द्रदेवका उन्हें दीपा-गुरु कहा है और साथ ही बुद्धधर्म [शासन] का कर्णधार भी । मित्रोंके सारे गुण इनमें थे, तो भी इनका नाम चौरासी सिद्धोंमें न आना चतुर्लता है कि, इनके पहले ही ८४की संख्या पूरी हो चुकी थी । ±

* देखिये इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता, मार्च १९२६, पृष्ठ १४-१० ।

± [१] बौद्धधर्ममें अन्तारुद्धा विचार-विश्वास । [२] बौद्धधर्मके भारतसे लोपका कारण । [३] भारतमें, भ्राम तीरसे, विहारमें विशेष तीरसे तथा गया जिलेमें बहुत ही प्रथिस्तासे जो बौद्ध-मूर्तियाँ मिलती हैं, उनका परिचय तथा बौद्धमूर्ति-विषया । [४] नाथयन्त्र, गरीर, नानक आदि संतमनोंके विचारके स्रोतका मूल । [५] कौलधर्म, वाममार्ग, शैवी-धर्म आदिके विहातका इतिहास । [६] भारतमें दृष्ट्योग, स्वरोदय, शाटक [*Hypnotism*], भूतावेश [*Spiritualism*] का प्रम-विधान । [७] १२ वीं शताब्दीमें भारतीयोंकी रात्रनीतिक पराजयका कारण । [८] पातञ्जल इतिहास और विज्ञेयकर, गदहवार आदि कितने ही राजवर्तिका इतिहास आंशिक तीरसे । [९] हिन्दी-भाषाके प्रादि कवि और रन्धी कविता ।

—यह और लिखने की और भी विषय हैं, जिनके लिये प्रसवानके इतिहासका अध्ययन बहुत ही गरह्यपूर्ण है ।

मागधी हिन्दीका विकास

त्रिविधभाषा संज्ञा साहित्यशास्त्र

भाषा भाषाका शरीर है। जिस समय एक ही देशमें ओक भाषाओंका राज्य स्थापित नहीं था, लोग अपनी अपनी एक भाषामें अपने हृदयके साधारण या कोमल भावों (काव्य)को प्रकट किया करते थे। नार महेश्वर एवं पूर्णके हमारे कितने ही पूर्वजोंके भाषा हमें उन्हींकी भाषामें, वेदके रूपमें, दियायी पड़ते हैं। 'छान्दस' या वेदकी भाषा उनका भाषा थी। नदीके प्रवाहकी तरह भाषाका प्रवाह गतिशील है। जितनी ही भाषा बदलती गयी, उतनी ही हमारे परवर्ती पूर्वजोंकी, अपने पूर्वजोंकी भाषा और एतियोंमें अधिक लोकोत्तर श्रद्धा पड़ती गयी (और आज भी वह अपने विराट् आकाशमें हमारे संस्कृत-प्रेमके रूपमें मौजूद है)। समय यातनेके साथ यह इस क्रियामें पड़े कि, फैसे हम उसकी सुरक्षित और सजोय रखें। इसके लिये उन्होंने (वेद)-मन्त्रोंको जहाँ संहिता, पर, जटा, घन आदि नाना क्रमसे, उच्चारण और कण्ठस्थ करके, सुरक्षित किया, वहाँ उस भाषाकी भीतरी यनावटके लिये अपनी-अपनी शाखाके 'प्रातिशाप्य' (व्याकरण) बनाये। जय धोल-बालकी भाषामें बहुत अन्तर हो चुका था, तब ईसा पूर्व छठी शताब्दीमें, गौतम बुद्ध उत्पन्न हुए। कोई 'भाषा' पर विशेष दया करके नहीं—यहिक वही प्रचलित और उपयुक्त होनेसे उन्होंने लोक-भाषामें लोगोंको धर्मोपदेश किया। हाँ, जय मगध, कोसल, कुुरु, अजन्ता, गन्धारके शिष्य, बुद्धके दिये उपदेशों (सूक्तों=सुक्तों) का अपनी अपनी भाषा (=निरुक्ति)-

में पाठ करने लगे, तो कुछ शिष्योंको सूक्तोंकी भाषा-का फोल्डबल गठनने लगा और उन्होंने वादा कि, उसे हजार वर्षोंको पुरानी भाषामें करके सुरक्षित कर दिया जाय, तब बुद्धने उसे मना ही नहीं किया; यन्कि इसे हल्के दण्डसे दण्डनीय एक अपराध करार दिया। जिस प्रकार नित्य बदलता मित्रा और तोलमान आदमीको पटवता तथा ध्ययद्वारमें परेशानीका कारण होता है, वैसे ही बुद्धके निर्माणकी तीन-चार शताब्दियों बाद, यह भाषा दिनकी बदल-बदल धर्मधर्मोंको धरुचिकर मालूम होने लगी। तब उनमेंसे कुछने तो लकारका फकीर धन, पुरानी भाषा-को (जिसे वह समझते थे कि, वह उसी रूपमें बुद्धके मुखसे निकली थी) ही अपनाये रखा और आगेसे अपनी शक्तिर फोर-बदल न होने देनेके लिये गण्डकके जैसा बाँध बाँधा। दूसरोंने उसे मृत—किन्तु अधिक स्थायी संस्कृतमें—कर दिया। तथापि इस भाषामें पढ़ी भाषाकी कितनी ही बातें रख छोड़ी। तीसरे, कुछ लोग और कितनी ही शताब्दियातक धन्य पाकर, कुछ और फोर-बदल हो जानेपर परवर्ती किसी भाषामें उसे सुरक्षित करनेपर मजबूर हुए। पहले वाले धर्मधर सिंहलके स्थिर-वादी हैं, जो मागधीकी सबसे बड़ी विशेषताओ—“स” की जगह “श”, “न”की जगह “ज” और “र”की जगह “ल” को सहस्राब्दियों पहले छोड़ चुके हैं, तो भी कहते हैं, ‘हमारे धर्म ग्रन्थ मूल मागधी भाषामें हैं।’ हाँ, यदि उच्चारणकी विशेषताको कोई गण्य समझे, तो उनका कथन बहुत

कुछ सच निकलेगा । सर्वास्तिवाद, महासांघिक आदिने अपने धर्मग्रन्थ संस्कृतमें कर दिये तथा महीशासक आदि कुछ निकायोंने प्राकृतमें ।

शताब्दियोंसे ब्राह्मण, कोसीकी भाँति, मर्यादा तोड़ भागनेवाली संस्कृतको, व्याकरणके नियमोंसे बाँध-बाँधकर स्थायी करते रहे; परन्तु उन्हें पूरी सफलता न मिली । अन्तमें जनपदोंकी सीमाएँ तोड़ कर साम्राज्य स्थापित करनेवाले युगके प्रतापी शासक नन्दोंके कालमें पाणिनि * वह बाँध-बाँधनेमें सफल हुए, जिसे तोड़नेकी शक्ति संस्कृतमें नहीं रही । तो भी इस बाँधसे संस्कृतके प्रचारमें अधिक फल तबतक नहीं हुआ, जबतक कि, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यमें शुंगोंके गुरु गोन्दरीय † पतञ्जलि अपनी कलम, ज्ञान और ज्ञानको शुंगोंके + प्रभुत्वके साथ मिलाकर इसकी वकालतमें न खड़े हो गये । शुंगोंके बाद गति कभी कुछ मन्द और कभी कुछ तेज होती रही; किन्तु शुंगोंके समयसे पाणिनिकी संस्कृतको वह स्थान प्राप्त हो गया, जो उसे कभी न मिला था (वह ज्ञान, ईसाकी बारहवीं शताब्दीतक वैसे ही रहकर, आज भी हमारे सामने कुछ कम विशाल रूपमें नहीं दिखायी पड़ता है) ।

यद्यपि शुंगकालमें संस्कृतके प्रवल पक्षपाती उठे और उन्होंने तथा उनके पक्षीय लोगोंने संस्कृतके पक्षमें ऐसा वायुमण्डल तैयार कर दिया कि, कीर्त्ति, मान तथा शिक्षित जनतातक पहुँचनेकी

इच्छा रखनेवाले विद्वान् साहित्यमें संस्कृतको ही व्यवहृत करनेपर मजबूर हो गये; तथापि बोलचालकी भाषाओंमें— चुपचाप अपने अधिकारको अपहृत नहीं होने दिया । किन्तु जहाँ संस्कृतने एक स्थायी—अचल रूप—पा लिया था, वहाँ यह बेचारी प्राकृत जवतक लेड़-भिड़कर अपने लिये कुछ स्थान बनाती थीं, तबतक वह स्वयं मृत्युका घास हो, मृतभाषा बन, अपने सबसे प्रवल शत्रु—बोल-चालकी भाषा होनेको—खो बैठती । उन्हें इस जद्दो-जिहदका पुरस्कार यही मिलता था कि, कभी कभी, लोग उनमें भी कुछ लिख दिया करते थे— ।

पाणिनिके समयमें संस्कृत स्वाभाविक रूपसे बोल-चालकी भाषा न थी; तो भी उस समयकी बोल-चालकी भाषा, उससे इतना समीप थी कि, कुछ दर्जन नियमोंके साथ उसे पाणिनीय संस्कृतमें बदला जा सकता था । पाणिनिके “भाषा” शब्दसे मतलब है इसी उच्चारणादि अन्य परिवर्तनसे बनी कृत्रिम या “संस्कृत” भाषासे । उदीची (पंजाब), प्राची (युक्तप्रान्त, विहार) तथा व्यास-नदीके उत्तर-दक्षिण किनारोंतकके रूप और स्वरतकके भेदोंको दिखलानेसे लोग सिर्फ यही नहीं कह उठते हैं—“महतीयं सूक्ष्मेक्षिका चार्यस्य” (काशिका ४। २।७४) ; बल्कि साथ ही यह भी कहते हैं कि, पाणिनिके समय वह (पाणिनीय) संस्कृत बोली जाती थी; और, इसी लिये वह उनके कालको,

* मनुषीमूलरूपने भी पाणिनिसे नन्दके समयमें माना है । देखिये ६३ पृष्ठ, पृष्ठ ६१२—“ नन्वोऽपि नृपतिः । भीमान् पूर्वेर्ध्मावतायाः । विगगयामाग मन्तीषां नगरे पाटलाडये ॥... मन्मा पाणिनिर्नाम मासव ॥”

† मा. त्र. ३, विशिशाऔर वेनेके बीच, गोपालके पागमें गोन्दर बोड़े स्थान था ।

+ पञ्चनरुड शुंगोंके समय मन्त्रमण्डलाश्रम विनष्ट हैं । — शुक्रस्मृति पृष्ठ ४५५, राजकी भाषागतज्ञानी भाषि इनके उदाहरण हैं ।

मन्दिरों, मठों में न रखा, बहुत पूर्ण मौनता चाहते हैं। पाणिनिने, अपने व्याकरणके लिये, दो स्रोतोंमें सम्मिलित किया। एक तो, मन्त्र, ब्राह्मण आदि छान्दस्य शास्त्रों, दूसरे कन्य, सिन्धु-संस्कृत, यमगुप्त, अश्विनादय आदिके पुराणों सेकर ये ग्रन्थ आदि। इनमें भी सिन्धु-संस्कृत आदि ग्रन्थ संस्कृतमें थे या प्राकृतमें, इसमें मन्दिर ही सम्मिलित चाहिये। दूसरा स्रोत था, उदीची और प्राचीकी उस समयकी पोट चालकी भाषा पर “भाषा” का। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि, उन्होंने अपने समयतकके इस विषयमें हुए प्रयोगों (आविष्कार, शक्यतायन आदिके व्याकरणों) में भी कायदा उठाया।

पाणिनीय संस्कृतका प्रादुर्भाव यद्यपि ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें हुआ, तथापि पतञ्जलिके समय अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यतक उसका बहुत काम प्रचार रहा। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीमें ईसाकी तीसरी शताब्दीतक यह प्रमत्तः अपने क्षेत्र और प्रभावकी दृष्टि से गयी, और, चौथी शताब्दीसे उसका प्रचलन राज्य स्थापित हुआ। प्राकृत और अपभ्रंशके समयतक—जबतक कि, संस्कृत और भाषाके क्रियापद और प्रत्यय भी बहुत थोड़े ही फर्कसे संस्कृत किये जा सकने थे, संस्कृत-भाषामें, बहुत ही प्राञ्जल, सरसतासम्पन्ना, प्रसादयुक्त ग्रन्थ लिखे जाते थे। जब “देशीय” (आधुनिक भाषाओंका प्राचीनतम रूप) का प्रादुर्भाव हुआ और संस्कृतसे अधिक फर्क पड़ गया, तब जीवित स्रोतसे वञ्चित हो, संस्कृत ग्रन्थ, भाषाकी दृष्टिसे, विलुप्त हो कृत्रिम तथा शब्द-दास्यसे पूर्ण बनने लगे।

यह तो हुआ देश-कालके भेदसे न प्रभावित होनावाली कृत्रिम या “संस्कृत” भाषाके बारेमें। अब जीवित भाषाओंके स्रोतको लें। शताब्दियोंके परि-

पलनकी छाप हमने हुए भी घेर, ब्राह्मण आदि वैदिक साहित्यकी भाषाओं पाणिनिने “छान्दस्य” कहा है। यह अपने समयमें एक जीवित भाषा थी। उस समय उसका क्षेत्र अधिकतर गङ्गा और सिन्धुकी उपन्याकाभितक संकुचित तथा बोलनेवालोंकी संख्या कम होनेके कारण देश भेदसे भी भाषा भेद कम हुआ था। पाणिनिके समयमें, भौगोलिक छोड़, सिरी प्राची (युक्तप्रान्त, बिहार) ही, पांचाली, कोसली और मागधीके तीन क्षेत्रोंमें त्रिक मालूम होती है। विन्ध्य-हिमालयको तयकी सामान्य सीमा मानकर, उनमेंसे, पाञ्चाली, घग्घर (शताब्दी = सरस्वती) में रामगङ्गातक, कोसली रामगङ्गातक (गण्डक) तक एवं मागधी गण्डकसे कोसी तथा फरमनाशासे फलितक फेली हुई थी। इनमें पांचाली तथा उदीची (पंजाब) की भाषाओंमें अधिक समानता थी, इसलिये शक्तिशाली राज्योंका केन्द्र उदीची (सिन्धु-सह) में उठकर प्राचीमें पाञ्चाल तथा कोसलतक चला आया, तो भी पाञ्चाली-ने स्थानीय भाषाओंमें विशेष भेद न होनेके कारण फोरे विशेष स्थान न प्राप्त किया। उस समयतक तक्षशिलाका विद्या-केन्द्र बना रहना भी इसका साधक और स्रोतक है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें जब मगधका विद्याल सांप्रदाय स्थापित हुआ और लक्ष्मीके साथ सरस्वतीने भी मगधमें पधारकर उसे शक्ति और सम्यताका केन्द्र बना दिया, तब अवस्था विलुप्त बदल गयी। इसमें मगधमें उत्पन्न बौद्ध, जैन जैसे महान् दार्शनिक सम्प्रदाय (जो कि, सिन्धुकी ओरतक फैलते जा रहे थे) और भी सहायक हुए। फलतः मगध, सम्यताका केन्द्र बननेके साथ, अपनी भाषाको सारे भारतमें सम्मानित करनेमें सफल हुआ। उपयुक्त प्रकारसे साम्राज्योंकी

भाषा होनेसे जिस मागधीने सारे भारतमें यहाँतक सम्मान पाया कि, पीछे नाट्यकारोंको, राजपुत्रों तथा दूसरे कितने ही उच्च पात्रोंकी भाषा मागधी रखनेका निर्देश करना पड़ा ! उसका प्राचीनतम उपलब्ध रूप उड़ीसा, विहार और युक्तप्रान्तमें मिलने वाले सम्राट् अशोकके शिलालेख हैं । पाली (दक्षिणी बौद्ध-त्रिपिटककी भाषा) ने यदि “श”का चायकाट तथा “र” के स्थानपर भरसक “ल” नहीं आने देनेकी कसम न खायी होती, तो शायद उसे ही मागधीका प्राचीनतम रूप होनेका सौभाग्य प्राप्त होता; किन्तु सिंहलके पुराने गुजराती शताब्दियों तक मागधी उच्चारण कैसे बनाये रखते ? तो भी हम पालीके पुरातन सुक्तोंमें “ल”, “श” की भरमार कर उसे मागधीके पासतक पहुँचा सकते हैं । उसके बाद दूसरी मागधी नाटकोंकी मागधी है । हाँ, जैनमूल-ग्रन्थोंकी भाषा भी मागधी है । किन्तु शुंगोंके समयसे ही जैन-धर्मका केन्द्र पूर्वसे पश्चिमकी ओर हटने लगा; और, उज्जैन आदिकी सैर करते ईसाकी चौथी—पाँचवीं शताब्दियोंमें गुजरात पहुँच गया था, जहाँ पाँचवीं शताब्दीमें (पाली-त्रिपिटकके लेख-यज्ञ होनेसे पाँच सौ वर्ष बाद) जैन-ग्रन्थ लेखयज्ञ हुए । जैन-मागधीमें सौरसेनी महाराष्ट्रकी पुट पड़ जानेसे यह आधी हो मागधी रह गयी थी, इसी लिये अर्धमागधी भी उसे कहा गया । लेकिन अशोकके बाद (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे) ईसाकी पहली शताब्दीतककी मागधी भाषाका रूप, रामगढ़ पहाड़की गुफाएँ (सरगुजा-राज्य) और थोथगया

आदिके कुछ थोड़ेसे और अधिकांश आधे दर्जन शब्दोंवाले लेखोंको छोड़कर और नहीं मिलता । ईसाकी दूसरी शताब्दीसे पाँचवीं शताब्दी तककी मागधी हमें नाटकोंमें मिलती है । पाँचवींसे अपभ्रंश मागधीका जमाना शुरू होता है । लेकिन महाराष्ट्री-अपभ्रंशकी * भाँति मागधी-अपभ्रंशमें कोई ग्रन्थ नहीं मिलता । संस्कृतका बोलबाला होनेसे शिलालेखों-ताम्रलेखोंकी तो आशा ही नहीं । इस अपभ्रंशका समय पाँचवींसे सातवीं सदीतक था । आठवीं शताब्दीमें “देशीय १” या हिन्दीका समय शुरू होता है । यहाँ स्मरण रहे कि, प्राकृत, अपभ्रंश, देशीय, सभीका एक-एक सन्धि-काल है, जिसमें पूर्व और परकी भाषाओंका सम्मिश्रण रहा है । प्राचीन देशीय-मागधी या “मगही” आठवीं शताब्दीसे बारहवीं शताब्दीतक रही । उसके बाद सोलहवीं शताब्दीतक मध्यकालीन मगही और तबसे आधुनिक मगही हुई । इस प्रकार मागधीके निम्न रूप होते हैं—

- १ अशोकसे पूर्वकी मागधी ई० पू० ६००-३०० अनुपलब्ध
- २ अशोककी मागधी ई० पू० ३००-२०० सुलभ
- ३ अशोकसे पीछेकी मागधी ई० पू० २००-२०० दुर्लभ
- ४ प्राकृत मागधी ई० २००-५०० ई० सुलभ
- ५ अपभ्रंश मागधी ई० ५००-७०० ई० अनुपलब्ध
- ६ मगही प्राचीन ई० ८००-१२०० ई० सुलभ
- ७ मगही मध्यकालीन ई० १२००-१६०० ई० दुर्लभ
- ८ मगही आधुनिक ई० १६००—जीवित

पहले बतलाया जा चुका है कि, नौवीं शताब्दीमें ही मगहीका अपना क्षेत्र गण्डकसे फोसी

० मध्यतः प्रकृत और प्राचीन “देशीय” भाषाके बीचकी भाषाके लिये यहाँ प्रयोग किया गया है । पत्तनगिने गो ग्रन्थ “नहड” बड़ी अनिष्टाणि भाषाओंमें भी हुई है भाषाके लिये इसका प्रयोग किया है ।

* यहाँ देशीय शब्द सभी आधुनिक भारतीय भाषाओंके लिये मिले प्रयुक्त किया है ।

तथा कर्मनाश्रासे कलिगतक था। समय पाकर फिर भाषामें परिवर्तन होता गया। मागधी-भाषा-भाषी आस-पासके प्रदेशोंमें जाकर बस गये। इस प्रकार आधुनिक ओड़िया, बँगला, आसामी, मैथिली और मगही, प्राचीन मागधीके ही कालान्तरमें विरुत रूप हैं। बनारसी भाषाको भोजपुरी और कोसली या अगधीकी सीमान्त भाषा समझनी चाहिये; तथापि प्राकृत और अपभ्रंशके समय इनका भेद बहुत कम था। प्राचीन मगहोंमें वह बढ़ने लगा। अपभ्रंश-तककी मगहोंको पूरी तरहसे, तथा प्राचीन मगहोंको किसी अंशमें, उक्त सभी भाषा-भाषी अपना कहनेके अधिकारी होते हैं; तो भी मागधी न कह, उसे आसामी, बंगाली × या ओड़ियाका नाम देना उतना ही अशुभ होगा, जितना चासर, शेखसपियर, मिल्टन तथा उनकी भाषाको अमेरिकन या आर्द्रेलियन कहना।

ऊपर जिस मागधीको हमने "मगही प्राचीन" कहकर उसका काल आठवीं शताब्दी तक लाया है, उसीमें हिन्दीकी सरसे प्राचीन कविता है। लेकिन, चूँकि उसे बंगाली विद्वानोंने बँगला साबित किया है और अभीतक हिन्दीवाले उसपर चुप थे; इसलिये उसके हिन्दी होनेके बारेमें कुछ कहना आवश्यक है। पहले तो यह सवाल होता है कि, हिन्दी-वालोंने इस मागधीको बँगला बनाये जाते वक्त क्यों नहीं आपत्ति की? यदि इसमें उपेक्षा मात्र ही होती, तो और बात थी; लेकिन यहाँ हिन्दीवालोंकी यह उपेक्षा एक बड़े कारणपर निर्भर है। वह कारण हमें विद्यापतिकी बातसे भी मालूम होता है। यात यह है कि, हिन्दी-भाषासे लोग सिर्फ गद्यकी भाषा पढ़ी बोली और पद्यकी भाषा ब्रजभाषा लेते हैं। तुलसीकी भाषाका अगधी (कोसली) होना भी कितनोंको पहले नया ही मालूम होगा। पढ़ी बोली उत्तर पांचाल (या यदायूँ, मुरादाबाद और बिजनौरके जिलों)की बोल-बालकी भाषाका साहित्यिक रूप है। यदायूँ आदिके लोग, मालूम होता है, दिल्लीमें मुसलमानी शासन स्थापित होनेके आरम्भिक समयमें ही किसी प्रकार पहुँच गये। धर्म परिवर्तन तथा अपने बुद्धि-विद्याबलसे वह वहाँ अधिक प्रभावशाली बन गये। उनके सम्बन्धसे बहुतसे और भी यदायूनी, बिजनोरी दिल्ली पहुँचे। उनका और उनकी दास-दासियोंका दिल्लीमें एक अच्छा प्लासा उपनिवेश बस गया। इस उपनिवेशके सभी लोगोंका, यूरोशियनोंकी भाँति, अपनी भाषा भूलकर फारसी ही बोलने लगना उस समय सम्भव नहीं था—विशेषतः जब कि, राजकाज चलानेके

× प्रादेशिक पक्षपातका उदाहरण कितने ही बंगाली इतिहास-ग्रन्थेषकोंके लेखोंमें भी मिलता है। सौ वर्ष पहले प्रिन्सेप्ने सिंहल-वासियोंको बंगालमें आया कहा। उनके लिये आधार यही था कि, सिंहल उपनिवेश स्थापक विजयकी दारी नगराजकी लड़की थी और उनका पिता "लाल" देशका शासक था। "लाल" "राड़" (पञ्चिमी बंगाल)का अपभ्रंश रूप मान लिया गया। "महाबत" और "दीपवत" में स्पष्ट लिखा है कि, विजय अपनी राजधानीसे नावपर चढ़कर पहले भद्रकाल (मगध) फिर सुव्यारक (सेपाह, जिन्हावा) गया, वहाँसे चलकर ताम्रपर्णीद्वीप। राड़से सीलोन जानेका यह रास्ता [भूल जानेपर, तो ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दीके लिये और भी कठिन है]। तो भी यह बातें अब भी बहुतसे बंगाली ऐतिहासिकोंके ग्रन्थोंमें लिखी मिलेंगी। मैथिल-कोकिल विद्यार्पत बहुत दिनोंतक बंग-भाषाके ही प्रादिकवि रहे हैं; और, यही बात हम विश्वके दो बड़े धर्म-प्रचारकों [साम्राजित और दीपकप्रदीपान—जिन्होंने आठवीं और नौवीं शताब्दियोंमें, तिब्बतमें, धर्म-प्रचार किया था]के बारेमें देखते हैं।

लिये और लोगोंसे काम पड़ता था । [इस उत्तर-पाञ्चाली जमायतकी, एक तरहसे, कम्पनीके आरम्भिक दिनोंके बंगाली शानियोंसे उपमा दे सकते हैं । फर्क इतना ही था कि, अंग्रेजोंका वर्गभेद रंगपर था, जिसका बदलना असम्भव था; और, उत्तर पाञ्चालियों तथा उनके शासकोंका फर्क धर्मपर था, जो धर्म-परिवर्तनसे बहुत-कुछ हट सा जाता था) । मातृ-भाषाका प्रेम भी एक बड़ी चीज है; इसको वही अच्छी तरह जानेंगे, जो गुजरातके मेमनों, योरों तथा करोडपति साहुकारोंको, केप्टाउन, कोलम्बो और नैरोबीतकमें अपनी गुजराती भाषामें; एवम्, कोंकणी मुसलमान साहुकारोंको तामिल, मालाबार, कुर्गके प्रदेशोंमें रहते हुए भी कोंकणीमें अपना निजी काम चलाते देखेंगे ! अन्धकी तरफसे विहारमें जानेवाले कायस्थ, मुसलमान जैसे अपने साथ अपनी अन्धी भाषा लेते गये [उनके प्रभावके साथ उनकी भाषाका प्रभाव इतना बढ़ा कि, आज भी विहारकी कचहरियोंके शिक्षित लोगोंको, आप इसी अवधीको, कुछ मगही, मैथिली तथा भोजपुरीके पुटके साथ घोलते पायेंगे]—ठीक इसी प्रकार उत्तर पाञ्चालियोंकी अपनी भाषा दिहड़ीमें अपना प्रभाव बढ़ाती रही । यह लोग आरम्भिक मुसलमान हुए लोगों [या हिन्दी मुसलमानों]में अधिक प्रभावशाली थे; इसलिये पीछेके मुसलमानोंके लिये यह सभी बातोंमें आदर्श बने । इस प्रकार भाषाके ग्यालसे दिल्लीके शासन-सूत्रधार दो भागोंमें विभक्त थे, एक फारसी-ख्वाँ अहिन्दी मुसलमान शासक थे और दूसरे हिन्दी यजीर, अमीर तथा फकीर (धर्म-प्रचारक), जो राज-काजके लिये फारसी सीपते-पड़ते थे, तो भी अपनी मातृ-भाषाके हामी थे । अन्तर्जातीय विवाहोंसे (जो कि आजकी तरह उस समय भी मुसलमानोंमें

अधिक होते थे) जैसे ही जैसे हिन्दी रुधिर शासकोंमें अधिक प्रवेश करता जाता था और इस्लामके प्रचारसे जैसे ही जैसे हिन्दी मुसलमानोंकी जमायत बढ़ती जाती थी, वैसे ही वैसे उत्तर पाञ्चाली भाषा उन्नतिके पथपर अधिक अग्रसर होती गयी—प्रादेशिकसे सार्वत्रिक भाषा बनती गयी । रक्त-सम्मिश्रणके साथ भाषाका सम्मिश्रण सभी जगह देखा जाता है । इसी प्रकार उत्तरपांचालीमें भी फारसी-अरबीके बहुतसे शब्द मिल गये । शाहजहाँ से बहुत दिनों पहले ही यह भाषा ब्रह्मनियोंके साथ दक्खिनमें पहुँच गयी थी, और, क्रमशः हिन्दीसे जिन देशोंकी भाषाओंका जितना ही अधिक फर्क था, उनमें यह उतनी ही अधिक साधारण लोगोंके लिये माध्यम और मुसलमानोंके लिये मातृभाषा बनी । उत्तरमें अकबरके हिन्दू मुसलमान-विवाहोंने इस भाषाको अधिक भीतर तक घुसने दिया और सभी शाहजादे जन्मसे ही दोभाषिये होने लगे । यद्यपि अंग्रेजोंके आनेतक फारसी ही कचहरियों की भाषा थी; तो भी वह वैसे ही, जैसे बाघवों शताब्दीके गहडवार राजाओंके शिला-लेखोंमें आप सस्कृतकी देपते हैं । बातचीततक सभी काम बाद-शाही कचहरियोंतकमें भी हिन्दीमें ही होते थे; सिर्फ कागज लिपत बख्त फारसी आ जाती थी ।

उक्त हिन्दी यद्यपि उत्तर पाञ्चालकी भाषा थी और उसमें अरबी फारसीके शब्द उधार मात्र ले लिये गये थे, तो भी चौदहवींसे अठारहवीं शताब्दीतक मुसलमानोंका ही इससे घनिष्ठ सम्बन्ध था । इसी लिये लोग इसमें मुसलमानियतकी घुपाते थे । फलतः साहित्यकी भाषाका जब प्रदूषण उठा, तब हिन्दुओंने देखा (उर्दू-अरबी फारसी-मिश्रित गढ़ीबोली)को परिष्कार कर, मजभाषा,

अरधी आदिको अपनाया । रैयतमें उनका कभी-कभी फरिता करना, फारसीकी ही तरह, था । इस प्रकार अठारहवीं शताब्दीमें सारे हिन्दुस्तान-प्रदेशमें सिवा रैयतके कोई दूसरी सर्वत्र प्रचलित भाषा नहीं थी । यद्यपि इसमें अरबी-फारसीके शब्द अधिक थे; तो भी पन्नी आदि कितने ही नागरिक-कुलोंमें यह मातृ भाषा थी; और, उनमें अरबी फारसी के शब्द नाम मात्र थे । [उतने संस्कृत-शब्द भी न थे]; तो भी कृष्णके नामसे और दिल्लीके पास होनेसे जैसे व्रजभाषा अपनायास हिन्दीकी काव्य भाषा बन गयी, उतनी आसानीसे पड़ी बोलीको सफलता नहीं मिली । उसे चौदहवीं शताब्दीसे अठारहवीं शताब्दी-तक जगह-जगहकी राफ छाननी पड़ी, अपमान सहना पड़ा; और, इतनी तपस्याके बाद इस एक कोनेकी उत्तर पाञ्चाली भाषाको सारे हिन्दीकी हिन्दी-भाषा बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

इस प्रकार सूर, निहारी आदिकी धार्मिक, शृङ्गारिक कविताओंके कारण लोग व्रजभाषाको कविताकी भाषा समझते हैं; और, उपर्युक्त क्रमसे सर्वत्र प्रचलित पड़ी बोलीको आधुनिक व्यवहारकी भाषा । सहस्राब्दियोंसे हिन्दुस्तान प्रदेशमें जो भाषाएँ विकसित होती रही हैं, वह भी कभी अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगी, इसका लोगोंको कुछ खयाल भी न था । यही कारण है, जो भोजपुरी, मगही, मैथिली आदिकी ओर ध्यान नहीं गया । इस प्रकार मैथिलीके विद्यापति कितने ही वर्षों तक बंगाली ही बने रहे ! जिस समय खड़ी बोलीने पटरानी होकर कविताके सिंहासनपर भी पैर बढ़ाना चाहा, उस समय व्रजभाषाने लांग बाँध और डंडे मारकर व्रजकी होली शुरू कर दी । यह होली बहुत दिनों तक गम्भीरताके साथ होती रही; किन्तु जब कवि-

ताके दरबारमें भी पड़ी बोलीकी तृती बोलने लगी, तब बेचारी व्रजभाषाको यही कहकर सन्तोष करना पड़ा—“अमली पेठा तो मेरी ही दूकानपर बनता है”; लेकिन बेचारी मगही, मैथिली तथा भोजपुरी आदि भाषाएँ, सती-साध्वी कुलाङ्गनाओंकी भाँति, चुपचाप ही बैठी रहीं । फिर आजकल तो जहो-जहदने बिना किसीको कुछ मिलता नहीं । इसी लिये इनकी ओर किसीने ध्यान न दिया । इन मूक भाषाओंका भी अस्तित्व है, इस विषयमें डा० ग्रियर्सन और दूसरे सज्जनों ने जो किया, उसके लिये यह अग्र्य उनकी आभारी हैं । इधर ग्रामीण गीतोंके प्रकाशने यह भी बतला दिया कि, यह स्वभावास्त्रुन्दरी भी हैं ।

अब सवाल यह है कि, इन भाषाओंके लिये भी कोई स्थान मिलना चाहिये या नहीं ? यह न समझें कि, पड़ी बोलीको अपना राजपाट बाँटकर गद्दीसे दस्त बरदार हो जाना चाहिये । पड़ी बोलीके कारण आज भारतका दो-तिहाई भाग एकताके घनिष्ठ सूत्रमें बंध गया है । इस बीसवीं शताब्दीमें उस एकताको तोड़नेकी बात बही करेगा, जिसका समूह शक्तिपर विश्वास नहीं है । तो फिर इनके लिये क्या होना चाहिये ? वस, वही, जो व्रजभाषाके लिये इस वक और भविष्यमें रहेगा । व्रजभाषाको तो कोई गुजराती बनानेका साहस नहीं रखता, फिर मैथिली और मगहीके बारेमें ऐसा क्यों ? यदि व्रज-भाषाकी नवीं-दसवीं शताब्दियोंकी कविता मिलती, तो उसके सादृश्यको देखकर गुजराती भी वही कहते, जो उस समयकी मगहीको देखकर आज बंगाली कहते हैं । कहा जा सकता है कि, खड़ी बोली तो मागधीकी उत्तराधिकारिणी नहीं है, साहित्यिक क्षेत्रमें उरकी उत्तराधिकारिणी तो बंगला ही है । लेकिन यहाँ पूछना है, अधिकार भी तो सापेक्ष

शब्द है ? मगही, मैथिली, ओड़िया, आसामी—इन चारोंको खड़ी करनेपर सर्वप्रथम किसको हफ मिलना चाहिये ? मगहीको ही न ? और बात भी है। यदि बँगला कहे कि, मैं पुरानी मगहीकी पुत्री हूँ, सो ठीक है; लेकिन यदि बँगला पुरानी मगहीका नाम मिटाफरुद से पुरानी बँगला कहने लगे, तो उसे मगहीसे ही लोहा नहीं लेना पड़ेगा; बल्कि ओड़िया आदिको भी अपनी ज्येष्ठ भगिनीकी सहायता करनेपर बाध्य होना पड़ेगा। यद्यपि मगहीमें आज अखबार नहीं निकलते, लेख नहीं लिखे जाते, लेकिन ४० लाख बोलनेवाले उसके घरमें ही जिन्दा हैं ! यदि कहें, उसमें हमें उन्न नहीं, लेकिन मगहीको हिन्दी कैसे कहेंगे ? हिन्दी तो पच्छाहीं भाषा है, उसका मगहीसे क्या सम्बन्ध ? उत्तर यह है कि, हिन्दी शब्द सिर्फ खड़ी बोलीके ही लिये कोई व्यवहार नहीं करता। व्रजभाषा और अवधीके हिन्दी न होनेका किसीने आग्रह नहीं किया। व्रजभाषा और अवधी भी तो खड़ी बोलीसे, मगहीकी तरह, भिन्न हैं ? हम पुरानी मगहीको खड़ी बोली नहीं कहते, हम उसे प्राचीन हिन्दी कहते हैं, जैसे व्रजभाषा और अवधीको।

हिन्दी क्या है, पहले इसे आपको समझना चाहिये। सूर्य हिन्दुस्तान [हिमालय पहाड़ तथा पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, तेलगू, ओड़िया, बँगला भाषाओंके प्रदेशोंसे घिरे प्रदेश] की आठवाँ

शताब्दीके बादकी भाषाओंको हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूपको प्राचीन मगही, मैथिली, व्रजभाषा आदि कहते हैं; और, आजकलके रूप [आधुनिक हिन्दी] को सार्वदेशिक और स्थानीय, दो भागोंमें विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक हिन्दीको खड़ी बोली [जिसे ही फारसी-लिपि तथा अरबी-फारसी शब्दोंकी भरमारपर उर्दू कहते हैं] तथा आजकल भिन्न-भिन्न स्थानोंमें बोली जानेवाली मगही, मैथिली, भोजपुरी, बनारसी, अवधी, कन्नौजी, व्रजमण्डली आदिको आधुनिक स्थानीय हिन्दी-भाषाएँ कहते हैं।

यदि आप कहें कि, दोहाकोप आदिकी भाषाको मगही कौन मानता है, वह तो ठेठ बँगला है। इसका उत्तर तो उन कवियोंके निवास देश देंगे, जिन्हें हम उनके नाम आदिके साथ अपने दूसरे लेख [हिन्दीके प्राचीनतम कवि और उनकी कविता] में देंगे। यहाँ सिर्फ इतना कह देना है कि, यदि [१] उन कवियोंका सम्बन्ध नालन्दा और विजयनगर शिलासे रहा है, यदि [२] यह दोनों विद्यापीठ मगही-मैथिली क्षेत्रोंसे बाहर नहीं रहे हैं, यदि [३] उन सभी कवियोंकी भाषा एक समान रही है, और, यदि [४] उनमें प्रयुक्त रूप शब्द मगही-मैथिली-भाषाओंमें, फारसी-सम्बन्धी आवश्यक परिवर्तनके साथ अब भी सबसे अधिक मिलते हैं, तो उन्हें हिन्दीसे बाहर नहीं ले जाया जा सकता।



हिन्दी-स्थानीय भाषाओंके कृत्रिम संग्रहकी आवश्यकता

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांठव्यायन

परिवर्तनका घटल नियम जैसे संसारकी सभी वस्तुओं-पर अधिकार रखता है, वैसे ही भाषापर भी। लेकिन यह परिवर्तन हमेशा कार्य-कारण-सम्बन्ध लिये हुए काम करता है, जिससे धपरावर्ती वस्तु (कार्य) पूर्ववर्ती वस्तु (कारण)से बहुत सादर रखती है। यही कारण है कि, आज यह हम वस्तुओंकी परिवर्तनशीलताके विषयमें सन्देहयुक्त हो जाते हैं। हय कार्य-कारण-सद्विध परिवर्तनका अचछा उदाहरण हमारा अपनी शरीर है। एक ही आदमी-के १, २०, ४०, ५० और ६० वर्षकी अवस्थाओंके चित्र आप उठा लीजिये, सादर और परिवर्तन आपको स्पष्ट मालूम होंगे। मनुष्यके भीतरी (आत्मिक) परिवर्तनकी देखना हो, तो किसी चिन्तनशील पुरुषकी चौदहसे पचास वर्षकी उम्रतककी यादगिरी पढ़ लीजिये। मनुष्यके इस आत्मिक और बाह्य परिवर्तनकी भाँति ही मनुष्यकी भाषाओंमें परिवर्तन होता जा रहा है। किसी जीवित भाषाके कितने ही छोटे-छोटे परिवर्तन तो कोई भी पचास वर्षका समझदार पुरुष आसानीसे बता सकता है। लेकिन सहस्राब्दियोंके परिवर्तनोंके सामने यह परिवर्तन नगण्य है। उस समय तो इतना परिवर्तन हो गया रहता है कि, पहचानना भी असम्भव हो जाता है। उदाहरणार्थ आधुनिक मगही (मगधी) को ले लीजिये। इसके आरम्भकालके तथा अठारह सौ वर्ष पूर्व और बाईस सौ वर्ष पूर्वके रूपको ले लीजिये। कितना आश्चर्य परिवर्तन मालूम होगा। चाहे वह परिवर्तन कितना ही आश्चर्य मालूम होता हो, वो भी हमपर सादरका नियम लागू रहता है। यदि हमें दूर शताब्दीकी भाषाओंका नमूना मिल जाय, तो इनकी परस्पर समीक्षा हमें वैसे ही मालूम होगी, जैसे सौ मील जानेवाले यात्रोके लिये पहले कदमसे दूसरे कदमका

कासल। दूर-असल भाषा-प्रवाहको भी तो एक यात्रीकी ही भाँति सहस्राब्दियोंकी सफर करनी पड़ी है। इन्हीं परिवर्तनके नियमोंकी भाषापर कड़ा जाता है।

भाषा मनुष्यके अन्दर और बाहरके भावोंके प्रकाशन करनेका प्रधान साधन है। इसी लिये इसमें मनुष्यकी अपनी आदृति कजकती है। अनेक शब्दोंको सामयिक पेशों तथा गृहस्थ, धार्मिक, सामयिक, खान-पान आदि विभागोंमें संग्रह कर डालिये, आपको मालूम हो जायगा कि, अनेक मनुष्य समाजका क्या रूप था। यद्यपि इन साहित्योंमें समाजके सारे अर्थोंका रूप चित्रित नहीं होता, इसलिये इसमें शक नहीं कि, हमारा यह चित्र पूर्ण न होगा।

भाषा मनुष्यके समझनेका साधन है, इसमें तो किसी-को विवाद नहीं हो सकता। मानव-तत्त्व (Anthropology) भी मनुष्यके समझनेका साधन है। आलसल तो इन दोनों साधनोंका परस्पर अवरोधी परिणाम देखकर और भी विद्वानोंका विचार इनपर बढ़ चला है। भारतकी आर्य तथा द्रविड़-जातियोंकी भाषाओंमें जैसी अपनी विशेषताएँ हैं, वैसे ही इनकी नापामितियोंमें भी। जहाँ दोनों जातियोंका सम्मिश्रण हुआ है, वहाँ हम आर्य और नासामितियोंका भी वैसे ही सम्मिश्रण देखते हैं। उदाहरणार्थ कन्नड और तेलगू—दो द्रविड़-जातियोंको ले लीजिये। इनकी भाषाओंमें आपको संस्कृतके शब्दोंकी बहुलता मिलेगी; और, नासामिति भी आपको इनमें आर्य और द्रविड़-भाषाओंका मिश्रण बतलायगी। आर्य-भारतसे मालाबारका सीधा सम्बन्ध नहीं है, बीचमें कन्नड तथा दूसरी जातियाँ आ जाती हैं, तो भी मलयालम भाषामें आपको कन्नड और तेलगूकी अपेक्षा भी

अधिक संस्कृत-शब्द मिलेंगे । इनकी नासामित्तियों प्रायः-नासाग्रोंका बहुत अधिक प्रभाव देखकर पहले-पहल चृतव-शास्त्रियोंको भी यथा आश्चर्य हुआ; किन्तु आश्चर्यकी कोई यात नहीं । मालावारमें तो ब्राह्मण (प्रवासी शायं) आजतक भी नायर-स्त्रियोंके साथ, बिना रोक-टोक, सम्बन्ध रखते हैं । हजारों वर्षोंसे नम्बूद्री ब्राह्मणोंके छोटे भाई इस नासामित्तियों बदलनेके ही लिये नियुक्त हैं ।

उप्युक्त संक्षिप्त कथनसे-पाठकोंको मालूम हो जायगा कि, भाषाओंका परिवर्तन अपने अन्दर, पास रहस्य रखता है । इसके रहस्यके उद्घाटनके लिये मनुष्य वैसे ही व्यग्र है, जैसे गौरीशंकर-शिखर, ध्रुव-प्रदेश, भूगर्भ आदिकी जिज्ञासामें । इस रहस्यके खुलनेसे मनुष्यके इतिहासपर भी बहुत प्रकाश पड़ता है । भाषा-सम्बन्धी अन्वेषणने ही तो यूरोप, ईरान तथा उत्तरी भारतकी जातियोंका एक-वंशीय होना सिद्ध किया । इसीने तो बिलोचिस्तानके चहुँदूँ तथा मद्रासके द्राविडोंका एक होना बतलाया । इसीने तिब्बती, नेवार और बर्माजलोंका एक खान्दान सिद्ध किया । इसके ऊपर यूरोपकी सभ्य जातियोंने बहुत परिश्रम किया है ।

इंगलैण्डने *English Dialect Society* (इंग-लिश स्थानीय भाषा सभा) कायम की थी, जिसने उपर्युक्त सामग्री संग्रह करनेमें बड़ी सहायता की । इसने *East Yorkshire, East Norfolk, Vale of Gloucester, Midland, West reading of Yorkshire, West Devonshire, Derbyshire* आदि खास इंगलैण्डके ही छोटे-छोटे भागोंकी भाषाओंके सम्बन्धमें बहुत ज्ञातव्य बातोंकी खोज की । स्काच और वेल्श उपभाषाओंपर भी वहाँ बहुत परिश्रम किया गया है । स्थानीय भाषाओंके व्याख्यान और कोष तैयार किये गये हैं । उदाहरणार्थ—1. *W. Barnes, A Grammar and glossary of the Dorset*

dialect, with the history outspreading and bearing of South English. 2. *L. L. Bonaparte. On the Dialects of Monmouthshire, Hertfordshire, Worsleser-shire, Gloucestershire, Berkshire.....* 3. *E. Kruisigas. A Grammar of the Dialect of West Somerset descriptive and historical.* 4. *B. A. Mackenzie. The early London Dialect.* 5. *J. Wright. The English Dialect Grammar.* 6. *J. Wright. The English Dialect Dictionary.*

अन्य विषयोंकी भाँति-फ्रांसने भी इस विषयमें बहुत काम किया है । वहाँ स्थानीय भाषाओंके कितने ही पटलस बने हैं; बहुतसे व्याकरण और कोष लिखे गये हैं । कदाचित्त और कदाभित्तोंका भी संग्रह किया गया है । *Oh. Bruneau* ने वालों, शम्पेन्वा, कोरेनकी स्थानीय भाषाओंकी सीमा-निर्धारण करनेपर ही (*La limite des dialects Wallon, Champenois et Lorrain on Ardenne*) पुस्तक लिखी है । 1८२२-२३ में ही *Escallier* ने स्थानीय भाषाओंके सम्बन्धमें अपनी पुस्तक *Remarque sur le patois* (स्थानीय भाषाओंपर टिप्पणी); *Letters sur le patois* लिखी थी । *Oh. de Tourtoulon* ने *Des dialectes de leur classification et de leur delimitation géographique* लिखी । १८०३-१८१२ में, १८२० चित्रों सहित कई खण्डोंमें *Atlas linguistique de la France* छपा, जिसका मूल्य प्रायः १२०) ६० है । दो वर्ष बाद *Atlas linguistique de la corse*, एक सहस्र चित्रोंके साथ, प्रकाशित हुआ । नामोंकी भाषाका अलग ही पटलस *Atlas dialectologique de No mandis* है ।

इसी प्रकार और भी कितने ही पट्टम रूपे हैं। *Walton, Douls, Bern, Ardenne, Pinze-lles, Blonny* आदिही स्पानीय भाषाओंतः तो कितने ही अनग-सङ्ग स्पाकरण और शब्द कोष लिखे गये हैं।

जर्मन, रूसी आदि भाषाओंके सम्बन्धमें भी यही बात है। यहाँ पृष्ठ बात और भी स्मरण रखनी चाहिये। फ्रांस और इंग्लैंडकी यह भाषाएँ वस्तुतः स्पानीय उपभाषाओं-सी हैं, यदि उनके प्रचारके प्रदेश, बोलनेवालों तथा सर्वमान्य इंग्लिश या फ्रेंचमें उनके भेदपर ध्यान दिया जाय। किन्तु हिन्दीकी स्पानीय भाषामें कुछ तो परिचित-के ही फेरमें पड़कर स्पानीय भाषाएँ रह गयीं; अन्यथा मैथिली, मगधभाषा या राजस्थानीको एक स्वतन्त्र भाषा बननेकी उतनी ही योग्यता है, जितनी गुजराती और बँगलाको। यद्यपि इन भाषाओंका साहित्यिक भाषासे सम्बन्ध सैकड़ों वर्षोंमें छूटा हुआ है, तो भी मनुष्यकी आवश्यकताओंके अनुसार इन भाषाओंमें भी विचार प्रकट करनेमें बराबर उन्नति की है। अतः इनको अलग रदकर अपने अस्तित्वको कायम रखने तथा पृथक् करनेका मौका रहा है; किन्तु अब यह समय था पहुँचा है, जब कि, इनकी अवस्था संकटापन्न हो गयी है। अन्य भाषाओंके अतिरिक्त ये बातें और हैं, जिनके लिये इन भाषाओंके सम्प्रदकी यही भारी आवश्यकता है। पहली बात तो यह है कि, सड़ी हिन्दीके सार्वत्रिक व्यवहार और उसीके द्वारा शिक्षा-प्रचार होनेके कारण सिद्धित समाज सड़ी बोलीमें ही लिखने-बोलने लगा है। जो लिख-बोल नहीं सकते, वे भी उसे संस्कृति और भद्रताका चिह्न समझ, बिना संकोच, उसके शब्दों और मुद्राविराओंको अपना रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनकी अपनी स्पानीय भाषा विगड़ती जा रही है। इसकी सत्यताके लिये आप पटनाकी भागही और कायस्थोंकी भोजपुरीको लेका देख सकते हैं। जिस तरह यह परिवर्तन हो रहा है, उससे

तो यदि यह आपाएँ नष्ट न हो जायें, तो कम-से कम थोड़े ही समयमें इनके इतना विगड़ जानेका डर तो बखर है, जिससे कि, इनका वैज्ञानिक मूल्य बहुत कम रह जाय और आनेवाली पीढ़ियाँ मानवताकी इस महत्व-पूर्ण कड़ीको तो देनेका इच्छामम हमेशा लगायें। दूसरी बात यह है कि, सड़ी बोली यद्यपि मूलतः उत्तर-प्रायद्वीप या बिजनोर-मुआदाय द-गिलोंके ग्रामपासकी भाषा है, तो भी यहाँके भाषा-भाषियोंकी प्रामाणिकताको स्वीकार नहीं किया गया है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि, पर काम-काज, धीरनकी साधारण व्यवस्थाओंके उपयोग-के शब्दोंकी, हिन्दीमें, सड़ी बनी है। कभी-कभी कोई-कोई हिम्मतवाले लेखक, ऐसे समय किनी स्पानीय भाषाका प्रयोग का देते हैं; किन्तु, तो भी लोग स्पानीयताका दोष लगाने हैं; और, उस शब्दके प्रचारमें रुकावट होती है। लोग यह भी खयाल करते रहते हैं कि, शायद ये शब्द हमारी ही स्पानीय भाषामें हों, यद्यपि बहुतसे शब्दोंको, एक ही रूपमें, पटना और अम्बालामें प्रचलित पाया जाता है। यदि हम स्पानीय भाषाओंके शब्द आदि सम्प्रद कर सकें, तो सदा हम उनका एक सुरक्षित भाण्डार रख देंगे, वहाँ भिन्न-भिन्न स्पानीय भाषाओंसे कितने ही सर्वसाधारण शब्दोंकी भी जमा कर पायेंगे, जिनको सड़ी बोलीमें लेनेमें फिर द्विचिन्ता न रहेगी; और, इस प्रकार, सड़ी बोलीका एक यदा दोष दूर हो जायगा। इस वक्त सड़ी बोलीमें इन कामोंके पूरा करनेका एक मात्र साधन संस्कृत है, जिसके कारण ही आज वक्त लेखकोंको अनावश्यक संस्कृत करनेका दोषभागी बनना पड़ता है। यदि हमने इन भाषाओंको विगड़ने या नष्ट होने दिया, तो इसका परिणाम यही नहीं होगा कि, हमें अपनी भाषाकी आवश्यकताओंको अवस्थाभासिक रूपसे पूर्ण करना पड़ेगा; बल्कि वेद, ब्राह्मणसे लेकर, पाली, प्राकृतके ग्रन्थोंतकमें प्रयुक्त होनेवाले उन कितने ही शब्दोंके, परम्परासे चले

घाये अर्थों को भी, इस भूल जायेंगे, जिनका प्रयोग केवल इन्हीं भाषाओंमें पाया जाता है।

उपर्युक्त कथनसे स्थानीय भाषाओंको लेखबद्ध करके सुरक्षित कर देनेकी कितनी आवश्यकता है, यह स्पष्ट ही है। इस विषयमें ग्रियर्सनकी *Linguistic Survey of India* ने बहुत अच्छा काम किया है। शब्द कोष, व्याकरण तथा क्कानियाँपर भी इसमें लिखा गया है, तो भी वहाँ भाषाओंके सम्बन्धका स्थूल चित्र ही वाञ्छित था, उनका लक्ष्य सारी भाषाओंको सुरक्षित कर देनेका नहीं था और न साहित्यिक हिन्दीके कोषको पूर्ण करनेके ही ख्यालसे वह काम किया गया था। इसलिये वह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। हमें अपनी आवश्यकताके लिये चाहिये हर एक भाषाकी (१) संकटों क्कानियाँ, (२) क्कानियाँ, (३) संकटों गीत, (४) हजारों शिल्प और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्द तथा उर्ध्वपर अवलम्बित (५) विस्तृत कोष और (६) व्याकरण। क्कानियाँ हमें सजीव भाषा मिलेगी। अर्थहीन, किन्तु भाषामें श्रोज पैदा करनेवाले निपातोंका व्यवहार, हमें वहाँ मालूम हो सकेगा। भाषामें भाव चित्रणकी शक्तिका भी परिचय उन्हींसे मिलेगा। इसके अतिरिक्त इतिहास, मानस शास्त्र, समाज-शास्त्र आदिकी दृष्टिमें महत्वपूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिके बारेमें तो क्काना ही क्या है। कुछ दृष्टक इन बातोंकी पूर्ति गीतोंसे होगी, किन्तु भीत अपना दूसरा ही महत्व रखते हैं। भिन्न भिन्न स्थानोंमें कृषि, धर्म, नवग्रहों, तारों आदिके सम्बन्धमें तथा दूसरी शिष्टाचारोंसे गरी जितनी ही गद्य पद्यमया क्कानियाँ प्रचलित हैं। इन क्कानियोंमें, वाज पत्त, मनुष्यके शताब्दियोंके अनुभवका सार बन्द रहता है। यह भी समय पाकर नष्ट होती जा रही है। पुराने क्कानोंमें अब भी ऐसे क्कानियाँ मिलेंगे, जिन्हें यह क्कानियाँ संकटोंकी सम्पत्तिमें याद हैं। इनके वक्षपर यह संकट भिन्न भिन्न मासोंमें नष्ट नष्ट रहितके घटो और कृषि-वर्षोंके

समयका निश्चय कर लिया करते थे। किन्तु यांत्रिक साधनोंकी सुलभतासे अब क्कानोंकी प्रतुति उधरसे उदासीन होती जा रही है; इसलिये इनके सर्वथा ही विस्मृत हो जानेकी सम्भावना है।

शिल्प व्यवसाय सम्बन्धी समग्रही तो सबसे अधिक आवश्यकता है, क्योंकि इस विषयपर तो कुछ भी नहीं किया गया है। खड़ी हिन्दीमें इस विषयके शब्दोंकी क्कान कम है। इस अपूर्णताके कारण कभी-कभी हमारे उपन्यास-लेखकोंको समाजका अधूरा चित्र ही खींचने-पर मजबूर होना पड़ता है। मक्कानाही की ले लीजिये। क्या उसको अपने काममें नाव, पतवार, पाल—इन तीन ही शब्दोंका व्यवहार करना पड़ता है? नावके तिर, पूँछ, पैद, वारी, पतवार आदिकी माना किस्मोंके बारेमें तो क्काना ही क्या, खोजनेपर आपको नावके ऊपरकी ओर, नीचेकी ओर, जल्दी या तिरछी चलने, चक्कर काटने तथा रस्सीपर चलने आदिके लिये भी कितने ही शब्द मिलेंगे। और, फिर, समुद्रकी नावोंके बारेमें तो क्काना ही क्या है। वह तो एक पूरा ससार है, जिसके ज्ञान और अज्ञानसे वञ्चित रहना या परोपजीवी होना हमारे लिये अच्छी बात नहीं है। हिन्दी स्थानीय भाषाओंकी सोमा समुद्रसे नहीं मिलती, यह सही है; किन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि, स्थानीय भाषाएँ, गुजराती, मराठी, बँगला, ओड़ियातकके साथ बाज वक्क गजपकी समानता रखती हैं। यह तो सिर्फ मक्कानाही व्यवसायकी बात हुई। अब इसमें आप उन संकटों व्यवसायोंको जोड़ लीजिये, जिनमेंसे कुछके नाम आगे दिये जायेंगे। तब इस बातके महत्वको आप उघेराली दृष्टिसे न देख सकेंगे। जब हमारे पास क्कानियाँ, क्कान पक्षी, गीतों और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्दोंका एक पूरा माधवारक्षमा हो लायगा, तब उतम उम स्थानीय भाषाएँ एवं अच्छा व्याकरण और कोष तैयार किया जा सकेगा।

अब हमें विचार करना है कि, यह काम कहाँ तक साध्य है; और, इसे किम प्रकार करना चाहिये। सम्भव होनेके विषयमें तो इतना ही कहना है कि, जो बातें दूसरे देशोंने पचासों वर्ष पूर्व ही कर डालीं, वह यहाँ आज क्यों नहीं हो सकती ? और जगहोंपर भी, सरकारकी अपेक्षा, लोगोंने, इसके बारेमें, बहुत काम किया है। साध्य और असाध्य तो हम कार्यके ढंगको देखकर अच्छी तरह बतला सकेंगे। हमारे कामके दो भाग होंगे; एक तो मंभइका काम, अर्थात् दूँ-दूँकर शब्दोंको जमा करना और दूसरा, व्याकरण, कोषका निर्माण करना। यद्यपि दूसरे काममें वही दक्षताकी आवश्यकता है, तो भी यह संगृहीत सामग्री लेकर एक जगह बैठे-बैठे किया जा सकता है; और, इस कामके लिये ऐसे हिन्दी-भाषी योग्य विद्वान् दुर्लभ न होंगे, जो कि, बड़े उस्तादपूर्वक, बहरी, उसे समाप्त कर देंगे। सबसे परिश्रम-साध्य और यदि उस तरह किया जाय, तो व्यय-साध्य कार्य है संग्रहका। इसके लिये हमें अपने जिलेकी स्थानीय भाषा-विभागोंमें घूँट देना होगा। आप कहेंगे, जिलेकी घूँट-कर क्या स्थानीय भाषाओंमें भी उप विभाग करेंगे ? ऐसे तो एक गाँवसे दूसरे गाँवमें भी भाषामें कुछ अन्तर पढ़ने लगता है ? नहीं, मेरा मतबब यही है जगहके लिये नहीं है। यदि कहीं समझा जाय कि, वहाँ भाषामें वैसा कोई खास भेद नहीं है, वहाँ उसे छोड़ दिया जाय; किन्तु जिसकी ही जगहोंपर ऐसा करना जरूरी होगा। उदाहरणार्थ भोजपुरीको ले लीजिये। सम्पूर्ण आरा, छपरा और चम्पारनके जिले तथा गोरखपुर, बलिया और गाजीपुर-जिलेके अधिकांश भाग एवम् झांझगढ़के कुछ परगने यत्न भोजपुरीके क्षेत्रमें आते हैं। बनारस आदिकी भाषा यत्न सोमान्त-भाषा है, और, उधमें स्वर तो भोजपुरीका मिलकुत्र ही नहीं, जो कि, भाषाके लिये, स्पर्शकारके अन्व ऋणोंकी अपेक्षा, कम महत्त्वका नहीं है।

यदि छपरा (सारन) जिलावाले अपने जिलेमें इस काम-को करना चाहेंगे, तो उन्हें अपने जिलेकी तीन भागोंमें घूँटना होगा। पहले भागमें हम गोरखपुर जिला, सरयू-नदी, गण्डक-नदी, दाहा-नदी (पीछे सोमान्तक), मीर-गंज और मोसालगंज थानोंसे घिरा खण्ड होगा। इसमें सारा कुशादीका परगना तथा कितने ही दूसरे भाग था जायेंगे। (इस तरहके उप भाषाओंके क्षेत्र-विभागमें पागने बाज बक बड़ा महत्वपूर्ण फैसला देते हैं। स्मरण रहे, पागने प्रायः इसी रूपमें मुसलमानी शासनके पहलेसे चले आ रहे हैं)। दूसरे हिस्सेमें हम मिर्जापुर, दिववारा, परसा और सोनपुर-थानोंको रख सकते हैं। बाकी हिस्से-को तीसरे भागमें रखा जा सकता है। यद्यपि पहले और तीसरे हिस्सेमें “गडवै” (गये), “भडवै” (आये) तथा “गडलै”, “भडलै” जैसे कितने ही भेद मिलेंगे, तो भी इनको छोड़ दिया जा सकता है; किन्तु बाकी चार थानोंके लिये तो विशेष ध्यान देना ही पड़ेगा, क्योंकि वहाँके सिर्फ “नैः” (हरे प नहीं) की ही ले लीजिये ; जो कि, ब्राह्मणोंके किसी स्थानसे न मिलकर गण्डक-पारसे मुजफ्फरपुर-जिलेके अपने पड़ोसी भागसे मिलता है। इससे पाँच शताब्दियों पूर्व यह भाग वस्तुतः उस प्रायसे मिला हुआ था, किन्तु मुसलमानोंके आनेसे पूर्व—सम्भवतः मुत्तवाह (हुननाग) के आनेसे भी पूर्व—महो अपनी पुपानी धारकी छोड़कर गण्डक वन चुकी थी। ऐसे उदाहरण, और जिलोंमें भी, मिल सकते हैं।

इस प्रकार पड़ला काम तो हमें जिलोंका ऐसा विभाग करना है। यह अवश्य ही है कि, यह विभाग करना सरके बसका काम नहीं है। भाषा-विज्ञानके इतिहास इसमें जिलेके भाषा-विज्ञानकी भी काफी जानकारी आवश्यक होगी। लेकिन इस दिक्कतको हम बहुत कम कर सकें, यदि हम पहले एक ही भाषाके एक ऐसे जिलेकी ले लें, वहाँके लिये ऐसे विशेषज्ञ मिल सकें। यदि वह जिला

अपने सारे कामको सतम कर पावे, तो उसके अनुभवसे दूसरी जगहवाले बहुत फायदा उठा सकते हैं। विभाग का चुकनेपर हमें संग्रह करनेवालोंकी एक काफी संख्या चाहिये। फिर, जिय किसीको भी तो यह काम, सिर्फ जिया-पड़ा होनेसे, सौंपा नहीं जा सकता। इसके लिये, चोट-फेटीकी आरम्भिक सहायताकी भाँति, एक तीन-चार सप्ताहका कोर्स रचना होगा; और, सिखलाना होगा कि, सामग्री-संग्रहके लिये निम्न बातोंका खयाल रखें—

(१) स्थान ऐसा दूँ, जहाँकी भाषा बाहरी प्रभावसे कम प्रभावित हुई हो।

(२) बोलनेवाला यथासम्भव अपठित, व्यवहार-कुशल तथा रूप खड़ाकर बेधड़क बोलनेवाला हो। यदि वह स्त्री हो, तो और अच्छा।

(३) जब उपर्युक्त दोनों बातें मिल गयीं, तो लिखनेवाले संग्रहको अपनेको निर्जीव ग्रामोफोन मशीन मान लेना चाहिये। वक्ताके किसी उच्चारण आदिको शुद्ध करके लिखनेका खयाल भी कभी मनमें न आने देना चाहिये।

(४) लम्बी कथाओंसे परहेज न करना चाहिये।

(५) वीरता, उदारता, प्रेम, माता पिताकी भक्ति, सादसपूर्ण कार्य, वाणिज्य, शिष्या, देवार्चन, तीर्थाटन, वैराग्य, जन्म, मरण आदि सभी विषयोंके गद्य, पद्य और गीतिमय वर्णन इकट्ठे करने चाहिये।

(६) निपात आदिके शब्द तथा शब्दानुकरणोंको न छोड़ना चाहिये।

लेकिन यहाँ एक बात और कहनी होगी। यद्यपि नागरी वर्णमाला वैश्व देवनेमें पूर्ण मालूम होती है, किन्तु

कुछ आवाजोंको जाशिर करनेके लिये इसमें अक्षर नहीं है। उनके लिये अलग स्पष्ट चिह्न निश्चित करने होंगे। उदाहरणार्थ हमारी भाषाओंमें ह्रस्व ए और ओका उच्चारण भी बहुत देखा जाता है। सही बोलीतकमें “एक” कितनी ही बार ह्रस्व एके साथ उच्चारित होता है। इस दिक्कतके कारण कितनी ही बार एके स्थानमें इ और ओके स्थान में उका व्यवहार होने लग पड़ा है। एका भी एक विशेष उच्चारण है, जिसे पश्चिमी युक्तप्रान्तके शहरोंके लोग “कहना” के फके अक्षर उच्चारण करते हुए करते हैं; उस वक्त हमका उच्चारण कुछ एकी और मुँह जाता है, तो भी ह्रस्व ए नहीं हो जाता। इसका उच्चारण जर्मन भाषामें “a” द्वारा प्रकट किया जाता है। हिन्दीमें अके ऊपर दो बिन्दी (अ) रखकर उसे किया जा सकता है। इसी प्रकार उके इकी और मुँकते उच्चारणको उपर दो बिन्दी (उ) तथा ओके इकी तरफ मुँकते उच्चारणको ओ’पर दो बिन्दी (ओ) देकर जादिर किया जा सकता है। युक्तप्रान्त, बिहार और मध्यप्रदेशमें इतनेने काम चल जायगा, किन्तु राज-पूगना और दिल्ली प्रान्तमें घ, च, ट आदिके विशेष उच्चारणोंके लिये अलग चिह्न करने होंगे। नये चिह्नों और विशेष साधनानियोंको समझानेके लिये ३, ४ सप्ताहका विशेष कोर्स काफी होगा। यदि जिज्ञा योडों, स्तुतिविप लिटियोंके शिष्या-विभाग तथा कुछ दूसरे भी उससाही सज्जन इसके लिये तैयार हो जायें, तो संग्रहकोंका मिलना कठिन न होगा, न व्ययके ही लिये बहुत खर्चदुःख करना पड़ेगा।

कथाओं, कहानियों तथा गीतोंकी अपेक्षा, नाना व्यवसायोंमें उपयुक्त होनेवाले शब्दोंके लिये, कहीं-कहीं कुछ विशेष परिधम करना पड़ेगा। इसका धनदाज यहाँ दिये गये कुछ पेशाने मालूम हो जायगा—

१ जोहार

४ मजलाह

७ चमार

१० मधुधा

२ थदई

५ हजाम

८ गुलाहा

११ मेहरार

३ घोवी

६ सोनार

९ पटवा

१२ हकपाई

१३ फोहरी	२६ रंगरेज	३६ नशाखोर	४२ बैल सम्बन्धी शब्द
१४ ग्वाला	२७ बसार्ई	४० सापुशोंके शब्द	४३ गढ़वा ,, " "
१५ गँडेरिया	२८ धुनिया	४१ खानेकी चीजें	४४ भैंस-बवरी ,, " "
१६ कसेरा	२९ पहलवान	४२ सोनेकी चीजें	४५ ऊसर आदि भूमिके भेद
१७ चिहोमार	३० राजगीर	४३ पहननेकी चीजें	४६ घुल भेद
१८ तेजी	३१ जुनिया	४४ घरेके बर्तन	४७ जलचर
१९ कजाल	३२ भड़भूँजा	४५ कालवाची शब्द	४८ थलचर
२० हलवाहा	३३ तम्बोली	४६ नक्षत्रवाची शब्द	४९ नभचर
२१ माला	३४ पासी	४७ भूतवाची शब्द	५० विपक्षर जन्तु
२२ ओम्हा	३५ दर्जी	४८ स्थानीय परगना, तप्पा (टप्पा) आदिके नाम	६१ हिंसक जन्तु
२३ कुम्हार	३६ चोर	४९ नाप और मान	६२ अनाजोंके नाम
२४ चूबीवाला	३७ वेरया	५० छोटे सम्बन्धी शब्द	६३ बही-भाता
२५ लंगतराश	३८ जुघारी	५१ हाथी ,, "	६४ आभूषण ।

सभी कामको सुचारु रूपमें करनेके लिये एक प्रबन्धक समित तथा एक सम्पादक-मण्डलकी आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त एक समाहर्कोंका मण्डल रहेगा। सम्पादक-मण्डलमें उच्च कोटिके प्रामाणिक पुरुषोंकी अनेक जगह कमी रहेगी, किन्तु उसमें बाहरके मर्मज्ञोंसे सहायता ली जा सकती है। हाँ, इसके दिखसे यह काम नहीं किया जा सकता। विशेषतः व्याकरण और शब्द-कोषका काम तो बहुत ही सावधानीका है।

व्याकरण—हर एक उपस्थानीय भाषाका अलग व्याकरण न बनाकर किसी जगहकी भाषा—जो दूसरी भाषाओं द्वारा अधिक अव्यभिचित हो, या अधिक प्रचलित हो, या केन्द्रमें हो—को मध्यस्थ बनाकर बाकी भाषाओंको उसके द्वारा बसलाना।

फोप—में लड़ी बोलीमें प्रचलित पर्यायवाची शब्दोंके अतिरिक्त संस्कृतके बिगड़े तथा “देशी” शब्दोंके लिये प्राकृत तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओंके पर्याय भी देने चाहिये।

यह काम अच्छा है, यह तो सभी कहेंगे, किन्तु इसकी दिक्कोंका लोगोको बहुत खयाल होगा। यह भय तबतक दूर न होगा, जबतक किसी एक भाषाका

संग्रह पूरा न हो जाय। एकडे तैयार हो जानेपर दूसरोंको उस तजर्थसे बहुत फायदा होगा और दिक्कोंका खयाल भी कम हो जायगा। यदि पहले ऐसे स्थानमें काम किया जाय, जिसमें निम्न विशेषताएँ हों, तो काम आदर्श रूपमें, कम व्यय और कम समयमें, समाप्त हो जायगा, और, इससे दूसरे भी जरूरी उत्साहित हो सकेंगे—

[१] भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो। [२] जिस भाषाके (पूरी शताब्दियोंके अन्तरसे) अनेक रूप उपलब्ध हों, जिससे कि, तुलनात्मक अध्ययनमें पूरी मदद मिल सके। [३] जहाँ भाषातरंग तथा उस भाषाके मर्मज्ञ भी मिल सकें। [४] जहाँकी स्थानीय सत्ताएँ इसके लिये तैयार हों। [५] जहाँ उरमाही लेखक और कार्यकर्ता मौलम हों। [६] जहाँ काम जरूरी समाप्त किया जा सकता हो।

मेरे खयालमें ऐसी भाषा मगही है। इसका क्षेत्र पटना और गय के निचे हैं, जिसका क्षेत्रफल ६,७७६ वर्गमील है, और, १६२१ ई० की जनगणनामें जनसंख्या २७, २७, २१७ थी। मगही भाषाके कितने ही रूप उपलब्ध हैं, निम्नलिखित मैंने अपने दूसरे लेखमें किया है।

हिन्दीके प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ

सिद्धयुग (७५०-१२०० ई०)

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

सिद्ध लोगोंने उस समय लोकभाषामें कविता शुरू की, जिस समय शताब्दियोंमें भारतके सभी धर्मवाले किसी-न-किसी मुदाँ भाषासे विपटकर ही अपना धर्मप्रचार कर रहे थे, जिसके फलमें उनके धर्मके जाननेवाले बहुत थोड़े हुआ करते थे। सिद्धोंके ऐसा करनेके कारण थे—वह धर्म, आचार, दर्शन आदि सभी विषयोंमें एक क्रान्तिकारी विचार रखते थे। वह सभी अच्छी बुरी रुढ़ियोंको उखाड़ फेंकना चाहते थे; यद्यपि जहाँतक मिथ्या-विश्वासका सम्बन्ध था, उसमें वह कई गुनी वृद्धि करनेवाले थे! अपने वज्रयानकी, जनतापर, विजय पानेके लिये उन्होंने भाषाकी कविताका सहारा लिया। प्रादिसिद्ध सरह-पादसे ही हम देखते हैं कि, सिद्ध बननेके लिये भाषाका कवि होना, मानो एक आवश्यक बात थी। सिद्धोंने भाषामें कविता करके यद्यपि अपने विचारोंको जनताके समझने लायक बना दिया; तथापि डर था कि, विरोधी उनके आचार-विरोधी धर्म-कलापका खुले-आम विरोध कर कहीं जनतामें घृणाका भाव न पैदा कर दें, इसीलिये यह एक तो विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्तियोंको ही उन्हें सुननेवाला अपसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार, दोनोंमें लग जाय। इस भाषागो पुराने लोगोंने “सम्भ्याभाषा” कहा है; और, आजकल उसे “निगुण”, “रहस्यवाद” या “छायावाद” कह सकते हैं। गुप्त होनेके ही कारण हमें “ग्राह्य-पूज” जैसे ग्रन्थोंमें इन काव्योंका कोई उद्धरण नहीं मिलता।

द्यमप हग जियु पुके ई कि, चौरासी सिद्धोंका काल ७५०-११०५ ई० है, किन्तु सिद्ध उसके बाद भी होते रहे हैं। इसलिये सिद्धकाल उसके बादतक भी रहा है, तो

भी भाषाके खयालसे हम उसे महाराज जयचन्द्रके गुप्त मित्रयोगी (बारहवीं शताब्दी)के साथ समाप्त करते हैं। लेख यह जानेके डरसे हम यहाँ विस्तार नहीं करना चाहते; तो भी यह याद रखना चाहिये कि, रामानन्द, कबीर (जन्म ११६६ ई०, मृत १४५८), नानक (जन्म १४६८ ई०), दादू (जन्म १५४४ ई०) आदिसे राधास्वामी दयालतक सभी सन्त इन्हीं चौरासी सिद्धोंके टकसालके सिद्धे थे। रामानन्दकी कविताएँ दुर्लभ हैं। उन्होंने तथा उनके शिष्य कबीरने, चौदहवीं शताब्दीके अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दीके आरम्भमें, अपनी कविताएँ कीं। यदि बारहवीं शताब्दीके अन्तसे चौदहवीं शताब्दीके अन्तका कविता-प्रवाह जोड़ा जा सके, तो सिद्ध और सन्त-कविता प्रवाहके एक होनेमें आपत्ति नहीं हो सकती। यह जोड़नेवाली शृङ्खला नाथपन्थकी कविताएँ हैं। इस कबीर-सम्बन्धी कहावतोंमें गोरखनाथ और कबीरका विवाद अक्सर सुनते हैं। महाराज देवपाल (८०६-८४६ ई०)के समकालीन सिद्ध गोरखनाथ पन्द्रहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें कबीरसे विवाद करने नहीं आ सकते। यस्तुतः यहाँ हमें गोरखनाथकी जगह उनके नाथपन्थकी खेना चाहिये। मुसलमानोंके प्रहार और अपनी भीतरी निर्बलताओंके कारण यौद्धधर्म विकीन होने लगा। उसमें शिष्टा ग्रहण कर आत्मरक्षार्थ नाथपन्थ धीरे धीरे कबीरवर-पादसे ईश्वरवादी हो गया। कबीरके समय यही एक ऐसा पन्थ था, जिसकी धारियाँ और सम्मोंका प्रचार सर्वमाधारणमें अधिक था। जिस प्रकार योद्धा, ईश्वरी, योद्धाशु तथा कुछ पहले भौली और संशयित पीढ़े छोटे-छोटे माता-राज्य एक भूतपूर्व बिताख मराठा-

साध्यायका साधन देते हैं, उसी प्रकार आज भी काबुल, पंजाब, युक्तप्रान्त, बिहार, यङ्गल और महाराष्ट्रतक फैली नाथपन्थकी गढ़ियाँ नाथपन्थके विराज बिस्तारको बतलाती हैं। यह विस्तार वस्तुतः उन्हें अपने चौरासी सिद्धोंसे, पैतृक सम्पत्तिके रूपमें, मिला था। नाथपन्थके परिवर्तनके साथ अधिकांश बौद्ध ब्राह्मण धर्ममें लौटे।

“नाथपन्थ” चौरासी सिद्धोंसे ही निकला है। इसके लिये यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा—विशेषतः जब कि, चारद्वीसे चौदहवीं शताब्दीतककी हिन्दी कविताओंके लिये हमें अधिकतर नाथ-धाराके और ही नजर दीजानी होगी। “गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह”में ४ “चतुःशीतिसिद्ध” शब्दके साथ निम्न सिद्धोंका नाम मार्ग-प्रवर्तकके तौरपर लिखा गया है—नागार्जुन [१६], गोरक्ष (१६), चर्पट (२६), कन्याधारी (६६), जालन्धर (४६), आदिनाथ (= जालन्धरपाद, सि० ४६), चर्पा (कण्डपा) (१०)^१। इससे चौरासी सिद्ध और नाथपन्थके सबन्धमें सन्देहकी कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। विचारोंमें यद्यपि शाय नाथपन्थ अतीश्वरवाद छोड़कर ईश्वरवादी हो गया ह, तथापि शाय भी उसकी वाणियोंमें ध्यान-योग करनेपर निर्वाण, शून्यवाद और ब्रह्मज्ञानका

बीज मिलेगा। नाथपन्थी महाशायीय ज्ञानेश्वरने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गहनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर। इनमें आदिनाथ जालन्धरपाद ही हैं, जैसा कि, जालन्धरपादके अन्य “विमुक्तमञ्जरी” + के भोटिया अनुवादसे मालूम होता है। इस परम्परामें बीचके पुरुषोंको छोड़ दिया गया है; क्योंकि गोरक्षनथ (१६वीं शताब्दी) और ज्ञानेश्वर (१४वीं शताब्दी) के बीचमें सिर्फ दो ही पीढ़ियाँ नहीं हो सकतीं। मैंने अन्यत्र सरहके बरा बृत्तमें चर्पटीने शान्ति-गुप्ततकका भाग, १६ वीं शताब्दीके भोटिया ग्रन्थ “रत्नाकर जोषमकथा”से × दिया है (इस ग्रन्थके आरम्भका एक पृष्ठ तथा अन्तके भी कितने ही पृष्ठ गायब हैं)। वज्रयानके सम्बन्धमें भोटिया भाषामें जो सामग्री उपलब्ध है, वह बहुत ही प्रचुर परिमाणमें है, और, उसका अधिकार शताब्दियोंके हेर फेरसे बचा रहनेसे बहुत प्रामाणिक है। इसी लिये गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथके काज निर्णयमें उनकी उपासना नहीं की जा सकती। भोटिया ग्रन्थोंकी यावोंकी पुष्टि, कभी-कभी बड़े विचित्र रूपसे होती देखी जाती है। उक्त “रत्नाकर-जोषमकथा” ग्रन्थमें लिखा है—

* “गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह”, सरस्वतीमवन टेक्स्ट सीरीज, बनारस—
“नागार्जुनो जडभरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयक । सन्यासो भीमनाथो गोरक्षचर्पटस्तथा ॥ मन्वदनेव वैराग्य कन्याधारी जलन्धर । मार्गप्रवर्तका हेतो तद्वत् मलयार्जुन ॥” (पृष्ठ १६) ।
“एव श्रीगुरुआदिनाथ । मत्स्येन्द्रनाथ । तत्पुत्र उदयनाथ । दण्डनाथ, सन्यानाथ, सन्तोषनाथ, धर्मनाथ, भव-नाथि । तस्य श्रीगोरक्षनाथ” ... ॥” (पृष्ठ ४०) ।

“चत्वारो गुणध्यास्तु लोकानामभिगुणये । मित्रोशोरीश-परीशान्वर्षतिथा कुम्भारथा । ” (पृष्ठ ४३) ।
“चतुःशीतिसिद्धान्तो पूर्वादीनां दिशा प्रसरत् । नवनाथविरचितेन सिद्धागमेन कारयेत् । गोरक्षनाथो वनेन पूर्वे... नागार्जुनो महानाथो ” (पृष्ठ ४४) ।
जलन्धरो वसेन्नित्यमुत्तारापयमाश्रित ।

१ कण्डपाको भोटियामें स्योद्-पा-पा (चों पा-पा = चर्पापा) भी कहते हैं। (स-स्वयं च-सुप्त, ज १४६ क) ।
+ देखिये Cordier का Catalogue du fonds Tibetaïn, troisième partie. पृष्ठ ११२

× रिन्-पो-चे-ह-ह-पुद्-गु-रु-स्-त-सु-र-म ।

“मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ, ये दोनों भारतकी पूर्व दिशावाले यामरूप (देश) के मछुवे थे... (वहाँ) लौहिय-नदी है, जिसे आलकन भोटमें “चह-पो” कहते हैं ।... [मत्स्येन्द्र] मछलीके पेटमें १२ वर्ष रहे । फिर आचार्य चर्पटीके पास गये ।... दोनों ही सिद्ध हो गये ।... वाप (हुआ) सिद्ध मीनपा और देवा सिद्ध मछिन्द्रपा ।”

“तन्त्रालोक” की टीकामें इसकी पुष्टि हमें इस श्लोकसे मिलती है—

“भैरव्या भैरवान् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये ।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानये ।
कामरूपे महापीठे मच्छ्रेन्द्रेण महात्मना ।”

“नाथपन्थ” के चौरासो सिद्धोंका उत्तराधिकारी सिद्ध हो जानेपर फिर कबीरसे सम्बन्ध जोड़नेमें दिक्कत नहीं रहती । कबीर स्वयं चौरासो सिद्धोंको भूले न थे, तभी तो उन्होंने कहा है—

“धरती अरु असमान बिचि, दोई तूँवडा अवध ।
पट दर्शन संसे पड़्या, अरु चौरासी सिध ॥”

यहाँ चौरासी सिद्धोंसे विरोध प्रकट करनेसे कबीर उनकी टक्कालके न थे—ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं । वस्तुतः रामानन्द, कबीरने सिद्धोंके ही निर्गुण, योग और विविध ढंगको अपनाकर नाथवंशके राज्यपर धावा किया : और शताब्दियोंके संवर्षके बाद विजयी हुए । यदि आप भक्तमालके भक्तोंके व्यवसाय, कुल, रहन-सहनको चौरासी सिद्धोंसे मिलावें, तो यह विचार-सादर्य भली भाँति प्रकट हो जायगा ।

सिद्धोंकी कविताकी भाषा आठवींसे १२ वीं शताब्दीकी भाषा है; इसीलिये उसका आपसमें भी भेद होना स्वाभाविक है । फिर नवीं शताब्दीके कवियोंकी २० वीं शताब्दीकी भाषासे कितना फर्क होगा, इसके लिये तो कहना ही क्या ! आखिरी सिद्धके १०० वर्ष बाद, सन् १३०० ई० में, राणा हमीर सिंह चितौड़की गद्दीपर बैठे । हिन्दुओंकी कुछ परम्परागत कमजोरियोंको छोड़कर वह एक आदर्श चरित्र वीर थे । उनके सम्बन्धकी कुछ कविताएँ “प्राकृत-पैङ्गल” में उद्धृत हैं (इसका कवि सम्भवतः “जज्ञल” या, जो कि, हमीरका सेनापति भी था) । इस चौदहवीं शताब्दीके पूर्वाद्धकी भाषाको आमतो मिथानेसे उससे भी पुरानी सिद्धोंकी भाषाके पूर्वका अनुमान किया जा सकता है—

“पञ्च १—भरु दर भरु धरणि तरणि रह धुलिअ मंजिअ ।
कमठ पिट्ट टरपरिअ २ मेरु मंदर सिर-कंपिअ ॥
कोह चलिअ हमीर वीर गङ्ग-जूह ३ संजुसे ।
फिअउ कट्ट आकंइध मुञ्चिअ म्नेच्छहं पुते ॥१२॥
“पिंथउदं दिदु सखणाहउ वाह-उपर पकररट दइ ।
बन्धु समदिह रण धसउ सामि हमीर वखण १०लह ।
उडुल गह-वह ११ भमउ १२ रग्ग १३ रिउ १४
सोसहि डारउ ।

पकरर१५ पकरर ठेलि पेलि पवअ१६ उफ्फालउ१७ ॥
हममीर कजु जजज भणह फोहाणल१८ मुह मह जलउ
सुलतान सोस करवाल दइ,

तेजि कलेवर दिअ १९ चलेउ ॥१०७॥ □ (पृष्ठ १८०) ।

* [निरेगुम्-गङ्गन-नीज, पृष्ठ २४, २६, Indian Historical Quarterly, March, 1930 से उद्धृत]

† कशोम-बावली, नागरी-चारिणी गमा द्वा प्रकाशित, पृष्ठ ४४ ।

‡ “बेदनीही कुटी भती, नौ बँटु भरती । बेदनीही छपरी भली, नौ तापउस बहानी ॥” (कबीर भं०, पृ० ६२) । यहाँ “साप” या सापसे मतलब जिन सम्प्रदायसे था, उसमें नाथपन्थ एक समय प्रमुख था ।

१ पद । २ उगनगाये । ३ गङ्गपू । ४ मरुद्वेन । ५ म्नेच्छेकि । ६ पेन्तो, पदम । ७ कवच । ८ वखण । ९ सवभर । १० वपन । ११ नभरप । १२ रग्ग, धूम । १३ सङ्ग । १४ पि । १५ पड । १६ परत । १७ वरप, बरादा । १८ मोपान । १९ दिव, रुग् । □ “प्राकृत-पैङ्गल”, संग्रह राज एतिहासिक मोनाइरो द्वारा प्रकाशित ।

हमके पहलेकी एक कविता लीजिये, जो सम्भवतः काशिराम जयपद या हरिद्वन्द्वके श्रियेकी गयी मालूम होती है—

“जे किञ्जिष-याला १ जिरायु
२ एिषाला ३ भोट्टा ४ पिट्टत चने ।
भंजाविष ५ चीण ६ द्पदि ६ हीणा
लोहायल हान्द ७ पले ।
ओटा ८ उट्टाविष ९ किरा १० पाविष
११ मोलिष १२ मालय १३ राश्र घले ।
तेलंगा भगिष पुखि रा १४ लमिष, कामो-
राश्रा ५५ जरण १६ चने ॥” (पृ० १९८)
वेहवीं शताब्दीके मध्यमें लिखे गये एक भोटिया-
ग्रन्थमें ‘उदुत बुद्ध हिन्दी-शब्दोंको देखिये—हन्द (इन्द्र),
जम (यम), जख (यक्ष), वाउ (वायु), रख (रक्ष),
चन्द (चन्द्र), सुज (सूर्य), माद (माता), वण
(वाण) ।

इन उदाहरणोंसे आपकी समझमें आ जायगा कि, हिन्दीकी आदिम कविताकी भाषाका आजकलकी भाषासे काफी भेद होना स्वाभाविक है ।

जिन कवियोंकी कविताओंको मैं यहाँ हिन्दीकी प्राचीन-तम कविता कहकर उद्धृत करने जा रहा हूँ, उन्हें बगालके

दिग्गज ऐतिहासिक बंगला कहते हैं । इसके बारेमें इसी चक्रमें सुदृढ़ दूसरे लेखोंमें आ गया है और यहाँ भी जो कवियोंका संक्षिप्त परिचय दे रहा हूँ, वह काफी उत्तर है । सर्वप्रातन सिद्ध सरहपाद नालन्दासे संबन्ध रखते थे; इसलिये उनकी भाषाका मगही होना स्वाभाविक ठहरा । अन्य सिद्धोंने भी इसी भाषाको कविताकी भाषा बनाया । सभी तो कर्णाटकके कर्णपा (या कण्डपा, कृष्णपाद) ने अपनी कविताओंको कर्णाट भाषामें न कर इसी भाषामें किया । वस्तुतः चौरासी सिद्ध नालन्दा और विक्रमशिलासे सम्बन्ध रखते थे । जबतक नालन्दा, विक्रमशिलाको बगालमें नहीं ले जाया जाता, तबतक सिद्धोंकी भाषा भी बंगला नहीं हो सकती । रही भाषाकी सगानताकी बात; वह तो मगही और मैथिलीसे और अधिक है । वस्तुतः अतीत कालके मोतर हम जितना ही अधिक घुसते जायेंगे वह उतनी ही अधिक मिजेगी; क्योंकि, मगही, ओड़िया, दोगला, असामी, मैथिली—सभी मागधीकी सन्तानें हैं ।

१ सरहपा (सिद्ध ६) इनके दूसरे नाम

राहुजमद्र और सरोजवज्र भी हैं । पूर्व दिशामें राशी (१) नामक नगरमें एक ब्राह्मण वंशमें इनका जन्म हुआ था । भिष्ट होकर यह एक ब्रह्मे पबिष्ठत हुए । नालन्दामें कितने ही धर्पोक्त इन्होंने वास किया । पीछे इनका ध्यान मन्त्र-

* “श्राव्हयेन्मल”, पृष्ठ ३१८ ।

१ बर्गवद्र । २ जीता । ३ नेपालको । ४ निवृत्त । ५ भ्रम किया । ६ दर्पमें । ७ ब्राह्मन्दन, रोना-पीटना । ८ उड़ीसावासी । ९ उड़ा दिया, उड़ा दिया । १० कीर्ति । ११ पाया । १२ पतास्त किया । १३ मालवराजकी सेनाको । १४ पुनर्पि न, फिर नहीं । १५ काशीभाज । १६ जिष समर्थ ।

T सन्ध्य-वक-बुध, प० पृष्ठ १८४ ख, फल-प (१२३३-१२०६ ई०) विरचित ।

* “Thus the Time of the earliest Doha (दोहा) in Bengali goes back to the middle of the 7th Century, when Saraha flourished and Bengal may be justly proud of the antiquity of her literature” Dr. B Bhattacharya, (J B & E S LX-XXLI, 1, P. 247)

तन्त्रकी ओर आकर्षित और एक वाण [शर-सर] बनानेवालेकी बन्पाकी महामुद्रा * बनाकर किसी धरूप में बास करने गये। वहाँ यह भी शर (वाण) बनाया करते थे; इसी लिये इनका नाम सरह पड़ गया। श्रीप-वंत १ में भी यह बहुत रक्ता करते थे। सम्भव है, इनकी मन्त्रोंकी ओर प्रथम प्रवृत्ति भी वहाँ हुई हो। शबरपाद (५) इनके प्रधान शिष्य थे। कोई तान्त्रिक नागार्जुन भी इनके शिष्य थे। भोटिया तन्-जूरमें इनके ३० ग्रन्थोंका अनुवाद मिलता है, जो सभी वज्रयानपर हैं। इनमें एक “बुद्ध-कपाल-तन्त्र”की पञ्जिका “ज्ञानवती” भी है। इनके निम्न काव्य-ग्रन्थ सगद्दीसे भोटियामें अनुवादित हुए हैं—

१ क, ८ दोहा (त० ३७७)। २ क-ख दोहा टिप्पण (त० ४७८)। ३ कायकोप-अमृतवज्रगीति [त० ४७९]। ४ चित्तकोप-अजयवज्रगीति [त० १७११]। ५ ढाकिनी-वज्र गुह्यगीति [त० ४८१०६]। ६ दोहा-कोप-उपदेश-गीति [त० ४८१५]। ७ दोहाकोपगीति [त० ४८१६]। ८ दोहाकोपगीति। तत्त्वोपदेशशिखर—, [त० ४७१७]। ९ दोहाकोप-गीतिका। भावनादृष्टि-चर्याफल—, [त० ४८१६]। १० दोहाकोप। वमन्ततिलक—, (त० ४८११)। ११ दोहाकोप-चर्यागीति। (त० ४७१४)। १२ दोहाकोप-महामुद्रोपदेश। (त० ४७१३)। १३ द्वादशोपदेश-आथा (त० ४७१३)। १४ महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति। (त० ४८१००)। १५ वाक्-कोप-चिरस्वरवज्रगीति। (त० ४७१०)। १६ सरह-

गीताका (त० ४८११४, १५)। इनकी कुछ कविताओंका नमूना नीजिये—

× “जह मन पवन न सखरइ, रवि शशि नाह पवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरह कहिअ उरोश ॥”

“परिद्वष्ट सखल सत्य वक्खाणइ
देहहि बुद्ध वसन्त न जाणइ”

“अमण्णामण्ण ण तेन विखण्डिअ।
तोवि णिलज्ज भणइ हँउ परिद्वष्ट”

“जो भयु सो निधा [१७५] ण खलु,
भेयु न मण्णहु पण्ण ॥”

“एकसभावे विरहिअ, निर्म्मलमइ पड्डिवण्ण ॥”
“घोरे न्धारें चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ।

परममहासुह एखुकाणे, दुरिआ अशेष हरेइ ॥”
“जीवन्तह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ।

गुरु उपणें विमलमइ, सो पर धरण कोइ ॥”+
इनके कुछ गीति-पद्य—

राग-द्वेशाख [३२]—

“नाद न विन्दु न रवि न शशि-मण्डल ॥
चित्राराध सहावे मूकल ॥ ध्रु ॥

उजु रे उजु छाडि मा लेहु रे बह्नु।
निष्पदि घोहिमा जाहु रे लह्नु ॥ ध्रु ॥

हाथेरे कान्काय मा लोउ दापण।
अपणं अपा बुम्तु निअ-मण्ण ॥ ध्रु ॥

पार-उआरे सोइ गजइ।

दुज्जण साङ्गे अवसरि जाइ ॥ ध्रु ॥

* वज्रयानीय योगकी सद्वचनी योगिनी अथवा हेन्नाटिज्जका माध्यम।

† नहरल-बहु (नागार्जुनीकोण्डा, जिला गुंटर)।

‡ तन्त्रमन्त्र तन्त्रके तन्त्र-खण्डसे है। विशेषके लिये देखिये मेथिये Cordier का Catalogue du fonds Tibetain; द्वितीय और तृतीय खण्ड।

× “बौद्धयान-मो दोहा”—यंगीय वादित्य-परिचय, कलकत्ता, “सरोजबेअर दोहाकोप।”

+ विस्तारके भयसे अर्थ नहीं दिशा गया।

याम दाहिण जो खाल बिसल ॥

सरह भणइ धप उजुवटि भाइला ॥ ध्रु ॥” १

राम-भैरवी (३८)—

‘काथ खावड़ि खसिट मण केहु खाल ।

सद्गुरु बधने धर पतवाल ॥ ध्रु ॥

धीअ धिर करि धहुरे नाही ।

अन उपाये पारण जाई ॥ ध्रु० ॥

नौवाही (नौवात्रा) नौका टागुअ गुणै ।

मेलि मेज सहजें जाउ अ आणें ॥ ध्रु० ॥

वाट अमअ खालटधि बलआ ।

मव-उलोत्रें पअवि घोलिआ ॥ ध्रु० ॥

कुल लइ रारे सान्ते उजाअ ।

सरह + भणइ ग(अ) यें पमाएँ ॥ ध्रु० ॥ ॥३८॥

२ शवरपा (सिद्ध ५) ये सरहपादके शिष्य थे ।

गौदेवर महाराज धर्मपाल (७६६—८०६ ई०) के कायस्थ (जेफक) लूहिपा इन्होंने शिष्य थे । नागालुंनको भी इनका गुण कहा गया है; किन्तु यह ग्रन्थवादके आचार्य नागालुंन नहीं हो सकते । यह अक्सर श्रीचरितमें भी रहा करते थे । जान पड़ता है, शवरों या कोज-भीजोंकी भाँति रहन-सहन रखनेके कारण इन्हें शवरपाद कहा जाने लगा । तन्त्रज्ञमें इनके अनुवादित ग्रन्थोंकी संख्या २६ है; (जो सभी छोट्टे-छोट्टे हैं); किन्तु पीछे, दसवाँ

शताब्दीमें, भी एक शवरपा हुए थे, जो मैत्रीया या भव-धूतीपाके गुरु थे । उनकी भी पुस्तकें इन्हींमें शामिल हैं । इनकी हिन्दी-कविताएँ ये हैं—“चित्तगुह्यगामीरार्थ गीति” (त० ४८११०८) । महासुदावज्रगीति (त० ४७१२६) । शून्यताष्टि (त० ४८१३६) । पद्मयोग * (त० ४१२२) । सहजशंकरस्वाधिष्ठान * (त० १३१६) । सहजोपदेश स्वाधिष्ठान * (त० १३१४) । चर्पा-गीतोंमें इनके दो गीत दिये हुए हैं । (रामबलाहि २८)—

“ऊँच ऊँचा पावत तहिं बसइ सबरी वाली ।

मोरनि पीछ परहिण सबरी गियत गुजरीमाली ॥ ध्रु ॥

उमत सबरो पागत शवरों मा कर गुली गुहाडा,

तोहोरि शिअ धरिणी यामे सहज सुन्दरी ॥ ध्रु० ॥

पाणा तरवर मोलिल रे गअणत लागेली डाली ।

एकेली सबरी ए वण हियडइ कर्णकुण्डलबचधारी ॥

तिअ घाउ खाट पडिला सबरो महासुखे सेजि छाइली

सबरो भुजङ्ग खइरामणि दारी पेडा राति पाहाइली ॥ ध्रु ॥

हिअ ताँवोला महा सुदे कापूर खाइ ।

सुन निरामणि कण्ठे लइआ महासुदे राति पोहाइ ॥ ध्रु ॥

गुरुशक पुज आ विन्व शिअ मण वाणै ।

एके शर-सन्वाने विन्वइ-विन्वइ परम शिवाणै ॥ ध्रु ॥

उमत सबरो गरुआ रोपे

गिरिवर-सिइर संधि पइसन्ने सबरो लोडिब कइसे २८”

१ ‘बौद्धजन-उ-दोहा’ “चर्पाचयविनिरवय” (‘चर्पा-गीति’ नाम ठीक जैवता है) । पठ बहुत अशुद्ध है । खेल बढ़ जानेके डरसे मैं यहाँ शुद्ध करनेकी कोशिश नहीं करता । यहाँ कहीं मात्राके हल-दीर्घ कानेसे, कहीं संयुक्त वर्णोंके पठाने-बढ़ानेसे तथा कहीं-कहीं एकाध अक्षर छोड़ देनेसे छन्दो-भंग दूर हो जायगा । जैसे पहला पंक्तिमें “रवि न शक्ति” के स्थानपर रवि-शक्ति; “विज-नाम” के स्थानपर “जीम-नाम” “कान्काण” के स्थानपर कडण, “माप” के स्थानपर मप्या ।

+ सहजपाद संस्कृतके भी कवि थे । “या सा संसारचक्रं विरचयति मनःसन्नियोगात्तमहेतोः । सा धीर्यस्य प्रसादादिराति निजभुवं स्वामिनो निष्पन्नञ्च (म) । तच्च प्रत्यात्मवेद्यं समुद्यति सुखं कल्पनाजालमुक्तम् । कुर्यात् तस्याह्निषुग्मं शिरसि सविनयं सद्गुरोः सर्वकालम् ॥” (“चर्पाचयविनिरवय,” पृष्ठ ३) ।
* ये ग्रन्थ संस्कृतमें थे या हिन्दीमें, इसमें सन्देह है ।

राग रामक्री (५०)—

“गङ्गायात गङ्गायात तइला वाइही हेइश्च कुराडी ।

कण्ठे नैरामणि वालि जागन्ते उपाडी ॥ ध्रु० ॥

छाडु छाड माझा मोहा विषमे दुन्दोली ।

महासुहे विचसन्ति शवरो लइआ सुणमे हेली ॥ ध्रु० ॥

हेरि ये मेरि तइला वाडी खसमे समतुला ।

पुकड़ए सरे कपासु फटिला ॥ ध्रु० ॥

तइला वाडिर पासैं र जोहूणा वाडी ताएला ।

फिटेलि अन्धारि रे आकाश फुलिआ ॥ ध्रु० ॥

बुझुरि ना पाकेला रे शवरा शवरि मातेला ।

अणुदिण शवरो किम्पि न चेवइ महासुहें भेला ॥ ध्रु० ॥

चारिबासे भाइलारें दिअरैं चव्वाली ।

तैंहि तोलि शवरो हफएला कान्दरा सगुण शिआझी ॥ दु०

मारिल भव-मचारे दह-दिहें दिथ लियली ।

हे रसे सवरो निरेवण भइला फिटिलि पवराली ॥ ध्रु० ॥

३ आर्यदेव या कर्णरीपा (सिद्ध १८)

यह श्रुत्यवादके आचार्य नागार्जुनके शिष्य आर्यदेव न थे। इनके गुरु वज्रयानी सिद्ध नागार्जुन थे, जो

कि, सरहपादके शिष्य थे। मित्रु धनकर नातन्दा-विहार गये। तन्त्र-ज्ञके दर्शन विभागमें आर्यदेवके ६ ग्रन्थों

और तन्त्र-विभागमें २६ ग्रन्थोंका अनुवाद है, जिनमें दर्शन के नौ ग्रन्थ तो पुराने साध्यमिक आर्यदेवके हैं, बिन्नु

तन्त्रके प्रायः सभी ग्रन्थ इन्हींके हैं। इनमें हिन्दीमें सिर्फ “निविकल्प प्रकरण” (त० ४०।२०) ही मालूम होता है।

इनकी एक कविताका नमूना लीजिये—

राग-पटमजरी (३१) —

“जहि मण इन्दिअ (प, वण हो एता ।

ए जाणमि अपा कैहि गइ पइठा ॥ ध्रु० ॥

अकट करुणा डमरुलि बाजअ

आजदेव गिरासे राजइ ॥ ध्रु० ॥

चान्दरे चान्दकान्ति जिम पतिभासअ

चिअ विकरणे तहि टलि पइसइ ॥ ध्रु० ॥

छाड़िअ भय धिण लोआचार

चाहन्ते चाहन्ते सुण विआर

आनदेवें सखल विहरिउ

भय धिण दुर गिआरिउ ॥ ध्रु० ॥”

४ लूहिपाद (सिद्ध १७) पहले राजा

धर्मपाल (७६६-८०९ ई०) के लेखक (=कावय) थे।

एक समय बाघ महाराज धर्मपाल अपने राज्यके प्रदेश

वारेन्द्रमें थे, तब सिद्ध शबरपाद भी विचरते हुए उभर

ना निकले। एक दिन शबरपाद राजाके महलमें भिठाके

लिये गये। उसी समय लूहिपासे उनकी भेंट हुई। वह

बहुत ही प्रभावित हुए और विरक्त हो शबरपादके शिष्य

बन गये। संख्यामें चौरासी सिद्धोंमें इनका नाम प्रथम

होना ही बतलाता है कि, यह कितना प्रभाव रखते थे।

इनके प्रधान शिष्योंमें सिद्ध दारिकपा और सिद्ध हेंगीपा

थे, जो दोनों ही पूर्वार्धमें क्रमशः उड़ीसाके राजा और

मन्त्री थे * । इन्हींने पुरानी मगही हिन्दीमें ३० बहुत

सी कविताएँ की थीं। तन्त्र-ज्ञमें इनके सात अनुवादित

ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न पाँच हिन्दीमें थे—अभि-

समव्यभिक्त (त० १३।१८) । तत्त्वव्यापदोहाकोप

(त० ४८।२) । दुदोदय (त० ४०।४१, ७३।६२) ।

भगवदभिसमय (त० १२।८) । लूहिपाद-नीतिका

(त० ४८।२७) ।

* स. सत्य-वह-सुम् ज, पृष्ठ २४२ ख—२४५ ख।

† डाक्टर विनयनोप महाचार्य इनकी कविताके विषयमें

कहते हैं—“These songs written by a Bengali in the soil of Bengal, may appropriately

be called Bengali” भोटिया-ग्रन्थोंमें भगल या भगल मिश्रता है, जित नामसे कि, भोटिया लोग विषम-

मिलापाछे प्रदेशको पुरारते थे और जिह्वा विद्य भगलपुके नाममें अब भी मौजूद है।

कविताका नमूना । राग-पट-मंजरी (१) —

“काभा तरुवर पञ्च विडाल
चञ्चल चीए पड़ो फाल
दिट करिअ महासुह परिमाण
लुइ भणइ गुरु पूच्छिअ जाण ॥ध्रु॥
सञ्चल स [मा] हिअ काहि करिअइ
सुख दुखेते निचित मरिअइ ॥नु॥
एषिएउ धान्दक बान्ध करणक पाटेर आस
सुनु पाय भिति लाहु रे पास ॥ध्रु॥
भणइ लुइ आन्हे साणे दिठा
धमण चमण बेणि पाखिड बइण ॥ध्रु॥”

राग पटमञ्जरी (२६) —

“भाव न होइ अभाव ए जाइ,
आइस संयोहें को पतिआइ ॥ध्रु॥
लूइ भणइ बट दुलकष विणाणा,
तिअ धाए विलसइ उह लागे या ॥ध्रु॥
जाहेर वान-चिह-रुव ए जायो,
सो कइसे आगम बेएँ वत्तायी ॥ध्रु॥
काहेरे किय भणि मइ दिवि विरिच्छा,
उदरु बान्द जिमि साच न मिच्छा ॥ध्रु॥
लुइ भणइ भाइव कीप,
जाखइ अछड़मता हेर उह ए दिस ॥ध्रु॥”

५ भूसुकु (सिद्ध ४१) नालन्दाके

पासके प्रदेशमें, एक क्षत्रिय-वंशमें, पैदा हुए थे । भिड

यनकर नालन्दामें रहने लगे । उस समय नालन्दाके राजा (गौडेश्वर) देवपाल (ई० ८०६-८४६) थे । कहते हैं, इन्हींका नाम शान्तिदेव भी था । इनकी विचित्र रहन-सहनको देखकर राजा देवपालने एक बार ‘भूसुकु’ कह दिया और तभीसे इनका नाम भूसुकु पड़ गया ! शान्तिदेवके दर्शन-सम्बन्धी छः ग्रन्थ तत्कालमें मिलते हैं और तंत्र-पर तीन । भूसुकुके नामसे दो ग्रन्थ हैं, जिनमें एक “सक्र-संवातग्र” की टीका है । मागधा हिन्दीमें लिखो इनकी “सहजगोति” (त० ४८१) मोठिया भाषामें मिलती है ।

कविताका नमूना । राग कामोद [२७] —

“अधराति भर कमल विकसउ,
बतिस जोइणी तसु अन्न उह एणसिउ ॥ध्रु॥
चालिअ पपहर मागे अवधूइ,
रअणहु पहजे कहेइ ॥ध्रु॥
चालिअ पपहर गउ गिवाएँ,
कमलिनी कमल घहइ पणालें, ॥ध्रु॥
विरमानन्द मिलछण सुध ॥
जो एथु वूकइ सो एथु बुध ॥नु॥
भूसुकु भणइ मइ वूमिअ मेलें,
सहजानन्द महासुह लोले ’ ॥ध्रु॥
राग मल्लारी [४९] —

“याज शाव पाड़ी पँउआ खाले बाहिउ,
अदअ बङ्गाले ’ क्लेश लुडिउ ॥ध्रु॥
आनि भूसु बङ्गाली ’ भइली,
गिअ घरणी चण्डाली लेली ॥ध्रु॥

‘० राक्टर महाचर्यने लिखा है—“In The Pag-Sam-Jon-Zan it is said that Santideva was a native of Saurashtra, but I am inclined to think that he belonged to Bengal it is evident from his song” “मात्र भुसु बङ्गाली” (*ibid*) गीतमें बंगाली शब्द खास तान्त्रिक परिभाषाके अर्थमें व्यवहृत हुआ है, जैसा कि, राक्टर महाचार्यके पिता प्रात स्मरणीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीने अपने इसी ग्रन्थकी भूमिका (पृष्ठ १०) में लिखा है—“सहज मते तीनटि पथ भावै, भवधूनी, चाण्डाली, लोम्बी वा बंगाली । भवधूनी ते द्वैतज्ञान थाके, चाण्डालीते द्वैतज्ञान भावे बलितेउ दय, किन्तु लोम्बीते केवत भद्रेत.....

उहि जो पञ्चघाट रह दिवि संझा गुठा,
 ए जाणमि चिअ मोर कहिँ गइ पइठा ॥ध्रु॥
 सोण तरुअ मोर निम्पि ए थाँकउ,
 निअ परिवारे महासुहे याकिउ ॥ध्रु॥
 चउकोडि भएडार मोर लइआ सेस,
 जीवन्ते महलं नाहि विरोष ॥ध्रु॥”

६ वीणापा (सिद्ध १२)

गौडदेशमेंः चत्रियवंशमें इनका जन्म हुआ था। इनके गुरुका नाम भद्रपा (सि० २४) था। वीणा यज्ञकर यह अपने पदोंको गाया करते थे, इसलिये इनका नाम वीणापा पड़ गया। तन्जूरमें इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—
 १ गुह्याभियेक-प्रक्रिया (त० २१।५०)। २ महाभियेक-त्रिक्रम (त० २१।५१)। ३ वज्रटाकिनीनिष्पन्नक्रम [त० ४८।५२]।

इनमें वीसरा ग्रन्थ उसी बैठनमें है, जिसमें हिन्दी कविताओंके दूसरे अनुवाद हैं, इसलिये मालूम पड़ता है, यह भी हिन्दीमें रहा है। “चर्यांगीति” १ में इनका एक गीत इस प्रकार है—

राग पदमञ्जरी, (१७)—

“सुज लाउ ससि लागेलि तान्तो,
 अणुहा दाएडी वाकि कि अत अवधूती ॥ध्रु॥
 वाजइ अला सहि हरु अयोणा,
 सुन तान्ति धनि बिलसइ रुणा ॥ध्रु॥
 आलिकालि वेधि सारि सुणेआ,
 गअवर समरस सन्धि गुणिआ ॥ध्रु॥

जने करह करहरु लेपि चिउ,
 वनिश तान्ति धनि सएल विआपिउ ॥ध्रु॥
 नाचन्ति वाजिल गान्ति देवी,
 बुद्ध नाटक विसमा डोड ॥ध्रु॥”

७ विरूपा (सिद्ध ३) महाराज

देवपाल (८०१-४१ ई०)के देश “ग्रिउर” (?) में इनका जन्म हुआ था। निष्ठु बनकर नालन्दा-विहारमें पढ़ने लगे और वहाँके अच्छे पण्डितोंमें हो गये। इन्होंने देवीकोट और श्रीपर्वत आदि सिद्ध स्थानोंकी यात्रा की। श्रीपर्वतमें इन्हें सिद्ध नागजोषि मिले। यह उनके शिष्य हो गये। पीछे नालन्दामें आकर जय इन्होंने देवा कि, विहारमें मध, खा आदि, सहजचर्चाके लिये श्राल्यावरयक वस्तुओंका व्यवहार नहीं किया जा सकता, तब वहाँसे गङ्गाके घाटपर चले गये। वहाँसे फिर उठीसा गये। इनके शिष्योंमें दोन्रिया (सि० ४) और कचहपा थे। यमारित्रन्त्रके यह कवि थे। तन्जूरमें इनके तन्त्र-सम्बन्धी अठारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न सगही हिन्दीमें थे—अश्वत्थसिद्धि (त० ४७।२७)। दोहाकोष (त० ४७।२४)। दोहाकोषगीति-कर्म-चण्डालिका (त० ४८।४)। मार्गकालाङ्गिताववादक (त० ४७।२५)। विरूपगीतिका (४८।२६)। विरूप वज्रगीतिका (त० ४८।१६)। विरूपपदचतुरशीति (त० ४७।२३)। मुनिश्रवणतत्वोपदेश (त० ४८।१००)

कविताका नमूना। राग गवक्ता (३)—

“एष से सुण्डिन दुइ धरे सान्धव,
 चीअण वाकलअ वारुणी बान्धव ॥ध्रु॥

एइया तुमि सख सत्पद बगनी हइले अर्थात् पूर्ण भद्वेन हइले।” और, यदि शम्भर दीडना है, तब तो भूषकु भाज बगली हुए, मानो पहले न थे। फिर “भइली” शब्द बंगलामें कहाँ व्यवहृत होता है? किन्तु यह काशीस मगदहत भाज भी बहुत प्रचलित है।

॥ पालवशीय राजा गौडेश्वर कहे जाते थे। उनकी राजधानी पटना जिल्ला बिहारशरीक स्थान थी। नालन्दाक पास होनेक कारण भोजिया-ग्रन्थोंमें अक्सर उन्हें नालन्दाका राजा भी कहा गया है। । “वीरगान प्रो दोहा”, पृष्ठ ३०।

सहजे धिर करी वारुणी सान्धे,
जें अत्ररामर होइ दित कान्ध ॥ध्रु॥
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ,
आइल गरहक अपणे चढ़िआ ॥ध्रु॥
चउराठि चढ़िये देट पसारा,
पइल गगहक नाहि निसारा ॥ध्रु॥
एक स डुली सरइ नाल,
भणन्ति विरुआ धिर करि चाल" ॥ध्रु॥

८ दारिकपा (सि० ७७)

ये "ओड़ीसा" के 'राजा' थे। जब सिद्ध लूहिपा उड़ीसा गये, तब यह और इनके ब्राह्मणमन्त्री, जिनका नाम पीछे देगीसा (दे'कीसा) पड़ा, राज्य छोड़कर उनके शिष्य बन गये। गुरुने ज्ञाशा दो कि, सिद्धि-प्रसिद्धि लिये तुम कांचीपुरीमें जाकर गणिका-दारिका (=वेश्याकी कन्या) की सेवा करो। कई वर्षोंतक यह उसकी सेवा करते रहे; इसीसे सिद्ध होनेपर इनका नाम दारिकपा पड़ गया। सहज-योगिनी चिन्ता इनकी शिष्या थी; और, प्रसिद्ध सिद्ध ब्रजघटापाद (३२) या घंटापा इनके प्रधान शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमेंसे निम्न प्राचीन ओड़िया या मगही हिन्दीके मालूम होते हैं—१ कौटिल्यान विनिर्गत-महायुगलत्त्वोपदेश (त० ४६।६)। २ तथतादष्टि (त० ४८।४८)। ३ सप्तम सिद्धान्त (त० ४६।४६)।

कवितका नमूना। राग बरदा (३४)—

"सुन करुणारि अभिन वारें काञ्च वरक-चिञ्च,

छ स-स्व-क-दे-नुम्, ज० पृष्ठ २४४ ख से २४५ ख०। डा० विनयनोप महापात्रीने लिखा है—*"Lupa...belonged to an earlier age and as such any close connection between the two is hardly admissable Lui was reputed to be the first Siddhacharya, and that may be the reason why Dandakpa reverentially mentions his name"* लेकिन तिब्बनके सभी ग्रन्थ *ichy Dandakpa* reverentially mentions his name"। जीतानी सिद्धोंकी सूचीमें संख्याक्रम बाल-क्रमसे नहीं है, यह एक मतसे दारिकपाकी लुङ्पाद्य शिष्य कहते हैं। जीतानी सिद्धोंकी सूचीमें संख्याक्रम बाल-क्रमसे नहीं है, यह मतग दिले बस वृत्त और नाम-सूचीसे स्पष्ट हो जायगा।

विलसइ दारिक गभणत पारिमकुलें ॥ध्रु॥

अलक-लल-चिन्ता महासुदे,

विलसइ दारिक० ॥ध्रु॥

किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे म्हाल चपाने,

अपइ ठान महासुइ लीछे दुलल परम निचारें ॥ध्रु॥

दुःखें सुखें एक करिआ भुजइ इन्दीजानी,

स्वपरापर न चेंवइ दारिक सखलावुतर मानी ॥ध्रु॥

राधा राधा राधारे अवर राख मोहरा बाबा,

लुइ-पाञ्च-पए दारिक द्वादशमुअरें लघा" ॥ध्रु॥

९ डोम्बिपा (सिद्ध ४) मगधदेशमें

चत्रिप-वंशमें पैदा हुए। घीणपा और विरूपा, दोनों ही इनके गुरु थे। लामा तारानापने लिखा है कि, यह विरूपाके दस वर्ष बाद तथा ब्रजघटापाके दस वर्ष पूर्व सिद्ध हुए। यह हेवप्रतग्रके अनुयायी थे। सिद्ध कथहपा (१७) इनके भी शिष्य थे। तन्-जूरमें २१ ग्रन्थ डोम्बिपादके नामसे मिलते हैं; किन्तु पीछे भी एक डोम्बिपा हुए हैं, इसलिये कौन ग्रन्थ किसका है, यह कहना कठिन है। इनके निम्न ग्रन्थ मगही हिन्दीमें थे—अक्षर द्विकोपदेश (त० ४८।६४)। डोम्बिगीतिका (त० ४८।२८)। नाही-बिडुहारे योगचर्या (त० ४८।६३)। कवितका नमूना—

(राग देशाख १०) —

"नगर वारिहिरें डोम्बि तोहोरि कुड़िया,

लुइ छोइ याइ सो बाझ नाड़िआ ॥ध्रु॥

आलो डोम्बि तोए सम करिये म साङ्ग,

निधिया काङ्क कापालि जोइ लाग ॥ध्रु॥

उहि जो पञ्चपाट यह विधि संज्ञा गुठा,
 ए जाणमि बिअ मोर कहिँ गइ पइठा ॥ध्रु॥
 सोख तरुअ मोर निम्बि ए थांऊउ,
 निअ परिवारे महासुहे थाकिउ ॥ध्रु॥
 चउकोड़ि भएहार मोर लइआ सेस,
 जीवन्ते मइलं नाहि विशेष ॥ध्रु॥”

६ वीणापा (सिद्ध १२)

गौड़देशमेंः चतुर्विधमें इनका जन्म हुआ था । इनके गुरुका नाम भद्रपा (सि० २४) था । वीणा बजाकर यह अपने पदोंको गायी करते थे, इसीलिये इनका नाम वीणापा पड़ गया । तन्-जूरमें इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—
 १ गुह्याभिषेक-प्रक्रिया (त० २१।५०) । २ महाभिषेक-
 त्रिक्रम (त० २१।५१) । ३ वज्रढाकिनीनिश्चयनक्रम
 [त० ४८।५३] ।

इनमें तीसरा ग्रन्थ उसी चेटनमें है, जिसमें हिन्दी-
 कविताओंके दूसरे अनुवाद हैं, इसलिये मालूम पड़ता है,
 यह भी हिन्दीमें रहा है । “चयांगीति” में इनका एक
 गीत इस प्रकार है—

राग पटमञ्जरी, (१७)—

“सुज लाउ ससि लागेलि तान्तो,
 अग्रहा दायडी वाकि कि अत अवधूली ॥ध्रु॥
 वाजइ अला सहि हरु अवोखा,
 सुन तान्ति धनि विलसइ रुणा ॥ध्रु॥
 आलिकालि वेणु सारि सुणेआ,
 गअवर समरस सन्धि गुणिआ ॥ध्रु॥

जधे करह करहक लेपि चिउ,
 वजिअ तान्ति धनि सएल विआपिउ ॥ध्रु॥
 नाचन्ति वाजिल गान्ति देवी,
 बुद्ध नाटक विसमा होइ ॥ध्रु॥”

७ विरूपा (सिद्ध ३) महाराज

देवपाल (८०६-४६ ई०) के देश “प्रिउर” (?) में इनका
 जन्म हुआ था । भिक्षु बनकर नालन्दा-विहारमें पढ़ने लगे
 और वहाँके अच्छे पंडितोंमें हो गये । इन्होंने देवीकोट
 और श्रीपर्वत आदि सिद्ध स्थानोंमें यात्रा की । श्रीपर्वतमें
 इन्हें सिद्ध नामवोधि मिले । यह उनके शिष्य हो गये ।
 पीछे नालन्दामें आकर जब इन्होंने देखा कि, विहारमें मध,
 खा आदि, सहजचर्चाके लिये अत्यावश्यक वस्तुओंका
 व्यवहार नहीं किया जा सकता, तब वहाँसे गङ्गाके घाटपर
 चले गये । वहाँसे फिर उड़ीसा गये । इनके शिष्योंमें
 दोग्रिया (सि० ४) और कचहपा थे । यनारितनत्रके यह अपि
 थे । तन्-जूरमें इनके तन्त्र-सम्बन्धी अठारह ग्रन्थ मिलते हैं,
 जिनमें निम्न मगही हिन्दीमें थे—अमृतसिद्धि (त० ४७।
 २७) । दोहाकोप (त० ४७।२४) । दोहाकोपगीति-कर्म-
 चयदालिका (त० ४८।४) । मार्गफलान्विताववादक
 (त० ४७।२५) । विरूपगीतिका (४८।२६) । विरूप-
 वज्रगीतिका (त० ४८।१६) । विरूपपदचतुरशीति (त०
 ४७।२३) । सुनिश्चयपञ्चतकोपदेश (त० ४३।१००)

कविताका समूह । राग गयवा (३)—

“एकसे झुण्डनि दुइ घरे सान्धअ, - -
 चीअण वाकलअ चारुणी वान्धअ ॥ध्रु॥

एइ बार तुमि सख सत्तइ बगली हइले प्रयात पूर्ण अदैन हइले ।” और, यदि सम्भव होइता है, तब तो भूखुड ब्राज
 बंगाली हुए, मानो पढ़ले न थे । कि “भइली” शब्द बंगलामें कहीं व्यवहृत होता है ? किन्तु वह कहींसे मगहतक ब्राज
 भी बहुत प्रचलित है ।

* पालवशीय राजा गौदेवर कहे जाते थे । उसकी राजधानी पटना जिल्लाका विहारसरीक स्थान थी । नालन्दाके पान
 होनेके कारण मोटिया-ग्रन्थोंमें अक्सर उन्हें नालन्दाका राजा भी कहा गया है । * “वीरग्यान ओ दोहा”, पृष्ठ ३० ।

सहजे धिर करी वारुणी सान्धे,
जें अत्ररामर होइ दिट कान्य ॥ध्रु॥
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ,
आइस गराहक अपणे यहिआ ॥ध्रु॥
चउराठि बड़िये देट पसारा,
पइठल गराहक नाहि निसारा ॥ध्रु॥
एक स हुली सरइ नाल,
भणन्ति विरुआ धिर करि चाल ॥ध्रु॥

८ दारिकपा (सि० ७७)

ये "ओढ़ीसा" के 'राजा' थे। लख सिद्ध बूढ़िया उड़ीसा गये, तब यह और इनके ब्राह्मणमन्त्री, जिनका नाम पीछे डे'गीरा (डे'कीरा) पड़ा, राज्य छोड़कर उनके शिष्य बन गये। गुरुने आज्ञा दी कि, सिद्धि-प्रप्तिके लिये तुम कांचीपुरीमें जाकर गणिका-दारिका (=वेराकी कन्या) की सेवा करो। कई वर्षोंतक यह उसकी सेवा करते रहे; इसीसे सिद्ध होनेपर इनका नाम दारिकपा पड़ गया। सहज-योगिनी चिन्ता इनकी शिष्या थीं; और, प्रसिद्ध सिद्ध वज्रघण्टापाद (५२) या घंटापा इनके प्रधान शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमेंसे निम्न प्राचीन ओढ़िया या मगही हिन्दीके मालूम होते हैं—१ ओड़ियान-विनिर्गत-महागुह्यतत्त्वोपदेश (त० ४६। ६)। २ तथवाट्टि (त० ४८।४८)। ३ सप्तम सिद्धान्त (त० ४६।४६)।

कविताका नमूना। राग सरदा (३४)—

"सुन कहारि अभिन वारें काअ थाक्-चिअ,

विलसइ दारिक गभयणत पारिमकुलें ॥ध्रु॥

अलच-लख-चित्ता मझासुहे,

विलसइ दारिक० ॥ध्रु॥

किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे माख वसाने,
अपइ ठान महासुइ लोणे दुलख परम निवारणें ॥ध्रु॥

दुःखें सुखें एक करिआ भुजइ इन्दीजानी,
स्वपरापर न चेबइ दारिक सअलाउत्तर मानी ॥ध्रु॥

राधा राधा राधारे अवर राख मोहरा बाबा,
लुइ-गाअ-पए दारिक द्वादशमुखअं लया ॥ध्रु॥

९ डोम्भिया (सिद्ध ४) मगधदेशमें

चत्रिय-वंशमें पैदा हुए। बीणाया और बिरुपा, दोनों ही इनके गुरु थे। लामा तारानाथने लिखा है कि, यह बिरुपाके दस वर्ष बाद तथा वज्रघंटापाके दस वर्ष पूर्व सिद्ध हुए। यह देवव्रतग्रन्थके अनुयायी थे। सिद्ध कथहपा (१७) इनके भी शिष्य थे। तन्-जूरमें २१ ग्रन्थ डोम्भियापाके नामसे मिलते हैं; किन्तु पीछे भी एक डोम्भिया हुए हैं, इसलिये कौन ग्रन्थ किसका है, यह कहना कठिन है। इनके निम्न ग्रन्थ मगही हिन्दीमें थे—अष्टर द्विकोपदेश (त० ४८।६४)। डोम्भियाविरुपा (त० ४८।२८)। नाडी-विदुहारे योगचर्या (त० ४८।६३)। कविताका नमूना—

(राग देशाख १०) —

"नगर वारिहिरेँ डोम्भिय तोहोरि कुडिया,

छइ छोइ याइ सो बाझ नाइआ ॥ ध्रु ॥

आलो डोम्भिय तोए सम करिये म साझ,

निधिण काइ कापाल जोइ लाग ॥ध्रु॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ज० पू० २४४ ख से २४५ ख०। डॉ० विनयनोप भट्टाचार्यने लिखा है—“Lupa...belonged to an earlier age and as such any close connection between the two is hardly admissible Lui was reputed to be the first Siddhacharya, and that may be the reason why Dandakapa reverentially mentions his name.” लेकिन विनयनोपके सभी ग्रन्थ एक मतमें दारिकपाकी लुङ्गपा शिष्य कहते हैं। बीरामी सिद्धोंकी सूचीमें संख्याक्रम बाल-क्रमसे नहीं है, यह भूलग दिये घरा वृत्त और नाम-सूचीसे स्पष्ट हो जायगा।

एकसो पदमा चौपट्टी पाखुडी,
तहि चडि नाचअ डोम्बी वापुडी ॥ ध्रु ॥
शालो डोम्बो तो पुझमि सदभावे,
अइससि जासि डोम्बि काहरि नावै ॥ ध्रु ॥
तान्ति विकणअ डोम्बो अबर ना चङ्गता,
तोहोर अन्तरे छाडिनिड एटा ॥ ध्रु ॥
तुलो डोम्बो हावै कपाली,
तोहोर अन्तरे मोए छलिलि होडरि माली ॥ ध्रु ॥
सरवर भाङ्गोय डोम्बो राख मोलाण,
मारमि डोम्बि लेमि पराण ॥ ध्रु ॥

धनसो राग (१४) —

“गंगा जउना माँभेरे वहइ नाई,
तहि बुझिली मातङ्गि पोइअ लीले पार करेइ ॥ ध्रु ॥
वाहतु डोम्बी वाहलो डोम्बी वातत भरल उझारा,
सट्टरु पाअरपए जाइव पुणु जिणउरा ॥ ध्रु ॥
पाअर केडुअल पइन्ते माझे पिटत काचड्यो वान्थो,
गअण दुखोले सिअहु पाणी न पइसइ सान्नि ॥ ध्रु ॥
चन्द सून दुइ चका सिठीसंदोर पुलिन्दा,
वाम दहिण दुइ माग न खेइ वाहतु छन्दा ॥ ध्रु ॥
एवढो न लेइ वोढी न लेइ सुच्छेइ पार करेइ,
जो रथे चडिला चाहवाण जाइ कुलें कुल पुइइ ॥ ध्रु ॥
भित्तावृत्तिभ मे इनका यह दोहा मिलता है—

“मुझइ मअण सहाव र कमइ सो सइअल ।
मोअ ओ धर्म करिहया, मारउ काम सहाउ ।
अच्छउ अक्ख जे पुनइ, सो संसार-विमुक्क ।
अज महिसर यापयणा, मक्क अमुद सहाव ॥”

१० कान्दलपाद (सिद्ध ३०) धोद-

विग (—उडी ॥) में, रात्रयंगमें इनका जन्म हुआ । भिन्न
होकर त्रिदिकके पवित्र बनने । पीछे सिद्ध पद्म घटाया

(२२) के सत्संगमें पड़ उनके शिष्य हो गये । इनके गुरु
सिद्धाचार्य वज्रघंटापाद या घंटापाद उड़ीसामें कई वर्ष रहे
और उनके ही कारण उड़ीसामें वज्रयानवा बहुत प्रचार
हुआ । सिद्ध राजा इन्द्रभूति इनके शिष्य थे । कम्बलपाद
बौद्ध दर्शनके भी पवित्रत थे । प्रज्ञापारमिता-दर्शनपर इनके
चार ग्रन्थ, भोटियामें, मिलते हैं । इनके तन्त्र ग्रन्थोंकी
संख्या ग्यारह है, जिनमें निम्न प्राचीन उद्धिया या मगहीमें
थे—असम्बन्ध-दष्टि (त० ४८।३८) । असम्बन्ध-सर्ग-
दष्टि (त० ४८।३९) । कम्बलगतिका (त० ४८।३०) ।

‘कविताका नमूना—

राग देवकी ८—

“सोने भरिती करुणा नवी,
रूपा थोइ महिके ठावी ॥ ध्रु ॥
वाहतु कामलि गअण उवसें,
गेली जाम बहु उइ काइसें ॥ ध्रु ॥
खुटि वपाई मेसिलि काचिअ,
वाहतु कामलि सट्टरु पुन्छि ॥ ध्रु ॥
माझत चन्हिले चउदिस चाहअ,
केडुअल नहि कें कि वाहवके पारआ ॥ ध्रु ॥
वामदाहिण चापा मिलि मिलि मागा,
वाउत मिलिल महासुह सद्दा ॥ ध्रु ॥”

११ जालन्धरपाद (सिद्ध ४६)

नगर-भोग (?) देशमें, माअण-कुलमें, इनका जन्म हुआ
था । पीछे एक अच्छे पवित्र भिक्षु बने । किन्तु घंटापादके
शिष्य, सिद्ध धर्मपादकी संगतिमें आकर यह उनके शिष्य
हो गये । मत्स्येन्द्रनाथ, कवदपा और ततिपा इनके
शिष्योंमें थे । भोटिया ग्रन्थोंमें इन्हें आदिनाथ भी कहा
गया है । नाथपंथकी परम्परामें भी आदिनाथमें इन्होंने
महत्त्व है । इस प्रकार धौरामी सिद्धोंमें जाङ्गपरपादभी

परम्परा छय भी भारतमें कायम है। गोरचनाप इनके शिष्य मत्स्येन्द्रके शिष्य थे। तन्-धर्ममें इनके सात ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न प्राचीन संगीहीके हैं—विमुक्तमंजरी-गीत (त० ७३।४६)। हूँकार चित्त विदुःभावनाक्रम (त० ४८।७२)।

कविताका नमूना (राग निषेद, ताल माठ, ७६)॥—

“अस्वय निरंजन अर्द्धय अतु
पद्म गगन कमरंजे साधना,
शून्यता विरासित राय श्री चिय
देव पान-विन्दु समय जो दिता ॥ध्रु॥
नमामि निरालम्ब निरक्षर
स्वभाव हेतु स्फुरन संप्रापिता,
सरद-चन्द्र-समय तेज प्रकासित
जरज-चन्द्र समय व्यापिता ॥ध्रु॥
खडग योगाम्बर सादिरे चक्रवर्ति
मेरुमंडल भमलिता,
निर्मल हृदयारे चक्रवर्ति ध्याविते
अहितिसिद्धं जत्र मय साधना ॥ध्रु॥
आनंद परमानंद विरमा
चतुरानंद जे संमया,
परमा विरमा माँके रे न छादिरे
महासुख सुगत संप्रद प्रापिता ॥ध्रु॥
हे वज्रकार चक्र श्रीचक्रसंवर
अनन्त कोटि सिद्ध पारंगता,
श्री हतवदियाने पूर्ण गिरि
जालन्धरि प्रभु महा सुख-जातहुँ ॥ध्रु॥”

१२ कुकुरिपा (सिद्ध ३४)

कपिष्ठ [वस्तु] वाले देशमें, एक माहाण कुलमें, इनका जन्म हुआ था। मीनपा (८) के गुरु चरैदीपा इनके

भी गुरु थे। इनकी शिष्या मणिमद्रा चौरासी सिद्धोंमेंसे एक (६४) है। पद्मवज्र भी इनके ही शिष्य थे। तन्-धर्ममें इनके १६ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न लिखित हिन्दीके मालूम होते हैं—तत्त्व-सुख-भावनानुसारियोगम-वनोपदेश [त० ४८।६४]। स्रवपरिच्छेदन [त० ४८।६६]।

कविताका नमूना [राग गङ्गा २]—

“दुलित दुहि पिटा धरण न जाइ,
हरारे तेन्तलि कुम्भीरे खाअ ॥
आह्वन घरपरण सुन भो विआती,
कानेट चौरि निल अधराती ॥ध्रु॥
सुसुरा निद गेल बहुडी जागअ,
कानेट चोरे निलका गइ मागअ ॥ध्रु॥
दिवसइ बहुडी काइइ डरे भाअ,
राति भइले कामरु जाअ ॥ध्रु॥
अइसन चर्या कुक्कुरी-पाएँ गाइइ,
कोडि मज्जेँ एकुडि अहिँ सनाइइ ॥ध्रु॥”

राग-पद्मजरी (१०)—

“हाँउ निवासी रमण भतारे,
मोहोर विगोआ कहण न जाइ ॥ध्रु॥
फेटलिउ गो माए अन्त उडि चाहि,
जा एथु थाहाम रू एथु नाहि ॥ध्रु॥
पहिल विआण मोर बासन पूइ,
नाडि विआणन्ते सेव वापुइ ॥ध्रु॥
जाण जौवण मोर भइले सि पूरा,
मूल नखलि बाप संधार ॥ध्रु॥
अ.एथि कुक्कुरीपाए भव थिरा,
जो एथु लुमएँ सो एथु वीरा ॥ध्रु॥”
“हले सदि विअ सिअ कमज पयाहिउ वज्जेँ ।
अललतत रो महा सुहेण आरोहिउ नृत्ये ।

ॐ मैने यह पाठ नेपालक बोद्धोंमें आज भी प्रचलित चर्चागति (चवो) पुस्तकस लिया है। भाषा विलुप्त हो गिरी हुई है।

रविकिरणेषु पफुल्लिष्य कमलु महा सुहृण ।।

[अ० १०] आगेहिउ नृत्ये ॥”*

१३ गुण्डरीपाद (सिद्ध ५५)

हिमनगरके देशमें कर्मकारोंके कुत्रमें पैदा हुए थे। पीछे सिद्ध लीलापा [२] के शिष्य हो गये। इनके शिष्य धर्म-पादके शिष्य सिद्ध हात्तिपाद [२०] थे। तन्-जूममें इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। चर्चागीतोंमें इनकी यह गीति मिलती है—राग भरु (४)—

“तिष्ठशु चापि जोइनि दे अङ्कवाली,
कमल कुलिश घाएट करहुँ विश्वाली ॥ध्रु॥
जोइनि तेंइ चितु खटहिं न जीवमि,
तो मुह चुम्बी कमल-रसपीवमि ॥ध्रु॥
ऐपहु जोइन लेप न जाय,
मणिकुने घडिआ ओडिआणे सगाअ ॥ध्रु॥
सामु धरें घालि कोआ ताल,
चान्द-सुज वेणी पला फाल ॥ ध्रु ॥
भणइ गुडरी अहो कुन्दुरे वीरा,
नरअ नारी ममे उभिल चौरा ॥ध्रु॥”

१४ मीनपा (सिद्ध ८) कामरूप

(आसाम)-देशमें एक मछवेके कुत्रमें इनका जन्म हुआ था। इन्होंने पुत्र मण्येन्द्र थे, जिनके शिष्य गोरखनाथ हुए। पक्षे खौदिय (महापुत्र)-नदीमें मछली मारते और पशानमार्गपर चरते थे। पीछे चर्चदीशद (२९) के शिष्य हो गये। तन्-जूममें इनका एक ग्रन्थ “बाघान्तरघोषि-चित्तमधोपदेश” (ग ४८:१०) मिलता है, जो कि, पुरानी आनामी या मगरीमें था। चर्चागीति (४८ १८) की

टीकामें परदर्शन कहकर इनका एक पद उद्धृत किया गया है—

“कहन्ति गुरु परमार्थेर वाट,
धर्मकुरङ्ग समाधिक पाट ।

कमल विकसिल कहिह यजमरा,
कमलमधु पिविवि धोके न भसरा ॥”

१५ कणहपा (सिद्ध १७) कर्णाटक-देशमेंX

मासुणकुलमें इनका जन्म हुआ था; इसीलिये इनको कर्ण-पा भी कहते हैं। शरीरका रंग काला होनेसे कृष्णपा या कणहपा कहते हैं। महाराज देवर्षोज (८०६-८४६ ई०) के समयमें यह एक पण्डित भिचु थे और कितने ही दिनों-तक सोमपुरी-विहार (पहाड़पुर, जि० राजशाही)में रहते थे। पीछे यह सिद्ध जालन्धर-पादके शिष्य हो गये। चौरासी सिद्धोंमें कवित्व और विद्या, दोनोंकी दृष्टिसे यह सबसे बड़े सिद्धोंमें थे। इनके अपने सातसे अधिक शिष्य, चौरासी सिद्धोंमें, गिने गये हैं, जिनमें कनखला (६७) और मेखला (३६); दो योगिनियाँ भी हैं। धर्मपा (१६) कन्तलिपा (६६), महीपा (३७), उपलिपा (७१), भदेपा (१३) शिष्य और जपरिपा (६४) या अजपाजिपा प्रशिष्य थे। उस समय सिद्धोंका गढ़ विहार-प्रदेश था। इन्होंने अपने भाषा-कविताएँ तरकाजीन मगरीमें की हैं। तन्-जूममें दर्शनपर छः और सत्रपर इनके ७४ ग्रन्थ मिलते हैं। पीछे भी एक कृष्णपाद हुए थे, इसलिये इस सूचीमें कुछ इनके ग्रन्थोंका भी होना सम्भव है। दर्शन-ग्रन्थोंमें इन्होंने शाश्वत-देवके “बोधिपर्यावतार”पर “बोधिपर्यावतार-पुरवोच-पदनिर्णय” नामक टीका लिखी है। इनके निम्न कविता-

छा माध-मन्त्र, (माधवपाद-कोटिदत्त-भरिण, बनेहा) पृष्ठ ४९६, ४९७ ।

X ग १४८-४९६ पुन. अ १६६ ब—“पुराण-नरु बरुन १४८०-१४९०, चर्च-परेण बरुन १४९०-१४९५ (१४९५ बरुन-परेण) बरुन १४९५-१४९६ । १४९६-१४९७ । १४९७-१४९८ । १४९८-१४९९ । १४९९-१५०० । १५००-१५०१ । १५०१-१५०२ । १५०२-१५०३ । १५०३-१५०४ । १५०४-१५०५ । १५०५-१५०६ । १५०६-१५०७ । १५०७-१५०८ । १५०८-१५०९ । १५०९-१५१० । १५१०-१५११ । १५११-१५१२ । १५१२-१५१३ । १५१३-१५१४ । १५१४-१५१५ । १५१५-१५१६ । १५१६-१५१७ । १५१७-१५१८ । १५१८-१५१९ । १५१९-१५२० । १५२०-१५२१ । १५२१-१५२२ । १५२२-१५२३ । १५२३-१५२४ । १५२४-१५२५ । १५२५-१५२६ । १५२६-१५२७ । १५२७-१५२८ । १५२८-१५२९ । १५२९-१५३० । १५३०-१५३१ । १५३१-१५३२ । १५३२-१५३३ । १५३३-१५३४ । १५३४-१५३५ । १५३५-१५३६ । १५३६-१५३७ । १५३७-१५३८ । १५३८-१५३९ । १५३९-१५४० । १५४०-१५४१ । १५४१-१५४२ । १५४२-१५४३ । १५४३-१५४४ । १५४४-१५४५ । १५४५-१५४६ । १५४६-१५४७ । १५४७-१५४८ । १५४८-१५४९ । १५४९-१५५० । १५५०-१५५१ । १५५१-१५५२ । १५५२-१५५३ । १५५३-१५५४ । १५५४-१५५५ । १५५५-१५५६ । १५५६-१५५७ । १५५७-१५५८ । १५५८-१५५९ । १५५९-१५६० । १५६०-१५६१ । १५६१-१५६२ । १५६२-१५६३ । १५६३-१५६४ । १५६४-१५६५ । १५६५-१५६६ । १५६६-१५६७ । १५६७-१५६८ । १५६८-१५६९ । १५६९-१५७० । १५७०-१५७१ । १५७१-१५७२ । १५७२-१५७३ । १५७३-१५७४ । १५७४-१५७५ । १५७५-१५७६ । १५७६-१५७७ । १५७७-१५७८ । १५७८-१५७९ । १५७९-१५८० । १५८०-१५८१ । १५८१-१५८२ । १५८२-१५८३ । १५८३-१५८४ । १५८४-१५८५ । १५८५-१५८६ । १५८६-१५८७ । १५८७-१५८८ । १५८८-१५८९ । १५८९-१५९० । १५९०-१५९१ । १५९१-१५९२ । १५९२-१५९३ । १५९३-१५९४ । १५९४-१५९५ । १५९५-१५९६ । १५९६-१५९७ । १५९७-१५९८ । १५९८-१५९९ । १५९९-१६०० । १६००-१६०१ । १६०१-१६०२ । १६०२-१६०३ । १६०३-१६०४ । १६०४-१६०५ । १६०५-१६०६ । १६०६-१६०७ । १६०७-१६०८ । १६०८-१६०९ । १६०९-१६१० । १६१०-१६११ । १६११-१६१२ । १६१२-१६१३ । १६१३-१६१४ । १६१४-१६१५ । १६१५-१६१६ । १६१६-१६१७ । १६१७-१६१८ । १६१८-१६१९ । १६१९-१६२० । १६२०-१६२१ । १६२१-१६२२ । १६२२-१६२३ । १६२३-१६२४ । १६२४-१६२५ । १६२५-१६२६ । १६२६-१६२७ । १६२७-१६२८ । १६२८-१६२९ । १६२९-१६३० । १६३०-१६३१ । १६३१-१६३२ । १६३२-१६३३ । १६३३-१६३४ । १६३४-१६३५ । १६३५-१६३६ । १६३६-१६३७ । १६३७-१६३८ । १६३८-१६३९ । १६३९-१६४० । १६४०-१६४१ । १६४१-१६४२ । १६४२-१६४३ । १६४३-१६४४ । १६४४-१६४५ । १६४५-१६४६ । १६४६-१६४७ । १६४७-१६४८ । १६४८-१६४९ । १६४९-१६५० । १६५०-१६५१ । १६५१-१६५२ । १६५२-१६५३ । १६५३-१६५४ । १६५४-१६५५ । १६५५-१६५६ । १६५६-१६५७ । १६५७-१६५८ । १६५८-१६५९ । १६५९-१६६० । १६६०-१६६१ । १६६१-१६६२ । १६६२-१६६३ । १६६३-१६६४ । १६६४-१६६५ । १६६५-१६६६ । १६६६-१६६७ । १६६७-१६६८ । १६६८-१६६९ । १६६९-१६७० । १६७०-१६७१ । १६७१-१६७२ । १६७२-१६७३ । १६७३-१६७४ । १६७४-१६७५ । १६७५-१६७६ । १६७६-१६७७ । १६७७-१६७८ । १६७८-१६७९ । १६७९-१६८० । १६८०-१६८१ । १६८१-१६८२ । १६८२-१६८३ । १६८३-१६८४ । १६८४-१६८५ । १६८५-१६८६ । १६८६-१६८७ । १६८७-१६८८ । १६८८-१६८९ । १६८९-१६९० । १६९०-१६९१ । १६९१-१६९२ । १६९२-१६९३ । १६९३-१६९४ । १६९४-१६९५ । १६९५-१६९६ । १६९६-१६९७ । १६९७-१६९८ । १६९८-१६९९ । १६९९-१७०० । १७००-१७०१ । १७०१-१७०२ । १७०२-१७०३ । १७०३-१७०४ । १७०४-१७०५ । १७०५-१७०६ । १७०६-१७०७ । १७०७-१७०८ । १७०८-१७०९ । १७०९-१७१० । १७१०-१७११ । १७११-१७१२ । १७१२-१७१३ । १७१३-१७१४ । १७१४-१७१५ । १७१५-१७१६ । १७१६-१७१७ । १७१७-१७१८ । १७१८-१७१९ । १७१९-१७२० । १७२०-१७२१ । १७२१-१७२२ । १७२२-१७२३ । १७२३-१७२४ । १७२४-१७२५ । १७२५-१७२६ । १७२६-१७२७ । १७२७-१७२८ । १७२८-१७२९ । १७२९-१७३० । १७३०-१७३१ । १७३१-१७३२ । १७३२-१७३३ । १७३३-१७३४ । १७३४-१७३५ । १७३५-१७३६ । १७३६-१७३७ । १७३७-१७३८ । १७३८-१७३९ । १७३९-१७४० । १७४०-१७४१ । १७४१-१७४२ । १७४२-१७४३ । १७४३-१७४४ । १७४४-१७४५ । १७४५-१७४६ । १७४६-१७४७ । १७४७-१७४८ । १७४८-१७४९ । १७४९-१७५० । १७५०-१७५१ । १७५१-१७५२ । १७५२-१७५३ । १७५३-१७५४ । १७५४-१७५५ । १७५५-१७५६ । १७५६-१७५७ । १७५७-१७५८ । १७५८-१७५९ । १७५९-१७६० । १७६०-१७६१ । १७६१-१७६२ । १७६२-१७६३ । १७६३-१७६४ । १७६४-१७६५ । १७६५-१७६६ । १७६६-१७६७ । १७६७-१७६८ । १७६८-१७६९ । १७६९-१७७० । १७७०-१७७१ । १७७१-१७७२ । १७७२-१७७३ । १७७३-१७७४ । १७७४-१७७५ । १७७५-१७७६ । १७७६-१७७७ । १७७७-१७७८ । १७७८-१७७९ । १७७९-१७८० । १७८०-१७८१ । १७८१-१७८२ । १७८२-१७८३ । १७८३-१७८४ । १७८४-१७८५ । १७८५-१७८६ । १७८६-१७८७ । १७८७-१७८८ । १७८८-१७८९ । १७८९-१७९० । १७९०-१७९१ । १७९१-१७९२ । १७९२-१७९३ । १७९३-१७९४ । १७९४-१७९५ । १७९५-१७९६ । १७९६-१७९७ । १७९७-१७९८ । १७९८-१७९९ । १७९९-१८०० । १८००-१८०१ । १८०१-१८०२ । १८०२-१८०३ । १८०३-१८०४ । १८०४-१८०५ । १८०५-१८०६ । १८०६-१८०७ । १८०७-१८०८ । १८०८-१८०९ । १८०९-१८१० । १८१०-१८११ । १८११-१८१२ । १८१२-१८१३ । १८१३-१८१४ । १८१४-१८१५ । १८१५-१८१६ । १८१६-१८१७ । १८१७-१८१८ । १८१८-१८१९ । १८१९-१८२० । १८२०-१८२१ । १८२१-१८२२ । १८२२-१८२३ । १८२३-१८२४ । १८२४-१८२५ । १८२५-१८२६ । १८२६-१८२७ । १८२७-१८२८ । १८२८-१८२९ । १८२९-१८३० । १८३०-१८३१ । १८३१-१८३२ । १८३२-१८३३ । १८३३-१८३४ । १८३४-१८३५ । १८३५-१८३६ । १८३६-१८३७ । १८३७-१८३८ । १८३८-१८३९ । १८३९-१८४० । १८४०-१८४१ । १८४१-१८४२ । १८४२-१८४३ । १८४३-१८४४ । १८४४-१८४५ । १८४५-१८४६ । १८४६-१८४७ । १८४७-१८४८ । १८४८-१८४९ । १८४९-१८५० । १८५०-१८५१ । १८५१-१८५२ । १८५२-१८५३ । १८५३-१८५४ । १८५४-१८५५ । १८५५-१८५६ । १८५६-१८५७ । १८५७-१८५८ । १८५८-१८५९ । १८५९-१८६० । १८६०-१८६१ । १८६१-१८६२ । १८६२-१८६३ । १८६३-१८६४ । १८६४-१८६५ । १८६५-१८६६ । १८६६-१८६७ । १८६७-१८६८ । १८६८-१८६९ । १८६९-१८७० । १८७०-१८७१ । १८७१-१८७२ । १८७२-१८७३ । १८७३-१८७४ । १८७४-१८७५ । १८७५-१८७६ । १८७६-१८७७ । १८७७-१८७८ । १८७८-१८७९ । १८७९-१८८० । १८८०-१८८१ । १८८१-१८८२ । १८८२-१८८३ । १८८३-१८८४ । १८८४-१८८५ । १८८५-१८८६ । १८८६-१८८७ । १८८७-१८८८ । १८८८-१८८९ । १८८९-१८९० । १८९०-१८९१ । १८९१-१८९२ । १८९२-१८९३ । १८९३-१८९४ । १८९४-१८९५ । १८९५-१८९६ । १८९६-१८९७ । १८९७-१८९८ । १८९८-१८९९ । १८९९-१९०० । १९००-१९०१ । १९०१-१९०२ । १९०२-१९०३ । १९०३-१९०४ । १९०४-१९०५ । १९०५-१९०६ । १९०६-१९०७ । १९०७-१९०८ । १९०८-१९०९ । १९०९-१९१० । १९१०-१९११ । १९११-१९१२ । १९१२-१९१३ । १९१३-१९१४ । १९१४-१९१५ । १९१५-१९१६ । १९१६-१९१७ । १९१७-१९१८ । १९१८-१९१९ । १९१९-१९२० । १९२०-१९२१ । १९२१-१९२२ । १९२२-१९२३ । १९२३-१९२४ । १९२४-१९२५ । १९२५-१९२६ । १९२६-१९२७ । १९२७-१९२८ । १९२८-१९२९ । १९२९-१९३० । १९३०-१९३१ । १९३१-१९३२ । १९३२-१९३३ । १९३३-१९३४ । १९३४-१९३५ । १९३५-१९३६ । १९३६-१९३७ । १९३७-१९३८ । १९३८-१९३९ । १९३९-१९४० । १९४०-१९४१ । १९४१-१९४२ । १९४२-१९४३ । १९४३-१९४४ । १९४४-१९४५ । १९४५-१९४६ । १९४६-१९४७ । १९४७-१९४८ । १९४८-१९४९ । १९४९-१९५० । १९५०-१९५१ । १९५१-१९५२ । १९५२-१९५३ । १९५३-१९५४ । १९५४-१९५५ । १९५५-१९५६ । १९५६-१९५७ । १९५७-१९५८ । १९५८-१९५९ । १९५९-१९६० । १९६०-१९६१ । १९६१-१९६२ । १९६२-१९६३ । १९६३-१९६४ । १९६४-१९६५ । १९६५-१९६६ । १९६६-१९६७ । १९६७-१९६८ । १९६८-१९६९ । १९६९-१९७० । १९७०-१९७१ । १९७१-१९७२ । १९७२-१९७३ । १९७३-१९७४ । १९७४-१९७५ । १९७५-१९७६ । १९७६-१९७७ । १९७७-१९७८ । १९७८-१९७९ । १९७९-१९८० । १९८०-१९८१ । १९८१-१९८२ । १९८२-१९८३ । १९८३-१९८४ । १९८४-१९८५ । १९८५-१९८६ । १९८६-१९८७ । १९८७-१९८८ । १९८८-१९८९ । १९८९-१९९० । १९९०-१९९१ । १९९१-१९९२ । १९९२-१९९३ । १९९३-१९९४ । १९९४-१९९५ । १९९५-१९९६ । १९९६-१९९७ । १९९७-१९९८ । १९९८-१९९९ । १९९९-२००० । २०००-२००१ । २००१-२००२ । २००२-२००३ । २००३-२००४ । २००४-२००५ । २००५-२००६ । २००६-२००७ । २००७-२००८ । २००८-२००९ । २००९-२०१० । २०१०-२०११ । २०११-२०१२ । २०१२-२०१३ । २०१३-२०१४ । २०१४-२०१५ । २०१५-२०१६ । २०१६-२०१७ । २०१७-२०१८ । २०१८-२०१९ । २०१९-२०२० । २०२०-२०२१ । २०२१-२०२२ । २०२२-२०२३ । २०२३-२०२४ । २०२४-२०२५ । २०२५-२०२६ । २०२६-२०२७ । २०२७-२०२८ । २०२८-२०२९ । २०२९-२०३० । २०३०-२०३१ । २०३१-२०३२ । २०३२-२०३३ । २०३३-२०३४ । २०३४-२०३५ । २०३५-२०३६ । २०३६-२०३७ । २०३७-२०३८ । २०३८-२०३९ । २०३९-२०४० । २०४०-२०४१ । २

ग्रन्थ मगहीमें थे, जिनके भोटिया-भट्टावाद तन्त्रमें
मिलते हैं—

१ काण्डपाद-गीतिका (त० ८१७) । २ महादु-
यडन-मूल (त० ८५३०) । ३ वसन्तविलक (त० १२।
३०) । ४ असम्बन्ध टट्टे [त० ४८।४७] । ५ वज्रगीति
[त० ४७।३३] । ६ दोहाकोष ‡ [त० ४७।४४] ।

“बौद्धान् यो दोहा”में इनका दोहाकोष संस्कृत-
दोहा सहित छपा है, जिसमें बत्तीस दोहे हैं। इनके दोहोंका
नमूना देखिये—

“आगम-वेद्य-पुराणे, पण्डित मान वहति ।

पक्ष सिरीकल अलिअ जिम बाहेरित भ्रमयन्ति ॥२॥”

“अह ए गमइ उह ए जाइ,

वेणि-रहिअ तसु निचचल पाइ ।

मणइ कहण मन कहिय न फुटइ,

निचचल पवन धरिणि घर वत्तइ” ॥ २॥

“एक ए किजइ मन्त्र ए तन्त्र,

णिअ घरणि लइ केलि करन्त ।

णिअ घर धरिणी जाव ए भजइ,

ताव कि पंच वर्ण बिहरिजइ ॥२८॥”

“जिमि लोण विलिजई पाणिणहि,

तिम घरणी लइ चित्त ।

सम-रस जइ सकलणे,

जइ पुणु ते सम नित्त ॥३२॥”

इनकी वज्रगीतिका नमूना देखिये—

ॐ वन-वृ (त० २०।१०) : स-स्वयं वन-वृ पृ ३६८ ख, फ १२८ क ।

१ आनन्द नेपाणमें व्यवहृत चर्यागीत (च-चो) का पाठ इस प्रकार है—

“कोलायि रे धिय बोझा, सुमुनिरे कंकोला । धनकियार्थो होयि वञ्चायि, वरुणैकियायि न लोग ॥ ध्रु ॥

मलयजकुटुब वजायिले डिडिम तहि ना वाजयि । ०हि भरु राज गांध्या मय ना पीवयिययि ॥

हले कालिबर पनययि दुंदुब वजरययि । चतु सम कस्तुरि सिल्हा, कर्पूर लावनययि ॥

गज या जइ धनसोलिजरे, तहि भरु राज न यायी । प्रेपु ह क्षेत्र करते सोया सुद न मृतयि ।

निलमुह अंग चवावयि, तरे जस रा पनयायी” ॥१६॥

“रोल्लअ ॐ रे ठिअ बोन्त, मुम्मुणि रे कफोल ॥

घने किपीटह वज्जइ, फरुणे किअइ गरोला ।

तहि पल रज्जइ, गाढं मअ गा पिज्जइ ।

हले कलिबर पणिअइ, दुन्दुर वज्जिअइ ।

चउसम वत्थुरि सिल्हा, कप्पुर लाइअइ ।

मालइ घाण-सालिअइ, तहिं भलु र्साइअइ ।

पेरण खेट करन्त, शुद्धशुद्ध ए मणिअइ ।

निरंशु अंग चडाविअइ, तहिं जस राव पणिअइ ।”

मलअचे कुन्दुर वापइ, डिण्डिम तहिन्न वज्जिअइ ॥३॥

कण्डपाके कुछ गीत देखिये (राग-पटमजरी ११)—

“नाडि शक्ति दिट धरिअ खदे,

अनहा डमरु वाजए वीरनादे ॥

काह कपाली योगी प, ठ अचारे,

देह-नअरी बिहरए एकरें ॥ ध्रु ॥

आलि कालि घण्टा नेउर चरणो,

रवि शशि कुण्डल किउ आभरणो ॥ ध्रु ॥

राग देश-मोह लाइअ छार,

परम मोर लवए मुत्तिहार ॥ ध्रु ॥

मारिअ शासु नण्डू रे शाली,

माअ मारिआ काढं भइअ कवाली ॥ ध्रु ॥”

राग-पटमजरी (१६)—

‘सुण बाइ तपता पहारी,

मोइ भण्डार लुइ स अला अहारी ॥ ध्रु ॥

घुमइ न चवह सपर विभागा,

सहज निदालु काहिला लाजा ॥ ध्रु ॥

चेअण्ण ण वेअन भर निद गेसा,
सअल सुफल करि सुहे सुतेला ॥ध्रु॥
स्वपयो मइ देसिल तिभुवण सुया,
घोरिअ अयणागमण विहल ॥ध्रु॥
शाथि करिव जालन्वरि पादे,
पाणि या राहअ मोरि पाण्डिअ चादे ॥ध्रु॥

१६ तान्तिपा (सिद्ध १३)

मालव देशके ध्वन्तिनगर [उज्जैन] में कोरी [तन्तु-
वाय, तंतवा] के घर इनका जन्म हुआ था। घरमें रहते
ही इनका मन सिद्धचर्याकी ओर लगा। जालन्धरपादका
दशन कर उनके शिष्य हो गये। पीछे कण्हपादे भी
उपदेश लिया। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ “चतुर्था-
गान्धवा” [त० ४८।१४] मिलता है, जो पुरानी मालवी
या मगहीमें लिखा गया था। इनकी कोई कविता मूल
भाषामें नहीं मिलती; किन्तु यदि “चर्यांगीति” के “देवद-
नपाद” को तन्तिपाद मान लिया जाय; क्योंकि इस नामका
कोई सिद्धाचार्य नहीं है, तो यह गीत उनकी हो सकता है।

राग पटमजरी (३३)—

“टाक्षत मोर घर नाहि पड़ेपो।
हाड़ीते भात नाहि निति आनेशी ॥ ध्रु॥
वेङ्ग संसार बड़हिल जाअ,
दुहिल दुधु कि वेण्दे पमाय ॥
घलद विआएल गविआ चांके।
पिटा दुहिण ए तिना सांके ॥
जो सो बुधी सो धनि बुधो।
जो पो चोर सोइ साथी ॥
निने निने पिआला पिदे पम जुमअ,
दण्णण पाएर गीत बिरले यूकअ ॥”

१७ महीपा (महिल) (सिद्ध ३७)

मगध-देशमें गुप्तवंशमें, इनका जन्म हुआ था। गृध्रप

होते भी इन्हें ‘सत्संगकी बड़ा चाह थी। पीछे कण्हपादे
शिष्य हो गये। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ “वायुतव-
दोदा-गीतिका” (त० ८४।१०) मिलता है, जो पुरानी
मगहीमें था। “चर्यांगीति” में महीधरपादका एक गीत
मिलता है, (यह महीपा और महीधरपाद एक ही मालूम
होते हैं)।

राग भैरवी (१६)—

“तिनि एँ पाटे लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ,
ता सुनि मार भयङ्कर रे सअमण्डल सएल भाजइ ॥ध्रु॥

मातेल चीअ-मअन्दा धावइ।

निरन्तर गअणन्त तुसें घोलइ ॥ ध्रु॥

पाप पुण्य वेणि तिहिअ सिकल मोड़िअ सम्भाठाया,
गअण टाकलि लागिरे चित्ता पइठ णिवाना ॥ ध्रु॥
महारस पाने मातेल रे तिहुअन सएल उएरती,
पअ विपय रे नाय रे वियय को वी न देखी ॥ ध्रु॥
रररविकिरण सन्तापे रे गअणाङ्गण गइ पइठा,
भणन्ति महित्ता मइ एथु बुइन्ते किम्पि न दिठा ॥ ध्रु॥”

१८ भादेपा (सिद्ध ३२) श्रावस्ती

में चित्रकार [रङ्ग-मित्र-देव-वेणक]-कुलमें इनका जन्म
हुआ था। पीछे सिद्ध कण्हपादे शिष्य हुए। तन्-जूरमें
इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता; किन्तु “चर्यांगीति” में
इनकी यह गीति मिलती है। राग मजरी (३५)—

“एत काज हाँउ अचिह्लें समोहें।

एवें मइ बुझिल सदगुरु बोहें ॥ ध्रु॥

एवें बिअराअ मकुं गठा।

गण समुदे टलिआ पइठा ॥ ध्रु॥

पेसमि दइ दिह सव्यंइ शूण।

विअ बिहन्ने पाप न पुण्ण ॥ ध्रु॥

बाजुने दिल मोहकनु भणिआ,

मइ अदासिल गअणत पणिआ ॥ ध्रु॥

भारे भण्ड अभागो लड्झा ।

चिञ्चराअ गइ अहार फासा" ॥ ध्रु ॥

१६ कङ्कणपाद [सिद्ध ८६]

विष्णुनगर [? विशार] राजवशमे इनका जन्म हुआ था ।

यंयज्ञपाके परिवारके सिद्ध थे । तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ

"चर्यादोहायोगीतिका" [तं ४८।७] मिलता है ।

"चर्यागीति"में इनकी यह गीति मिलती है ।

राग-मखारि (४४)—

"सुने सुन मिलिआ जयें,

सअल घाम उडिआ तने । ध्रु ॥

आच्छु हुँ चउपरा संघोही,

माम् निरोड अगुअर पोही ॥ध्रु॥

विदु साद नहि ए पडिठा,

अण चाइन्ते आण विणठा ॥ध्रु॥

जधा आइलेसि तथा जान,

माएँ थाको सअल विहाण ॥ध्रु॥

भणई कङ्कण रल एल सादें,

सर्वर विच्छरिल तपता नादे ॥ध्रु॥"

२० जयानन्त (जयनन्दी) पाद

[सिद्ध ५८] भंगल [भागलपुर] देशके

राजाके मन्त्री थे । जन्म ब्राह्मण वशमें हुआ था । तन्-जूरमें

जयानन्तके "तर्कमुद्गारकारिका" [ज० २४।६] और

"मध्यमकावतारटीका" [ज० २५ ।, दो ग्रन्थ मिलते हैं,

किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि, यह कौन जयानन्त

थे । इनके गुरु-शिष्यके सम्बन्धमें भी नहीं मालूम हुआ

है । "चर्यागीति"में इनकी यह गीति मिलती है—

राग शयरी (४६)—

"पेनु सुअणो अदश जइसा,

अन्तराजे मोह तइसा ॥ ध्रु ॥

मोह-विमुक्ता जइ माणा,

तने तूटइ अवणा गमखा ॥ ध्रु ॥

नौ दाढइ नौ तिमइ न चिद्धजइ,

पेख मोअ मोहे बलि बलि वामइ ॥ध्रु॥

छाअ माआ काअ ममाणा,

वेणि पाएँ सोइ बिणा ॥ ध्रु ॥

चिअ तथतास्वभावे पोहिअ,

भणइ जअनन्दि फुडणअण होइ ॥ ध्रु ॥"

२१ तिलोपा (सिद्ध २२) भयुनगर

(? विहार) में इनका जन्म हुआ था । "स स्वयं वकं वुम्"

(ज० २४२ क) में इनको राजवशिक कहा गया है ।

भिसु नाम प्रज्ञाभद्र था, किन्तु सिद्धजूरामें यह तिल कूटा

करते थे, इसी लिये नाम तिलोपा पड़ गया । गुलपाके शिष्य

और कण्डपाके प्रशिष्य विजयपाद (या अन्तरपाद) इनके

गुरु थे । विक्रमशिलाले मडापयिद्ध और सिद्धाचार्य गारोपा

इनके प्रमुख शिष्य थे । तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते

हैं, जिनमें निम्न मगही हिन्दीमें थे—१ अन्तर्मांसविषय-

निवृत्तिभावनाक्रम (त० ४८।८८) । २ मरुगभावन-

चिह्नान [त० ४८।२६] । ३ दोहाकोष [त० ४७।२२] ।

४ मडासुद्रोपदेश [त० ४७।२६] । "चर्यागीति" [पृष्ठ

६२] की टीकामें इनका निम्न लिखित दोहा उद्धृत

हुआ है, जो सम्भवत इनके दोहाकोषका है—

"स सवेअन तन्तफल, तिलोपाए भणन्ति ।

जो मण गोअर गोइया, सो परमथे न होन्ति ॥"

२२ नाड (नारो) पा (सिद्ध २०)

इनके पिता कर्मवीर ब्राह्मण थे और किसी कामसे सागधमें

प्रवास करते थे । वहीं नाडपादका जन्म हुआ । भिसु होकर

नालन्द्रामें पढ़ने लगे । असाधारण मेधावी होतेछे, सभी

विद्याओंमें पारङ्गत हो, मडाविद्वान् हो गये । पीछे विक्रम-

शिलाले विहारमें पूर्व्वहारके मडापयिद्ध बनाये गये । इतना

होनेपर भी यह पयिद्धाईसे सन्तुष्ट न थे । अन्तमें सिद्ध

तिजोगके त्रिभुवनगमें आनेकी खबर पाकर वहाँ गये और उनमे दीक्षा ली। शान्तिपाद [सि० १२], दीपकर श्रीज्ञान आदिके यह गुरु थे। भोटकी सर वा छ लोचवा भी इन्हीं-का शिष्य था। नारोपाका देशान्त १०३६ ई० में हुआ था। तन्-जूमें इनके तेईय ग्रन्थ मित्रते हैं, जिनमें निम्न मगही दिव्दमें थे—१ नाडपविद्वत्गीतिका [त० ४८।२६]। २ वज्रगीति [त० ४४।३०, ३१]। नाडपादके नामकी कोई मूल गीति नहीं मिलती, तो भी "चर्यागीति" में ताडकपादकी एक गीति मिलती है। यह ताडकपाद नाडकपाद ही मालूम होते हैं। नामका सादर्य भी हे और ताडक नामका कोई सिद्धाचार्य भी नहीं देखा जाता। इनकी गीतिका नमूना देखिये। राग कामोद (३७) —

“अपणे नाहिं सो काहेरि शङ्का,
ता महा मुदेरी दूट गेलि वंथा ॥ ध्रु ॥
अनुभव सहज मा भोल रे जोई,
बोकोट्टि विमुक्त जइसो तइसो होइ ॥ ध्रु ॥
जइसने अझिले स तइछन अछ्य ।
सहज पियक जोइ भानि म हो धास ॥ ध्रु ॥
याएड छुरु सन्तारे जाणी ।
धाक्यातीत पाहिं यत्ताणी ॥ ध्रु ॥
भणइ ताडक पथु नाहिं अवकाश ।
जो बुझइ ता गलें गलपास ॥ ध्रु ॥”

२३ शान्तिपा (रत्नाकरशान्ति)

(सिद्ध १२) मगधके एक शहरमें, माझणकुजमें,

हवा जन्म हुआ था। पीछे उदन्तपुरी (विहार शरीक) के विहारमें सर्वास्तिवाद सम्प्रदायमें प्रवेशन हुए। आचक [दीनपान] त्रिभिष्क तथा चन्त्यान्य ग्रन्थोंकी समाप्त कर विजय शिलामें महापविद्वत् होताधिके पास चले गये।

वहीं सिद्ध नाडपादके भी सस्संगमें आये। विद्या समाप्त कर कुछ दिन सोमपुरी-विहारके स्थविर [महन्त] रहे। फिर माजवा चले गये और उधर ही सात वर्षोंतक योगाभ्यासमें रहे। जिस वक्त यह लौटकर भगल देशमें, विक्रम शिला पहुँचे, उस समय सिद्धजके राजदूतने अपने राजाका आग्रह-पूर्वक निमन्त्रण इनके सामने रखा। स्वीकृति देकर यह सिद्धजकी ओर चल पड़े। रामेश्वरके पास इन्हें एक साथी मिला, जो पीछे सिद्ध होकर कुडालिपा [सि० १४] के नामसे प्रसिद्ध हुआ। सिद्धजमें जाकर इन्होंने ६ वर्ष धर्म प्रचार किया। लौटकर चूपते घामते जब विक्रमशिला पहुँचे, तब महाराज महीपाल [६७४-१०२६] की प्रार्थना स्वीकार कर पूर्वद्वारके पण्डित बने। सिद्धमें ऐसा जवदस्त पण्डित कोई नहीं हुआ। इन्हें “कलिकाज सर्वज्ञ” भी कहा गया है। १०० वर्षसे अधिककी आयुमें इन्होंने शरीर छोड़ा। तन्-जूमें दर्शन-विषय इनके नौसे अधिक ग्रन्थ हैं। इन्होंने छन्द शास्त्र-पर “छन्दोराखाक” ग्रन्थ लिखा है। तन्पर इनके २१ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें सुखदुःखद्वयपरिणामादि [४८।३७] मगहीमें था। “चर्यागीति”में इनके निम्न दो गीत मिलते हैं [राग रामकी १५] —

“सञ्च सन्वेअण सरुअ विधारे”

ते अलसकलसकल न जाइ।

जे जे उज्जवाटे गेला अनायादा भइला सोई ॥ ध्रु ॥

कुने कुन मा होडै मूढा उज्जवाटे संसारा,
वानभिण एकवाकु य भूनाह राजवथ यएदारा ॥ ध्रु ॥
म आ मोहा समुदारे अन्त न चुकसे थाहा,
आगेनाय न भेला दीसअ भनि न पुच्छसि नाहा ॥ ध्रु ॥
सुनायन्तर वह न दिसइ भानि न धामसि जान्ते ।
एषा अइ महासिद्धसिक्कर उज्जवाट जा अन्ते ॥ ध्रु ॥

वाम दादिषा दो घाटा चढ़ाडो
शान्ति धुल्लधेउ संकेलित।
घाटन गुग्गा रक्षतङ्गि नो होइ
आसि जुजिअ घाट जाइउ ॥ भु ॥”

राम शी.परी (२६)—

“तुला धुणि धुणि आसुरे आसु,
आसु धुणि धुणि निपर सेसु ॥ भु ॥
तउपे हेरुअ ण पायिअइ,
सान्ति भणइ किण समवि अइ ॥ भु ॥
तुला धुणि धुणि सुने अहरिउ,
पुन लइमां अपना खटारिउ ॥ भु ॥
घइल घट दुइ मार न दिशअ,
शान्ति भणइ घालाग न पइसअ ॥ भु ॥
फाज न कारण जएहु जअति,
सँए सँवेअण धोलथि सान्ति ॥ भु ॥”

अन्य सिद्धोंकी कुछ कविताएँ भी दी जा सकती थीं;
किन्तु विस्तार-भयसे उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है।
भोटिया-ग्रन्थ-संग्रह तन्-जूरमें और भी बहुतसे भाषाकाव्य-
ग्रन्थ अनुवादित हैं, जिनमें कुछको छोड़कर सभी मगही-
हिन्दीके हैं। दो देशोंसे इनमें कुछ ग्रन्थोंके अर्थ भी मिलने-

की आशा है। एक तो नेपालसे, जहाँसे कि, महामहोपा-
ध्याय स्व० प० हरप्रसाद शास्त्रीहो चौद-गान और दोदे
मिजे थे; और, दूसरे भोट [तिब्बतसे]। सिद्धोंकी कितनी
ही कविताएँ भोटके स-रथ-मठमें अनुवादित हुई थीं।
यह मठ अत्यन्त सुरक्षित है और आज भी इसके पुस्तका-
गारमें सैकड़ों ताजपत्रभी पुस्तकों राजकीय सुदूरके अन्दर
पन्द हैं। हो सकता है कि, किसी समय इस बोधके
सुलनेपर कुछ ग्रन्थ मिल सकें। भोटमें और भी जहाँ-तहाँ
कभी-कभी कोई-कोई पुराने भारतीय ग्रन्थ मिल जाते
हैं। लेकर जिस समय तिब्बतमें था, उस समय टीशीरहु-
न्गोंमें एक दूरके जामाने भारतीय जामा जान कर एक
ताल-पोथी प्रदान की थी। पुस्तकका नाम “वज्रज्ञा-
तन्त्र” है और इसका अनुवाद भोटिया-कंजूरमें वैशाली
(वसाद, जि० सुनफरपुर) के कायस्थ पंडित गयाधरने,
ग्यारहवीं शताब्दीके मध्यमें, किया था। कई कारणोंसे
मालूम होता है कि, यह अनुवादकी मूल मति है।

यहाँ तन्-जूरमें अनुवादित कुछ भाषा-काव्यों और
उनके कर्ताओंकी सूची दी जाती है, जिससे हिन्दी-
भाषा-भाषी समझेंगे कि, सिद्धोंने हिन्दीकी कितनी
सेवा की है—

कविनाम	ग्रन्थनाम
२४ रुचिन्त	तीर्थिक चयडालिका
२५ अज्ञात कवि	मोतिदा
	हकिनीतनुगीति
	योगिनीप्रसरणीतिका
	वज्रगीति

”

” । सिद्धयोगि-

२६ + अद्वयनन्द (मै-रीषा)

अयोध-दोषक

तन्-जूरमें *
त० ४८।६७
त० ४८।२०, २३, २४
त० ४८।१११
त० ४८।३२
त० ४७।३२
त० ८२-२०
त० ४८।१०६
त० ४७।३६

* यह पदा Cordier के सूचीपत्रकी दूसरी-तीसरी जिल्दीके तन्त्र-टीका-विभागका है।

+ इनका नाम अबधूरीषा भी है; यह दीपहर श्रीमान [जन्म ई० ६८२-१०६४ श०] के पुत्र थे।

गुरुमीश्रीगीतिका	ता० ४८।१३
चतुर्मुद्रोपदेश	ता० ४७।३७
चित्तमाश्रयि	ता० ४८।४६
दोषानिषिद्धाभ्योपदेश	ता० ४६।३३
यज्ञगीतिका । चतुर्-	ता० ४८।१२

२७ अथो (अलो) गिवा (सिद्ध २६) चित्तसम्प्रदायवस्थान ॥

वायुस्थान-रोग-परीक्षण	ता० ४८।८१
त्रिपनिर्वहण-भाषणाक्रम	ता० ४८।६६

२८	इन्द्रभूतिपा [सि० ४२]	तत्त्वचटक-चटि	ता० ४८।४२
२९	कङ्कालमेखला [सि० ६६।६७]	सनातनावर्तत्रयमुखाग्रम	ता० ४८।८६
३०	कङ्कालिपाद [सि० ७]	सद्गजागस्तवभाव	ता० ४८।६०
३१	कमरिपा [सि० ४६]	सोमसूर्ययन्धनोपाय	ता० ४८।७१
३२	किलिपाद [सि० ७३]	दोषावर्धनीतिकाटि	ता० ४८।३६
३३	कुङ्कालिपाद [सि० ४४]	अविन्यक्तमोपदेश	ता० ४६।१३
		चित्ततत्त्वोपदेश	ता० ४८।८२
		सर्वदेवतानिष्पन्नक्रममार्ग	ता० ४८।७०
३४	कुङ्कुमला [?]	महामुद्राभिगीति	ता० ४८।६६
३५	केरलिपा	तत्त्वसिद्धि	ता० ४७।३; ८६।१६
३६	कोकलिपा [सि० ८०]	चातु.परीक्षा	ता० ४८।९४
३७	गयाघर—कायस्थ पवित्रत	ज्ञानोदयोपदेश	ता० १३।६४
३८	गोरक्षपा [सि० ६]	वायुतत्त्वभावोपदेश	ता० ४८।६१
३९	वंटापा [सि० ६२]	शालिकालिमन्त्रज्ञान	ता० ४८।७८
४०	चमरिपा [सि० १४]	प्रज्ञोपायविनिश्चयसमुदाय	ता० ४८।६६
४१	चम्पकपा (सि० ६०)	आत्मपरिज्ञानद्वयुपदेश	ता० ४८।८६
४२	चर्पटीपा [सि० ६६]	चतुर्भुक्तमवाभियासनक्रम	ता० ४८।८६
४३	चेलुक्काद [सि० ६४]	पङ्कजोपदेश	ता० ४७।७१
४४	चोरंगीपा [सि० १०]	वायुतत्त्वभावोपदेश	ता० ४८।६२
४५	छत्रपा [सि० २३]	शून्यताकृष्णाटि	ता० ४८।८०

॥ निम्नलिखित ग्रन्थोंमें वायुवाद-ग्रन्थकी मूल भाषाके लिये तर्क भारतीय भाषा लिखा रहता है, संस्कृत और भाषाका फर्क नहीं दिया जाता । दोहा, गीति दृष्टिदृष्टिकाले नाम तो भाषा ग्रन्थोंके है, किन्तु यहाँ उन ग्रन्थोंके भाषामें गिना गया है, जो कि, भाषा-ग्रन्थोंके वेदन (४८, ४७) में है या तिर्होसे सम्बन्ध रखते हैं ।

४६ जगन्निगानन्द [मिश्रयोगी]०	पदरत्नमाला	त० ८४।६
	मन्त्रविमुक्तयुगपदेश	४८।१२६
	योगित्वचित्तग्रन्थ	त० ४८।१२८
	विमोचकोपदेश	
४७ धगनपा [सि० १६]	दोहाकोपतत्त्वगीतिका	त० ४८।६
४८ दीपङ्कर श्रीज्ञान 'I'	चर्यागीति	त० १३।४४
	धर्मगीतिका	त० ४८।१४
	धर्मपातुदर्शनगीति	त० ४७।४७
	यज्ञासनवज्रगीति	त० १३।४२
	गीतिका	त० ४८।१६
४९ दृष्टिज्ञान [१]	वज्रगीतिका	त० ४८।१८
५० दोहंघिपा (सि० २५)	चतुरङ्गोपदेश	त० ८२।१७
	महायानावतार	त० ४८।६०
५१ धर्मपा [सि० ३६]	काञ्चिभावनामार्ग	त० ४८।७६
	सुगतदृष्टिगीतिका	त० ४८।९
	हुंकारचित्तविन्दुभावनाक्रम	त० ५८।७४
५२ घट्टलि (= दउकि) पा [सि० ०]	शोकदृष्टि	त० ४८।४४
५३ घेतन	चित्तरत्नदृष्टि	त० ४८।४१
५४ घोकरिपा (सि० ४६)	प्रकृति सिद्धि	त० ४८।७५
५५ नलिनपाद [सि० ४०]	धातुवाद	त० ४८।१८
५६ नागबोधि [सि० ७६]	आदियोगभावना	त० ४८।६१
५७ नागाजुन [सि० १६]	नागाजुनगीतिका	त० ४८।१३
	स्वसिन्धुपदेश	त० ४८।२६
५८ निगुंशपा (सि० ५७)	शरीरनादिका-विन्दुसमता	त० ४८।४
५९ निष्कलंकवज्र	मन्त्रविमुक्तिशास्त्र Δ	त० ४८।१२३

७ गङ्गाधर महाराज जयचन्द्रके गुह थे । देखिये ग्रन्थ "मन्त्रज्ञान, वज्रदान और बौद्धी सिद्ध" ।

'I' बैराली [वसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर] के रहनेवाले तथा मन्त्रधूतिपाके शिष्य थे । दीपङ्करके खालमें यह भी मोट गये और वहाँ बहुते ग्रन्थोंका भोटिया-भाषामें अनुवाद कर कई वर्षों बाद तीन सौ तोला सोनेकी बिदाईके साथ भारत लौटे थे ।

△ भारतीय ग्रन्थोंका भोटिया-अनुवाद पण्डित श्री लोचन [= भोटिया हुआविषा] मिलकर किया करते थे । इस ग्रन्थके अनुवादमें पण्डित जगन्निगानन्द थे ।

६०	नीलकण्ठ	अद्वयनादिकाभावनाक्रम	त० ४८।६६
६१	पङ्कज [सि० ५१]	अनुत्तरसर्वशुद्धिक्रम	त० ४८ ७७
		स्थानमार्गफलमहामुद्राभावना	त० ४८।६२
६२	पद्महपा (सि० ७६)	चर्मदृष्टानुत्पन्नतत्त्वभावना	त० ४८।९६
६३	परमस्वामी (नृसिंह) †	दोहाक्षित्युक्त	त० ४८।७३
		महामुद्रारत्नाभिगीत्युपदेश	त० ४८।१०२
		वज्रहाकिनीगीति	त० ४८।१०
		सकलसिद्धवज्रगीति	त० ४८।११३
६४	पुतलीपा [सि० ७८]	धोधिचित्तवायुचरणभावनोपाय	त० ४८।९२
६५	महासुखतावजू [शान्तिगुप्त]	महासुखतागीतिका	त० ४८।३१
		योगगीता	त० ८६।८६
६६	मेकोपा (सि० ४३)	चित्तचैतन्यशमनोपाय	त० ४८।६६
६७	मेदिनीपा [सि० ५०]	सङ्ख्यार्म्होपाय	त० ४८।७६
६८	शङ्खलभद्र (सि० ४७)	अविन्यपरिभावना	त० ४८।७३
६९	ललित [वजू]	महामुद्रारत्नगीति	त० ४८।११२
७०	जीलावज्र (सि० २)	विकल्पपरिहारगीति	त० ४८।२
७१	लुकिपा (सि० ५६)	चण्डालिकाविन्दुप्रस्फुरण	त० ४८।८३
७२	वज्रपाणि †	वज्रपद	त० ४६।४१
७३	वैरोचनवज्र	वैरोचनगीतिका	त० ४८।२५
७४	शाक्य श्रीमद्र []	चित्तरत्न-विशोधन-मार्गफल	त० ४८।१२५

† यह भारतीय सिद्ध पण्डित थे । १०६१ ई० में भोट, ११०० ई० में चीन, १११२ ई० में अग्निम बार भोटमें गये । भोटिय में इन्हें पादमूपा [=उत्पिपा] भी कहते हैं । इनका देहान्त १११७ ई० में हुआ ।

० इसका अनुवाद गुजरातके पण्डित पृथ्वजू और लामा तावानाथने मिलकर किया । प्रत्येक शान्तिगुप्त हुआ और मध्यरात्रि समवालीन थे । इनका जन्म दक्षिण-देशके जलमगडल [?] देशमें हुआ था ।—“रत्नावलीजोपमकथा” ।

† श्रीपद श्रीशान्ते पीछे (१०६५ ई० में) यह लिखन गये और वहाँ बहुतने ग्रन्थोंका अनुवाद किया ।

॥ शाक्यश्रीमद्र (जन्म ११२६ ई०) विजय शिलाके अग्निम प्रधान स्थिति थे । महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा विजयशिलाके नष्ट किये जानेपर यह दृष्टीका चले गये और वहाँ तीन वर्ष रहे । वहाँसे बियासे नेपाल गये । वहाँसे ग्रीकोचपा [१२०१ ई० में] इन्हें लिखन से गया । महम्मद-बिद्याका लामा इनका मित्र-शिष्य बना । बहुतने ग्रन्थोंका अनुवाद एवम् धर्म-प्रचार कर रत्न १२१२ ई० में यह मन्त्री जन्मभूमि परमीर लौट गये । वहाँ १२२५ ई० में इनका देहान्त हुआ ।

		यज्ञपदगर्भसंग्रह	त० ५।३
		विशुद्धदर्शनचर्योपदेश	त० ४८।१४४
७५	शृगालपाद (सि० २७ ?)	रत्नमाला	त० ४८।५८
७६	सर्वभण (सि० ७५)	कदम्बाचर्योपाख्यान	त० ४८।४६
७७	संवरभद्र	यज्ञगीताववाद	त० ४८।२१
७८	सहजयोगिनोचिन्ता	व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि	त० ४९।७
७९	सागर (सि० ७३)	आलिकाजलिमहायोगभावना	त० ४८।८०
८०	समुद्र [सि० ८३]	सूक्ष्मयोग	त० ४८।९७
८१	सुखवज्र	मूलप्रवृत्तिप्रभावना	त० ४७।३६

भारतमें मानव-विकास

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

विज्ञानविदु ज्योतिषियोंका मत है कि, पचास वर्ष पूर्व पूर्ण अपने ग्रह उपग्रहों-सहित सूर्यका एक ही पिण्ड था। उस एक सूर्य और भी अधिक गर्म था। पृथिवी तथा मङ्गल आदि ग्रहोंकी निर्माणक सामग्री भी, नाप्य रूपमें होनेके कारण, सूर्यपिण्ड उस समय बहुत दूर तक फैला हुआ था। यद्यपि उस समय सूर्य आजसे बहुत अधिक बड़ा था; तथापि इसके कारण सारा आकाश आच्छादित न था। रातको दिखाई पड़नेवाले अगणित तारोंमें भी करोड़ों तारे उस समयके सूर्यके बराबर हैं; किन्तु क्या उनसे आकाश आच्छादित हो गया है? यह तारे तो आकाशमें वैसे ही हैं, जैसे विशाल समुद्रमें तैरता एक जहाज! सूर्यके पासवाले भागके अतिरिक्त उस समय भी आजकी ही तरह सारा आकाश अत्यन्त शीतल था। किसी समय आकाशके किसी दूरवाले भागसे एक विशाल तारा सूर्यको ओर

अग्रसर होने लगा। जैसे-जैसे वह सूर्यके अधिक समीप होने लगा, वैसे-वैसे सूर्यके वाष्पसमुद्रमें ज्वार-भाटा उठने लगा। समीपतम स्थानपर पहुँचनेके समय यह ज्वार-भाटा करोड़ों मील लम्बी सूर्यकी पूँछ बन गया। जब सूर्यसे वह तारा दूर जाने लगा, तब, जिस प्रकार ज्वारके वेगमें कितना ही फेन समुद्रसे बाहर फेंक दिया जाता है, वैसे ही वाष्प-मय सूर्यका कुछ अंश अपने प्रधान पिण्डसे अलग फेंक दिया गया। यह फेंका हुआ भाग अब सूर्य-पिण्डकी चारों ओर घूमने लगा। यही सौर-मण्डल-का ग्रह हुआ। करोड़ों वर्षों के अन्तरपर कितने ही ऐसे तारे सूर्यके समीप पहुँचे; और, इस प्रकार अनेक सौर-ग्रहोंकी सृष्टि हुई। दो अथवा वर्ष पूर्व एक प्रकारसे ही पृथिवी सूर्य-पिण्डसे अलग हुई (वैसे ही किसी आकाशीय ताराके कारण पृथिवीका एक भाग अलग होकर चन्द्रमाके रूपमें हो गया)।

पृथिवी पिण्डकी उष्णता निकल-निकलकर अब अपने चारों ओरके शीतल आकाशमें फैलने लगी। धीरे-धीरे ऊपरी भागपर पपड़ी (पर्पटी) पड़ने लगी, जिसकी चारों ओर उष्णतासे बने वायु-मण्डल और मेघ-मण्डल मँड़राने लगे। कभी कभी वर्षा भी होती थी; किन्तु उस तब पपड़ीपर वह विलीन हो जाती थी। बीच-बीचमें पृथिवी थरा उठती थी और पपड़ी टूट-फूटकर ऊँची-नीची भूमि तैयार करती थी। जब पृथिवीका तापमान कुछ कम हुआ, तब वर्षाका जल उन खड्डोंमें ठहरने लगा। यही आदि-कालीन समुद्र हुआ, जो खारा न था। यह पपड़ीवाले पत्थर ही आज स्फटिक आदि स्तररहित चट्टानें हैं। पीछे (किन्तु, जीवकल्पसे पूर्व) आस-पासके नंगे पहाड़ोंसे धुलकर जो तह-पर-तह फीचड़ जमने लगी, वही आजकल अजीब सस्तर पाषाण है। प्रथम समुद्रका जल बहुत गर्म था। जब लाखों वर्ष बाद पृथिवीका ऊपरी भाग कुछ और ठण्डा हो गया, तब उसमें कैल्शियम जैसे अल्प रहित जीव पैदा होने लगे। जीवका विशेष गुण है भीतरसे वृद्धि तथा प्रसव।

भूमर्माशाखी पृथिवीपर जीवकी उत्पत्ति हुए ३० करोड़ वर्ष मानते हैं, जिसे जीवकल्प कहा जाता है और इससे पहलेके समयको अजीवकल्प (Azoic)। धीरे-धीरे तापमान भी कम होने लगा। मृत जीवों तथा धुलकर आयी फीचड़के सम्मिश्रणसे अब और अधिक विकसित जीवोंका खाद्य तैयार होने लगा, जिससे कैल्कड़ा आदिकी तरह जन्तुओं तथा निम्न श्रेणीके वनस्पतियोंकी सृष्टि हुई। जब हम इस ३० करोड़ वर्ष पूर्व आरम्भ हुए पुराण जीवकल्पसे चलकर २० करोड़ वर्ष पूर्व आरम्भ हुए मध्य जीवकल्पमें आते हैं, तब पृथिवीपर गोधा

और मगरकी जातिके विकराल सरीसृप दिखायी पड़ते हैं। पृथिवीके गर्भसे सौ सौ फीट लम्बी प्रस्तरभूत इनकी हड्डियाँ मिली हैं। उसी समय पृथिवीके दलदलमें करीर जैसे पत्ते-रहित विशाल वृक्ष पैदा हुए, जिनको ही आज हम कोयलेके रूपमें पाते हैं।*

सरीसृपोंके कालके अन्तमें पृथिवीके जल वायुमें कुछ इस प्रकारका भयङ्कर परिवर्तन हुआ कि, उनकी अविकाश जातियाँ नष्ट हो गयीं। लेकिन उस समय वृक्ष समुद्रके पासवाली शुष्क भूमिमें भी पैदा होने लगे थे। उधर जल, स्थल, दोनोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंसे एक ओर लोमचारी, स्तनधारी जन्तु और दूसरी ओर पक्षी उत्पन्न होने लगे थे।

वनस्पतियोंमें विकास होते-होते जैसे-जैसे भूमिके नीचेसे जल ग्रहण कर हरे-भरे रहनेवाले वृक्ष जलके तटसे दूरतक फैलते जा रहे थे; और, जैसे-जैसे प्राणियोंके शरीरपर शीत उष्णके सहनके लिये विशेष लोम, पंख आदि निकलते आ रहे थे, वैसे-ही-वैसे भूचालोंसे समुद्रके गर्भकी, ऊपर उठ आयी, सृष्टिकासे युक्त भूमिपर वह जलसे दूर-दूर फैलते गये।

वैज्ञानिकोंका कहना है कि, इन्हीं लोमधारी, सस्तन प्राणियोंमें कुछ अपने शत्रुओंसे बचनेके लिये वृक्षोंपर चढ़नेका यत्न करने लगे। संकड़ों पीढ़ियोंके सतत अभ्याससे उनके हाथ-पैर वृक्षोंपर चढ़नेके उपयोगी हो गये। इस प्रकार वृक्षारोहणमें पटु वानरोकी सृष्टि हुई।

हम सरीसृपोंके युगसे नवजीव कल्पमें होते नवजीवकी उपा (Eocene) युगमें प्रवेश कर चुके

नव-नयजीव-उपाके समय भारतमें त्रिज्या-चलसे दक्षिणाला भाग ही समुद्रतलके बाहर था। हिमालय, तिब्बत और सारा उत्तरी भारत उस समय समुद्रके गर्भमें निमग्न था। मध्य-नयजीव-उपा [Miocene] युगमें प्रचण्ड भूचालोंका ताँता बँध गया, जिसके फलस्वरूप हिमालय पृथिवीके गर्भसे ऊपर उठ आया। समुद्र-गर्भसे निकलनेके कारण हिमालयकी ऊँची चोटियोंतकपर आजकल सामुद्रिक जन्तुओंकी प्रस्तरभूत अस्थियाँ मिलती हैं।

भूचालने सीधे तौरसे भूमिको नीचेसे ऊपर नहीं उठाया था; इसीलिये अर्जावकल्पसे समुद्र-के गर्भमें तह-पर-तह जमी मिट्टी सीधे एकके ऊपर एक न होकर आँड़-बैँड़ गयी। यही कारण है, जो हम पहाड़ोंमें पत्थरोंकी तहोंको अस्त-व्यस्त पाते हैं। हिमालयसे वर्षोंका जल अब समुद्रकी ओर बहने लगा। यही जल-मार्ग नदियाँ बना। टापों वर्षोंतक नदियाँ अपने साथ अपार मृत्तिका राशिको समुद्रमें पाटती रहीं। उधर इतस्ततः होनेवाले भूचालोंने भी समुद्रकी स्थिति पर प्रभाव डाला। इस प्रकार गङ्गा आदि नदियोंने लाखों वर्षोंके परिश्रमके बाद उत्तरी भारतके मैदान-को समुद्रासुरके जालसे बाहर निकाला।

जिस समय उत्तरी भारतका मैदान बनाया जा रहा था, उसी समय हिमालयके निम्न भाग सिवालिक (=सपादलक्ष)में नाना जन्तुओंकी वृद्धि हो रही थी। इसमें गोरीला आदि कितने ही आजकल वहाँ न मिलनेवाले प्राणी भी थे, जिनकी प्रस्तरभूत हड्डियाँ (Fossil) आज भी वहाँ मिलती हैं। नवजीवोपा-युगके इस भागको, प्राणियोंकी अधिकताके कारण, बहु-नवजीवोपा कहते हैं, जो

कि, प्रायः तीस लाख वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था। इसके अन्तिम भाग या आजसे ४—५ लाख वर्ष पूर्व निवालिकमें ऐसे वनमानुष थे, जिनकी अस्थियोंसे पता लगता है कि, वह मानवताकी ओर अग्रसर हो रहे थे। तीन-चार लाख वर्ष पूर्व, अतिशय नवजीवोपा युगमें, हिमालयका नीचे-आला भाँगर प्रदेश बन रहा था। उसमें मिली प्रस्तरभूत अस्थियोंसे पता लगता है कि, वहाँ कितने ही इस प्रकारके घोड़े, गाय, गैंडे, दरियाई घोड़े आदि रहते थे, जिनकी जाति वहाँ रुप्त हो गयी। इसी समय सिवालिकमें मनुष्य और वनमानुषके बीचकी स्थितिके प्राणी रहते थे। यह वही समय था, जिस समय कि, जावाका नर-धानर (*Pithecanthropus erectus*) निवास करता था।

दो लाख चालीस हजार वर्ष पूर्व पृथिवीपर एक भयङ्कर हिमप्रलय उपस्थित हुआ। इसके कारणके लिये वैज्ञानिक कई अनुमान लगाते हैं। कोई कहते हैं, इसी समय सौरमण्डलसे बाहरका कोई तारा पृथिवीके समीपसे होकर गुजरा, जिसके कारण पृथिवीकी भ्रमणधुरी तिरछी होगयी, जिससे जन्तुओंमें फर्क पड़ गया (अथवा सौरजगत् ही घूमते घूमते आकाशके किसी अत्यधिक शीतल प्रदेशमें पहुँच गया)। अन्य वस्तुओंसे जलमें यह विशे पता है कि, जहाँ अन्य वस्तुएँ सर्दोंकी अधिकताके कारण सिक्कुडने लगती हैं, वहाँ जन्म अतिशय सर्दोंके कारण जमता जहर है; किन्तु उससे वह सिक्कुडनेकी जगह फैलने लगता है। यदि आज पृथिवीके सारे समुद्र जम जाँय, तो उनका जल बर्फ बनकर, पृथिवीपर सब जगह सैकड़ों हाथ मोटा होकर, फैल जाय। उस समय पृथिवीकी भ्रमण-धुरीके तिरछी हो जानेसे सर्दोंकी अधि-

कता हो गयी और उत्तरी गोलार्द्धमें जहाँ बर्फकी टोपी उत्तरी ध्रुवसे घटती समस्त उत्तरी यूरोप, और, न्यूयार्कतक उत्तरी अमेरिका, चारहो मासके लिये, हिमसे ढक गये, वहाँ दक्षिणी गोलार्द्धमें टस्मानिया, न्यूजीलैंड आदिकी भी वही दशा हुई। भारतमें हिमालयकी हिमानियाँ (ग्लेशियर) जो आज दस हजार फीटसे नीचे कहीं नहीं हैं, पोटवार (कश्मीर)में दो हजार फीट (समुद्र-तलसे ऊपर) तक चली आयीं। उस समय कल-कत्तेमें लंदन जैसी सर्दी पड़ने लगी थी। कारण कुल भी हो, इस हिमयुगने सारे भूमण्डलपर अपनी अवल छाप छोड़ी है।

प्रथम हिम-युग हजारों वर्षों तक रहा। फिर दूसरा हिम-युग आया। एक लाख वर्ष पूर्व तीसरा हिम-युग और पचास हजार वर्ष पूर्व चौथा हिम-युग आया। इन हिम-युगोंने पृथिवीके प्राणी-जगतमें घोर उथल-पुथल उत्पन्न की। कई प्राणि-जातियाँ, इसके कारण, पृथिवीतलसे सदाके लिये विलुप्त हो गयीं। जिन्होंने आत्मरक्षाके लिये शरीर और मनका पूरा उपयोग किया, वह साधन सम्पन्न बनकर अपने अस्तित्वको कायम रखनेमें सफल हुईं। कोई एक लाख वर्ष पूर्व, अन्तिम हिमयुगसे बहुत पूर्व, यूरोपमें एक प्रकारकी मनुष्य-जातिका पता लगता है, जिसे हाइडेल-बर्गिय मनुष्य कहते हैं। वैसे गोरीला और बबून भी डंडे या पत्थर फेंककर मारते देखे जाते हैं; किन्तु हाइडेलबर्गिय मनुष्य तोड़-फोड़कर तेज बनाये ऊबड़-खाबड़ पत्थरके हथियारोंका प्रयोग किया करता था। पचास हजार वर्ष पूर्व, चतुर्थ हिमयुगके समय, यूरोपमें निपाण्डर्थल मनुष्य-जातिका पता लगता है। सर्दियोंकी अधिकताके कारण इसे पहाड़ोंकी प्राकृतिक

शुफाओंमें शरण लेनी पड़ी थी। यह पत्थर और लकड़ीके हथियारोंका प्रयोग करता था। सर्दोंसे बचनेके लिये जहाँ वह आगका प्रयोग जान गया था, वहाँ मारे हुए जानवरोंकी चालोंको भी लपेटता था। इसके शरीरकी वनावटसे मालूम होता है कि, अभी यह बाणीका प्रयोग करना बिल्कुल ही नहीं, अथवा अत्यल्प, जानता था। अभी इसे धर्म, देवता आदिकी कल्पना नहीं हुई थी। हाँ, उस समय लंगूरोंकी भाँति सबसे अधिक शक्तिशाली मनुष्य सभी स्त्रियों (माँ, बेटो, बहनतक) का स्वामी होता था। पुत्र युवावस्थातक पहुँचते-पहुँचते या तो कुटुम्ब-पति-द्वारा मार डाला जाता था, अन्यथा उसे जान बचाकर अपने जैसे भगोड़ोंकी जमायतमें शामिल हो जाना पड़ता था। कुटुम्बपतिकी शक्ति जैसे ही क्षीण होने लगती थी, वैसे ही उसका काम तमाम कर दूसरा बलशाली पुरुष उसकी जगह ले लेता था। इसी कारणसे उस समय कुटुम्बपति चालीस वर्षसे अधिक शायद ही जी पाता था।

जिस समय यूरोपमें निपाण्डर्थल मनुष्यशुफाओंमें निवास करता था, उसी समय दक्षिणी भारतके कड़पा, गुन्तूर, कर्नूल आदिकी शुफाओंमें मनुष्य वास करता था। दोनोंकी स्थितिमें फर्क यह था कि, जहाँ चतुर्थ हिमयुगके कारण यूरोपमें असह्य सर्दी पड़ रही थी, वहाँ दक्षिण भारतमें सहा सर्दी पड़ती थी। चालीस हजार वर्ष पूर्वसे पचीस हजार वर्ष पूर्वतक धीरे-धीरे यूरोपसे हिमकी कठोरता जाती रही; भारतमें भी इसका प्रभाव उसीके अनुसार हुआ।

पचीस हजार वर्ष पूर्व यूरोपके स्पेन आदि देशोंमें मनुष्योंकी एक जाति बसती थी, जिसे क्रोमेगन

(Cromagnon) कहते हैं। नियांडर्थल मनुष्य उस समय भी मौजूद था; तो भी दोनोंका रक्त-संमिश्रण न होना शायद नियांडर्थल को कुरुपता और वीभत्सताके कारण हो। क्रोमेग्नन मनुष्य शिकारी था। एक प्रकारके छोटे छोड़े उसके प्रधान खाद्य थे। जिनके लाष्टों कड़्हाल सोलुत्र आदि स्थानोंमें मिले हैं। स्पेनकी गुफाओंमें इनके बनाये अनेक चित्र भी मिले हैं। ये चित्र बहुत ही बेंधेरी जगहमें हैं, जिससे पता लगता है कि, ये दीपकका भी प्रयोग करना जान गये थे। यह मुद्देको दबाया करते थे। मिट्टीके खेलौने बना लेते थे; किन्तु इन्हें वर्तन बनानेका ज्ञान न था। इससे अनुमान होता है कि, अभी मांस आदि भोजन पकाकर ये खाना नहीं जानते थे। जिस समय क्रोमेग्नन-जाति दक्षिण-पश्चिमीय यूरोपमें वास करती थी, उसी समय मिर्जापुरके सिंगनपुर तथा दूसरे प्रदेशोंमें भी आदमी निवास करते थे। इन्होंने भी अपनी गुफाओंमें अनेक चित्र और छिले पाषाणोंका हथियार छोड़ा है। दोनोंके चित्रोंमें जंगली जानवरों तथा शिकारके दृश्य ही मिलते हैं, जिनसे मालूम होता है, अभी इन्हें देवताओं और धर्मकी कल्पना नहीं हुई थी। शायद अभी यह मानाको चिकित्सित न कर सके थे। भाषाके बिना परम्परा और पुराने कथाओंको एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें कैसे पहुँचाया जा सकता है? परम्परा और कथाएँ ही तो देवताओं और धर्मकी सृष्टि करती हैं।

बारह हजार वर्ष पूर्व मनुष्योंमें एक नयी प्रगति दिखायी पड़ती है। अब मनुष्य छिले पत्थरोंके हथियारके स्थानपर घिसकर चिकने किये पत्थरके हथियारोंका बर्ताव करता था। इसी कारण इस

युगको नव-पाषाणयुग (Neolithic) कहते हैं। इस युगके साथ भूरे रंगकी इबेरियन जाति (द्रविड़-जाति, जिसको कि, एक शाखा कही जाती है) इस युगमें अगुआ है। कहते हैं, इस जातिका मूल स्थान वही प्रदेश था, जहाँ आज भूमध्यसागर है। चतुर्थ हिमयुगसे पूर्व यह प्रदेश बहुत ही हरा, दो विशाल भीलाका सुन्दर, देश था। हिमके अधिक पिघलने-से अटलांटिक-महासागर-जलतल भूमध्य-प्रदेशके तलसे बहुत ऊँचा होता गया। पानीने अपनी शक्ति लगाकर ज़िब्रोल्डके जल विभाजकको काट दिया। अब अटलांटिकका जल भूमध्यकी द्रोणीमें पड़ने लगा। जैसे-जैसे समय बीतता गया, जलमार्गकी वृद्धिके साथ जल भी अधिक मात्रामें आने लगा। यह जलप्लावन प्रायः ई० पू० १३०००-८००० वर्षों तक होता रहा। भूमध्य-वासी भूरी-जाति तबतक अपनी भाषाको किसी हदतक चिकित्सित कर चुकी थी। उसकी सन्तान जब इस प्रकार अशरण हो उत्तर, दक्षिण और पूर्वकी ओर भागने लगी, तब अपने साथ इस जल-प्लावनकी कथाको भी लेती गयी। इस जातिने यूरोपमें जाकर क्रोमेग्ननका स्थान ग्रहण किया। सुमेरियन, सिन्धु-उपत्यका (मोहजोदारो) के निवासी तथा प्राचीन मिश्री भी सम्भवतः इन्हींकी सन्तान थे। चिकने पाषाणके अस्त्रोंके अतिरिक्त इसने धनुष-बाणका भी आविष्कार किया। पहले, जल (ई० पू० ४००० से पूर्व) धातुका पता न लगा था, तब चकमक पत्थरको रगड़कर तेज किये टुकड़े ही बाणके फरके स्थानपर प्रयुक्त किये जाते थे। शिकारमें लगातार पहुँच जानेवाले कुत्तोंको इसने पहले-पहल पालनू जानवर बनाया। पीछे गाय, भेड़ आदिको भी पालनू बनाया। जानवरोंके खानेके लिये घास काटकर जहाँ रख दी जाती थी

वहाँ भूमिके सरस होनेपर उन्होंने लम्बी लम्बी घासोंको उगते देखा। इस प्रकार पहले चारेके लिये ही कृषिका आरम्भ हुआ। पीछे, अनाजकी उपयोगिताको जाननेपर, उसकी चेती भी आरम्भ हुई। खेतीके फन्देमें पड़नेके साथ-साथ मनुष्य वन-वन विहलनेवाले खञ्जन्द प्राणीके स्थानपर खूँटेपर चँधे पशुकी तरह एक जगह बस गया। अब पशुपालन कृषक-जीवनका एक गौण अङ्ग रह गया। अपने शत्रुओं (कृषकों और पशुपालकों, दोनों) से रक्षा पानेके लिये वह ग्राम (भुंड) बनाकर रहने लगा। शत्रुको संख्याकी वृद्धिके साथ जहाँ अपनी संख्या बढ़ाकर वह नगर बसाने लगा, वहाँ पारस्परिक लड़ाइयोंमें वीर और अधिक समझदार नेताओंका प्रभाव बढ़ते-बढ़ते राजाका पद कायम हुआ। सूसा [ईरान] के ध्वंसावशेषके प्राचीनतम स्तरमें शिकारी-कृषक जीवनका चिह्न मिला है। अब तकके निकले ध्वंसावशेषोंको देवकर विद्वानोंका कहना है कि, पहला ग्राम मेसोपोटामियामें बसा था और उसी समय वही कृषि भी आरम्भ हुई थी। यह समय ई.पू. १० हजारके करीब होता।

बहुत पुराने समयमें, जब अभी उत्तरी-भारतके सहित हिमालय समुद्रके गर्भमें था, दक्षिणी भारत पर्वतोंका और लङ्काके आगेतक फैले महाद्वीपका एक भाग था। इस बातका प्रमाण उनके पाषाणों और पुराण-जीवधारियोंकी प्रस्तीभूत अस्थियोंकी समानतासे मिलता है। चतुर्थ हिमयुगके बाद जिन मनुष्य-जातियोंका हम भारतमें निवास पाते हैं, उनमें सबसे पुरानी दो जातियाँ हैं—एक हथ्यो

जैसी (*Bigroid*) दूसरी प्राग्नाचिडीय (वेदा, मुंडा आस्ट्रेलियन आदि)। आदि चन्नलूर (मद्रास)में मिली खोपड़ीकी कपाल संस्थितियाँ (*Cephalic indices*) वेदा लोगों जैसी हैं। चित्रोंके सादृश्य आदिके देखनेसे सिंगनपुरके चित्रकार भी उचित आस्ट्रेलियन आदि जातियोंसे सम्बन्ध रखते मालूम होते हैं। नव-पाषाणकाल (१०,००० ई. पू. से पहले) यही दो जातियाँ भारतमें बसी मालूम होती हैं। नवपाषाणयुगमें भूमध्यदेशीय भूरीजातिका, * मालूम होता है, स्पेन, मिश्र, मेसोपोटामिया, ईरान और भारतसे चीनतक दौरदौरा था। चिकने पाषाणके हथियारोंके अतिरिक्त इसी जाति द्वारा सूर्य-नाग-पूजा तथा स्वस्तिकका चारो ओर प्रचार हुआ था। पाँच हजार वर्ष पूर्व यही सिन्धु उपत्यकाके मोहजोदारो तथा हरप्पा जैसे नगरोंमें रहा करती थी। विद्वानोंका कहना है कि, यही यह असुर-जाति थी, जिससे २००० ई. पू.में भारत पर हमला करनेवाले आर्योंका संघर्ष हुआ; और, आजकलकी द्रविड़ तथा उत्तरीय भारतकी भर आदि जातियाँ उसीकी सन्तानें हैं। मालूम होता है, भूमध्य-देशीय* भूरी-जाति, जलप्लावनके समय, बहुत अधिक संख्यामें भारतमें नहीं आयी थी; इसी लिये उसपर बहुत शीघ्र मुंडा और हथ्यी रंगकी छाप पड़ गयी। तभी तो असुरजाति को सुचतुर नागरिक मानते हुए भी आगन्तुक आर्योंने “चिपटी नाकवाली” तथा कृष्णकाय कहा। इस द्रविड़जातिके सुसम्पन्न होनेका पता तो इससे भी लगता है, जो उसने छोटानागपुरके प्राग्-

* इन भूरीजाति समूह (ग्रैबल, यरीरियन, पिनीशियन तथा क्रैडनिक गट्टी) और प्रभव (नाबोन निना और उनके बराबर प्रागुनिक कुन्ड), ईथियोपियन, प्राचीन केन यूरोप के वास्, सिन्धु-उत्पत्तिके निवासी एग्रे प्रागुनिक द्रविड़ हैं।

द्राविडीय ओराघोंको उनकी भाषाके स्थानपर अपनी भाषा बोलनेको बाध्य किया; जैसा कि पीछे प्राग्द्राविडीय भीलों एवं द्राविड़ भरोंको आर्यभाषा-भाषी बनाकर आर्यों ने किया। पाँच हजार वर्ष पूर्व द्रविड़-सभ्यता कहाँ तक उन्नत थी, यह मोहजोदारो और हरप्पाके सम्यन्धमें अन्यत्र प्रकाशित लेखोंसे मालूम होगा। जिस समय दक्षिणी यूरोपमें यास्क लोगोंके पूर्वज, क्रैटमें वहाँके सभ्य निवासी, मिश्रमें प्राचीन मिथ्री, मेसोपोटामियामें सुमेरीय लोग निवास करते थे; और, अन्तिम तीन जातियाँ उस समयकी दुनियामें सबसे अधिक सभ्य जातियाँ थीं, उसी समय मध्य एशियासे काले सागरके उत्तरी तटतक शिकार और पशुचारण करती एक जाति निवास करती थी, जिसे ऐतिहासिक लोग आर्यके नामसे पुकारते हैं।^x यूरोपनिवासी; अमेरिका, अफ्रीका, और आस्ट्रेलिया आदिकी गोरी जातियाँ; ईरानी, अफगान तथा उत्तरी भारतके निवासी इन्हीं आर्योंकी सन्तान हैं। इस आर्यजातिकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसमें कोई मत है। कोई-कोई मानते हैं कि, प्राचीन गोरी (आर्य), भूरी [सुमेरीय, द्रविड़ आदि], पीली [मंगोल], काली [हब्शी] और दक्षिणात्य [वेदा, मु'ंडा आदि] सभी मनुष्य जातियाँ एक ही मनुष्य जोड़ेकी सन्तान हैं; और, लाखों वर्षों तक भिन्न-भिन्न जलवायुओं एवं भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें रहनेके कारण उनमें इतना फर्क हो गया। उनके मतसे मनुष्य-सृष्टि पृथ्वीके एक स्थानपर हुई थी; किन्तु अधिकांश विद्वान चारों पाँचों मनुष्य-जातियोंके मूल पुरायोंको अलग अलग मानते हैं।

पाँच हजार वर्ष पूर्वके आर्य किस अवस्था-में थे, इसका कुछ पता हमें भारतीय आर्योंके पुरातन ग्रन्थ वेद, ईरानी आर्योंके पुरातन ग्रन्थ अवस्ता और सभी आर्योंके समान कथानकोंसे कुछ-कुछ मिलता है। गायों, भेड़ोंके अतिरिक्त ये लोग घोड़ोंको भी पाला करते थे। घोड़ोंका पालन यह प्रथम सवारीके लिये न करके दही-दूधके लिये करते थे, जैसे कि दक्षिण-पूर्वी रूसके लोग आज भी अधिकतर कृमिस्के लिये उन्हें पालते हैं। सहस्राब्दियों तक चरवाहोंका जीवन यिताकर ई०पू० २५०० में इनका एक दल हिरात [उत्तरी अफगानिस्तान] के आस पासके प्रदेशमें आ गया। दूसरा दल अपना कुछ भाग पामीरसे उत्तर-पश्चिमके प्रदेशमें [जहाँ कि, पुराने तुखारी आर्य बसते थे] छोड़कर रूसकी रास्ते पश्चिमकी ओर बढ़ता गया। संख्या वृद्धिके साथ उन्हें नये चारागाहोंकी खोजमें और भी आगे बढ़ना पड़ा। हिरातमें रहते हुए, मालूम होता है, आर्योंमें फूट पड़कर उनके दो दल हो गये थे। एककी सन्तान वैदिक आर्य थी और दूसरेकी ईरानी आर्य। ई०पू० २००० के करीब वैदिक आर्योंकी एक शाखा ईरानके रास्ते मेसोपोटामिया पहुँची और वहाँ सभ्य सुमेरीय जातिको परास्त कर उसने अपना अधिकार जमाया। यह मित्तन्नी (आर्य)-जाति, जिसने सभ्य दुनियामें सर्वप्रथम घोड़ेका प्रवेश कराया, ईरानी आर्यों के अन्तर्गत न होकर वैदिक आर्योंकी शाखा थी, यह मित्तन्नी (Mittani) राजा मत्ति-उ-अज़ा और सेमेटिक-जातिके हित्ताइत (Hittite) राजा सुन्यि-लि-

^x ४ दिन अर्ध-निद्राकर हुई मंगोल जातिका प्रादिनिवास था, जिससे उन्होंने 13५३ मंगोलिया, चीन, कोरिया,

उमाके योगज़-कोई (bogha-z-kui) [मिसोपो-टामिया] से प्रात अभिलेखसे मालूम होता है, जिसमें ईरानी आर्यों के असम्मत् इन्द्र आदि वैदिक देवताओंका सम्मानपूर्वक नाम आया है। जान पड़ता है, जिस समय मित्तानी आर्य मिसोपोटामिया-की ओर गये, उसके बाद ही ईरानी आर्यों के पूर्वज भी पश्चिमकी ओर चल पड़े।

भारतीय आर्य जब सुबास्तु [स्वात, अफ-गानिस्तान] की उपत्यकामें पहुँचे, तभीसे सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्य जातिसे उनका मुकाबिला शुरू हुआ। इन्हीं दोनों जातियों का संघर्ष हमारे वेद और पुराने साहित्यमें देवासुर-संश्रामके नामसे प्रसिद्ध है। असुर (द्राविड़) यद्यपि अधिक चतुर और सभ्य थे, तो भी हजारों वर्षों से नागरिक जीवन बिताते हुए वह अधिक व्यसनी तथा सैनिक प्रकृतिसे हीन हो गये थे। यही कारण था कि, वह अपने सैकड़ों किलेबन्द नगरों और शिक्षित सैनिकों के होते हुए भी, अशिक्षित, किन्तु लड़ाकू, आर्यों द्वारा पराजित हुए। इतिहासमें खानाबदोश असभ्य जातियाँ अक्सर विजयी होते देखी गयी हैं।

विजयी होकर अब आर्य पराजित द्राविड़ों के संसर्गमें आकर धीरे-धीरे सभ्य बननेके साथ अपने सरल और परिश्रमी जीवनको त्याग कर उनके आराम-पसन्द, जीवनको अपना लेने। असुरों के पुरोहितोंकी नकलपर इन्होंने भी अपनेमें ब्राह्मण-पुरोहितोंकी सृष्टि की। शुद्ध के बाद जब दोनों जातियाँ सिन्धु-उपत्यकामें बस गयीं, तब विजेता और पराजितके भगड़ने एक दूसरा ही रूप धारण किया। आर्यों ने कृष्णयोनिः, (काली जाति) चिपटो नासिकावाली या निर्णाल, खर्वकाय आदि

कहकर पराजितोंसे घृणा करनी शुरू की। आजकल के अमेरिकाके गोरो और हथियों की भाँति उन्होंने वर्ण (रङ्ग)का प्रश्न उठाकर अनाथों से व्याह-शादीकी कड़ी मनाही कर दी। तो भी इसका मतलब यह नहीं कि, आर्य अपने रक्तको शुद्ध रख सके। यह होना सम्भव ही कैसे था, जब कि, उनके घरों में अनार्य दासों का प्रवेश निरव्याध होता था और उनके आस-पास अनाथों की वस्तियाँ अधिक थीं।

मोहजोदारोकी खोदाईमें लोहेका कहीं पता नहीं है। आर्यों के पुराने साहित्यमें भी लौह और आयस शब्द ताँबे और लोहे, दोनों के लिये प्रयुक्त हुए हैं; इसीलिये केवल लोहे के लिये कृष्ण-आयस और केवल ताँबे के लिये तात्र-लौह शब्दोंकी गढ़ना पड़ा। लोहेका आविष्कार ई० पू० १००० के आस-पास हुआ था। उससे पूर्व ताँबे और पीतलके ही हथियार सिन्धु, मिसोपोटामिया, मिश्र, फ़ोत, सभी जगह व्यवहृत होते थे। आर्यों के आनेसे पूर्व ही सिन्धु उपत्यकाके लोग एक प्रकारकी चित्रलिपिका व्यवहार करते थे। उसके बादकी किसी लिपि (जो सम्भवतः हालमें सम्भलपुर जिलेके गाँगपुरमें मिली शिला-लिपि-सी थी) से आर्यों ने अपनी ब्राह्मी-लिपि तैयार की। भारतमें आनेसे पूर्व ही भय और वीर-पूजाने आर्यों के लिये अनेक देवी-देवता पैदा कर दिये थे, सिन्धु-उपत्यकाके संसर्गने उनमें कई अनार्य-देवोंकी वृद्धि की।

हम पहले कह आये हैं कि, अति पुरातनकालमें भारतमें हथ्यी और आस्ट्रिक या दक्षिणाय प्राग्दा-विडोय (मुँडा आदि) जातियाँ वास करती थीं। फिर ७, ८ हजार वर्ष पूर्व अल्पसंख्यक, किन्तु सुसभ्य, भूरी द्राविड़-जाति आयी। अब आर्यों के

आनेसे एक चौथी जातिका समागम हुआ। इनमें आर्य गौरवर्ण, दीर्घकाय, लुहनास (ऊँची नाक वाले), अमिनील नेत्र तथा भूरे चालोंवाले थे। याकी तीन जातियाँ बहुत कुछ आपसमें मिल गयी थीं। वह कृष्णकाय, चिपटी नासिकावाली, खरदेह, होती थीं। इसके अतिरिक्त उनमेंसे किन्हीं-किन्हींमें बैंगूटिया चाल, स्थूल ओष्ठ तथा आगे निकला मुँह—यह हथ्यी शरीर-लक्षण भी मिलता था, यद्यपि हथ्यी रुधिरकी प्रचुरता न होनेके कारण वह अधिक न दिखाई पड़ता था।

मानव सन्ध्याने पण्डितोंने भिन्न-भिन्न जातियोंकी शरीराकृतिकी परीक्षा कर उनमें अनेक भेदक लक्षण या अभिव्यञ्जन (Index) पाये हैं। इनमें जो अभिव्यञ्जन अधिक स्थिर रहता है, उसे व्यवस्थित अभिव्यञ्जन कहते हैं; जो नहीं, उसे अव्यवस्थित अभिव्यञ्जन कहते हैं। (१) लम्बाई (कद), (२) कपाल-संस्थिति और (३) नासिका-संस्थिति, ये तीन व्यवस्थित अभिव्यञ्जन कहे जाते हैं। इनमें भी पहलेसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा अधिक प्रामाणिक है। अव्यवस्थित अभिव्यञ्जन हैं शरीर आँखों और चालोंके रंग तथा आँखों और चालोंके आकारप्रकार आदि। आर्य अनार्यके अव्यवस्थित व्यञ्जनोंके बारेमें हम पहले कुछ कह चुके हैं। यहाँ उनके व्यवस्थित व्यञ्जनोंके बारेमें कुछ अधिक

लिखनेकी आवश्यकता है। कपाल-संस्थितिसे मतलब कपालकी लम्बाईको १०० मानकर उसकी चौड़ाईका परिमाण मालूम करना। नासिका-संस्थितिमें भी नाककी लम्बाईको सौ मानकर नथुनोंपर नाककी चौड़ाईका अनुपात लगाया जाता है। लम्बाई नापते वक्त भौंके नीचे नाकके दूरे हुए भागसे आरम्भ कर नासाग्रतक नापना चाहिये। ठीक परिणामपर पहुँचनेके लिये यह आवश्यक है कि, एक जातिके रक्त सम्बन्धियोंके सौ-डोढ़ सौ व्यक्तियोंको बिना किसी चुनावके लिया जाय।

नापसे मालूम हुआ है कि, भूमण्डलके आर्योंकी लम्बाई प्रायः १६१० मिलीमीटर (५ फीट ४ ४ इंच)से नीचे नहीं होती। कपाल-संस्थिति ७१°३ और नासिका-संस्थिति ७५ से ऊपर नहीं जाती। अनार्योंका कद १५४० मिलीमीटर (५ फीट १ ६ इंच) तक छोटा तथा कपाल और नाककी संस्थितियाँ क्रमशः ७५°६ और ७० से कम नहीं होतीं। आर्योंमें कपाल-संस्थितिमें गोल सिर भी पाया जाता है, जैसे भारतमें गुजरातियों और मराठोंके सिर तथा दक्षिणी यूरोपकी कुछ जातियोंके सिर; इसलिये याकी दो बातोंका भी खयाल रखना चाहिये।

विभिन्न स्थानोंके आर्योंके निश्चित फायमान इस प्रकार पाये गये हैं—

	कपाल	नासिका
सिन्धु-अफगान	८० से ८२°८	६७°८ से ७४°३

* १ फीट ७ इंचसे अधिक ऊँचा आदमी दीर्घाकार आर्य कहा जाता है, १ फीट १ इंच—१ फीट ७ इंच मध्यमाकार, १ फीट ३ इंच—१ फीट १ इंच अनुमध्यमाकार, १ फीट ३ इंचसे कम खर्बारा। ८० से अधिक कपाल-संस्थितिवाला आर्यत (गोल) शीर्ष, ८०-७५ मध्यशीर्ष, ७५ से कम लम्बशीर्ष। ७० नासिका-संस्थितिवाला लुहनास आर्य होता है, मध्यनास [मविह], ७०-८५ और आयतनास [मगोल] ८५ से अधिक संस्थितिवाले होते हैं।

* २५ मिलीमीटर = १ इंच।

	लम्बाई [मिलीमीटर]	फपाल	नासिका
सिन्धु ईरानी	१६४२—१६८३	८०—८२'८	६७'८—७३'३
ईरान—भूमध्यदेशीय	१६३३—१७३५	७६'२—७६'८	५६'६—७३'३
अर्मेनियन पामीर	१६६०—१७०८	८४'१—८५'५	६२'६—७२
जार्जियन	१६४६—१६५८	८२'५—८४'२	७७'६—६४'५

उत्तरी भारतके आर्यों के कुछ कायमान देखिये—

	लम्बाई	फपाल	नासिका
राजपूत (राजपुताना)	१७४८	७२'४	७१'६
पंजाबी	१६८४	७४'२	७०'२
सिख	१७०६	७२'७	६८'८

इसकी तुलना भारतकी कुछ आर्य भिन्न जातियों से कीजिये—

	लम्बाई	फपाल	नासिका
वेदा (सीलोन)	१५७१	७५'१	८४'१८
मुंडा	१५८६	७४'५	८६'६
तामिल	१६३६	७५'६६	७६'६७
द्रविड-हिन्दू	१६२३	७५'२	८२'३७

हिमालय, घड़ाल और आसामके भारतीयोंमें काफी मंगोल रुधिर है। यहाँ, कुछ मंगोल जातियोंके अभिव्यञ्जन देखिये —

	लम्बाई	फपाल	नासिका
युर्यत् (साइबेरिया)	१६३१	८४'५	७२'५
लदाखी (कश्मीर)	१६३४	७६'७६	७१'५४
लिप्चा (वार्जिलिंग)	१५७०	७६'६	६७'२
जापानी	१५८४	७७'६५	७२'६४

चदिक आर्यों के बाद भी, सिक्न्दरके समय, हजारो यूनानी, सीथियन [मग शक], जाट, गूर्जर आभीर आदि आर्य जातियाँ भारतमें आती गयीं और उत्तर भारतीय आर्योंमें मिलती गयीं। द्रविड तथा दूसरी अनार्य-जातियाँ या तो विजेताओंके आज्ञाकारी और दास बनती गयीं अथवा मध्यकी पहाडियों और दक्षिणकी ओर हटती गयीं। इन जातियोंके समागमसे रक्त-सम्मिश्रण

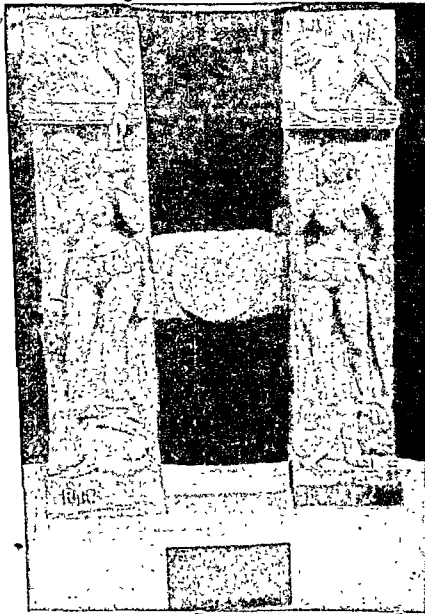
होना अनिवार्य था। फर्क इतना जरूर रहा कि, पंजाब और राजपुतानेसे हम जितना ही अधिक पूर्वकी ओर बढ़ते हैं, उतनी ही हम आर्य रक्तकी मात्राको कम होते देखते हैं, और द्रविड रक्तकी मात्राको बढ़ते देखते हैं। बिहारकी सीमा पार कर बंगाल और आसाममें फिर उत्तरसे आयी मंगोल जाति का रक्त-सम्मिश्रण होने लगता है। यह रक्त सम्मिश्रण सभी जातियोंमें एक सा नहीं है। उदाहरणार्थ



१५८-५०००० वर्ष पूर्वका निगंडर्थल पुराण



१५९-५०००० वर्ष पूर्वको निगंडर्थल रानी



१५७—कुषाण-कालीन यक्षिणियोंकी प्रतिमाएँ
(मथुरा म्युजियम)

पूर्वोप युक्तप्रान्त और विहारको अहीर-जातिको ले लीजिये। उनमें और जातियोंकी अपेक्षा आप अधिक गोरे रंग और भूरे चालोंको पायेंगे। व्यवस्थित अमिष्यजनों [लम्बाई, कपाल और नासिकाके मानों]को भी देखनेसे आपको मालूम होगा कि, उन प्रदेशोंमें यही एक जाति है, जिसमें सबसे अधिक आर्य-रुचिर है।

उपसंहार

पैदानिकोंने जो मनुष्यके विकासको मत्स्य, मण्डूक, सरीसृप, पक्षी और स्तनधारी आदि क्रमसे माना है, वह विशेषतः दो बातोंके आधार-पर है। जीव-कल्पके पापाणोंकी तहोंमें हम उसी क्रमसे उन्हें पाते हैं। यह पापाण समकालीन घटनाओंके इतिहास-ग्रन्थ हैं, जिनका एक-एक स्तर उस ग्रन्थका एक-एक पन्ना है। फर्क इतना ही है कि, बीच-बीचमें आनेवाले हजारों प्रचण्ड भूकम्पोंने इस ग्रन्थके पन्नोंको तोड़-फाड़ डाला है। अमेरिकाकी पश्चिमी रियासतोंके कुछ स्थानोंकी भाँति पृथ्वीपर कहीं-कहीं कोरोडों वर्षोंके पापाणस्तर अक्षुण्ण मिलते हैं। वहाँ ऊँट, घोड़े आदिकी भिन्न-भिन्न कालकी हड्डियाँ इस विकास-सिद्धान्तकी अच्छी पुष्टि करती हैं। प्रस्तरी-भूत हड्डियोंके बाद दूसरा प्रमाण स्वयं प्राणियोंकी आरम्भिक गर्भ आदि अवस्थाओंमें मिलता है। मेंढक चूँकि मछलीसे विकसित हुआ है; इसलिये उसको मेंढकके रूपमें आनेसे पूर्व मछलीका रूप धारण करना पड़ता है। उस चक्र उसकी आकृति ही मछलीकी तरह नहीं होती है, बल्कि वह मछलीकी ही भाँति, फटे गलेसे, पानीके भीतर भी

साँस ले सकता है। अपनी वर्तमान अवस्था तक पहुँचनेके लिये मनुष्य-जातिको जिन-जिन मंजिलोंको पार करना पड़ा, अब भी प्रत्येक मनुष्यको गर्भाशय और शैशवमें उन सभी अवस्था-ओंसे गुजरना पड़ता है। गर्भमें वह, आरम्भिक अवस्थाओंमें, मछलीकी तरह रहता और अन्यान्य अवस्थाओंसे गुजरते ४—५ मासकी अवस्थाओंमें वह संपुच्छ चानर-सा रहता है। प्रसवके समय वनमानुषकी भाँति उसके हाथ बड़े-बड़े होते हैं। शैशवमें वह कितने ही विकसित चानरोंकी भाँति चतुष्पद और द्विपद दोनोंकी तरह चलता है; और, शायद सोचता भी है। यहाँतक कि, तीन चार वर्षकी अवस्थाओंमें कितनी ही शारीरिक और मानसिक क्रियाओंमें पचास हजार वर्ष पूर्वके अपने चालीस वर्ष बड़े पूर्वजोंकी अवस्थाकी आवृत्ति करता है। ज्योतिषियोंका कहना है कि, आजसे दस खर्ब वर्ष बाद पृथ्वी क्रमशः ठंडी होते-होते इतनी सर्द हो जायगी कि, भूमध्यरेखाका ताप-मान ध्रुवके समान ठंडा हो जायगा ! कितनी ही बातोंमें जैसे हमने अपने पूर्वजोंसे प्रगति की है, उसी तरह करके आजसे दस हजार वर्ष बाद आनेवाली हमारी सन्तान १० ही वर्षकी उम्रमें हमारे चालीस वर्षके पिण्डोंकी तरह सोचने लगेगी और भूत कालके अनुभवोंसे फायदा उठावेगी।

पृथ्वी जब ठंडी तथा प्राणि-वनस्पति-शून्य हो जायगी, उस समय यदि फिर किसी महान् आकाशीय पिण्डने आकर पृथ्वी या सौरमण्डलमें भयङ्कर आग लगा दी, तो उस घटनाचक्र फिर आरम्भ हो जायगा ७

७ पणित जैसे कुछ विज्ञानोंको छोड़कर वैज्ञानिक, अपनी सभी वैज्ञानिक खोजोंके लिये, सत्यके समीपतम होनेका ही दावा करते हैं। संशोधन-खण्डनको स्वीकार करनेके लिये वह हमेशा तैयार रहते हैं। धर्मानुयायी लोग इसे उनकी निर्बलता

महत्त्वकी कुल कालोंकी सूची इस प्रकार है—

२ अरब वर्ष पूर्व पृथिवीकी उत्पत्ति । ३० करोड़ वर्ष पूर्व प्राणीकी उत्पत्ति । २ करोड़ वर्ष विकराल सरीसृपोंकी उत्पत्ति । ३० लाख पूर्व सिवालिकके जन्तु । ४-५ लाख पूर्व सिवालिकका नर-वानर । ३-४ लाख पूर्व जावाका नर-वानर ; हिमालयकी तराईके भांगरकी उत्पत्ति । ३ लाख पूर्व (?) प्रथम हिमयुग । २ लाख पूर्व (?) द्वितीय हिमयुग । १—१॥ लाख पूर्व हाइडेल बर्गीय मनुष्य । १ लाख पूर्व तृतीय हिमयुग । ५० हजार पूर्व चतुर्थ हिमयुग; नियाण्डर्थल और कड़पा तथा कर्नूलके मनुष्य । ४००००—२५००० पूर्व चतुर्थ हिमयुगका द्यना । ३००००—२५००० पूर्व दक्षिणी यूरोपमें क्रोमेगन मनुष्य; सिंगनपुर मिर्जापुरमें ग्रान्द्राविडीय (?) मनुष्य; वास्तविक मनुष्य के इतिहासका आरम्भ । ई० पू० १३०००-८००० जल-प्लावन, भूमध्यसागरका निर्माण । ई० पू० १२०००-८००० सूर्य-नाग पूजा और स्वस्तिक-चिह्नके अनु-

यायियोंका यूरोप, भारत, चीन, अमेरिका आदिमें फैलना । ई० पू० १०००० नवपाषाणयुग, पशुपालन, कृषि और मिट्टीके वर्तनोंका आरम्भ ; ग्राम बसाना ; सभ्यताका आरम्भ । ई० पू० ७००० (?) धनुर्वाणका आविष्कार । ई० पू० ४,००० ताँवेका आविष्कार । ई० पू० ३,००० मोहजोदारोकी सभ्यता । ई० पू० २५०० पीतलका आविष्कार; हिरातमें आर्योंका आना । ई० पू० २००० सुवास्तुमें आर्योंका बसना; मितन्नी आर्योंका मेसोपोटामिया पहुँचना; आर्यों के नेतृत्वका आरम्भ । ई० पू० १,५०० आर्योंका सिन्धु उपत्यकापर अधिकार; आर्योंका यूनान (ग्रीस) पर अधिकार । ई० पू० १,००० लोहेका आविष्कार । ई० पू० ५६३—४८३ गौतम बुद्ध (बुद्धिवादके आचार्य) ई० पू० ५३० सिन्धुप्रदेशपर ईरानियोंका अधिकार । ई० पू० ३२३ यूनानी आर्योंका भारतमें आना । ई० पू० २० चीनमें कांगजका आविष्कार । ई० पू० १००—ई० २०० शक, मग आदिका भारतमें आना ।

संसारकी भाषाएँ

साहित्याचार्य 'मग'

जिस शक्तकी आवश्यकता हमें प्रतिफल हुआ कारवी है, उसका कुछ ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है । प्राणिमात्रके जिये भाषा कितनी उपयोगिनी वस्तु है, यह यतानेकी जरूरत नहीं ।

वैज्ञानिकोंका कहना है कि, सृष्टि हो जानेके बाद भी मनुष्य मौन था; केवल इंसारोंसे ही अपने मनोमा-

वोंको व्यक्त करता था । इस तरह जब काम नहीं चला, तब धीरे-धीरे शब्द बनने लगे, क्योंकि आवश्यकता ही नयी वस्तुओंकी सृष्टि करती है । शब्द सँवार करनेकी कोशिशें होने लगीं; पर सहसा नहीं शब्द बन सका । इस असफलतापर अधानक उन कोशिश करनेवालोंके मुँहसे वो "हा" आदि शब्द निकाले, ये ही दुःखबोधक

बहुते, किन्तु यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति निहित है । विज्ञान कभी धनोंकी रोहार्द नहीं देने जाता, किन्तु धर्म विज्ञानकी रोहार्द देना पिरता है । क्या यह विज्ञानकी प्रणताको नहीं मिट्ट प्रता ?

कहाये। इस वाह शब्द यन गया। सुशी हुई। मुँदसे क्षि शब्द निकले। यशसे ये मुखबोधक कहाये। शनैः-शनैः शब्द घटने लगे। पेइसे पचा गिरा। 'पच' भाषान हुई। उसका नाम पचा पत्र। पत्रोंके द्वारा खाने-पीनेमें सुविधा हुई। यतः जिन-जिन वस्तुओंके द्वारा खाने-पीनेमें सुविधा हुई, उन सबका नाम रखा गया—पात्र। इतना ही नहीं, जिस मनुष्यके द्वारा कुछ सुविधा मिली, वह भी कहाया "सुपात्र"। हिन्दू-राज्योंके मतसे प्रथम ध्वनि, नाद या स्फोट हुआ है। अनन्तर भाषा हुई है।

अभिप्यक्ति द्वारा अपने मनोभावोंको, दूसरेको, समझा देनेका नाम भाषा है अथवा कण्ठ-तालु जिह्वा आदिके सहारे जो वर्णोंमय मनोभाव-व्यक्तकायी शब्द निकलते हैं, उनके यथायथ निवेशको भाषा कहते हैं। संस्कृत, लैटिन, हिन्दी आदि अनेक भाषाएँ हैं और सब भाषाओंकी वाच्य योजनामें कुछ-कुछ पारम्य है।

पशु-पक्षियों और कीट-पतंगोंकी भी भाषा होती है। प्रस्त वक्ष्यका शब्द सुनकर गाय उसके पास दौड़ पड़ती है, सिंहके गर्जनको सुनकर वनैले जानवर एकद्वारा ही सहम जाते हैं और अपने वर्गकी योड़ी सुनकर सब जानवर खुश हो जाते हैं। कोयलकी कुड़-कुड़ूर दूसरी कोयल झूठे लगती है और माँके आनेपर छोटी चिरियाँ खुशीसे "मुनमुन" करने लगती हैं। इससे यह परिज्ञात होता है कि, पशुओंकी भी भाषा है। पान्गु, मनुष्योंकी भाषा अपेक्षाकृत स्फुट और सर्वावयव पूर्ण है।

संसारस्थ सब विभागोंके मनुष्योंकी भाषाओंके भेदोप-भेदोंको दायरेके अन्दर ले आना कुछ हँसी-खेल नहीं है; यत इस छोटेसे निबन्धमें मैं केवल भाषाओंके मुख्य-मुख्य अङ्गोंपर ही प्रकाश डालता हूँ। नहीं तो, भाषाका रूप बार-बार कोसोपर ही बदलता रहता है और दुनियाँमें न मालूम ऐसे कोसोंकी कितनी बौयुगियाँ होंगी!

भारतकी आदिम आर्यभाषा वैदिक संस्कृत है। वेदोंमें

भी अथर्ववेदका स्थान पढ़ता है। दूसरे वेदोंकी भाषा अथर्व-वेदसे नहीं मिलती। ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, धारण्यक और सूत्रग्रन्थ आदिकी संस्कृत भी अथर्ववेदसे बहुत-कुछ भिन्न है।

बोलचालकी भाषासे साहित्यिक भाषा भिन्न होती ही है। जैसे होमाकी भाषा ग्रीक-भाषासे और शेलीकी कवितागत भाषा लैटिनसे प्रत्यक् है, वैसे ही उन दिनोंकी वैदिक भाषा भी बौद्धिक भाषासे प्रत्यक् थी। मन्त्रग्रन्थ अध्वियोंकी, पुरोहितोंकी, अथर्व-धर्मियोंकी और याज्ञिकोंकी भी भाषा धर्मगत भाषासे भिन्न थी। बोलचालकी भाषा में सन्धि और प्रत्ययके कुछ भेद रखे जाते थे, व्यावहारिक भाषाका शब्दकोष भी भिन्न था, व्याकरणकी उतनी पारंगती नहीं थी। इसकी वजहसे, कहीं शब्दोंके रूपांतरमें प्रवेशसे, कहीं प्रकृति प्रत्ययके अन्ते संरूपणसे और कहीं उच्चारण केर 'नीचों'की भाषासे, हुई थी। "प्रगल्भ, वरुभीक, शक्क, गम्भ" आदि-आदि शब्द बोले जाते थे, जिन्हें माहेश, यास्क, पाणिनि आदिने 'प्रगल्भ, वरुभीक, शक्क, गम्भ' आदि लिखा है। कुछके विचारसे उन दिनों भी प्राकृत भाषा कीज रूपमें थी।

कहते हैं, अगर प्राकृत नहीं रहती, तो इस भाषाका नाम संस्कृत क्यों पड़ता। सन् ईसाके पहले, चौथी सदीमें, महावैयाकरण मुनि पाणिनिने, जब भाषाको इधर-उधर भटकते देखा, तब उन्होंने इसे सूत्रोंकी कड़ी बॉंधकर नये सिरेसे संस्कृत किया। वस, प्राकृतको प्रविद्धिन्तातमें इसका नाम "संस्कृत" पड़ गया। नहीं तो, सन् ईश्वरीके पाँचवें शतकमें वर्तमान निरुक्तकार यास्कने इस भाषाको लक्ष्य कर केशव कहा है—"इमां भाषा" और पतञ्जलिने संस्कृत भाषियोंको केवल "शिष्ट" ही कहा है। मेदिनी आदि कोष-कारोंने संस्कृतको "लक्षणो-पेतम्" कहा है यानी संस्कृत घड़ी है, जो लक्षणकी कसौटीपर कसो गयी है। भरतके विचारसे "पाणिन्यादि-

कृत-व्याकरणसूत्रोपेत उपगतो लक्षणेपेतः' है यानी पाणिनि-आदिकृत व्याकरण-सूत्रके द्वारा सिद्ध, साधु शब्द ही संस्कृत है।

यद्यपि संस्कृत ग्रन्थकी ही भाषा थी; पर भी सर्व-सुलभ। प्राकृत योलनेवाले नीच पात्र भी संस्कृतको श्रानन्दसे समझ जाते थे। बात यह थी कि, प्राकृतकी शैलीसे वैदिक भाषा मिलती-जुलती थी। हम देखते हैं कि, वृत्तीयाके बहुवचनमें, वैदिक भाषामें, "देवेभिर्द्यहि यचि च, यज्ञेभिर्महे, पूर्वेभिः, देवकस्मेभिः" इत्यादि प्यनहुत होते हैं और प्राकृतमें भी "भिसो हि" सूत्रके बल "पृवेहि देवेहि, देवकस्मेहि" आदि प्रयुक्त होते हैं। पञ्चमीके एक वचनमें, वैदिक भाषामें, "निहितास उच्चा नत्तम्, उच्चा, नीचा, पश्चा" आदि जिस तरहके शब्दरूप होते हैं, ठीक उसी तरह प्राकृतमें भी "वत्था, पत्था" आदि होते हैं। वैदिक भाषामें, चतुर्थीके स्थानमें, "चतुर्थ्यं बहुलं छन्दसि" पण्ठी विकल्पमे होती है और प्राकृतमें तो चतुर्थीकी जगह पण्ठी ही होती है। प्राकृत सदा द्विवचनकी जगह बहुवचनको ग्रहण करती है और वैदिक साहित्य भी यद्-तत्र इसी परिपाटीको स्वीकार करता है; जैसे, "इन्द्रावरुणौ" की जगह "इन्द्रावरुणा", "मित्रावरुणौ"के स्थानमें "मित्रावरुणा" और "यो मुरयितमो दिविरष्ट्रावश्चिन्नौ"के बदले "या मुरयितमा दिविरष्ट्रा अवश्चिन्ना" इत्यादि। वैदिक भाषामें बहुतायत से अन्य व्यञ्जनका जोष हो जाता है; जैसे "पश, पश्चा" आदि और प्राकृतमें "यायदादिषु पश्य"के अनुसार "जाय, ताव" यायत्, तावत् आदिके स्थानमें होता है। वैदिक सङ्गिषमें सन्धि इत्यादीन रखी गयी है, "तिरो घट्वाय, देशसो घादिहः, स इदेवेयु, ते नो अयगत्" और प्राकृत में भी "दुरसन्द अष्टन्द, का अष्टो परितापे णय, पश्म लणोत्तिभ, मुयिजणो अताणं अण्णगहोयु" इत्यादि प्रयुक्त होते हैं। पण्ठीके बहुवचनमें वैदिक साहित्य "गोनजम्,

देवानजम्, ऋषीनजम्, ऋतूनजम्" आदिको ग्रहण करता है और प्राकृतने उस "नजम्"को जरा मरम्मत कर "यं" बनाकर अपनाया है। इसी प्रकार अन्य कतिपय स्थलोंमें प्राकृत भाषा वैदिक भाषासे बहुत मिलती-जुलती है।

यद् तो निर्विवाद है कि, पहले छान्दस संस्कृत मृत-भाषा नहीं थी, इसकी चलती भारतमें खूब जोर-शोरकी थी। लेकिन देश-भेदसे इस भाषामें भी भेद हो गया था। नहीं तो, उत्तर-देशीय तथा पूर्व-देशीय विद्वान् पाणिनिके सूत्रों द्वारा सिद्ध प्रयोगोंको वैकल्पिक क्यों मानते? मत-लब यह कि, उन देशोंमें पाणिनि-सिद्ध वे प्रयोग उस तरह बर्तें नहीं जाते थे; पर पाणिनिकी धाक सर्वत्र थी। सबने उनका सम्मान किया और उन प्रयोगोंको वैकल्पिक मान लिया। प्रादेशिक प्रयोगोंका उल्लेख पाणिनिने तो किया ही है, बल्कि यास्क, वररुचि और पतञ्जलिने भी किया है। अग्नेद आदिमें भी "कुह, कुणु" आदि रूपभेद मिलते हैं।

संसार परिवर्तनशील है। कुछ-न-कुछ रहोवदल हमेशा होता ही रहता है। अगर एक मनुष्य कुछ ही दिनोंके लिये दूसरे प्रान्तमें जा बसता है, तो उसकी पहली भाषा विरुद्ध हो जाती है। संस्कृत आदि भाषाओंमें, जो नियमकी फड़ियोंमें लकड़ी हैं, भले ही थय कुछ विकार पैदा न हो; परन्तु उच्चारण-वैषम्य तो उनके लिये भी अनिवार्य है। मैथिल "गट्"को "खट्" कहते हैं; बङ्गाली "परी"को "पखली" बोलते हैं और आर्यसमाजी "यज्ञ"का "यज्ज" उच्चारण करते हैं। संस्कृत-श्लोकोका उच्चारण जिस प्रकार संगीती करते हैं, उस प्रकार मझाएवीय नहीं।

संस्कृत और प्राकृतके शब्द संरक्षणात्मक हुआ करते हैं यानी विभक्ति आदि उनमें थपम् नहीं जोड़ी जाती। रामायणमाचरणे वत, या है—"निभक्तयन्तं पदम्" और पाणिनिने कहा है—"मुविष्मन्तं पदम्"। संस्कृतकी ही तरह संरक्षणात्मिका होती हुई भी प्राकृत व्याकाशकी

ज्ञात नहीं सही है। प्रातिपदिक और धातुओं के रूपों में इसने बहुत कुछ कमी कर दी है। सलताके खयालसे व्यञ्जनोंके छिष्ट संयोगोंको और असुखोच्चारण वर्णोंको (कगचजतदपयवा प्रायो लोपः) इसने छोड़ दिया। वस्तुतः इसके चार भेद किये हैं—महाराष्ट्री या प्राकृत, शूरसेनी, पेशावी, मागधी।

किसी समय भारतमें पाञ्जी-मागधी बोली जाती थी। इसीके पूर्व पाँचवीं-छठी शताब्दियोंमें भगवान् बुद्धने इसी (मागधी) भाषामें उपदेश दिया था। राज-भाषा यही थी—अशोककी आज्ञाएँ इसीमें थीं। साहित्यिक भाषा भी यही थी—काव्य, ज्योतिष, गणित आदिके ग्रन्थ इसीमें रचे गये थे।

बहुतोंके विचारसे पाञ्जी ही संस्कृतकी जेष्ठा कन्या है। यद्यपि पाली और प्राकृतमें बहुत कम अन्तर है, तथापि व्याकरणकी सख-रवा प्राकृतकी अपेक्षा पालीमें कुछ अधिक है। कहते हैं, जब कि, उत्तर भारतमें, संस्कृतकी चञ्चली कम होने लगी, तब कथित भाषा यानी बोलचालकी भाषामें पाञ्जी ही साहित्यवेष्टमें उतरी। ऐसा ही विचार मि० वरुण और जालेनका भी है।

बौद्धोंका धर्मग्रन्थ “धम्मपद” पाञ्जी भाषामें लिखा गया है। पाली-भाषाका श्लोक—

“न मोनेन मुनी होती मुहुरूपो अविदसु।

यो च तुलं पगय्ह वरमादाय पण्डितो ॥”

प्राकृतमें—“न मोनेण मुनी होइ मूढरूपो अविदसु

यो च तुनं चेत्तूणं वरं “पण्डितो ॥”

संस्कृत —“न मोनेन मुनिः भवति मूढरूपः अविद्वान्

यः च तुल्यं प्रष्टुं वरमादाय पण्डितः ॥”

मवलय यह कि, पाञ्जीने संस्कृतका अनुधावन किया है और प्राकृतने पाञ्जीका पीछा किया है। इसके अनन्तर

प्राकृतका भी अपभ्रंश होने लगा। यह अपभ्रंश प्राकृत-ग्रन्थ लिखनेके काममें बहुत कम आयी है।

इसके बाद दसवीं सदीमें हिन्दीका अभ्युत्थान हुआ। बारहवीं सदीमें चन्द बदाईने “दुधोराजरासो” लिखा, जिसमें पश्चिमी हिन्दी प्रयुक्त हुई है। खड़ी हिन्दीकी नींव यद्यपि बहुत दिनोंसे पड़ चुकी थी, तथापि उसका जन्मकाल शाहजहाँके समय (१६२७ ई०)में माना जाता है। शाहजहाँके बसाये शाहजहानाबादके बालारामें ही केवल उस समय हिन्दी बोली जाती थी, जिससे इसका एक नाम उर्दू भी पड़ गया। तुर्कीमें उर्दू शब्द लरकर या छावनीके बालारामको कहते हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंका वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—१—केन्द्रस्थ या आभ्यन्तर-प्रदेशस्थ भाषा (पश्चिमी हिन्दी)। २—मध्यवर्ती या अन्तरवर्ती भाषाएँ (पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी, पहाड़ी, पूर्वी हिन्दी)। बाह्य-प्रदेशस्थ भाषाएँ (उत्तर-पश्चिमी भाषाएँ—सिन्धी, लहँदा कारमोरी, कोहि-रात्री)। दक्षिणी भाषा—मराठी। पूर्वी भाषाएँ (बंगला, असामी, बिहारी, उडिया)।

आजकलकी जनगणनाविवरणके अनुसार भारतमें १५० प्रकारकी भाषाएँ प्रचलित हैं, जिनमें जंगलियोंकी भी भाषाएँ परिगणित हुई हैं।

भाषातत्त्वविदोंने रहस्यको प्रकाशमें ले आनेके लिये भाषा-परिवारकी खोज निकाली है। पड़दा हिन्दू-यूरोपीय भाषा-परिवार है, जिसमें प्रथम भारतीय भाषावर्ग है; और, जिसका सखित परिचय मैंने ऊपर दे दिया है। प्राचीन जगत्की महत्पूर्ण संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषाएँ इसी भाषा-परिवारसे सम्बन्ध रखती हैं। इस परिवारका विस्तार समस्त यूरोप, अमेरिकके कुछ भाग, ईरान और उत्तरीय भारतमें है।

इसी धार्मिक प्रचीनतम ईरानी भाषावर्ग है, जो दो भागोंमें विभक्त है। एक पूर्व ईरानकी भाषा और द्वितीय पश्चिम ईरानकी भाषा। पूर्वी ईरानकी भाषाका नाम जन्द (छान्दस) है, जिसमें (१४०० वी० सी०) पुस्तक अवेस्ता लिखी गयी है। इस अवेस्ताके ऊपर भी भाषा-तत्त्वज्ञोंका ध्यान बहुत अधिक आकृष्ट हुआ है; क्योंकि इसकी भाषा वैदिक भाषासे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। लेकिन संस्कृत साहित्यकी तरह न तो इसका साहित्य ही विलुप्त है और न व्याकरणकी तरह इसका व्याकरण ही मौजूद है।

अवेस्ता पारसियोंका धर्मग्रन्थ है। इसके रचयिताका नाम है जरथुष्ट्र। अवेस्ताका प्रथम भाग, जिसमें केवल गाथाएँ या गीत हैं, वही, जरथुष्ट्रका रचा है, इसीसे वैदिक भाषाका साम्य है, भाषा ही नहीं भावका भी। ९० वी० विलियमस जैक्सनने अपने "अवेस्ता ग्रामर"में इस निम्नांश को उद्धृत किया है—"*Tam anavantam yazatam, suram damohu savistam, mithram yazat saothrabyo*"

तनिक हेर-फेर कर कोई भी इसे इस प्रकार वैदिक रूप दे सकता है—"*तम् अमवन्त यजतम्, श्रम् धामसु शविष्ठम् । मित्र यज्ञे होत्राम्य ।*" (तम्) उसे (अमवन्त) बलवान् (यजतम्) यजन करने योग्य (श्रम्) वीर (धामसु) तेजमें यानी प्राणियोंके लिये (शविष्ठम्) उपकारी (मित्र) मित्र देवताकी (होत्राम्य.) आहुतियों द्वारा (यज्ञे) पूजा करता हूँ।

जन्दभाषामें, अक्षरोंमें केवल 'च, ज', टर्वा एकदम साफ, यहाँके द्वितीय और चतुर्थ सोम स्पर्शोंका भी अभाव और अनुनासिक व्यञ्जनोका कुछ ही अंशोंमें संस्पर्शसे मिल जाता है। जन्दमें 'ल' भी नहीं मिलता। हाँ, संस्कृतकी ही तरह तीनों वचन और सम्बोधन लगा-

कर आठो विभक्तियाँ हैं। धातु-रूपोंमें भी संस्कृतकी ही तरह, इसमें काल, क्रिया-प्रकार और वाच्य आदि होते हैं। संस्कृत और जन्दकी घनिष्ठता स्पष्ट करनेके लिये मैं कुछ उदाहरण दिये देता हूँ—

यहम् *Acəm*, वपम् *Vaəm*, यञ् *Yaz*, विरय *Virəpa*, अरय *Aəpa*, पुत्र *Puthra*, हृद् *Zard*, सोम *Haoma*, सप्त *Hapta*, असि *Ahi*, अस्मि *Ahmi*। इन शब्दोंका जो अर्थ संस्कृतमें है, वही अर्थ जन्दमें भी है।

पश्चिमीय ईरानकी पुरानी भाषाका नाम प्राचीन फारसी है। यह फारसी पुराने लेखोंमें पायी जाती है। जिन लेखोंको फीजकापरोंमें, डेरियस आदि राजाओंने, ईसा पूर्व ५२१-४८६ तकमें, खोदवाया था, वे पुरानी फारसीमें ही हैं। इसकी भाषामें अनेक बातें जन्दकी ही तरह हैं। वर्णमाला भी जन्दकी अपेक्षा सोची-सारी है। जैसे-संस्कृत यदि, जन्द *Yez*, प्राचीन फारसी *Yadiy* संस्कृत हस्त, जन्द *Zasta*, प्राचीन फारसी *Dasta* " यहम्, " *Acəm*, " " *Adam*

मध्यकालीन फारसीको पहलवी भी कहते हैं। अवेस्ताके कई भागोंका अनुवाद इसी पहलवी-भाषामें हुआ है। पहलवी प्रायः करके सेमिटिक लिपिमें लिखी जाती थी। जहाँ पहलवीके शब्दोंको लिपिनेमें दिक्कत होती थी, वहाँ उनके अर्थोंके बोधक सेमिटिक शब्द ही रख दिये जाते थे। मध्यकालीन फारसी अर्वाचीन फारसीसे कुछ-कुछ मिलती-सी है।

अर्वाचीन फारसीका सबसे पुराना रूप ६४० से १०२० ईस्वी तकमें, महाकवि फिरोज़ीकी भाषामें, पाया जाता है। धीरे-धीरे इसपर अरबीका रंग चढ़ने लगा और कुछ दिनोंमें यह रंग गहरा हो गया। परिवर्तित कुछ शब्दोंको मैं पेश कर रहा हूँ—

संस्कृत	खन्द	पदलवी	धर्वाचीन फारसी
स्व	<i>Hvato</i>	<i>Khot</i>	<i>khud</i>
थप्	<i>Ap</i>	<i>Ap</i>	<i>Ab</i>

इन दिनों आधुनिक फारसीके बहुतसे प्रादेशिक भेद हो गये हैं। ईरानी भाषा-वर्गसे सम्बन्ध रखने वाली और भी भाषाएँ हैं। जैसे काकेशसमें बोली जानेवाली ओसेटिक, बिलोचिस्वानकी तथा पामीरकी बोलियाँ और कुर्दी या कुर्दिश। इन सभी भाषाओंपर जन्दीक एक हल्की छाप, गौर करनेवालोंका नजरमें आ जाती है।

थामीनियन भाषाके साहित्यको ईसाई पादरिगोंने चौथी सदीमें नष्ट-झूट कर दिया। यही दिक्कतसे ग्रस्त तुल बीस लाइनें देखनेको मिलती हैं। बादके साहित्यमें सेमिटिक भाषाकी पालश इसपर चढ़ गयी और एशिया माइनरके किनारेके थामीनियन-भाषा-क्षेत्रपर फारसीका वृष्य होने लगा। बाहरसे घुसे हुए शब्दोंको हटा देनेपर विशुद्ध थामीनियन भाषा बाल्टिक-स्लैवोनिक भाषा-वर्ग-और भारत-ईरानी भाषावर्गके बीचकी भाषा प्रतीत होती है। इसके स्वरोंमें यूरोपीय भाषाओंसे समता है और व्यञ्जनमें भारत-ईरानी-भाषा-वर्गसे। थामीनियनका *Tasa* शब्द लैटिन *Decem* और ग्रीक *Deka* की अपेक्षा संस्कृत दशन् और फारसी दशसे अधिक मिलता है।

एशिया माइनरकी भारत-यूरोपीय भाषाएँ प्राचीन फ़िजियन और लिसियन भाषाओंका हिन्दू-यूरोपीय भाषापरिवारसे ही सम्बन्ध था। लिसियन भाषाके अनेक प्राचीन लेख मिलते हैं और फ़िजियनके भी कुछ प्राचीन लेख फ़िजियामें मिले हैं।

यूरोपकी समस्त भाषाओंमें हिन्दू-ईरानी-भाषावर्गसे ग्रीक-भाषावर्गका ही अधिक सम्बन्ध है। इसने प्राचीन मूल भाषाके स्वरोंको बहुत अधिक सुरक्षित रखा है; किन्तु मूल व्यञ्जनोंकी बृहत्तर इसने ध्यान नहीं दिया—

बहुत देर-फेर हो गया। मूल भाषाके घ, ध, भ के स्थानपर इसमें ख, घ और फ का प्रयोग होता है। जैसे—धूमः *Thumo's*, भस्मि *Phero*, दीर्घः *Dolikhos*।

ईसासे ८०० या १००० वर्ष पूर्व होमर इसी भाषा में कविता करता था। किन्हींका यह भी विचार है कि, उसकी भाषा साहित्यिक थी, बोलचालकी नहीं। ईसा पूर्व पाँचवीं सदीमें एस्काइलसने भी ग्रीक भाषा में बहुत कुछ लिखा था।

ग्रीक भाषावर्गकी सबसे मुख्य भाषाओंमें आइओनियन (यावनी) और डोरिक ग्रीक हैं। आइओनियनमें ऐटिकाकी भाषा भी है, जिसमें एस्काइलस, सोफोक्लीज, प्लेटो और अरिस्टाटिलने लिखा है। इसी ऐटिकाके आधार-पर पीछेसे ग्रीस-देश भरमें हेलेनिस्टिक ग्रीकका जन्म हुआ। ईसाइयोंकी धर्मपुस्तक (*New Testament*) इसी भाषामें लिखी गयी है। स्पार्टाके निवासियों या लैसीडेमोनियनोंकी भाषा डोरिक ग्रीक थी। ये सब ग्रीसके दक्षिणी प्रायद्वीपमें बसे थे। इस भाषाके कवि बिहरके कुछ गीत, कुछ खण्ड-काव्य और दुःखान्त नाटकों में कोरस ही मुख्य साहित्य हैं।

प्रत्थमनियन भाषामें प्राचीन साहित्य एकदम नहीं है। इटैलिक भाषावर्गकी प्राचीन साहित्यिक भाषा लैटिन थी। यही भाषा प्राचीन समयमें, इटलीमें, बोली जाती थी। इसीसे सम्बन्ध रखनेवाजी आस्कन और अग्रियन जैसी कुछ भाषाएँ भी वहाँ चलती थीं। आस्कन दक्षिण इटलीमें और अग्रियन उत्तरीय भागमें बोली जाती थी। इन दोनों पुरानी भाषाओंके प्राचीन लेख अब भी अवशिष्ट हैं। इसके सिवा उत्तरीय इटलीमें यत्र-तत्र केल्टिक, टस्कनीमें एस्कन और कहीं-कहीं ग्रीक भी बोली जाती थी।

हाँ, कभी-कभी जमानेमें विजयी रोमने विरवके कतिपय भू-भागोंमें लैटिनको जयदस्तवी बिठा दिया था। इस

लैटिनके सामने, इटैलिक भाषाएँ, फ्रांसीसी केब्रिक और स्पेनकी आइबीरियन आदि भाषाएँ पनाह माँगने लगी थीं। रोमन सेनाओंके जवान गावोंके वासिन्दे थे, अतः उनकी विरुद्ध लैटिनसे फ्रेंच, स्पेनिश, रुमानियन आदि भाषाएँ उत्पन्न हुईं।

फ्रेंच भाषाका केन्द्र पेरिस है। इसकी गणना संसारकी एक उन्नत भाषामें है। इसका गद्य साहित्य श्लाघनीय है। इटलीके सबसे बड़े कवि दान्तेने १२६५ ईस्वीमें जन्म लेकर इटलीके साहित्यकी बहुत कुछ श्रीतृद्धि की थी। इनकी भाषा फ्लोरेंस नगरकी फ्लोरेंटाइन थी। स्पेनिश और पोर्तुगीज भाषाओंका पारस्परिक भेद प्रदेशिक-सा मालूम पड़ता है; किन्तु स्पेन देशके अतिरिक्त भी दक्षिणी अमेरिकामें व्यवहृत होनेसे स्पेनिशकी इज्जत अधिक है। रुमानियन भाषापर स्लाव भाषाका बहुत प्रभाव है।

केल्टिक भाषावर्गमें प्राचीन गालिक, आयरिश, वेल्श, मैक्स, गेलिक, ब्रेटन और कर्नािश आदि भाषाएँ हैं। केल्टिक भाषाका इटैलिक भाषासे साम्य मालूम पड़ता है।

द्यूटानिक भाषावर्गकी एक भाषा जर्मनी है। इस भाषावर्गके तीन खयान्तर भेद हो सकते हैं—गाथिक भाषा, स्कैंडिनेवियन भाषा और पश्चिमी जर्मनिक भाषाएँ। गाथिक भाषामें केवल एक बाइबिल (३११-३८१ ई०) मिलता है और इसका प्रचार तो कबसे ही यन्त्र है। स्कैंडिनेवियन भाषाओंमें डैनिश, स्वीडिश, नार्वेजियन और आइसलैंडिक भाषाएँ सम्मिलित हैं। पश्चिमी जर्मनिक भाषाओंमें जो जर्मन और हाई जर्मन नामक दो भेद हैं। जो जर्मनमें एंग्लो-सैक्सन या प्राचीन जर्मनी, हालैंडकी भाषा डच, बेल्जियम और फ्लैंडर्सकी भाषा फ्लोमिश और उत्तरीय जर्मनीकी फ्रिजियन भाषा सम्मिलित है। ऊपरी जर्मनमें दक्षिणीय जर्मनीकी बोलियाँ हैं। यही जर्मनीकी प्रधान साहित्यिक भाषा है।

वास्तिक-स्लावोनिक भाषावर्गके दो खण्ड हैं—वास्तिक

भाषावर्ग और स्लावोनिक भाषावर्ग। इन दोनों भाषाओंमें अत्यधिक साम्य दृष्टिगोचर होता है। प्रथममें लिथुआनियन, लेटिश और प्राचीन प्रशियन भाषाएँ हैं। लिथुआनियन और लेटिश अब भी रूसके पश्चिमीय देशोंमें बोली जाती हैं। हाँ, प्राचीन प्रशियन अब बोल जायें नहीं रही। इसके भाषावर्गमें रूसी, पोलिश, चेक और टर्गेरियन आदि भाषाएँ हैं। रूसी भाषामें तुर्की या तारतारी शब्दोंका बहुत कुछ सम्मिश्रण है।

बोल्गारिश भाषा पूर्वीय तुर्कीस्लानमें प्रचलित थी—सेमिटिक भाषा-परिवारमें मेसोपोटामियाकी द्वितीय प्राचीन भाषा असीरियन, हिब्रू, अरबी और सीरिएक भाषाएँ हैं। असीरियन भाषाके लेख पक्के हुए मिट्टीके छोटे बड़े टुकड़ोंपर, कीनकाचरोमें, लिखे हुए मिलते हैं। हिब्रू यहूदियोंकी भाषा है। प्राचीन समयमें यह पैलेस्टाइनमें बोली जाती थी। बाइबिलका *Old Testament* इसी भाषामें लिखा गया है। इसके बाद वहाँ आरमेइक भाषा भी चल पड़ी। हिब्रूका अपभ्रंश सिडिश भाषा है, जिसे यूरोपके यहूदी लोग आपसमें बोला करते हैं। अरबी कुतानकी भाषा है। यह अरब, मेसोपोटामिया, सीरिया, मिश्र और उत्तरीय अफ्रीकामें इन दिनों बोली जाती है। अरबीका प्रभाव फारसी, उर्दू, तुर्की, स्पेनिश, जर्मनी और हिन्दीपर खूब पड़ा है। सीरिएक भाषामें भी ईसाई-धर्मके कई अनुवादित ग्रन्थ मौजूद हैं।

इस हेमिटिक भाषापरिवारमें प्राचीन मिथ्री भाषा (इसके अक्षर चित्रलिपि में थे) और इससे निकली हुई कुन्डी भाषा, उत्तरीय अफ्रीकाकी जिबियन या यवरी नामकी बोलियाँ और पूर्वीय अफ्रीकाकी एथियोपिक या एथियोपियन नामकी बोलियाँ हैं।

यूगल-अरजाई या तुर्कासमयन्धी भाषापरिवारमें अरबी और फारसीके अरथधिक शब्द पाये जाते हैं। “तुर्किक-यावरी” नामक पुस्तकमें यावरीय भाषाका

इसी भाषामें लिखा है। इसके किन्तु ही शब्द उर्दू में भी यों पाते हैं।

द्राविड़ भाषापरिवार तामिल, तेलगु, कनाड़ी और मलयालम भाषाएँ हैं। तामिलभाषाका साहित्य सुप्रचलित है। R. Caldwell और हो० तिलकके मतानुसार "नील, ग्रीन, पशुली, घटवी" आदि शब्द द्राविड़ भाषामें ही सङ्कृतमें गये हैं। द्रविणीय भारतमें इसका प्रसार है। कलकत्ते के एमोय छोटेसे पहाड़ी प्रदेशमें रहनेवाले कुछ ईरानी भी तरह लोग प्रादुर्भूत भाषा बोला करते हैं जो द्राविड़-भाषापरिवारसे एकदम भिन्न जाती है।

छोटानागपुरमें और उसके आसपास सन्धाजी लोग

मुश्का भाषापरिवारमें मुश्का योजते हैं; लेकिन इसका साहित्य नहीं है।

विष्णुतन्त्र-यर्मीय भाषापरिवारका साहित्य पाकी और सरङ्गने आचारपर लिखा गया है। इसमें निजकी भी कुछ कथा-काहिनियाँ हैं। दिमानयकी अनार्य भाषाओंका समावेश भी इसी परिवारमें किया जाता है।

चीनी-भाषा परिवारमें चीनी भाषा सबसे प्रधान है। इसका साहित्य भी अच्छे परिमाणमें है।

धर्मोक्त भाषा-वैज्ञानिकोंको धार्मिकविश्वास नहीं हुआ है कि, हमने ठीक ठीक भाषाओंका वर्गीकरण कर लिया है। फिर भी, जहाँतक जो उपलब्ध है, उन्ने सविष्ट रूप देकर इस छोटेसे निगन्धमें मैंने रखनेका प्रयास किया है।

लेखनोपकरण

ठाकुर अच्युतानन्द सिंह 'अंतरसनी'

आजकलकी तथ्य पुराने जमानेमें फागज नहीं मिलता था। फागज बनानेका हाल पहले-पहल अभी ई० पू० दूसरी सदीमें चीनगालोंने हो जाना। पीछे, ई० सन् ७५१ में, चानियोंसे समरकन्दकी लडाईं जातनेके बाद मुसलमानोंने जाना और बहुत दिन बाद भारतीयोंने मुसलमानोंसे यह कला सीखा।

पहले लिखनेकी वस्तुओंमें ताडपत्र काममें आता था। उगलनेके बाद धूपमें सुखाकर ताडका पत्ता किसी चिकनी चीजसे घोंट दिया जाता था और लिखनेके काममें लाया जाता था। लेखक गोल मुँहवाली लोहेकी कलमसे उसके ऊपर अक्षर कुरेद देते थे और स्याही पीत देते थे। कुरेदे अक्षरों में स्याही बैठ जाती थी। कोई-कोई स्याहीसे ही लिखते थे। इसी प्रकार पुस्तक-की-पुस्तक लिख

ली जाती था। राईडिंगका ढग भी निराला था। पुस्तकोंमें हाथिया चारोंमें छोड़ा जाता था और वहाँ छेद बनाकर डोरी पहना दी जाती थी। उस डोरीका लगाव जिल्दकी तख्तीसे रहता था। लम्बा-लम्बी डोरीके सबसे पाठकोंको पाने उलटनेमें कठिनता नहीं होती थी। इस प्रकारकी पुस्तकोंमेंसे, ई० सन्का दूसरी सदीमें, ताडपत्रपर लिखे गये किसी नाटकका कुछ अंश डा० लूडर्सको मिला है, जिसे उन्होंने छपा दिया है। चौथी सदीमें लिखे गये ताडपत्रोंके कुछ टुकड़े मि० मार्कटनको मिले हैं। जापानके होरियूजा-मठमें भी दो ग्रन्थ रखे हुए हैं, जो ताडपत्रपर, छठी सदीमें, लिखे गये थे। नेपा ल्के ताडपत्रके पुस्तक-समूहमें भी इसी प्रकारका एक एकदमपुराण है, जो सातवीं सदीमें ताडपत्रपर

लिया गया था। दसवीं सदीके कुटिलाक्षरमें ताड़-पत्रपर लिखा हुआ वज्रडाक-तन्त्र पूज्यपाद त्रिपिटकाचार्य राहुल साठ्यायनजीके पास भी है।

हिमालयकी तरफ भूर्जवृक्ष बहुत अधिकतासे मिलते हैं। उन्हींकी लम्बी-लम्बी छालोंको तेल लगाकर, लेपक, घोट लेते थे और स्याहीसे लिपा करते थे। अलखरुनीने अपने लेपमें इसकी चर्चा की है। ऐसी पुस्तकोंपरकी चाईडिंग भी ताड़पत्रकी ही तरह थी; लेकिन मुलायम होनेके सवयसे ये पत्र पाटियोंपर लपेट दिये जाते थे। मोगलोंके समयसे इनपर आजकलकी ही तरह चमड़ेकी जिन्द बंधने लगी थी। यद्यपि ये भोजपत्र ताड़के पत्तोंकी तरह टिकाऊ नहीं होते हैं; तथापि पत्त्योंके नीचे दब जानेके कारण या स्तूपोंके भीतर, निर्घात प्रदेशमें, रहनेके कारण इन दिनों भी कई एक भोजपत्रोंपर लिखे पुराने ग्रन्थ देखनेको मिलते हैं। ई० सन् दूसरी या तीसरीमें खरोष्ठी अक्षरों द्वारा भोजपत्रपर लिखा गया "धम्मपद" ऐसे ही ग्रन्थोंमें है, जो खोतान-प्रदेशके खडलिक ग्राममें मिला है। यहाँसे एक "संयुक्तागमसूत्र" भी भूर्जपत्रपर लिखा हुआ मिला है, जिसका लेखनकाल चौथा शतक समझा जाता है। भूर्जपत्रपर लिखी पुस्तकें कश्मीर, पूना और उड़ीसा आदिमें अधिकतासे मिलती हैं। छठी सदीके गुप्ताक्षरमें लिखी गयी भूर्जपत्रकी कुछ पुस्तकें गिलगिटमें भी मिली हैं।

कागजपर लिखी पुरानी पुस्तकें भारतमें तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दियोंकी मिलती हैं; लेकिन इन पुस्तकोंपर भी ताड़पत्रकी पुस्तकोंका खुलासा अनुकरण दीखता है; क्योंकि इन पुस्तकोंके मध्यका स्थान लिखानन्दसे शून्य है और ऊपरसे नीचे तक छेद भी है। यही क्यों, लेई आदि लगाकर कागज

पूय घोंटा भी गया है। इसी तरहकी चार पुस्तकें मि० वेयरको मध्य एशियाके यारकन्द नगरके आसपास, जमीनमें गड़ी हुई, मिली हैं। ये पुस्तकें गुप्त-लिपिमें लिखी हुई हैं और इनका लेखनकाल पाँचवाँ शतक है।

कपड़ोंके ऊपर भी लिपनेकी चाल थी। लोग कपड़ोंको लेई लगाकर कड़ा कर लेते थे और घोंटकर लिपा करते थे। यज्ञ आदिके समय सर्वतोभद्र, लिङ्गतोभद्र आदि भी इसी तरहके कपड़ोंपर लोग बनाते थे। जैनियोंके यहाँ इस तरहका रवाज जोर-शोरसे था। पाटण [अणहिलराड़ा] के किसी जैन-पुस्तक-भण्डारमें १३ इंच लम्बे और पाँच इंच चौड़े कपड़ेपर ६३ पृष्ठोंमें श्रीप्रमसूरि-रचित "धर्मविधि" पुस्तक, टीकाके साथ, लिखी हुई है। रेशमी कपड़ेपर लिपनेकी भी प्रथा थी। ऐसी पुस्तकें मूल्यवान् समझी जाती थी। डा० बुहलरको रेशमकी पट्टीपर लिखी हुई जैन-सूत्रोंकी सूची जेसलमेरके जैन पुस्तक-भाण्डारमें मिली थी। इसी पुस्तक-भाण्डारमें चर्म-पत्रपर भी कुछ लिखा हुआ बुहलरको मिला था। अतः चमड़ेपर भी यत्र-तत्र लिखा जाता होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। मिश्रकी प्राचीन राजधानी मेमफिसमें चमड़ेपर लिखी हुई कई पुस्तकें मिली हैं।

पीपलकी गोंद और दौयेको कालिखसे काली-स्याही बनती थी। यह स्याही पक्की होती थी। कच्ची स्याही कालिख, कल्ल्या, वोजाघोर और गोंद मिलाकर बनायी जाती थी। भोजपत्रपर लिखनेकी स्याही वादामके छिलकेको जलाकर, गोमूत्रमें उबालकर, बनायी जाती थी। रंगीन स्याहीका भी उपयोग, स्थान विशेषमें, किया जाता था। सुनहली और रपहली स्याहियाँ भी होती थीं। ई० सन् तीसरी सदीके कई पत्र स्याहीकी लिखे मिले हैं।

लोहेकी कलम, नरकटकी कलम आदि भी होती थी। अजन्ताकी गुफाओंके चित्र महीन वालोंकी कलमोंसे लिखे गये हैं।

कागजोंपर पङ्क्तियाँ सीधी-समान करनेके लिये रेखापाटी होती थी। जैनियोंके पास अभी भी सुन्दर-सुन्दर रेखापाटियाँ हैं। चिपटी रुले भी लाइने रोज़ चनेके लिये होती थी। अक्षर सुधारनेके लिये, पच्चे काठकी पाटीपर आजकलकी ही तरह, लिखा करते थे। बौद्धोंकी जातककथायें काण्ड फलकका उल्लेख है।

पत्थरोंपर वे ही शिलालेख खुदनाये जाते थे, जिन्हें अधिक दिनोंतक रखना होता था। निर्णीत लेखाको सुलेखक अच्छे पत्थरोंपर स्याही आदिसे लिख देता था और खोदनेवाला टाँकोसे उसे धीरे-धीरे खोद देता था। खोदते समय अगर पत्थरके चटखनेसे अक्षर उड़ जाते थे, तो किसी धातुके लेपसे वह स्थान भर दिया जाता था और उसी लेपमें फिरसे अक्षर खोद दिये जाते थे। ऐसी शिलाएँ राजपूताना म्युजियम, अजमेरमें रखी हैं, जिनमें चौहान राजा बीसलदेव द्वारा रचित "हर कैलनाटक" खुदा है। लिपिनेमें अगर भूल हो जाती, कोई शब्द या अक्षर छूट जाता था, तो वहाँ x या A, इस तरहके चिह्न लगाकर छूट हासियेपर लिख दी जाती थी और अगर अक्षर ज्यादा हो जाता था, तो वह टेढ़ी मेंढी लकीरोंसे ढाट दिया जाता था। छोटे मोटे लेख कीमती पत्थरोंपर भी खुदनाये जाते थे। भट्टिप्रोचुके स्तूपसे एक ऐसी हा स्फटिक शिला निकली है, जिसपर लेख खुदे हैं।

गौड़ लोग ईंटोंपर भा लेख खोदवाया करते थे। वे ईंटें इस तरहकी होती थी कि, पडिक्क-रुद्ध करनेसे उनके खुदे अक्षर आशययुक्त लेखके रूपमें

परिणत हो जाते थे। चौथी सदीकी लिपिमें, खोदी हुई कई ईंटें गोरखपुरके गोपालपुर गाँवमें मिली हैं। इसी तरहकी और भी ईंटें पहली सदीकी मिली हैं, जो मथुरा म्युजियममें रखी हैं। मिट्टीके बर्तनोंपर भी लेख खुदे मिलते हैं। छठी सदीका एक ऐसा ही बर्तन काठियावाड़ जिलेमें मिला है।

धातुओंके पत्थरोंपर भी लेख लिखे जाते थे। जनरल कनिंघमकी तक्षशिलाके गागू नामक स्तूपसे एक सोनेका पत्तर मिला है, जिसपर खरोष्ठो लिपि लिखा है। यमामें भी पाँचवाँ सदीके आस पासकी लिपिमें लिखे हुए सोनेके दो पत्तर मिले हैं। इसी तरहके कुछ चाँदियोंके भी पत्तर, तक्षशिलामें, मिले हैं।

ताँबेके ऊपर तो खास तौरपर लेख लिखे जाते थे, जो दानपत्र या ताम्रशासनके नामसे प्रसिद्ध थे। दानपत्र अगर बड़ा होता था, तो वह कई पत्थरोंपर लिखा जाता था। पत्थरोंपर पनाङ्क भी रहता था। इसके बाद वे कड़में डाल दिये जाते थे और कड़की जोड़पर मुहर कर दी जाती थी। विजय नगरके चेंकटपतिदेव महारायका मदुरासे प्राप्त ई० १५८६ का दानपत्र इसी प्रकारका है।

आबू पहाड़पर अचलगढके जैनमन्दिरोंमें जो पीतलकी मूर्तियाँ हैं, उनके आसनपर सोलहवीं सदीके लेख खुदे हैं। मन्दिरोंमें लटकनेवाले फाँसिके घंटोंपर भी कहीं कहीं लेख खुदे हुए मिलते हैं।

मतलब यह कि, आजकलकी तरह पहले कागज नहीं था, लिखनेकी सुविधा नहीं था; पर लोगोंको लिपिनेका शौक जरूर था। वे अधिक परिश्रम कर पत्थरोंको खोदते थे, ईंटोंको लिपि लिखकर पकाने थे और एक भूर्जपत्र या ताड़पत्रके पत्तेको लेखनोपयुक्त बनानेके लिये बहुत श्रम किया करते थे।

गुप्तकालीन विदर्भ

प० यशवन्त खुशाल देशपाण्डे एम० ए०, एल-एल० बी०

विदर्भ-देश, जिसे आजकल बरार कहते हैं, बहुत प्राचीन है। उसका उल्लेख ऋग्वेदादि प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। रामायण-महाभारतादि पुराण-ग्रन्थोंमें भी उसका वर्णन है। वात्स्यायनके कामसूत्र (पृ० २८७ और २९४)में, जिसका काल विद्वानोंने ईसाकी तीसरी शताब्दी बताया है, वत्स-गुप्तमक और वैदर्भ लोगोंका वर्णन है। संस्कृत-साहित्यमें वर्णित 'वैदर्भो रीति' तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। 'बृहत्कथा'का रचयिता गुणाढ्य, 'मालती-माधव' आदि प्रसिद्ध नाटकोंका कर्ता भवभूति, 'काव्य-मोमांसा'का प्रणेता राजशेखर आदि महान् ग्रन्थकार भी इसी विदर्भ देशमें हुए थे। इस लेखमें—गुप्तकालमें विदर्भ-देशपर कौनसा राजवंश राज्य करता था, गुप्त राजाओंसे उसका क्या सम्बन्ध था और आजकल बरारमें कौनसे गुप्त-कालीन अवशेष पाये जाते हैं—आदि आदि बातोंका विवेचन संक्षेपमें पाठकोंके सम्मुख हम उपस्थित करते हैं।

विदर्भ-देशके विदर्भ, कैशिक, कथकैशिक, भोज,

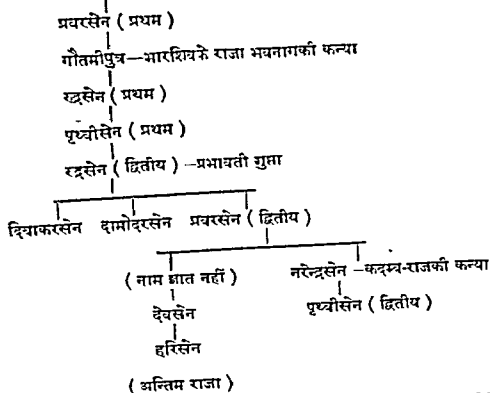
भोजकट, महाराष्ट्र, वरदा-सट आदि विभिन्न नाम प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखोंमें पाये जाते हैं। हम जिस कालका इतिहास यहाँ दे रहे हैं, उस कालमें यह देश प्रायः विदर्भ या भोजकट* नामसे सम्बोधित होता था। आरम्भमें इस देशकी सीमा उत्तरमें नर्मदासे लेकर दक्षिणमें कृष्णातक थी। "प्रतिष्ठान" के आन्ध्रभृत्योंका शासन नष्ट होनेके बाद इस देशमें एक-दो शताब्दियोंतक अराजकता फैली थी और इसी कालमें आभीरोंका उत्थान हुआ था। उनके बाद तीसरीसे छठी शताब्दीतक इस देशपर वाकाटक-वंशका × राज्य था। इस वंशका नामोल्लेख किसी ग्रन्थमें नहीं पाया जाता। इसके विषयमें जो कुछ बातें मिली हैं, वे केवल शिलालेखों और ताम्रशासनोंसे ही प्राप्त हुई हैं। इस राजवंशका पता अजन्ता † की सुप्रसिद्ध गुफाओंसे सोलह नम्बरकी गुफाके एक शिलालेखसे चला था। पीछे इस वंशके राजाओंके विषयमें अनेक शिलालेख और ताम्रशासन उपलब्ध हुए। इन सबकी सहायतासे इन राजाओंके वंशवृक्षका जो पता चला है, वह इस प्रकार है—

* "चम्मक" ताम्रशासन (धौलुद या० मा० कानेका संग्रह इतिहास, पृ० ६६) ।

× Dr. Dubrueil A. H. D. P., (Trans. Dilshut) pp 71.

† Archaeological Survey of Western India, Vol IV and IX.

(मूल पुराण) • विन्ध्यशक्ति



अजन्ताकी गुफाओंके लेखसे यह ज्ञात होता है कि, वाकाटकोंका मूल पुराण विन्ध्यशक्ति अभिषिक्त राजा नहीं था। उसके पुत्र प्रवरसेन प्रथमको "महाराज"की उपाधि लगायी गयी है। प्रवरसेन प्रथमने अश्वमेधयज्ञ किया था। गौतमीपुत्र भी शायद अभिषिक्त राजा नहीं था, ऐसा दोष पड़ता है। भारशिवके राजा भवनागने अपनी कन्या उससे ब्याही थी। भारशिव प्रामका पता अतक नहीं लगा। बरारमें "बारसी टाकलो" नामक एक गाँव है। इस गाँवमें प्राचीन कालके खँडहर और जीर्ण शीर्ष मन्दिर इत्यादि अवशिष्ट पाये जाते हैं। सम्भवतः यही भारशिव होगा।

रुद्रसेन प्रथमके विषयमें अतक कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त हुई। पृथ्वीसेन प्रथमने कुन्तल यानी कर्णाट-देशके कदम्ब-राजपर चढ़ाई कर उसे परास्त किया था। रुद्रसेन द्वितीयके शासनकालसे वाकाटकोंके राज्यकी वृद्धि होने लगी थी। गुप्तवंशी देवगुप्त अर्थात् महाराज चन्द्रगुप्त * विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय)की कन्या प्रभावती गुप्तासे रुद्रसेन द्वितीयका विवाह हुआ था। प्रभावती गुप्तासे × रुद्रसेन द्वितीयको दिवाकरसेन, दामोदरसेन और प्रवरसेन नामक तीन पुत्र हुए थे। रुद्रसेनके पश्चात् रानी प्रभावती गुप्ताने ही अपने पुत्रोंकी

*—श्री० बालेष्वा बरारका इतिहास, पृ० ६८

* Ep Ind Vol XV, pp 39—44

× Indian Antiquary, Vol III pp 48 Dr. Aiyangar's Wakatakas in Gupta History, pp. 6, the Journal of Indian History, Vol. V., part III.

अज्ञानावस्थामें राज्यकी वागडोर सम्हाली थी। नरेन्द्रसेनका विवाह कदम्बकी राज-कन्यासे हुआ। वाकाटकोंका राज्य हिन्दुस्थानके बीचमें होनेके कारण उनका उत्तर तथा दक्षिण भारतसे बराबर सम्बन्ध रहता था। उन्होंने कोसल, मालव, कुन्तल, त्रिकूट, लाट आदि देशोंके राजाओंको परास्त कर उन्हें अपना सामन्त बनाया था। वाकाटकोंका अन्तिम राजा हरिसेन * था। उनके बाद नलवंशीय † राजाओंका अभ्युदय हुआ था। कलचुरि, राष्ट्रकूट और चालुक्य-राजवंश इनके बाद हुए थे। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डा० कृष्णस्वामी आर्यगरके मतानुसार पुराणोंमें वर्णित विन्ध्य-शक्ति और वाकाटकोंका मूल पुरुष—यह दोनों एक ही होनेका अनुमान किया जाता है। पुराणों तथा रामदासके ग्रन्थके आधारपर डा० आर्यगरने लिखा है कि वाकाटक और गुप्त-राजवंशोंमें, स्वामित्वके लिये, लगातार कई भगड़े होते रहे; किन्तु अन्तमें उन दोनोंमें सुलह हो गयी। गुप्त-महाराज समुद्र-गुप्तने अपनी दक्षिणकी दिग्विजयमें अनेक राजाओं-पर चढ़ाई की थी। किन्तु वाकाटक-राजाओंसे उसका कोई सुख-विषयक सम्बन्ध नहीं आया। अनन्तर महाराजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने जर अपनी कन्या प्रभावती गुप्ताका रुद्रसेन द्वितीयसे विवाह किया, तबसे इन दोनों राजवंशोंमें मित्रभाव दृढ़तम हुआ। रुद्रसेन द्वितीयके बाद प्रभावती गुप्ताके प्रचारित किये हुए दो “ताम्रशासन

उपलब्ध हुए हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि, उसके तीन पुत्र, दिवाकरसेन, दामोदरसेन और प्रवरसेन, जब नावालिग थे, तब रानी प्रभावती गुप्ता ही राज्यकी देख-भाल करती थी। प्रभावती गुप्ताकी अपने पितृवंशका बड़ा अभिमान था, यह भी उक्त ताम्रशासनमें लिखा हुई राज-प्रशस्तिसे ज्ञात होता है। वाकाटक और गुप्त-राजवंशोंमें घनिष्ठ मित्रभाव था, इसका एक और प्रमाण मिला है; और, उसे प्रकाशित करनेका श्रेय × डा० आर्यगरको ही है। “सेतुबन्ध” नामक महाराष्ट्री-भाषामें लिखा हुआ एक काव्य-ग्रन्थ है। उसका प्रणेता प्रवरसेन है, जो वाकाटक वंशमें प्रवरसेन द्वितीयके नामसे प्रसिद्ध है। इस काव्यपर रामदास नामक ग्रन्थकारने “रामसेतुप्रदीपम्” नामक टीका लिखी है। उससे यह ज्ञात होता है कि, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका आश्रित महाकवि कालिदास, अपने स्वामीकी आज्ञा-के अनुसार, प्रभावती गुप्ताके पुत्रोंको पढ़ानेके लिये, विदर्भमें आया था। राजा प्रवरसेनके “सेतुबन्ध” काव्यका उसने संस्करण किया था। कालिदासके “मेघदूत” काव्यसे भी उसके विदर्भमें आनेकी बात सिद्ध होती है। पाठकोंको यह मालूम होगा कि, मेघदूतका कथानक “रामगिरि” पहाड़ीके वर्णनसे शुरू होता है। यह रामगिरि आजकल “रामटेक”के नामसे मशहूर है। यह एक छोटासा शहर है, जो मध्यप्रान्तके नागपुर जिलेमें, नागपुरसे लगभग २५ मील दूरीपर, स्थित है। इसी रामगिरिसे वाकाटक-

* *The Wakatakas in Gupta History*, pp 12.

• भारत इतिहास-संगोष्ठी मण्डलका त्रैमासिक S. No 15, pp 115 and 116

† प्ला-तम्रशासन और सिद्धुन्त प्रमाणन।

× *Annals of the Bhandarkar Institute*, Vol V, part I, 1923-24, pp 31-51 and the *Journal of the Mythic Society*, Vol XV, No 2, pp 153

राजाओंके दो-तीन ताम्रशासन प्रचारित हुए थे। उनमें लिखा है—“रामगिरिस्वामिन” पादमूलात्।” डा० आयंगर अनुमान करते हैं कि, यह रामगिरि वाकाटककी राजधानी थी। परन्तु यह सम्भव नहीं जान पड़ता, क्योंकि वाकाटकोंके और भी कई ताम्रशासन हैं, जो “प्ररपुर” नामक नगरसे प्रचारित हुए थे। सम्भवतः यही प्ररपुर उनकी राजधानी होगी। इस प्ररपुरका पता अतक नहीं चल सका। जनरल कनिंघम का तर्क है कि, मध्यप्रान्तके चन्द्रपुर या चाँदा जिलेमें “भान्दक” नामक जो गाँव है, वह वाकाटकोंकी राजधानी था। भान्दकमें प्राचीन कालके अवशेष भी बहुत मिले हैं। यहाँ जो बुद्धकालीन गुफाएँ हैं, उनमें पहली और दूसरा शताब्दियोंके प्रस्तर-लेख थे, ऐसा जनरल कनिंघमने लिखा है। परन्तु यहाँ वाकाटकोंकी राजधानी होनेके चिह्न नहीं प्रतीत होते। टीकाकार रामदासका कथन है कि, महाराज प्रवरसेनको भोजदेव भी कहा जाता था। पेत्रेय ब्राह्मण (१४) के कालमें विदर्भके लोगोंको भोज कहते थे। ऋग्वेदमें भी भोज लोगोंका नामोल्लेख पाया जाता है। उसके बाद कौटिल्यके * अर्थशास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र (२४) में भी भोज लोगोंका उल्लेख मिलता है। महाराज प्रवरसेनके प्रचारित किये हुए “चम्मक” नामक ताम्रशासनसे ज्ञात होता है कि, वाकाटक राजाओंका भोजकट निषय नामक एक निषय यानी प्रान्त था। यरारके अमरावती जिलेमें “मातकुली” नामक एक गाँव है। कहा जाता है कि,

उसका प्राचीन नाम भोजकट था। इस नामसे प्रवरसेनको भोजदेव कहनेकी बात असम्भव नहीं जान पड़ती। महाकवि कालिदास × धारा निवासी राजा भोजके दरबारमें थे, यह मिथ्या प्रपाद भी शायद इसी बातसे प्रचलित हुआ होगा, क्योंकि प्रवरसेनको भोजदेव कहते थे। वास्तवमें धारा-निवासी राजा भोज ११ वीं और १२ वीं शताब्दियों में और कालिदास ५ वीं शताब्दीमें हुआ था अर्थात् इन दोनोंका एक ही समयमें होना नितान्त असम्भव है। गुप्त ५ और वाकाटक-राजाओंमें परस्पर मित्र-भाप तथा विवाहादि सम्बन्ध होनेके कारण दोनों देशोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ था। फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्यकी उच्चतम सस्कृति—विशेष कर सस्कृत-साहित्य इत्यादि—का विदर्भदेश तथा तन्निर्गतस्थ सारे दक्षिणापथपर काफी प्रभाव पड़ा था। ४ वीं और ५ वीं शताब्दियोंमें वाकाटकोंके राज्यका विस्तार हुआ था। अतः दक्षिणापथमें इस कालको वाकाटकोंका काल कहना उचित होगा।

विदर्भदेशपर वाकाटक राजपंशका राज्य ३ वीं से ६ वीं शताब्दीतक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे प्रभावशाली गुप्त राजाओंसे उन्होंने विवाह सम्बन्ध किया था, इससे उनके वैभव एवं उत्कर्षकी कल्पना हो सकती है। वाकाटकोंने अनेक देशोंपर चढ़ाई कर वहाँके राजाओंको अपना सामन्त बनाया था, किन्तु, इतना होते हुए भी, उनके नामोनिशान नहीं मिलते। केवल शिलालेखों और ताम्रशासनोंसे ही उनकी कुछ अधूरी एवं रिपरी हुई बातें मिलती हैं।

* English Translation of Arthashastra by

† Chanda District Gazetteer

Shama Sastry, Introduction, pp XI × Dr Aiyangar on the Mahatukas by M. Y. R.

Gupte—Journal of Indian History Vol V part III, S No 15

‡ Dr Dubreuil A H D P, pp 75

यहाँतक कि, उनकी राजधानीका भी पता अभीतक निश्चित रूपसे नहीं चल सका। केवल अनुमानोंके भरोसे ही काम चल रहा है। वरारमें अबतक खोजका कार्य बहुत कम हुआ है। जो शिलालेख या ताम्रशासन उपलब्ध हुए हैं, उनका वाचन और प्रकाशन भी पूरी तौरसे नहीं हो पाया है। मध्यप्रान्त और वरारके लिये सरकारका कोई स्वतन्त्र पुरातत्त्व विभाग नहीं है। इन प्रान्तोंका शुमार मध्य पुरातत्त्व विभाग (*Central Division of Archaeology*)में किया गया है और उसका दपतर भी वहाँसे सैकड़ों मील दूर—पटनामें है। इस विभाग द्वारा अभीतक उत्खनन (खोदाई) के कार्यमें हाथ नहीं लगाया गया। वरारमें उत्पन्न करने योग्य प्राचीन संस्कृतिके खँडहर या टीले किन स्थानोंमें पाये जाते हैं, इसकी जाँच पड़ताल करनेके लिये गवर्नमेंट आफ इंडियाके आर्कियालाजिकल डिपार्टमेंटकी ओरसे श्रीयुक्त के० एन० दीक्षित (डिपुटी डाइरेक्टर आफ आफियालाजी) पिछले वर्षके मार्च महीनेमें यहाँ पधारे थे। उस समय हमें उनके साथ भ्रमण करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था। लगभग एक सप्ताह तक हम उन स्थानोंके दर्शन करते रहे, जहाँ हमें कोई प्राचीन अवशेष मिलनेकी सम्भावना थी। ऐसे स्थानोंमें विदर्भकी प्राचीन राजधानी कुण्डिनपुरके टीले, पवनार, माहुरभरी, मनसार, रामटेक आदि स्थान उल्लेख योग्य हैं। यहाँ हम केवल उन्हीं स्थानोंका कुछ परिचय देंगे, जहाँ गुप्तकालीन अवशेष प्राप्त हुए हैं या अभिष्यमें प्राप्त होनेकी सम्भावना है। गुप्तकालीन ईंटें तो इन सभी स्थानोंमें पायी जाती हैं। पवनार गाँवके आसपास विशाल प्राचीन टीले हैं, जहाँ शेषशार्ङ्गा भगवान्, नन्दी आदिष्ठी

प्राचीन मूर्तियाँ पायी गयी हैं। यह गाँव प्राचीन विदर्भके मध्यमें स्थित है। पवनार नाम प्रवर नगरसे साम्य रखता है। सम्भव है, इन टीलोंकी खोदाई करनेपर इस गाँवके प्रवरपुर होनेके विषयमें कुछ प्रमाण भी मिल जायें। नागपुरसे ६ मीलपर माहुरभरी नामक एक मौजा है, जहाँ प्राचीन वस्तीके अवशेष पाये जाते हैं। यहाँ खेतों और जङ्गलोंमें भिन्न-भिन्न रंगोंके पत्थरोंसे बनाये हुए छोटे मोटे मणि मिलते हैं। इसी स्थानपर एक सालके पहले नागपुरके मारिस कालेजके इतिहासके प्रोफेसर डा० हटर महोदयको एक लाल पत्थरकी छोटी सी मुद्रा (*Seal*) मिली थी। इस मुद्रापर गुप्तकालीन लिपिमें “अप्रमाद” अक्षर खुदे हुए हैं। इस मुद्राकी लाखसे बनायी हुई एक प्रतिलिपि हमारे पास मौजूद है। रामटेकमें, जिसका प्राचीन नाम रामगिरि था, बहुतसे प्राचीन अवशेष हैं। रामटेककी निकटवर्ती पहाड़ीपर राम और लक्ष्मणके प्राचीन मन्दिर हैं। इन्हीं मन्दिरोंके अहातेमें वाराहकी एक विशालकाय मूर्ति है। यह मूर्ति पत्थरकी है और इसके उदरदेश में, प्राचीन लिपिमें, कुछ खुदा हुआ है। परन्तु यह लेख बहुत पुराना है एवं घिस जानेके कारण नहीं पढ़ा गया। रामटेक एक प्रसिद्ध क्षेत्र है। यहाँ कोई राजवंश हुआ होगा, ऐसा वहाँके अवशेषोंसे नहीं प्रतीत होता। रामटेकके दक्षिणमें, ६ मीलपर, मनसार नामक एक गाँव है। यहाँ एक पुराना तालाब है। उस तालाबके चारों धात्रुओंमें गुप्तकालीन ईंटों के बनाये हुए कुछ टीले हैं। उनमेंसे एक-दो टीले बौद्ध ढंगके प्रतीत होते हैं। यहाँ चट्टानोंमें खुदे हुए छोटे-छोटे लेख भी मिले हैं। उनकी लिपि प्राचीन है। जिस प्रकार महाराजा समुद्रगुप्तके अग्रमेध

वाले * पत्थरके छोड़की पीठपर अक्षर खुदे हुए हैं और उन अक्षरोंके चारों बाजुओंमें ध्वजपतियोंकी तरह कुछ रेखाएँ और चतुर्ल बनाये गये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी अक्षरोंके चारों बाजुओंमें रेखाएँ और अर्द्ध-चतुर्ल बनाये गये हैं। यह लिपि ४थी और ५वीं शताब्दियोंकी प्रतीत होती है। खोदाई होनेपर यहाँकी सभ्यतिके सम्बन्धमें कुछ और ज्ञातव्य बातें प्रकट होनेकी बहुत सम्भावना है। यहाँ कई मूर्तियाँ बच तब पड़ी हुई देख पड़ती हैं। जान पड़ता है कि, उस समय यह भी एक विशाल नगर रहा होगा। पुरातत्त्व विभागकी ओरसे यहाँ खोदाईका काम शुरू करनेका आयोजन होनाचला था। किन्तु वर्तमान आर्थिक परिस्थितिके कारण उसे कार्य-रूपमें परिणत करना असम्भव हो गया। हमारा अनुमान है, इन दो-तीन स्थानोंमें खोदाई करनेपर

विदर्भके गुप्तकालीन इतिहासपर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा और चाकाटक तथा गुप्त-राजवंशोंका जो इतिहास इस समय उपलब्ध हुआ है, उसमें पर्याप्त वृद्धि होगी। तीन सालके पहले मध्यप्रान्तके दमोह जिलेके एक मौजेके पास किसी पेतमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका एक सोनेका सिक्का मिला था। यह सिक्का इस समय हमारे "शाश्वदाश्रम"में मौजूद है। विगत वर्ष पटनामें ओनियटल फार्नररेन्सका जो वार्षिक आधिवेशन हुआ था, उसमें हमने इस सिक्के सम्बन्धमें एक नोट लिखकर भेजा था। वरारमें खोज और अनुसन्धान होनेपर गुप्तकालीन इतिहासकी और बहुतसी बातें उपलब्ध हो सकेंगी। आशा है, विद्वानोंका ध्यान इस ओर विशेष रूपसे आटप होगा।

अनुवादक—प० आनन्दराम जोशी

गुप्तवंश

साहित्याचार्य प० विश्वेश्वरनाथ रेड

रामायणमें वैश्योंके नामोंके पीछे "गुप्त" शब्द जोड़नेका आदेश दिया गया है। इसीसे एक पक्षवाले गुप्तवंशी नरेशोंको वैश्य जातिका अनुमान करते हैं। उनका कहना है कि, यदि ये नरेश वैश्य न होते, तो चन्द्रगुप्त प्रथम अपना उसके उत्तराधिकारियोंको अपने जिव्जिव पत्नियोंके साथके सम्बन्धको इस प्रकार घोषित करनेकी आवश्यकता ही न प्रतीत होती। परन्तु दूसरे पक्षवाले इसको नहीं मानते। वे ब्रह्मकुटुम्ब सिद्धान्तके खेत्तक सिद्धि व्योमि-

विंद ब्रह्मगुप्त जैसे ब्राह्मणका नाम उपस्थित कर कहते हैं कि, नामके अन्तमें "गुप्त" जुड़ा देखकर ही किसीको वैश्य समझ लेना भ्रम मात्र है। रही लिच्छवियोंके सम्बन्धकी घोषणाकी बात, तो, वह वंश गुप्तोंमें करीब ८०० वर्ष पूर्व वैशालीमें राज्य कर चुकनेके कारण एक प्राचीन और प्रतिष्ठित राजपराना समझा जाता था। इसीसे उस समयके नरेश उसे खादरकी दृष्टिसे देखते होंगे।

जो कुछ भी हो, आधुनिक ऐतिहासिकोंका अनुमान

* देखिये श्रेयुक्त ० पी० आर्यभट्टालका "नागरी लिपिरिषी पत्रिका" में प्रकाशित "समुद्रगुप्तका सम्बन्धीय प्रश्न"

है कि, इस वंशके नरेश पहले साधारण शासकोंमें ही गिने जाते थे। परन्तु चन्द्रगुप्त प्रथमका विवाह लिच्छवि-वंशकी कन्या कुमारदेवीके साथ होनेके बाद ही उसका प्रभाव और प्रताप बढ़ा था, और, उसे महाराजाधिराजकी उपाधि धारण कर तिहुत, दक्षिणी विहार, अवध और उसके आस-पासके प्रदेशोंपर शासन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कुछ ऐतिहासिक इसमेंके बहुतमे प्रदेशोंका लिच्छवियोंसे दहेजमें मिलना भी अनुमान करते हैं।

इस वंशका राज्य पूर्वमें हुगलीसे पश्चिममें यमुना और चंबलतक तथा उत्तरमें हिमालयसे दक्षिणमें नर्मदा तक फैला हुआ था। इसके अलावा एक समय इस वंशके नरेशोंकी विजय-पताका आसाम, गङ्गाके मुहाने, हिमालयकी तराई, राजपूताना, मालवा और समग्र दक्षिणी भारततकमें फहरा चुकी थी। कन्नार, काबुल और आनससके कुषाणवंशी नरेश और सीलोन (लंका) आदिके शासक भी इनसे राजनीतिक सम्बन्ध रखते थे।

चन्द्रगुप्त प्रथमने अपने राज्यारोहणकी यादगारमें जो संवत् चलाया था, वह 'गुप्त-संवत्' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। इसका प्रारम्भ ईसवी सन् ३२० की २६ फरवरी से निश्चित किया गया है। के० बी० पाठक गुप्त-संवत्का और शक-संवत्का अन्तर २४१ वर्षोंका मानकर इसका प्रारम्भ उष्युक्त दिवससे एक वर्ष पूर्व अनुमान करते हैं। इस संवत्के प्रारम्भसे ही इस वंशकी प्रभाव-वृद्धिका अनुमान किया जा सकता है। यह संवत् करीब ६०० वर्षोंतक प्रचलित रहकर गुप्ताब्दके अन्त हो जानेपर बलभी-संवत् कहलाने लगा था।

इस वंशके नरेश वैदिक धर्मके अनुयायी थे और अपनेकी "परम मागधत" (वैशगव) लिखा करते थे।

वि० सं० से ३२ (ई० सं० से १४६) वर्षे पूर्व रत्नगमन करनेवाले शुद्धवंशी प्रथमित्रके याद विष्णु-मन्त्रकी पौचरी (ईश्वरी सन्की चौबी) शत, यन्त्रीमें पढ़ने

पड़ल इसी वंशके प्रतापी नरेश समुद्रगुप्तने और इसके बाद इसके पौत्र कुमारगुप्त प्रथमने अश्वमेध-यज्ञ किया था।

आर्यभट्टका "आर्यशतक" और "वृषगीतिका", वराहमिहिरकी "पञ्चसिद्धान्तिका", कालिदासके "शु-वंश," "कुमारसम्भव," "मेघदूत," "शकुन्तला," "मालविकाग्निमित्र," "विक्रमोर्वशीय" और विशाखदत्तका "सुन्दराचस" इन्हींके राज्यकालमें बने थे।

चीनी यात्री फाहियानके यात्रा-विवरणसे ज्ञात होता है कि, उस समय नालन्दाके विश्वविद्यालयमें १००० विद्यार्थियोंके रहने और पढ़नेका प्रबन्ध था।

समुद्रगुप्तके लेखों और धीणाङ्कित सिक्कोंसे प्रकट होता है कि, वह स्वयं विद्वान् और सङ्गीतज्ञ था।

इन बातोंसे सहज ही उस समयकी विद्योन्नतिका अनुमान किया जा सकता है।

अमरावती, सारनाथ और नेपालके स्तूपों, पृथ्वीसे निकली उस समयकी मूर्तियों, देहलीके पासके लोहरस्तम्भ और इस वंशके सिक्कोंके देखनेसे प्रकट होता है कि, उस समय शिल्पकलामें भी अच्छी उन्नति की थी।

चन्द्रगुप्त द्वितीयके गुप्त संवत् ८८ (ई० सं० ४०७) के लेखसे विदित होता है कि, उस समय एक प्राङ्गणमें मित्य भोजन प्रदान करनेके लिये १० दीनारों (सुवर्ण-मुद्राओं)का व्यय पर्याप्त होता था।

इसकी पुष्टि चन्द्रगुप्त द्वितीयके ई० सं० ४१२ के लेखसे भी होती है।

सौचीसे मिले ई० सं० ४२० के लेखमें एक "भिक्षु" के निरपेक्ष भोजनके लिये १२ दीनारोंका व्यय और मन्त्रिणोंमें नित्यके दीपकके लिये एक दीनारका व्यय पर्याप्त माना गया है। सम्भव है, कुमारगुप्त प्रथमके अन्तिम समयकी हथौड़ी चढ़ाई आदिके कारण स्वयं चन्द्रगुप्तोंका दार बढ़ गयी हो।

चन्द्रप्रवंशी उपनदातके शक सं० ४२ (वि० सं० १७७, ई० सं० १२०) के खेलसे प्रकट होता है कि, उस समय सुवर्ण चाँदीसे दस गुना अधिक मूल्यवान् समझा जाता था। गुप्तोंकी सुवर्ण-मुद्राएँ तोलमें करीब ८ माशोंकी होती हैं। ऐसी हालतमें चन्द्रपों और गुप्तोंके राज्यकालके बीच सोने और चाँदीकी खरीद-फरोखती दरमें थोड़ा उलट-फेर मानकर भी ५ सुवर्ण-मुद्राओंके बदले करीब ५० तोले चाँदीका मिजना अनुमान किया जा सकता है। दक्षिणके शासवाहनवंशियोंके खेलोंसे अनुमान किया गया है कि, उनके जमानेमें व्याजकी दर ५) से १॥) सैकदे तक थी। यदि इसकी औसत दर ६, सैकदे मान ली जाय, तो ५० तोले चाँदीका व्याज एक आदमीके नित्यके भोजनके लिये काफी समझा जाता था।

वैसे तो मथुरासे फनिष्क के २४ वें राज्य वर्ष (ई० सं० २०१) का और चन्द्रप्र हर्षदामा प्रथमका (ई० सं० १५० का) खेल संस्कृत-भाषामें लिखा गया है, परन्तु फिर भी यह मानना पड़ता है कि, इस भाषाका प्रचार फिरसे इस वंशके नरेशोंके समय ही हुआ था।

इनके खेलों, साम्रपत्रों, सिकों और मुहरोंपर माही-लिपिका प्रयोग मिलता है। इसीका परिवर्तित रूप यह आजकलकी नागरी-लिपि है। परन्तु उस समय आजकलकी तरह दहाईके लिये छदा छदा दो और सैकड़के लिये तीन ढाँड़ोंके लिखनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। उनके लिये १ से ६ की तरह ही भिन्न-भिन्न अङ्क नियत थे।

इस वंशके कुछ सिकोंपर चीनी लिपिकी तरह ऊपरसे नीचेकी ओरको लिखे अक्षर भी मिलते हैं।

इनके समयके करीब ३० खेल और साम्रपत्र मिले हैं; परन्तु उनमें खेलोंकी संख्या ही अधिक है। इसी प्रकार इनके सोने, चाँदी, ताँबे और सुलतमेवाले सैकड़ों सिक्के मिले हैं; परन्तु उनमें सुवर्णके सिकोंकी ही संख्या

अधिक है। ये भिन्न-भिन्न प्रकार और घनके हैं तथा इनके सुवर्णमें मिजाबट भी भिन्न-भिन्न परिमाणमें पायी जाती है। इन सुवर्णके सिक्कोंको निम्न लिखित श्रेणियोंमें बाँट सकते हैं—

गरुडप्रवाङ्कित, धनुर्धराङ्कित, विवाह-वोषक, परशु-धराङ्कित, काचाङ्कित, व्याघ्रप्रवाङ्कित, वीणाङ्कित, आरवमे-विक, सिंहासनव्यवृपाङ्कित, छत्रधराङ्कित, सिंहप्रवाङ्कित, अश्वारोहाङ्कित, खड्गधराङ्कित, मयूराङ्कित, कृतावाङ्कित, गजारोहाङ्कित, लक्ष्मणङ्कित, सिंहावारोहाङ्कित, परिचारिका-ह्वयाङ्कित (अथवा राजलीलाङ्कित) और वृषभाङ्कित।

इनके चाँदीके सिक्के चन्द्रपोंके सिक्कोंके आकार-प्रकारके (छोटे) होते हैं। उनका विभाग इस प्रकार किया जा सकता है—गहदाङ्कित, वृषभाङ्कित, अग्निकुण्डाङ्कित और मयूराङ्कित। इनके ताँबेके सिक्के तीन प्रकारके मिले हैं—गहदाङ्कित, अग्निकुण्डाङ्कित और कजराङ्कित।

इस वंशके नरेशोंके चाँदीके सुलतमेवाले गहदाङ्कित सिक्के भी मिले हैं।

इस वंशका पहला नाम गुप्त और दूसरा नाम घटोत्कचगुप्त मिजा है। इन दोनोंकी उपाधि “महाराज” थी। इससे ज्ञात होता है कि, ये दोनों साधारण नरेश थे। महाराज गुप्तका समय साधारणतया ई० सं० ३०० के आसपास अनुमान किया गया है।

चन्द्रगुप्त १म इस वंशका पहला प्रतापी राजा था। गुप्तोंके लेखादिकोंमें पहले-पहल इसीके नामके साथ महाराजा-धिराजकी उपाधि लगी मिलती है। इसका विवाह निचुल्वि वंशकी कन्या कुमारदेवीसे हुआ था। महारौली (देहलीसे नौ मील दक्षिण) के बौद्ध-स्तम्भपर चन्द्रका प्रज्ञाजकी विजय करना लिखा है। सम्भव है, यह चन्द्र यही हो। इसने ई० सं० ३२० में अपना नया संवत् चलाया था।

चन्द्रगुप्त प्रथमने समुद्रगुप्तकी अपने पुत्रोंमें योग्यतम

देखकर हो अपना उत्तराधिकारी बनना था। इसने पहले उत्तरी भारतके अधिकांश प्रदेशोंको विजय कर अपने राज्यका विस्तार किया और इसके बाद दक्षिणको विजय कर वहाँ के नौशोंसे कर वसूल किया। समुद्रगुप्तकी इस दो तीन हजार मीलकी युद्ध-यात्रामें कम-से-कम दो वर्ष अवश्य ही लगे होंगे। बी० ए० रिमथ इस घटनाका समय ई० स० ३५० के निकट अनुमान करते हैं। इसने इस युद्ध-यात्राके बाद अश्वमेध-यज्ञ भी किया था, यह बात इसके उस अग्रसरके बने सुरार्णके सिक्कोंसे प्रकट होती है। सिक्कोंपर विजय-सूचक वाक्य लिखे होनेसे कुछ विद्वान् अनुमान करते हैं कि, इसने अपनी दक्षिणकी विजययात्रामें इषट्टे किये सुवर्णसे ही लौटनेपर सिके बनवाना प्रारम्भ किया था।

इसका दूसरा नाम “काच” था। होर्नले इसका तीसरा नाम “धर्मादित्य” भी अनुमान करते हैं।

चंद्रगुप्त २ य योग्यतम होनेके कारण ही समुद्रगुप्तने अपना उत्तराधिकारी चुना था। इसके लेखोंमें गुप्त-संवत् लिखा होनेसे इसका शब्दाभिप्रेक ई० स० ३८० के करीब और मृगु ई० स० ४१३ के करीब अनुमान की जा सकती है।

इसने (ई० स० ३६३)के करीब पश्चिमी जगणोंको जीतकर उनके राज्य गुजरात, सोरठ और पश्चिमी मालवाको अपने राज्यमें मिला लिया था। इसी प्रकार पूर्वी मालवापर भी इसने अधिकार कर लिया था।

सम्भवतः इसने अपने चाँदीके सिके पश्चिमी चन्द्रपोंकी विजयके बाद ही प्रचलित किये थे। वे आकारमें चन्द्रपोंके सिक्कोंके समान ही हैं; परन्तु उनपर चैत्यके स्थानमें गरुड़की मूर्ति बनी है।

पाणमट्टने “हर्षपरित”में लिखा है कि, “शत्रुके भगममें दूसरेकी स्त्रीकी कामना करनेवाले शकपतिथी स्त्रीके वेशमें छिपे चन्द्रगुप्तने मार डाला।” शायद इस वाक्यका सम्बन्ध इसी चन्द्रगुप्तकी रूपोंपरकी विजयसे हो।

फार्सियनके लेखसे प्रकट होता है कि, उस समय भारतमें सुख, सम्पत्ति और सदाचार व्याप्त था। फार्सीकी सजा किमीको भी नहीं दी जाती थी।

हाँ, राजद्रोहियों और लुटेरोंका दाहिना हाथ काट दिया जाता था। जोग राज्यकी भूमि जीतकर उपजाऊ कुछ खस कर-स्वरूपमें दे दिया करते थे। राज-कर्म-चारियोंको बँधा वेतन मिलता था।

मि० विन्मेट रिमथके मतानुसार चन्द्रगुप्तने बंगालसे बिक्रोचिस्तानतकका देश भी विजय किया था। इसीसे इसका राज्य इसके पिताके राज्यसे बढ़ गया था। इसकी उपाधि विज्रमादित्य थी और शकों (पश्चिमी चन्द्रपों)के राज्यको नष्ट करनेके कारण जोग इसीको शकारि भी समझते हैं।

विद्वानोंका अनुमान है कि, प्रसिद्ध कवि कालिदास इसीके समय हुआ था।

चन्द्रगुप्त द्वितीयका दूसरा नाम देवगुप्त और देवराज मिलता है। इसकी एक रानीका नाम भुवस्वामिनी और दूसरीका कुबेरनामा था। राजशेखरकी “काव्यमीमांसा”के एक श्लोकमें ज्ञात होता है कि, राजा शर्मगुप्तने खसोंसे हारकर अपनी रानी भुवस्वामिनीको उनके स्वामीको दे डाला। यदि यहाँपरकी भुवस्वामिनीसे उपयुक्त भू-स्वामिनीका ही तात्पर्य हो, तो चन्द्रगुप्तका एक नाम शर्मगुप्त होना और उसका शकोंसे हारना भी सिद्ध होता है।

कुमारगुप्त १म चन्द्रगुप्त द्वितीयका पुत्र और उत्तराधिकारी था। इसका समय ई० स० ४१३ से ४५५ तक माना गया है। इसके वारसमेयिक सिक्कोंसे प्रकट होता है कि, इसने भी अपने दादाकी तरह अश्वमेध-यज्ञ किया था। परन्तु फिर भी इसके अन्तिम सन्धमें हणोंके आक्रमणके कारण इसके राज्यका पश्चिमी प्रदेश इसके हाथसे निकल गया था। इसकी रानीका नाम अनन्तदेवी था।

स्कन्दगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीयका पुत्र और उत्तराधिपति था। इसका राज्यभिषेक ई० स० ४२४ में हुआ था। इसने उपाधिकार प्राप्त करते ही हूणोंके आक्रमणके कारण फैली हुई भ्रान्तकताको दूर कर राज्यमें एक पार किर शान्ति स्थापन करनेका प्रयत्न उद्योग किया था। इसने पिताकी आज्ञासे आगे बढ़कर पुष्यमित्रको भी हराया था। डाक्टर फ़्लोट इनको नर्मदा-तटके निवासी अनुमान करते हैं। परन्तु इस विषयमें विश्व पूर्वक कुछ कहना कठिन है।

यद्यपि स्कन्दगुप्तने राज्यपर बैठते समय हूणोंको हरा दिया था, तथापि ई० स० ४७० के वरीष उन्हींने दोबारा आक्रमण कर गुप्त राज्यकी जड़तकको हिला दिया। फ़रतः गुप्त नरेशोंका अधिकार अधिकतर रूपसे राज्यके पूर्वी प्रान्तोंपर ही रह गया।

कुछ लोग कुमारगुप्त द्वितीयको स्कन्दगुप्तका उत्तराधिकारी अनुमान करते हैं। परन्तु वी० ए० सिमथका अनुमान

है कि, स्कन्दगुप्तके बाद उसका भाई पुरगुप्त और उसके बाद उसका पुत्र नरसिंहगुप्त राज्यके अधिकारी हुए थे। उनके मतानुसार इन्होंने बहुत ही थोड़े समयतक राज्य किया था और नरसिंहगुप्तके बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय राज्यका स्वामी हुआ था। उस समय सम्भवत उत्तरी बगाल, सारनाथ और माजवापर इसीका अधिकार था। इसके बाद इस वंशके नरेश बुद्धगुप्त और भातुगुप्तके नाम मिलते हैं। इनका अधिकार कम से कम उत्तरी बगाल-पर तो अवश्य ही था। परन्तु ये हूणोंके सामन्त रहे हों, तो आश्चर्य नहीं।

ई० स० ५३४ के बाद किसी समय यशोधर्माने हूणवशी मिहिरकुलको हराकर अपनेको उत्तरी भारतका सम्राट घोषित कर दिया। इससे रहे-सहे गुप्तराज्यकी भी समाप्ति हो गयी।

गुप्तवंशके कुछ नरेशोंके नाम और उपाधियाँ और भी मिली हैं। परन्तु उनका पूर्वापर सम्बन्ध आदि अज्ञात है।

हिन्दुओंकी वर्णगणनाएँ

कुमार गगानन्द सिंह एम० ए०

जिस प्रकार त्रिस्तानी देशोंमें ईसामसीहके जन्मदिनसे (ईस्वा A.D) वर्णगणना करना प्रचलित है और मुसलमानी देशोंमें मुहम्मद साहबके मका छोड़नेके दिनसे वर्णगणना प्रचलित है, उसी प्रकार हिन्दुओंकी वर्णगणनाएँ धार्मिक भित्ति पर कभी प्रचलित नहा हुई। साधारणतया तो यह देखा जाता है कि, मुसलमानी राजकालसे पूर्व, भारतवर्षके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें, भिन्न भिन्न वर्णगणनाएँ, भिन्न भिन्न समयोंमें, प्रचलित रहा और उन गणनाओंका सम्बन्ध भिन्न भिन्न नर-

पतियोंके राज्यकालसे था। शिलादि-लेखोंमें, ताम्रादि पत्रोंमें, स्तम्भ लेखोंमें, पुस्तकोंमें या उन प्राचीन ग्रन्थोंमें (जिनसे हमें भारतवर्षके इतिहासका कुछ भा पता चल सकता है) हम केवल यही देखेंगे कि, अमुक राजाने इतने वर्षोंतक राज्य किया था, अमुक राजाके राज्यकालके अमुक वर्षमें अमुक घटना हुई। यही कारण है कि, भारतवर्षके प्राचीन इतिहासके सम्बन्धमें इतने मतमतान्तर उत्पन्न होते हैं और घटनाविशेषका बाल निरूपण करना कठिन हो जाता है। पर इतना वर्णगणनाओंके

रहते हुए भी हिन्दुओंकी कुछ ऐसी वर्षगणनाएँ हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हैं; और, उनका व्यवहार हिन्दुओंके द्वारा अब भी बहुधा किया जाता है; पर उनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें, पुरातत्त्वज्ञोंके बीच मतैक्य नहीं पाया जाता। इस लेखमें साधारण पाठकोंके लिये पाँच ऐसी वर्षगणनाओंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें, यथासम्भव संक्षेप तथा सरल रीतिसे, ऐतिहासिक मतमतान्तरोंका उल्लेख किया गया है। पुरातत्त्वज्ञ विद्वान् इसमें विशेष नवीनता नहीं पायेंगे। उन्हें सामग्रियोंके सङ्कलन मात्रसे जो कुछ सन्तोष होना सम्भव है, प्रायः होगा।

(१) विक्रमाब्द

ईसामसीहके जन्मसे ५८ वर्ष पहलेसे यह वर्षगणना प्रारम्भ होती है और उत्तरीय भारतवर्षमें यह अधिक ऐतिहासिक प्रसिद्धि पा चुकी है। विद्वानोंका मत है कि, जिस प्रकार ज्योतिषियोंने अपना काम चलानेके लिये “कलियुग”को मान लिया और उसका प्रारम्भ काल ईसामसीहके जन्मसे ३१०२ वर्ष पहले बताया, उस प्रकारकी मनगढन्त बातें इस वर्षगणनाके सम्बन्धमें नहीं हैं। इसका आधुनिक प्रचलित नाम “विक्रम-संवत्” भले ही हो; पर इसका प्रमाण नहीं मिलता कि, इसी नामसे यह गणना आदिकालसे ही प्रचलित थी अथवा ईसाके जन्मसे ५८ वर्ष पहले राजा विक्रमने ही इसे प्रचलित किया। आधुनिक संज्ञा उत्पत्तिका प्रमाण नहीं हो सकती। पुरातत्त्वज्ञोंने खोजकर यह पता लगाया है कि,

स० ३७२ ई० में यह केवल “कृत” के नामसे प्रसिद्ध थी। ४०५ से लेकर ८७६ पर्यन्त यह मालवगणोंकी गणना कही जाती है। सन् ४३६ के बाद “कृत”का उल्लेख हम नहीं पाते; और, तबसे मालवगणोंकी गणनाके रूपमें इसकी प्रसिद्धि पायी जाती है। यद्यपि सन् ८७६ तक मालवगणोंके साथ इस वर्षगणनाका सम्बन्ध पाया जाता है; पर जैकदेवके धेनिक-पत्र-लेखमें / जो सन् ७३७ का है / हम सरसे पहले इस गणनाका सम्बन्ध “विक्रम” नामसे पाते हैं।

३७२ ई०से पहले इस गणनाका नाम क्या था ? कोई तयतक इसका उत्तर नहीं दे सकता, जयतक यह मालूम न हो जाय कि, अपनी उत्पत्तिकी प्रथम शताब्दीमें यह किस नामसे जानी जाती थी। डाक्टर फ्लीटका कहना है कि, भारतीय वर्षगणनाके सम्बन्धमें हम इतना ही जान सकते हैं कि, किसी राजाके द्वारा इसकी उत्पत्ति हुई। उनका मत है कि, राजा कनिष्कने इस गणनाको प्रचलित किया। उनकी एक राजधानी [मथुरा] मालवोंके देशसे दूर नहीं थी। पर डाक्टर फफ० डब्ल्यू० टामस इस मतसे सहमत नहीं हैं। वे शकोंको इसका प्रचलित करनेवाला बताते हैं; और, राजा मोग तथा गंडोफनेसके कालसे इसका सम्बन्ध स्थापित करनेका प्रयास करते हैं। डाक्टर मार्शलका कहना है कि, प्रायः एजेस प्रथमके द्वारा यह वर्षगणना प्रचलित की गयी और उसके मथुराके मुयेदारोंके परिवारके द्वारा यह अपनायी गयी। पर दूसरे विद्वानोंको प्रतिभासित

* c f सिद्ध इतिषु चतुर्षु वर्षसतेषु षड्विंशेषु (विजयगङ्गा-स्तम्भपक्षके लेखमें) । विरवर्धर्मनके गंगाधर-स्तम्भमें “४६६१” के प्रागे “इते” पाया जाता है।

॥ षड्विंश-लेख (ई० स० ४०६) में “इससजित” तथा “मलवगण” नाम कहा गया है।

होता है कि, मालवाके किसी राजाके द्वारा (जिसने शक आक्रमणकारियोंको पखेड़कर निकाल बाहर किया) इसकी उत्पत्ति हुई। पर अभीतक यह निश्चित रूपसे कहना कठिन है कि, वास्तवमें इसकी औत्पत्तिक घटनाएँ किस प्रकारकी हैं।

(२) शकाब्द ।

जिस प्रकार विक्रम-संवत् उत्तर भारतवर्षमें विशेष रूपसे प्रचलित है, उसी प्रकार शक-संवत् दक्षिण भारतवर्षमें । इस वर्णगणनाका सर्वप्रथम निश्चयात्मक उल्लेख एक ज्योतिर्ग्रन्थ * में पाया जाता है। उसमें ४२७ वें वर्षका "शक-काल" फहरा उल्लेख है। पर यह वर्णगणना ४१ वें वर्षसे लेकर ३१० वें वर्षतक नहपान तथा उसके क्षत्रप उत्तराधिकारियोंके लेखोंमें बिना किसी नामके व्यवहारमें लायी गयी है। उत्तर भारतवर्षमें इस वर्णगणनाका उल्लेख, निश्चयात्मक रूपसे, सर्वप्रथम युक्तप्रान्तके देवगढ़में प्राप्त सामग्रीमें किया गया है। वह ८६२ ई०की है।

अलवरनी (१०३०ई०)का कहना है कि, शक-संवत्, विक्रम-संवत्तसे १३५ वर्ष बाद प्रारम्भ होता है और उसकी प्रसिद्धि इस कारण हुई कि, लोग अन्याचारी शककी मृत्युकी खबर सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुए और उसे एक नवीन युगका प्रारम्भ माना। पर यह बात सच नहीं जँचती। यदामी-लेख (१०५७८) का काल उसमें शक राजाके राज्याभिषेकके पाँच सौ वर्षके बाद अङ्कित है। पुनः भाइहोलके लेख (म० १०६३४—३५) में उसका काल "शकराजाओंके ५५६ वर्ष राज पातनेपर" अङ्कित है। इन सब प्रमाणोंकी ओर दृष्टि देनेपर यह

मालूम पड़ता है कि, अलवरनीका कथन कि, शक राजाके पराजय-कालसे यह वर्णगणना प्रारम्भ हुई, ठीक नहीं है। प्रत्युत उपर्युक्त लेखोंसे तो यह ज्ञात होता है कि, शक-राजाके राज्याभिषेक कालसे इसकी उत्पत्ति हुई हो।

अब प्रश्न यह है कि, वह शक राजा कौन था, जिसके राज्याभिषेकके कालसे यह वर्णगणना प्रारम्भ हुई ? श्रियुत रापालदास बनर्जीकी रायसे यह राजा कनिष्क था। उनका कहना है कि, सीथिया-निवासियोंको फरासीसीगण "शक" कहा करते थे। संस्कृतमें "शक" शब्द फरासीसियोंसे ही लिया जाकर व्यवहृत होने लगा; पर इस भाषामें इसका अर्थ और भी व्यापक बन गया। भारत-वासियोंके लिये कुषाण-वंशीय कनिष्क, पार्थियन गंडोफरेस तथा सोकमोजस आदि सबके सब "शक" राजा ही थे, जो "सम्ब संसार"की सीमाके बाहरसे आये हुए थे, मिस्टर रेप्सनकी भी राय है कि, यह वर्णगणना कनिष्कके कालसे ही प्रारम्भ हुई। सौराष्ट्रके शक-राजागण पहले कुषाण-वंशीय राजाओंके सुवेदार थे। लगभग तीन शताब्दियोंतक उन्होंने इसका व्यवहार किया और इसीसे यह इस प्रचलित नामसे प्रसिद्ध है। डाक्टर टामसफा मत है कि, यह वर्णगणना कुषाण-वंशीय राजा कनिष्क-द्वारा शकोंके पराजित होनेके उपलक्ष्यमें प्रचलित की गयी; और, वे इन सम्यन्धमें अलवरनीके मतको पुष्ट करते हैं। पर डाक्टर फ्रीट इन मतको ठीक नहीं समझते। वे यदामी तथा भाइहोलके लेखोंके आधार पर बताते हैं कि, इस वर्णगणनाको नहपानने चलाया। उसका राज्यकाल मन् ७८ से लेकर १२५ तक था।

* देखिये ब्राह्मिणीकी "धार्मिकशान्ति"।

† "राधात्म्य कुम्भम्..."

x "दृष्टव्यं शकानि १३५० वर्षात् प्रारम्भम्" इति।

और, अपने राज्यकालके प्रारम्भके अवसरसे ही इस वर्षगणनाको भी उसने प्रारम्भ किया। उसने पहले काठियावाड़में अपने राज्यको सुदृढ़ किया और क्रमशः गुजरात, उज्जैन, नासिक और खानदेशपर भी अपना अधिकार जमाया। सन् १२५ के थोड़े ही दिनोंके बाद नहपान गौतमीपुत्र शातकर्णिके द्वारा पराजित हुआ और उसके वंशजोंका नामो-निशान मिट गया। गौतमीपुत्र शातकर्णिके अपना अधिकार, कुछ कालके लिये, नहपानके समस्त राज्यपर फैलाया, पर चट्टन-वंशीय क्षत्रपोंने शीघ्र ही फिर नर्मदा-नदीके उत्तरीय भागोंमें नहपानका जितना राज्य था, उसे जीत लिया और नहपानके राज्याभिषेकके कालसे, जो शक-संवत् प्रारम्भ किया गया था, उसे प्रचलित रखा।

प्रो० जेभोदुवरैल भी कनिष्कको इस वर्षगणनाका प्रवर्तक माननेको तैयार नहीं है। उनकी शंकाएँ नीचे दी जाती हैं। साथ साथ डाक्टर हेमचन्द्र राय चौधरीने "Political History of Ancient India" में जिस प्रकार उनकी शंकाओंका समाधान किया है, वह भी उद्धिपित है।

जेभोदुवरैलकी शंकाएँ—

(क) यदि हम मान लें कि, कजुल कौडफाइसिस और हस्मेइओने ५० ई०में राज्य किया और कनिष्क ७८ ई० में शकाब्दका प्रवर्तक था, तो प्रथम कौडफाइसिसके राज्यकालके अन्त तथा द्वितीय कौडफाइसिसके सम्पूर्ण राज्यकालके लिये केवल २८ वर्ष रह जाते हैं।

डा० राय चौधरीके समाधान—

(क) २८ वर्षकी अवधि इस खयालसे थोड़ी नहीं है कि, जब प्रथम कौडफाइसिसका देहान्त हुआ, तब उसकी आयु ८० वर्षसे ऊँची थी और उसका

लड़का द्वितीय कौडफाइसिस तब काफी बृद्ध हो चुका होगा। अतएव उसका अधिक दिनोंतक राज्य करना असङ्गत है।

(ख) मि० मार्शलके अन्येषणसे तक्षशिलाने चिरस्तूपमें एक पत्र प्राप्त हुआ है, जिसकी तारीख १३६ है। विक्रमाब्दसे गिने जानेपर वह ८६ ई० का प्रतीत होता है और उसमें कनिष्कका जिक्र नहीं है। यह प्रायः प्रथम कौडफाइसिसका है।

(घ) पहले तो यह निश्चित नहीं है कि, वह गणना विक्रमाब्द ही है। पर यदि ऐसा मान भी लिया जाय, तब भी "देवपुत्र"-रूपी सम्प्रोधन, जैसा कि, तक्षशिलाने पत्रमें पाया जाता है, कनिष्क आदि कुषाण वंशीय राजाओंके कायदेके अनुसार है, न कि, कौडफाइसिस आदिके। इसमें राजाका नाम नहीं है, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि, प्रथम कुषाण-राजाका ही बोध होता है। कई लेखोंमें कुमारगुप्त, बुद्धगुप्त आदि केवल गुप्त नृप कहे गये हैं। अतएव यह कनिष्कके ७८ ई०की वर्षगणनाके प्रवर्तक होनेके विश्वासको दृढ़तर करता है।

(ग) मि० स्टेन कोनो बताते हैं कि, तिब्बतीय और चीनी पत्रोंसे कनिष्कका द्वितीय शताब्दीमें राज्य करना प्रमाणित होता है।

(ग) हो सकता है कि, यह दूसरा कनिष्क हो, जिसका उल्लेख आर लेख (४१ वें वर्षका) में है। यदि शकाब्दके हिसाबसे देखा जाय, तो ४१ वाँ वर्ष द्वितीय शताब्दीमें पड़ेगा। फिर स्टेन कोनो साहयका "पोटिआओ" प्रथम वासुदेवके उत्तराधिकारियोंमें से एक होगा। डा० स्मिथ और राखालदास बनर्जीके मतसे एकसे अधिक वासुदेव हुए, और, वासुदेव के नामका सिक्का उसके देहान्तके बाद भी चलता रहा।

(घ) मि० स्टेन कोनोने दिखाया है कि, कनिष्क-कालके लेखों और शकाब्दके लेखोंमें देनेकी प्रणालीमें भिन्नता है।

(घ) पर उसी विद्वानने तो यह भी बताया है कि, कनिष्क कालके लेखोंमें भी तारीख देनेकी प्रणाली एक-सी नहीं है। कनिष्कके खरोष्ठी-लेखोंमें शक पल्लवोंकी प्रणालीका अनुसरण किया गया है। महीने और दिनके नाम उनमें पाये जाते हैं। ब्राह्मी लेखोंमें कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियोंने प्राचीन भारतीय प्रणालीका अनुसरण किया है। तब जेम्स डुवरैल साहबकी शकाके हेतुकी हम यदि मान लें, तो प्रश्न यह उठता है कि, क्या खरोष्ठी लेख और ब्राह्मी-लेखोंमें भिन्न-भिन्न वर्षगणनाएँ हैं? यदि नहीं, तो यह कैसे असम्भव हो सकता है कि, जिस कनिष्कने दो प्रकारकी प्रणालियोंसे तारीख देना प्रचलित किया, वह तीसरी प्रकारकी प्रणाली नहीं प्रचलित कर सकता है, जो पश्चिमीय भारतवर्षकी परिपाटीके अनुकूल हो? स्टेन कोनो साहब स्वयं कहते हैं कि, शकाब्दकी तारीखोंमें, खरोष्ठी लेखोंके सदृश, हम महीनेका नाम पाते हैं; और, उसके अलावे पक्ष का नाम, जो उस प्रदेशकी परिपाटीके अनुकूल था। मुतसाम यह असम्भव नहीं है कि, जिस प्रकार कनिष्कने सीमान्त देशोंमें पुरानी शक पल्लव परिपाटीका अनुसरण किया और हिन्दुस्तानमें प्राचीन भारतीय परिपाटीका, उसी प्रकार पश्चिमीय भारतमें उसके कर्मचारियोंने उस प्रदेशकी परिपाटीके अनुसार "पक्ष"का उल्लेख भी करना प्रारम्भ किया। जेम्स डुवरैलके मतसे ओल्डेनबर्ग, फार्गुसन आदि विद्वान् भी सहमत नहीं हैं; और, वे कनिष्कको ही शक-संवत्का प्रवर्तक मानते हैं।

४०० ई० के लगभग हिन्दुओंका सम्पर्क प्रांम-

देशीय ज्योतिर्ग्रन्थोंसे हुआ और उन्होंने कलियुग नामक गणनाका निर्माण किया। ईसाके जन्मसे ३१०२ वर्ष पूर्वसे उसका प्रारम्भ-काल रखा गया। पर इस गणनाको बड़ी-बड़ी ज्योतिर्गणनाओंके लिये छोड़, वे किसी ऐसी गणनाकी खोजमें पड़े, जिसका व्यवहार छोटे छोटे ग्रन्थोंमें कर सकें और साधारण रूपसे काममें लावें। सम्भवतः इसका चुनाव पश्चिम भारतवर्षमें ही हुआ। उन लोगोंने काठियावाड़, गुजरात तथा उस प्रान्तके अन्य स्थानोंमें प्रचलित इस वर्षगणनाको (जिसका प्रारम्भ-काल ७८ ई० से है) इस हेतु अपनाया।

१३ वाँ शताब्दीमें इस वर्षगणनाका एक नाम "शालियाह्न-शक" पड़ा, यद्यपि शालियाह्न अथवा शतसहस्र राज्यवर्षोंसे इसके प्रारम्भ-कालका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। प्रायः यह उसी प्रकार पड़ा, जिस प्रकार ईसाके जन्मसे ५८ वर्ष पहलेमे जो वर्षगणना प्रचलित हुई, उसका नाम ४०५ ई० से मालवगणना तथा ७३६ ई० से गिन्म-संवत् पड़ा तथा गुप्तप्रणीत संवत्का नाम बलभी-संवत् और ब्रह्मकुट-संवत्का नाम बलबुरि अथवा चेदि-संवत् पड़ा।

(३) कलचुरि-संवत्

ब्रह्मकुट, बलबुरि या चेदिकी वर्षगणना २४८—४६ ई० से प्रारम्भ होती है। पर इसकी उत्पत्तिसे विषयमें कुछ निश्चित रूपसे कहना शक्य नहीं है। डाक्टर रमेशचन्द्र मनुमदायका मत है कि, राजा कनिष्क इसके प्रवर्तक थे। पर आचार्य जेम्स डुवरैल यथाते हैं कि, यह सम्भव नहीं है। उनका कथन है कि, गुप्ताब्दवर्षोंके अन्तिम राजा वामुदेवका राज्य-काल कनिष्कके राजकायके प्रारम्भमें १०० वर्ष बाद समाप्त होता है। विविध लेखोंमें यह भी निश्चित

रूपसे ज्ञात होता है कि, वासुदेव मथुरामें राज्य करते थे। साथ-साथ यह भी निश्चित रूपसे जाना गया है कि, ३५ ई० में यौधेय तथा नागवंशके राजाओंका अधिकार वासुदेवके साम्राज्यके ऊपर हो गया था। नागवंशीय राजाओंकी राजधानियाँ मथुरा, कान्तिपुर और पद्मावतीमें थीं; और, कमसे कम १०० वर्ष राज्य करनेके बाद ये लोग समुद्र-गुप्त द्वारा पराजित हुए। अतएव कनिष्कका २४८-४६ ई० में होना असङ्गत है। फिर भी तिब्बतीय परम्परागत किंवदन्तीके अनुसार कनिष्क घोटनके राजा विजयकीर्तिके समकालीन थे और हज्जिक भारतीय-परम्परागत किंवदन्तीके अनुसार फोसलके शातवाहन-वंशज नागार्जुनके। इस शातवाहन-वंशका राज्यकाल तृतीय शताब्दीके पूर्वार्द्धमें समाप्त हुआ। अतएव इनसे भी डाक्टर मजुमदारका मत पुष्ट नहीं होता। इसके अलावे चीनी त्रिपिटकके सूचीपत्रसे ज्ञात होता है कि, पन-शी काओ (१४८—१७० ई०) ने संघरक्षके “मार्गभूमिसूत्र” का अनुवाद किया था। यह संघरक्ष कनिष्कका पुरोहित था। सुतराम् कनिष्क १७० ई० से बहुत दिन पहले राज्य करते होंगे। इन तर्कों से डाक्टर मजुमदारके मतका खण्डन तो होता ही है, साथ ही सर रामगोपाल भंडारकरका भी यह अनुमान कि, कनिष्कका राज्याभिषेक २७८ ई० में हुआ होगा, ठीक नहीं जँचता।

(४) गुप्त-संवत्

यह वर्षगणना ई० स० ३२० से प्रारम्भ होती है। इसके प्रवर्तक थे गुप्त साम्राज्यके प्रथम सम्राट् घटोत्कचगुप्तके पुत्र महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त (प्रथम)। उनके राज्यकालके प्रारम्भसे ही यह गणना प्रचलित हुई।

पहले इस विषयमें भी खूब तर्क-वितर्क हुआ है ;

पर वन्धुयर्माके मंडसोर-लेखके मिलनेपर इसके समाधानका श्रीगणेश हुआ। इसमें प्रथम कुमार-गुप्तके राज्यकालके सम्बन्धमें एक गणना मिली, जो गुतराजाओंके कालके लेखोंमें उल्लिखित वर्षगणनाओंसे भिन्न थी। उस गणनाके सम्बन्धमें जितनी चर्चा चली, उससे इसी बातकी पुष्टि हुई कि, वह गणना चिकामाद् है। इस ओर ध्यान आकृष्ट करनेका श्रेय ह्यूड साहबको है। जबतक यह लेख नहीं मिला था, तबतक अलखनीका लेख मात्र ऐसी सामग्री था, जिसके बलपर इस सम्बन्धमें कुछ कहा जा सकता था; और, भिन्न भिन्न पाश्चात्य विद्वान्, भिन्न-भिन्न रूपसे, उस कथनका अनुवाद कर भिन्न मतोंका प्रतिपादन करते थे। फार्गुसनका कथन था कि, गुप्त संवत्का प्रारम्भ-काल ३१८—१६ ई० से होता है। प्रिंसेप साहबका मत था कि, स्कन्दगुप्तके देहान्तके बाद गुप्त-वंशकी राज्य लक्ष्मी हरण करनेके उपलक्ष्यमें यह गणना चलायी गयी। टामसेके मतानुसार यह बलभी संवत् था और इसके प्रवर्तक गुहसेन थे। गुप्तराज्यकाल इससे कुछ समय पूर्वतक था; और, बलभीवालोंने गुप्त नाम तो रखा, पर वास्तवमें उनके सहार-कालसे इसे चलाया। पर डाक्टर ओल्डेनबर्गने बहुत छानबीन कर पता लगाया कि, गुप्तराज्यका ३१६ ई०में प्रारम्भ हुआ और ४८० ई०में अन्त। डाक्टर सर रामगोपाल भंडारकरने भी अपने “*Daily History of Deccan*” में यह बताया है कि, गुप्त-संवत् ३१८—१६ ई० में प्रारम्भ होता है; पर पीछे आकर इसका नाम बलभी संवत् पड़ा। मंडसोर-लेखके मिलनेपर इस प्रकारके मतमतान्तर नहीं रहे। यह निश्चित रूपसे जाना गया कि, अलखनीका कथन कि, गुप्तराज्यकालका अन्त ३१६ ई० में

हुआ, मिथ्या है। बुधगुप्तका एग्न-स्नम्म-लेग, पवित्राज्ञक महाराजाओंके पत्र, प्रथम शिवदेव तथा नेपालके मानदेयके लेग आदिसे यह पता चल गया है कि, इस गणनाका प्रारम्भकाल ३२० ई० है। आचार्य लेखिका समुद्रगुप्त तथा लंकाके मेघवर्णको समकालीन निरूपण करना इस मतको और भी पुष्ट करता है। अब यह निश्चित है कि, इस वर्णगणनाको यशोधर्मवंशके किसी राजाने प्रचलित नहीं किया। पहली छः-सात पौड़ियोंतक यशोधर्मवंशके नृपति सेनापति या महाराज मात्र कहे जाते थे और उन्हें किसी वर्णगणनाको प्रचलित करनेका अधिकार नहीं था। महाराज भुवसेन (प्रथम) के समयमें २०७ वें वर्षका उल्लेख है। ये दूसरी पौड़ोमें थे। अतएव इससे यह निश्चित होता है कि, यह गणना इनके पिताके अधिकार पानेके बहुत दिन पहलेसे ही प्रचलित थी। गुप्तवंशके प्रथम दो व्यक्ति केवल करद महाराज मात्र थे। इन्हें भी किसी वर्णगणनाको प्रचलित करनेका अधिकार प्राप्त नहीं था। एलन साहयके कथनसे प्राप्त होता है कि, गुप्त-संवत्-का प्रथम वर्ष २६ फरवरी ३२० ई० को प्रारम्भ हुआ और १५ मार्च ३२१ ई० को अन्त; और, यह प्रथम चन्द्रगुप्तके राज्यकालका भी प्रथम वर्ष था। निम्बेन्द्र मिश्रका यह कथन कि, अपने राज्याभिषेकोत्सवकालसे (राज्यकालके वास्तविक वर्षसे नहीं) चन्द्रगुप्तने इस गणनाको प्रचलित किया, ठीक नहीं जँचता। चन्द्रगुप्तके देहान्तके बाद भी उसके उत्तराधिकारियोंने इस गणनाको प्रचलित रखा; जैसा कि, द्वितीय चन्द्रगुप्तके गङ्गा-लेखके “चन्द्रगुप्तराज्यसंवत्सरे ८०८” वाक्यसे प्रमाणित होता है। यह अधिक सम्भव है कि, चन्द्रगुप्तने अपने राज्यको कुछ बढ़ाकर कुछ कालके अनन्तर

“महाराजाधिराज” पदवीको ग्रहण किया। अपने राज्यकालसे (अभिषेक-कालसे नहीं) वर्णगणना प्रचलित करना कोई नया बात नहीं है। हर्षवर्द्धनने भी ऐसा ही किया। उसने भी अपने राज्यकालके प्रारम्भ ६०६ ई० से (अभिषेक-काल ६१२ ई० से नहीं) ही अपनी वर्णगणनाको चलाया।

(५) लक्ष्मणानन्द

आचार्य किलहार्नने यह प्रमाणित किया है कि, इस वर्णगणनाका प्रथम दिन ७ अक्टूबर १११६ ई० है।

साधारणतया लोगोंका समझ है कि, बंगालके सेन-वंशीय राजा यल्लालसेनके पुत्र राजा लक्ष्मणसेनने इसको चलाया। यदि ऐसा हो, तो लक्ष्मणसेन १११६ ई० में सिंहासनासीन हुए और ११७० ई० से पहले इनका देहान्त हुआ; कारण, इस वर्णगणनाके ५१ वर्षके बोधगया-लेखमें इनके राज्यकालके “अतीत” होनेकी बात लिखी है। कुछ विद्वानोंकी राय यह भी है कि, लक्ष्मणसेनके पहलेके राजाके राज्याभिषेक कालसे यह वर्णगणना चली आती है।

पर यह मानी हुई बात है कि, दानसागर और अद्भुतसागरके रचयिता, लक्ष्मणसेनके पिता, यल्लालसेन बताये जाते हैं। इन दोनों ग्रन्थोंमें जो रचना-काल दिये गये हैं, उनसे प्रतीत होता है कि, यल्लालसेन शक संवत् १०६०-६१ (अर्थात् स० ई० १६६८-६९) में जीवित थे। अतएव लक्ष्मणसेन १११६ ई० में कदापि सिंहासनासीन नहीं हुए। ११६६ ई० के बाद ही उनका राज्यकाल प्रारम्भ हुआ। पर वा० राखाल दास वनर्जी इन दो ग्रन्थोंमें दिये गये रचनाकाल-वाले श्लोकोंको प्रामाणिक नहीं मानते; और, उन्हें आशंका है कि, ये पीछे जोड़ दिये गये हैं। पर वे “तवकातिनासिरी”के रचयिता मिनाहाजिसिराजके

उल्लेखको अप्रामाणिक नहीं बता सकते। यह मुसलमानी संवत् ६५८ * अर्थात् १२६० ई० में लिखा गया। उसमें लिखा है कि, जिस समय मुहम्मद-बिन-वक्तियारने नदियों पर मुसलमानी वर्ष ५८६ के बाद और ६०१ के "कुल दिन पूर्व" (अर्थात् सन् ११६३ और १२०५ के बीच) आक्रमण किया, उस समय बंगाल पर "राए लखमिनिया" (राजा लक्ष्मण) का शासन था।

इन प्रमाणोंको देखकर लक्ष्मणसेनका राज्य-काल १११६ ई० में प्रारम्भ हुआ, ऐसा प्रतीत नहीं होता। अब वे लोग, जिनका खयाल है कि, लक्ष्मण-सेनके पहले किसी राजाने इसे प्रचलित किया, इस बातपर गौर करते कि, इस वर्षगणनाका उल्लेख लक्ष्मणाब्द या लक्ष्मणसेन-वर्ष कहकर, अनेक हस्तलिखित पुस्तकोंमें, किया गया है, और, बोध-गयाके लेखमें इस वर्षगणनाके ५१वें वर्षमें लक्ष्मण-सेनका राज्य "अतीत" कहा गया है। उनका ध्यान इस बातपर भी जाता नहीं दीखता कि, बंगालके राजागण अपने-अपने राज्यकालकी ही गणनासे काम चलाते थे, न कि, किसी दूसरे राजाकी प्रचलित की गयी किसी गणनाका व्यवहार कर। उनके समयके लेखोंको देखनेपर इसका पूरा प्रमाण मिल जाता है।

साथ ही यह बात भी जानी गयी है कि, विहारमें भी सेन-वंशीय राजागण राज्य करते थे और वे लोग "पिथिपति" कहे जाते थे। जानीविगहाके लेखसे पता चलता है कि, पिथिके अधीश्वर राजा जयसेनने वज्रासनको एक गाँव, दानमें, दिया, जिसके नायक मंगलस्वामी नामके एक सिंहली भिक्षु थे। यह राजा जयसेन बुधसेनके पुत्र कहे गये हैं और यह लेख लक्ष्मणसेन-संवत् ८३ का है। श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल महोदयने यह बताया है कि,

रामचरितके व्याख्याताने "पिथिपति" की व्याख्या "मगधाधिप" कहकर की है। अतएव जयसेन दक्षिण विहारके राजा थे। जयसेनके पिता बुधसेन भी "पिथिपति" के नामसे, बोधगयाके एक लेखमें, सम्बोधित हुए हैं; और, हिमालय-प्रान्तके राजा अशोकचल्लके समकालीन बताये गये हैं। इस राजा अशोकचल्लके लेख बोधगयामें पाये गये हैं; और, वे लक्ष्मणसेन-संवत् ५१ और ७४ के हैं। महाम-होपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री महोदयकी खोजसे ५७ हस्तलिखित ग्रन्थोंका पता लगा है, जिनमें लक्ष्मणसेन संवत्का व्यवहार किया गया है। उनमेंसे अधिकांश ग्रन्थ मैथिलीमें लिखे हैं; और, उनमें पुरानेसे पुराना, जो लक्ष्मणसेन-संवत् ६१ तथा ११६ का है, मिथिला-देशका ही है। इन सब बातोंसे यह निर्विवाद हो जाता है कि, इस वर्षगणनाका व्यवहार आदिमें विहारमें होता था। यह भी देखा गया है कि, बंगालके सेन-वंशीय राजाओंमेंसे किसीने इस वर्षगणनाका व्यवहार नहीं किया। इसके अलावे हम यह भी देख चुके हैं कि, विहारमें जिन सेन-वंशीय राजाओंने राज्य किया, उनके लेखोंमें इस वर्षगणनाका व्यवहार किया गया है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि, इस वर्षगणनाके पूर्वतक बंगालके राजा बल्लालसेनके पुत्र लक्ष्मणसेन नहीं, "पिथिपति" जयसेन तथा बुधसेनके पूर्वज लक्ष्मणसेन थे। प्रायः यही अपने वंशमें राज्यके संस्थापक थे। इनके मरनेके बाद भी यह वर्षगणना प्रचलित रही; पर "अतीतराज्ये" वाक्यका व्यवहार होने लगा। बङ्गालकी हस्तलिखित पुस्तकोंमें इस वर्षगणनाका व्यवहार इसके १७१ वें वर्षमें हुआ; और, गौड़के राजाओंसे इस गणनाका सम्बन्ध इसके ४३२ वें वर्षतक नहीं था।

* मुसलमानी संवत् १६ जुलाई ६२२ ई० को प्रारम्भ होता है और वकीक-वकीक ३६४ दिन में बँटता एक वर्ष होता है। इसकी गणना चन्द्रमाकी गतिसे की जाती है।

संसारके संवत्सरोंका सिंहावलोकन

५० सुरेश्वरदास मिश्र

प्राचीनतम कालमें वर्षोंकी गणना ऋतुओंके आधारपर की जाती थी। एक वर्षाऋतुके प्रारम्भसे दूसरी वर्षाऋतुके पुनः आरम्भ होनेतकके बीचके समयको वर्ष कहते थे। न केवल वर्षाऋतु, अपितु प्रत्येक ऋतुके चक्र-परिवर्तनसे वर्षकी गणना की जाती थी।

आजकल भी छः ऋतुओंमें चाहे किसी भी ऋतुमें वर्षाकी गणना की जाय, उसके अन्तर्निहित कालमें (वर्षमें) छः ऋतुओंका विकास होता ही है; किन्तु काल-गणनाके सर्वाचीन मतानुयायी ऐतिहासिक खोजके आधारपर ही वर्षकी गणना करते हैं। अनुमानसे यह सर्वाचीन वर्ष-गणना विलकुल अचूरी नहीं, तो प्राचीन वर्ष-गणनाकी प्रणालीकी अपेक्षा अचूरी अवश्य है। इतिहासके निर्माण-कर्ता अथवा संप्रदर्शक मनुष्य हैं और मनुष्य गलती करता ही नहीं, यह हो नहीं सकता। आधुनिक प्रचलित इतिहासमें परस्पर मतभेद ही हमके लिये प्रचुर प्रमाण हैं। इन्हीं ऋतुचक्रकी ओर ध्यान देनेसे उसके परिवर्तनका आधार सूर्यकी गति सिद्ध होता है। सूर्यकी गतिमें गलतीका खेद्यमात्र भी स्थान मिलना कठिन ही नहीं, असम्भव है। तब श्रुत यातकी छोड़कर हम कार्गनिक पातोंका आश्रय क्यों-कर लें? संस्कृतमें अथवा वैदिक भाषामें सूर्यको सविता कहते हैं, और, ऋतु-उत्पादक होनेके कारण "विता" भी। प्रत्येक ऋतुके चक्रको "वस" कहते हैं। इनके उत्पादक "विता" सूर्य हैं। इसी "वस"से "वसना" या "वसन्त" नाम पड़ा। संवत्सर, पञ्चमस, द्वादशमस, मनुष्यमस और उद्दामस नामक पाँच ऋतु-चक्र होते हैं। इनमें पाँच ऋतु-चक्रोंके गणित द्वारा सूर्यातिमसम ऋतु-सम्पादके लिये "वसन्त"का निर्माण किया गया। वैदिक

कालमें ऋतु-चक्रके पाँच ऋतुओंका विरलेपण पञ्चाङ्गसे ही होता था। भारतवर्षमें अतीत कालकी गणना और युगोंका हिसाब इसीसे लगाया जाता है।

पश्चिमीय सन्-संवत्—यूरोपमें कालकी गणना कुछ दिनोंसे सौर वर्षके आधारपर की जाती है। इसके पहले ईसवी सन् रोमन संवत्के आधारपर ही चलता था। यूनानमें प्रचलित थ्योनप्पियद् नामक संवत्, जो जुझाईमें आरम्भ होता था, रोममें सर्वप्रथम संवत्सर माना गया और २१ वीं अमेज़में इसका आरम्भ माना जाता है। पहले यह संवत् ३६० दिनोंका माना जाता था; किन्तु रोमन सम्राट् जुलियस सीज़रने इस संवत्को "365 1/4" दिनका करार दिया। उसने प्रत्येक चार वर्षपर एक दिन बढ़ाकर हर एक सालको ३६५ दिनोंका और प्रत्येक चौथे वर्षको ३६६ दिनोंका माननेके लिये नियम बनाया। इस विधायसे प्रचलित सालसे यह वर्ष बहुत अधिक होने लगा; और, विक्रम-संवत् १६१६में, इस वर्षमें, ११ दिनकी बढ़ती हो गयी। तब पोप ग्रेगरीने वर्षमें ३६५ दिन ५ घंटे, ४६ मिनट और १२ सेकंड मानकर इस बढ़तीको दूर किया और केवल ४०० से पूरी बढ़ जानेवाली शताब्दियोंमें ही ३६६ दिनोंको माना।

जब ईसवी सन्का मूलाधार रोम-संवत् है, तब आधुनिक प्रचलित क्रिस्तीके १२ महीनोंका आधार भी रोमन संवत् ही होगा, यदि उत्तरायण-भेदमें जो मानें। अफ्रीकीके पुन खेनफकी रग्टिमें जनवरीका नाम पड़ा। विक्रम-संवत्के ४०० वर्ष पहले करारी वर्षका अजिमत नाम माना जाता था। उस समय रोममें, वर्ष भरमें, १० ही महीने प्रचलित थे। विक्रम-संवत्के १२६ वर्ष पहले

रोममें वर्षका पहला महीना जनवरी और दूसरा फरवरी माना गया; और, तब वर्षमें १२ महीने हुए। मार्च महीनेसे ही पुराने रोमन वर्षका आरम्भ होता था, अग्रेलको दूसरा, मईको तीसरा और जूनको चौथा महीना, प्राचीन रोमन संवत्में, माना जाता था। जुलाईका नाम जुलियसके समयकी स्मृतिपर पड़ा। अगस्तका नाम रोमन-सम्राट् आगस्टसके शासन-कालको प्रकट करता है। सितम्बर अर्थात् प्राचीन रोमन संवत्का सातवाँ अम्बर (महीना) है; अक्टूबर आठवाँ महीना, नवम्बर नवाँ महीना और दिसम्बर दसवाँ महीना माना जाता था। यही अंग्रेजी १२ महीनोंका संक्षिप्त इतिहास है।

१ वैदिक संवत्—कोई-कोई इसे आर्य-संवत् तथा सृष्टि-संवत् भी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति सृष्टि-कालसे मानी जाती है। हिन्दुओंके संकल्प-पाठके अनुसार यह श्वेत-वाराह-कल्प है। इस कल्पके ६ मन्वन्तर बीत चुके हैं। यह कल्प ब्रह्माके दितका दूसरा पहर है। सातवें मन्वन्तरकी २८ वीं चतुर्गुणीमें कलियुगका ५०३३ वीं वर्ष बीत रहा है। चार युगोंकी एक चतुर्गुणी और ७१ चतुर्गुणीका एक मन्वन्तर होता है। मन्वन्तरोंके सन्धिकालके सब साल निजावर वैदिक संवत् अथवा कल्पाब्दको हम उपयुक्त नियमसे गणित करनेपर १६७२६४६७३३ वर्षका मान सकते हैं। इस संवत्का प्रयोग केवल ज्योतिःशास्त्रमें किया गया है। हिन्दुओंमें यह सर्वप्रधान संवत् गिना जाता है। इस संवत्का पौर्णमास चान्द्र मासके अनुसार होता है; किन्तु दक्षिण और पश्चिम भारतमें अमान्त मासका ही हिसाब होता है।

२ कलि-संवत्—कलियुगके आरम्भसे इस संवत्का प्रचलन माना जाता है। कोई-कोई इसे युधिष्ठिरिय संवत् भी कहते हैं; क्योंकि युधिष्ठिरके वागप्रस्थी होनेके ३६ वर्ष पहले इसका आरम्भ हुआ था। इस समय विक्रम-संवत्

१६८६ में इसकी गणना २०३३ वर्षकी की जाती है। इस संवत्का आरम्भ मेघ-संक्रमणमें चैत्र-शुक्ला प्रतिपत्से होता है। सम्भवतः यह संवत्, जिस समय इसकी सर्वप्रथम आरम्भ माघशुक्ला पूर्णिमा शुक्रवारको मध्याह्नमें माना जाता था, फाल्गुन वदी प्रतिपत्से ही गिना जाता था। युधिष्ठिरिय संवत्के विषयमें बराहमिहिरने अपने ग्रन्थमें लिखा है—“पट्टद्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च।” शक-कालमें २५२६ मिला देनेसे युधिष्ठिरिय संवत्का पता लगता है।

३ सप्तर्षि-संवत्—इस संवत्को पहाड़ी संवत् भी कहते हैं; क्योंकि इसका प्रचार पहाड़ी प्रदेशोंमें है। इसका आरम्भ कलिके आरम्भसे २५ वर्ष बादका माना जाता है। जब २७०० वर्ष पूरा हो जाता है, तब फिर इसकी गिनती १ से चलती है। वैदिक संवत्के सिवा ग्रन्थान्यस्य संवत्तोसे यह संवत् प्राचीन माना जाता है। जब सिकन्दरने भारतपर चढ़ाई की थी, तब उसके सहाय-त्रियोंने अपने ग्रन्थमें इस संवत्का वृत्तान्त लिखा। कनिंघमने अपने “The Indian Eras” * में लिखा है कि, पंजाबके निवासी अपने पूर्वज बैकसके समयसे लेकर सिकन्दरकी चढ़ाईतकके समयको लगभग ६४२१ वर्ष बताते हैं। इन ६४२१ वर्षोंमें सिकन्दर-विक्रमके अन्तर २७० वर्षको जोड़नेसे ६७२१ वर्ष होते हैं। पहले ही लिखा जा चुका है कि, यह संवत् २७०० वर्षोंमें पूरा होता है; अतः ६७२१ में २७०० घटा देगेते ४०२१ बचता है। इससे मालूम होता है कि, सप्तर्षि संवत्की पुनरावृत्ति ४०२१ में हुई थी। ज्योतिःशास्त्रमें अश्विनीसे नक्षत्रगणनाके सिद्धावसे ४०२१ वि० ५० में यह संवत् चलता था, ऐसा सिद्ध है। अब ४०२१ में २७०० (सप्तर्षि संवत्का पूर्ण होना) जोड़ दिया जाय, तो यूनानी लेखकोंका कथन भी करीब-करीब ठीक पड़ता

है। उन्होंने भारतमें इस संवत्का प्रचलन वि० ५० ६०२० और ई० ५० ६६६३ वर्ष माना है। उन दिनों भारतमें इस संवत्को देव-संवत् अथवा व्यौकस-संवत् (नक्षत्रसंवत्) भी कहते थे। इसी 'व्यौकस' शब्दको यूनानियोंने बेकस लिखा है। इस संवत्की मास-गणना कलि-संवत्की तरह होती है।

४ बुद्ध-संवत्—शाक्यसिंहकी स्मृतिमें एक संवत् चलाया गया, जिसको बुद्ध-संवत् कहते हैं। लका, चीन, मला, श्याम आदि देशोंमें बौद्ध धर्मकी प्रधानताके कारण वो संवत् चलता है, उसकी गिनती बुद्धक निर्वाणकी तिथिमें होती है। उपर्युक्त बौद्ध-प्रधान देशोंमें बुद्धका निर्वाण-काज विक्रमाब्दसे ४८७ वर्ष पूर्व (४४४ ईसा पूर्व) माना जाता है। जनरल कनिंघम और थ्यासामके बौद्ध-मतानुगमियोंका भी यही मत है। डाक्टर बुद्धर और फुत्सन आदि प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता बुद्धका निर्वाणकाल ४५०, ४८१, ४८७, ४७८ ई० पूर्व मानते हैं। "प्राचीन भारत" नामक पुस्तकमें बुद्धका निर्वाणकाल ४८७ ई० ५० सिद्ध होता है। बोधगयाके सूर्य-मन्दिरपर प्राप्त शिलालेखमें डाक्टर भगवानलालने निर्वाणकाल ६१८ ई० ५० बताया है।

विक्रमाब्दमें ४१८ वर्ष पूर्व इस संवत्के प्रचारका काज है। विक्रम-संवत् १६८६ में ४१८ जोड़ देनेपर २६०० वर्षसे बुद्ध-संवत्का आरम्भ है। इस संवत्का पञ्चाङ्ग भी विक्रम-संवत्के पञ्चाङ्गसे बहुत भिन्नता-रुजता है।

५ जिन-संवत्—जैन-मतके तीर्थन्कर महावीर स्वामी थे। श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों सम्प्रदाय महा-वीर स्वामीकी मोक्षप्राप्तिा समय विक्रम-संवत्से ४७० वर्ष पूर्व मानते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय वाले एकसास तिथि पचास द्वीपावलीके दिन महावीर स्वामीकी मोक्षप्राप्तिा दिन मानते हैं। विक्रम संवत् १२८६ में ४७० जोड़नेपर

२४१६ वर्ष जैन-संवत्की गणना मानी जाती है। यह संवत् शुक्ल पक्षकी पुतिपदासे बदलता है।

६ मौर्य-संवत्—दक्षिण देशके प्रतापी जैन-सम्राट् खारौलेक हाथी-गुफासे प्राप्त शिलालेखसे इस संवत्का पता चलता है। मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्तने इस संवत्को चलाया था। जैनियोंके प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्रसुरिने महावीर स्वामीके निर्वाणसे १२५ वर्ष बाद मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तका शासनकाल सिद्ध किया है। विक्रमाब्दसे ४७० वर्ष पहले महावीर स्वामीका निर्वाणकाज माना गया है। अतः ४७० मेंसे १२५ घटा देनेसे बाकी ३४५ यचता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि, विक्रमाब्दसे ३२५ वर्ष पहले यह संवत् चला था। अब प्रचलित १६८९ विक्रमाब्दमें ३२५ जोड़नेसे २३०४ वर्षका यह संवत् सिद्ध होता है। यह संवत् कार्तिक शुक्ल और चैत्र शुक्ल, दोनों रीतियोंसे शुरू होता है। पूर्व और उत्तर भारतमें चैत्र शुक्लसे और दक्षिण तथा पश्चिम भारतमें कार्तिक शुक्लसे इसकी गिनती होती है।

७ ऐशुकम्पका संवत्—महावली विक्रमाब्दकी शुरुके १२ वर्ष बाद सेनापति सत्युकम्पने यह संवत् चलाया। यही पहला विदेशी संवत् था, जिसको भारतीय पञ्चाङ्गमें स्थापन मिला था। विशेषतः यह संवत् सिधौपर भिन्नता है। इसका पहला दिन अश्वयुजकी पहली तारीखसे माना जाता है। यह संवत् ई० ५० ३१२ से प्रचलित है। इस संवत्का पञ्चाङ्ग बनानी पञ्चाङ्गके अनुसार होता है।

८ पार्थिव संवत्—यद्यपि भारतीय इतिहासमें इन संवत्का नाम भी नहीं मिलता, तथापि बौद्धोंके समर्थके इतिहासमें कहीं-कहीं इसका उल्लेख मिलना है। विक्रमाब्दसे १६० वर्ष पहले द्वितीय ऐश्वरीशोककी शुरुके बाद पारसके निरामी पार्थ लोगोंने इस गणत्की खना कर पार्थकी स्वतन्त्र उत्पत्ति किया। सर्वप्रथम गिम्प सारव ने इस संवत्का पता लगाया है। इन संवत्का क्या वर्ष

धर्मजन्मे आरम्भ होता है। यह ई० पू० २४७ के आस-पास आरम्भ हुआ है।

६ विक्रमाब्द—भारतवर्षका ऐसा कोई भी प्रान्त न होगा, जिसमें इस संवत्का प्रचार न हो। फर्क इतना ही है कि, किसी स्थानपर इसका वर्षारम्भ चैत्र शुद्धा प्रतिपदासे और कहीं कार्तिक-शुद्धा प्रतिपदासे होता है। नर्मदा नदीके उत्तरी भाग और गुजरात प्रान्तके सिवा भारतमें सर्वत्र यह संवत् चैत्र-शुद्धा प्रतिपदामें चलता है। इस संवत्का काल कोई तो १७ ई० पू० और कोई १८ ई० पू० मानते हैं। पुरातत्त्वज्ञोंकी खोजसे यह सिद्ध होता है कि, ३७२ ई०में इस संवत्की प्रसिद्धि “कृत” नामसे थी। ४३६ ई० के बाद यह संवत् मालवगणकी वर्षगणनाके रूपमें परिचित हुआ। ७३७ ई० में विक्रम-संवत्के नामसे यह प्रसिद्ध हुआ। ३७२ ई० से पहले इसके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं चलता।

अथवत्क ४१८ से ८४० विक्रमाब्दतकके प्राप्त शिलालेखोंसे यह संवत् मालववंशीय संवत् ही सिद्ध हुआ है। ८६२ विक्रमाब्दमें सर्वप्रथम प्राप्त शिलालेखमें विक्रमादित्यका नाम भी लिखा मिलता है।

१० शक या शालिवाहन-संवत्—यह संवत् विक्रमाब्दसे १३५ वर्ष बादका है। यह सर्वत्र चैत्र शुद्ध पंचमि मेससे गिना जाता है। इसके सम्बन्धमें अबतक कोई भी मत निर्णीत नहीं किया गया है, क्योंकि ई० सन् ५०० के आसपाससे लगाकर शक-संवत् १२६२ (ई० स० १३४७) तक यह संवत् किली शक राजाके राजशमिषेकसे चला हुआ था किसी शक-राजा अथवा शकोंका चलाया हुआ माना जाता था और उस समयतक शालिवाहनका नाम इसके साथ नहीं जुड़ा था।

११ कलचुरि-संवत्—कलचुरि अथवा चेदि-संवत्का दूसरा नाम वैकृतक भी है। २४८-४१ ई० पू० से इसका प्रारम्भकाल माना जाता है। त्रिपुरीके कलचुरि-

राजा नर्मिहदेवके दो लेखोंमें कलचुरि संवत् मिला है। यह संवत् अधिकतर कलचुरियों (हैहवों)के लेखोंमें मिलता है।

कलचुरि या कलसूरि-राजवंशका उल्लेख चालुक्य नरेश मंगलीशके स्वामसे उत्कीर्ण लेखमें मिलता है। संवत् ७७६में ६३४ तकके अनेक शिलालेखोंमें इसका उल्लेख मिलता है। कइते हैं, यह सभ क्षेत्र महाराज उचकदपकी दानपूरास्ति हैं और इनमें कलसूरि वंशके महाराज सर्वनाथका नाम भी मिलता है। डाक्टर किलहार्न कइते हैं कि, इस संवत्का आरम्भ चैत्र शुद्धा प्रतिपदा संवत् ३०२ विक्रमाब्दमें होता है। इस बातकी कनिष्ठम साहय भी मानते हैं। इसकी मासगणना अमान्य और पौरुषमान्य, दोनों तरहसे की जाती है।

१२ गुप्त-संवत्—डाक्टर खोलडेनबर्गने इस संवत्का सन् ३१६में आरम्भ और सन् ५८०में अन्त माना सिद्ध किया है। डाक्टर फ्लीटने सन् १८७७ में इसका काल सन् ३१६-२० के पूर्व निर्धारित किया है। विंसेट स्मिथ और सिल्वेन लेवीने भी इस मतका समर्थन किया है। डाक्टर फ्लीटने गुप्त-संवत्को बलभी-संवत् सिद्ध किया है। किन्तु हुपुनरांग (६८६-६४८) के वर्णनसे डाक्टर फ्लीटके मतकी खण्डन होता है। गुप्त-संवत्का पता लगानेके लिये सबसे बढ़िया साधन काठियावाड़से प्राप्त जण्डूका मोर्ची-दानपत्र है। ३७७ विक्रमाब्दसे हो यह सिद्ध होता है। इस संवत्की मासगणना विक्रम-संवत्के अनुसार ही होती है। यह नेपालसे काठियावाड़तक चलता था। इसका अन्तिम लेख गुप्त-संवत् ६४४ (ई० १२६४) तकका मिला है।

१३ पूर्ववर्तमान गङ्गा राजवंशका विजयराज्य-संवत्सर—गंग-वंशने गंगा और गौतमीके भूभागपर ७वीं सदीसे १५ वीं सदीतक राज्य किया था। इस वंशके पृथप

राजा नरसिंहदेव थे। इनके पाँच पुत्रोंमें सबसे ज्येष्ठका नाम कामार्णव था। उसने कलिगके माडर-वंशीय अन्तिम राजा सबलालित्यको परास्त कर दन्तपुरमें अपनी राजधानी बनायी। उसके पुत्रोंके समयमें भी यह संवत् प्रचलित था। इस संवत्का प्रवर्त्तक बड़ा भाई कामार्णव था। गुणा-र्यवक पुत्र देवेन्द्रवर्माके ताम्रपत्र और प्राचीन पञ्चाङ्गोंकी ध्यानपूर्वक देखनेसे सन् ७०० से इस संवत्का आरम्भ सिद्ध होता है।

१४ उत्कलका कपिल-संवत्—गङ्गा-राजवंशका अन्तिम राजा सन (छोटे) नरसिंह जेन अपने शत्रुओंके हाथ मारा गया। तब कपिलेश्वरदेव राजा हुआ। यह मृत नरसिंह जेनके निशङ्कभावकी प्रधान रानीका भाई था। इसीके नामसे यह संवत् चला। इस संवत्का आरम्भ १४३६ ई०से माना जाता है।

१६ मीसका पुरी (Manes) संवत्—यह संवत् ई० पूर्व ५५६८ से आरम्भ हुआ था। तुर्किस्तानमें भी इस तरहका एक संवत् चला आता है, जिसका आरम्भ-काल ई० पूर्व ५५०८ वर्ष माना जाता है।

कोई भी संवत् किसी घटनाविशेषसे तथा किसी युग-प्रवर्त्तक महारामके मृत्युकालसे आरम्भ होता है। बाइबिलसे यह पता चलता है कि, आदमकी १० वीं पीढ़ीमें नोह हुआ था। वेदों और पुराणोंसे यह सिद्ध है कि, श्रावणि मनु प्रजाकी २६ वीं पीढ़ीमें हुए थे। कुरानमें नोहको नुह कहते हैं। मिश्र-देशके धर्मग्रन्थोंमें इसे मेनस कहते हैं। हो सकता है, यह नोह और नुह, जिसका पड़ना नाम मेनस था, 'मनु' शब्दका अनुकरण-मात्र हो। इससे यही सिद्ध होता है कि, कुरानमें वर्णित नुह, बाइबिलका नोह, मिश्र देशका मेनस और वेद-पुराणोंमें कथित मनु—ये चारों नाम एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि, मीस-देशीय *Mundus Era* (५थी संवत्) मेनसके समयसे ही प्रचलित है।

१६ बलभी संवत्—यह संवत् लगभग ६ वर्षतक पश्चिमी भारतमें प्रचलित था। इस संवत्के अनेक अङ्क वात्रपणों और उत्कीर्ण लेखोंमें मिलते हैं। यह और गुप्त-संवत् एक हैं। गुजरात और काठियावाड़में प्रचलित पञ्चाङ्गकी मास-गणनाके अनुसार इसकी भी मास-गणना ली जाती है। इतिहासमें इसका विशेष वर्णन नहीं मिलता।

१७ श्रीहर्ष संवत्—इस संवत्के प्रवर्त्तक महाराज हर्षवर्द्धन थे। इसका प्रचार विशेषतः मध्यदेशमें था। अलबरूनीके लिखनेके अनुसार महाकवि वाणने अपने ग्रन्थ "श्रीहर्ष-चरित" में हर्षवर्द्धनके राज्याभिषेकका वर्णन लिखा है। उसीके आधारपर इस संवत्का उल्लेख वात्रपणों और शिलालेखोंमें होने लगा था। विक्रम संवत् ६६४ में इस संवत्का प्रचार हुआ था। इसके मासादिभी गणना चान्द्र मासमें की जाती है।

१८ नेपालका संवत्—प्राजकल यद्यपि नेपाल एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य समझा जाता है, तथापि प्राचीन कालसे उसकी गणना हिन्दुस्तानके एक भागके रूपमें ही की जाती है। इस संवत्को नेवार या नेवारी संवत् भी कहते हैं। इसका वर्णन कालिक शुकपर्वसे होता है। विक्रम-मार्ग ८२१ में इस संवत्का प्रवर्त्तन राजा राघवदेवने किया था। विक्रमार्ग १८२३ में महाराज पृथ्वीनारायण शाह ने इस संवत्के बदले नेपालमें शकाब्दका प्रचार किया था। इस समय इस संवत्का १०६२वाँ वर्ष बीत रहा है।

१९ कोलब-संवत्—इस संवत्को परशुराम-संवत् भी कहते हैं। अतर्पि-संवत्की तरह इस संवत्का भी परिवर्तन होता रहता है। इस संवत्का नूतन क्रम एक हजार वर्ष बीत जानेपर चलता है। इन दिनों इसका चतुर्थ वर्ष बीत रहा है। सर्वप्रथम इस संवत्का आरम्भ विक्रमाब्दसे १११६ वर्ष पहले हुआ था। इसकी वर्णगणना सौरसंवत्के अनुसार होती है। इसका नया वर्ष १३ या १४ क्रमिकसे चलता है।

२० चालुक्य-संवत्—यह संवत् ११३३ विक्रमाब्द-संवत्के शिलालेखोंमें मिलता है। इस तरहका एक नवीन संवत् चालुक्य-राज महाराज विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्लने चलाया था, जिसको “चालुक्य-विक्रम-वर्ष” कहते हैं। महाराज कदम्बरराज तैलप्पदेवके राज्यमें भी इसका पूरा प्रचार था। ई० सन्से इसका १०७६ वर्षोंका अन्तर है।

२१ सिंह-संवत्—डा० भगवानलाल इन्द्रजीके कथ-जातुसार यह संवत् ईस्वी सन् १११३ से चला है। सन् १६२ में १११३ घटा देनेसे यह संवत् ८१६ वर्षसे चला आ रहा है। इसका नूतन वर्ष कार्तिक शुक्ला प्रतिपदासे आरम्भ होता है। बहुतांशोंकी रायमें इस संवत्का प्रवर्तक शिवसिंह था। इस कारणसे इसे शिवसिंह-संवत् भी कहते हैं।

२२ लक्ष्मणाब्द—बंगालके सेनवंशीय राजा बल्लाल-सेनके पुत्र लक्ष्मणसेनने यह संवत् चलाया था। आचार्य किन्नहर्षनके मतसे इस संवत्का प्रथम दिन ७ अक्टूबर १११६ ई० है। श्रीयुक्त काशीप्रसाद जयसवालने “राम-चरितमानस”के व्याख्याताके कथनके आधारपर लक्ष्मण-सेनको निहत्तरका राजा सिद्ध किया है। म० म० डाक्टर हरप्रसाद शास्त्रीने लगभग ६७ हस्त-लिखित ग्रन्थोंके प्रमाणोंकी खोज लगाकर यह साबित किया है कि, लक्ष्मणसेन बल्लालसेनका पुत्र नहीं था। वह विधिपति जयमेन तथा युद्धसेनका पूर्वज था, जो बिहारमें राज्य करता था। जिन पुस्तकोंमें इसके राज्यका वर्णन मिलता है, वह सभी मैथिली भाषामें लिखी गयी हैं। अष्टलक्ष्मणलके मतसे इस संवत्को ११७६ विक्रमाब्दमें बल्लालसेनने चलाया था। “लघुभारत”के प्रमाणोंके आधारपर उसने यह सिद्ध किया है कि, बल्लालसेनको विधिवत्-जयके अनन्तर जब अपने पुत्र लक्ष्मणसेनके जन्मकी खबर मिली, तब उसने इस शुभ समाचारके हर्षोद्विग्नमें यह संवत् चलाया। तत्पश्चात् इनासिरीके लेखक

अभिप्राय है कि, ११७६ विक्रमाब्दमें अखिलचरित खिलजीने नदियाको अपने दखलमें किया। लक्ष्मणसेनकी उम्र उस समय ८० वर्षकी थी। इससे लक्ष्मणसेनका जन्म १०९६ विक्रमाब्दमें हुआ, यह सिद्ध होता है। कोलाम्बुका साहबके मतसे यह संवत् ११०४ ई० में चला है। इस मतका समर्थन युकोनन साहबने भी किया है। कनिंघम साहब ११६४ विक्रमसे इस संवत्की गणना मानते हैं। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्रका भी यही मत है। किलहार्न साहब इस मतका खण्डन करते हुए ११७६ विक्रमाब्दमें इस संवत्का प्रचार मानते हैं।

२३ शिव-संवत्—इस संवत्के प्रवर्तक महाराज शिवाजी थे। उन्होंने अपने राज्याभिषेक कालसे इस संवत्को चलाया था। १६६१ विक्रमाब्दकी ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशीको शिवाजीका राज्याभिषेक हुआ था। इस संवत्को १६८६-१६८१ = ३३८ वर्ष आरम्भ हुए होते हैं। महाराजोंमें इस संवत्का प्रचार है।

२४ दया नन्दाब्द—स्वामी दयानन्दका जन्म १८८१ विक्रमाब्दमें हुआ था। उनकी मृत्यु १९४० विक्रमाब्दमें, दीवावलीके दिन, हुई थी। पहले यह संवत् स्वामीजीकी मृत्युसे गिना जाता था; किन्तु १९८१ विक्रमाब्दमें “महर्षि दयानन्द-शताब्दी”के नामसे एक उत्सव मनाया गया और उसी समय इस संवत्का आरम्भ, उनकी जन्म-तिथिसे, माना जाने लगा। प्राचीन नियमके मुताबिक यह अर्द्ध १९८१ में ४२ था और नवीन नियमके अनुसार १०१ था।

२५ मयदेशका संवत्—यमामें इस संवत्का प्रचार है। इस संवत्का बोधा-सा विवरण बोद्धोंके साक्षियोंमें मिलता है।

२६ मागी-संवत्—मागी-संवत्को ११६ विक्रमाब्दमें पाप्यापान राहने चलाया था। यमामें समुद्रराजने भी इसी समय ऐसा संवत् चलाया था। गौतमके विनायक

अञ्जने, ७४८ विक्रमाब्दमें, इसी प्रकारका एक संवत् चलाया था, जिसे महाब्द कहते हैं। महा आदि देशोंमें मागी-संवत्की गिनती ६६६ विक्रमाब्दसे की जाती है।

२७ रोम संवत्—कहते हैं कि, रोम नगरकी स्थापनाके दिनसे एक संवत् चला, जिसको रोम संवत् कहते हैं। रोम नगर कय स्थापित हुआ, इसका ठीक ठीक निर्णय अभीतक नहीं हो सका है। कोई रोम नगरकी स्थापनाका समय ६१० वि० पू०, कोई ६६३ वि० पू०, कोई ६१४ वि० पू० और कोई ७६२ वि० पू० चतुर्जाते है। इस संवत्का सांकेतिक चिह्न *A. U. C.* (*Anno urbis Condito, or ab urbe Condita*) है, जिसका अर्थ है “नगरकी स्थापनासे छः वर्ष बाद।” इस संवत्का वर्षारम्भ २१ अप्रैलसे होता है। रोम नगरके निवासी महीनेके पहले दिनको कलेण्डस और अपने पञ्चाङ्गको कलेण्डर कहते थे। हर एक महीनेमें २६ या ३० दिन होते थे और ३५४ दिनका वर्ष होता था। महीनेके प्रथम दिन एक निर्दिष्ट स्थानपर भगर्के निवासियोंकी सभा हुआ करती थी, जिसमें नये पञ्चाङ्गका निर्णय होता था।

२८ यूनानी संवत्—यति प्राचीन कालमें यूनानमें अनेक प्रजासत्तत्र राज्य थे। उन राज्योंका एक एक प्रधान पदाधिकारी होता था और उन सबोंके नामसे संवत् चत्रते थे। नये अधिकारीके राज्याभिषेकके दिन नया नया संवत् चलता था। इस तरहके संवत्को “अभिषेक सन्” कहते थे। ३०० ई० पू० में यूनानके इतिहास-लेखकोंने देशभरमें ओलिम्पिपद वर्षका प्रचार प्रारम्भ किया। यूनानमें ओलिम्पिया नामका एक विस्तृत मैदान है, जहाँपर यूनानी नवयुवक, प्रति चार सालके बाद, राष्ट्रीय रंगभूमिका निर्माण कर मञ्चयुद्ध, घुड़दौड़, वीथाना-वादन, रथदौड़ आदि अनेक खेल काते थे। राष्ट्रीय रंगभूमिके इन खेलोंको खी और गुलाम नहीं देखने पाते थे। इन दिनों

सम्पूर्ण देशमें युद्ध बन्द हो जाता था। रंगभूमिमें विजय-श्री लाभ करनेवाले खेलाड़ियोंको ताम्रमण्डित तथा हाथी-दाँतकी तिपाईपर बैठा, विजय-वार्ता सुनाकर, उन्हें उरसा-हित तथा सम्मानित किया जाता था। इस तरहके उत्सव ४४८ विक्रमाब्दतक होते रहे। पहला उत्सव ७१६ विक्रमाब्दमें हुआ था और अन्तिम उत्सव ४४८ विक्रमाब्दमें।

२९ ईस्वी सन्-भारतवर्षमें प्रचलित विदेशी संवत्तमें सर्वप्रधान विदेशी संवत् यही है। अंग्रेजी राज्यके कारण भारतकी अदालतोंमें इसके व्यवहाराकी प्रधानता है। भारतमें चिट्ठी-पत्रीसे लेकर विवाहोत्सवोंके निमन्त्रपत्र-तक भी अंग्रेजी तिथि ही लिखी जाती है। ईस्वी सन् रोमन संवत्से चलता है, और, पोप ग्रेगरीने रोमन् संवत्के वर्षारम्भकी तिथि २५ मार्चको पहली जनवरी करार देकर रोमन संवत्तमें प्रचलित १० महीनोंके वर्षकी जगह १० महीनेके वर्षका प्रचार किया। इस संशोधनको ईसाई राष्ट्रके रोमन-कैथोलिक-सम्प्रदायने ग्रहण कर लिया। इस संशोधनको दार्लैंड और केनमार्कने १६३६ विक्रमाब्दमें, स्वीडनरलैंडने १७१७ विक्रमाब्दमें, ईंगलैंडने १८०६ विक्रमाब्दमें और रूसने १८२६ विक्रमाब्दमें स्वीकार किया था।

ईसाई लोग ईस्वी सन्को महात्मा ईसाके जन्मसे मानते हैं, किन्तु असलमें इसकी गणना ईसाके जन्मसे ३ वर्ष बाद हुई थी। इस संवत्का प्रारम्भ २७ विक्रमाब्दमें हुआ माना जाता है। आधुनिक विक्रमाब्द १६८६ में १७ घटा देनेसे बाकी १६३२ बचता है, जो आधुनिक ईस्वी सन् है। ईस्वी सन्के पञ्चाङ्गमें ईस्टर एवंके निर्णयने ही सन् वर्षोंका निर्णय होता है। ईस्टर ईष्टरदोंका सबसे बड़ा पर्व है; और, उनके मतसे इसी दिन महात्मा ईसा मृत्यु-शय्यासे उठकर स्वर्गमें गये थे।

३० जावा और बाली द्वीपोंके संवत्—प्राचीन कालमें

भारतके निवासी, संसारके सब देशोंमें, धर्म-प्रचारके लिये, जाते थे। पूर्वी द्वीपोंमें जावा और बाली—ये दो द्वीप विशेष महत्त्व हैं, जहाँ भारतवासी जाया करते थे। कुछ दिनोंके बाद भारतवासी उक्त द्वीपोंमें बसने लगे; और, उपनिवेश-स्थापनाकी सृष्टिमें दोनों द्वीपोंमें संवत् चला। जावामें १३। विक्रमाब्दसे और बालीमें १३८ विक्रमाब्दसे संवत् गिने जाते हैं।

३१ डिजरी सन्—मुहम्मद साहब श्रावण शु० १ सुखार तदनुसार १२ जुलाई सन् ६२२ ई० को, बुधमगंसे बचनेके लिये, मक्कासे मदीना गये थे। यह सन् उसी यादगारमें चला था। मुसलमानोंको यह महत्त्वही संवत् है। यह किसी भी पञ्चाङ्गके आधारपर नहीं चलता। इसकी गणना चान्द्र माससे की जाती है और चन्द्रोदयसे इस संवत्का महीना और वर्ष भी गिना जाता है। वर्षमें ३५४ या ३५५ दिन होते हैं। हिन्दू लोग सूर्योदयसे दिन मापते हैं, और जेज लोग रातके १२ बजेसे दिन मापते हैं; किन्तु मुसलमान लोग सूर्यास्तसे ही अपना दिन बदलते हैं। उन लोगोंका दिन चाँदकी पहली, चाँदकी दूसरी आदि कहकर गिना जाता है।

इतिहासमें मुहम्मद साहबके मकके मदीनेको प्रस्थानकी तिथि आश्विन शु० ३ संवत् ६०६ तदनुसार १३ सितम्बर सन् ६२२ ई० मानी जाती है। वस्तुतः डिजरी सन् १६ जुलाई ६२२ ई० से माना जाता है।

३२ ईरानी-संवत्—पारसी लोगोंकी आदिभूमि ईरान है। ईरानके सर्वप्रथम शासकके राज्यकालसे ईरानी संवत्का प्रादुर्भाव-काल माना जाता है। कोई-कोई इसे पारसी संवत् भी कहते हैं। इस संवत्में भी १२ महीनेका वर्ष और ३० दिनका महीना होता है। पारसी लोग अपने छीसों दिनोंको भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। वर्षमें ३६० दिनमें ५ दिन पड़ाफ्त ३६५ दिनका वर्ष मानते हैं। वर्षमें बढ़ाये गये ५ दिनोंके नाम भी अलग-अलग हैं।

पहले ईरानी ज्योतिषी वर्षका प्रारम्भ सेपमे किया करते थे। ६८६ में यज्दीजदने ३६५ दिनका एक नया ईरानी संवत् चलाया। इस नये संवत्के प्रति चौथे वर्ष एक दिन बढ़ जानेके कारण ऋतुओंके मिलानमें बड़ी गड़बड़ी हो गयी। गड़बड़ीको दूर करनेके निमित्त खगोलशास्त्रके वादशाह सुलतान जलालुद्दीन मलिकने जलाली संवत्की स्थापना की। विक्रमाब्द १६८६ में यज्दीजद-संवत्का १३०० वाँ वर्ष और जलाली-संवत्का ८५३ वाँ वर्ष बीत रहा है।

३३ चीनी-संवत्—चीनियोंसे भारतवर्षका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। चीनी यात्री भारतमें और भारतीय यात्री चीनमें आया-जाया करते थे और भात तथा चीनकी सरकालीन उल्लेखनीय बातोंको अपने भ्रमण-वृत्तान्तोंमें लिखते थे। चीनी-संवत्को सम्प्रति १६८६ में चीन-देशवासी ६६००२४३१ वर्षका मानते हैं। वे इसका प्रारम्भकाल चीनके प्रथम शासकसे मानते हैं। चीनको फारसीमें खता कहते हैं। इसीलिये चीनी-संवत्को “खताई संवत्” भी कहते हैं। चीनी पञ्चाङ्गमें वर्षगणना सौर तथा चन्द्र, दोनों रीतियोंसे की जाती है।

३४ तुर्की-संवत्—प्राचीन इतिहासमें कहीं-कहीं तुर्की-संवत्का जिक्र भी मिलता है। तुर्कीके कुस्तनुतुनिया नगरमें इस संवत्का सर्वप्रथम प्रारम्भ हुआ था। तुर्क लोग इसकी गणना सृष्टिसे करते हैं। यही संवत् ईसाइयोंके ग्रीक चर्चवाले सम्प्रदायमें भी प्रचलित है।

तुर्कोंमें एक दूसरा संवत् भी प्रचलित है, जिसकी गणना गानजिम यादशाहमे की जाती है। वर्षगणना चान्द्र माससे की जाती है। तुर्की भाषामें वर्षको “याई” कहते हैं। इसलिये तुर्की-संवत्के प्रत्येक महीनेमें “याई” शब्द लगा रहता है। हर तीसरे सालमें एक अतिरिक्त मास गिना जाता है। वर्षारम्भ जिस महीनेमें हुजूमकी रीतान्ति होती है, उसी महीनेकी समावास्यामे होता है। तुर्कोंका भी कहते हैं और १२ वर्षका युग मानते हैं। वर्षको

“ईल” कहते हैं। भाषा-तत्त्वज्ञोंने ईंग्रेजीके ‘Year’ शब्दकी उत्पत्ति इसी “ईल” शब्दसे मानी है।

३१ सूर-संवत्—इस संवत्को धनुषपति शाहजीके नामसे शाह-संवत् भी कहते हैं। जब सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में रहते हैं, तब ७ अथवा ८ जूनको इस संवत्का वर्ष बदलता है। इस समय इस संवत्का २८६ वाँ वर्ष बीत रहा है। फस्ली सन्में सिर्फ ६ वर्षका अन्तर पड़ता है। इसका प्रचार बम्बई और महाराष्ट्रमें है।

३६ बँगला सन्—यह एकप्रान्तीय संवत् है और केवल बंगालमें ही इसका प्रचार है। इस संवत्का वर्षारम्भ मेघ संक्रमणकी १४ अप्रैलसे होता है। बहुतोंका कथन है कि, यह संवत् शकवर्षसे चनाया था; किन्तु शकवर्षके सिंहासनारुढ़के समय अर्थात् १६०३ विक्रमान्तसे पूर्व ही बंगला सन्का उल्लेख, कितने ही ग्रन्थोंमें, मिलता है। विक्रमाब्दमें ६५० वर्ष घटानेसे बंगला सन् निकल आता है। विक्रमाब्द १६८२ में ६५० घटा देनेसे १३३६ बंगला-सन् निकल आता है।

३७ फस्ली-सन्—इन सन्के प्रचारमें फसल और रातकीप करका बहुत कुछ सम्बन्ध है, ऐसा प्रसिद्ध ऐतिहासिक अनुसन्धानका कथन है। शकवर्षके शासन-काजमें प्रचलित हिजरी-सन्के हिसाबसे फसलके मुआविक अनुसंधानकी गणना नहीं हो सकती थी। इसी कारण शकवर्षके इस फस्ली सन्को चलाया, जिसकी हम

ध्यान भी भू-कर-विभागके सरकारी कागजातमें देखते हैं।

शकवर्षका राश्याभिषेक १५५६ ई० १४ फरवरी शुक्रवारको हुआ था। फस्ली सन्को प्रचलित करते हुए उसने हुक्म दिया कि, उसके राश्याभिषेकके पूर्वसे ही यह सन् गिना जाय; किन्तु उसकी मृत्युके बाद जहाँगीर और औरंगजेब तथा मुहम्मदशह के शासनकालमें हिजरी और फस्ली सन्में कुछ दिनोंके अन्तर पड़नेके कारण ध्यान दिन फस्ली सन्से हिजरी सन्का ११ वर्षका फर्क आ जाता है। इस समय हिजरी सन् है १३५१ और फस्ली सन् है १३४०।

३८ इलाही सन्—शकवर्षसे अनेक नये “इलाही” धर्मके प्रचारार्थ इस सन्को चलाया था। विक्रमान्त १६४२ में इस सन्का प्रचार हुआ था।

३९ जलूमी सन्—उपयुक्त सन्-संवत्तोंके सिरा नौरोज़, कमरी और जलूमी संवत् भी हैं। मोगल-शाहोंने अपने-अपने राश्याभिषेकके दिन हिजरी सन्को रोक्कर जलूमी सन् चलाया था। राश्याभिषेकके दिन जलूस निकलता था, और, जलूसके प्रथम दिनसे जलूमी सन् गिना जाता था।

४० आदिलशाही सन्—घोलापुरमें गुप्तलमानी शासनका आधिपत्य समाप्तवाला शिया समुदायका प्रमुख आदिलशाह था। उसीने १६१३ विक्रमाब्दमें यह सन् चलाया था।

● पुणःस्तव-वेत्ताओंने इस क्रमसे गणनाके प्रतिपक्षमें कितनेही माना है—

ईसा पूर्व १, ६७, ८६, ४७, ८०१ सष्टि-संवत्, ई० पू० ६, १०, ००, ४६६ चामी संवत्, ई० पू० ६, ४६६ मीर प्रियो, ई० पू० ४, ००० मत्तवि, ई० पू० ३, १०१ कलि, ई० पू० १३३ रोम, ई० पू० २४४ उद, ई० पू० २७० दिन, ई० पू० ३७० मीर, ई० पू० ३१२ मत्तकम, ई० पू० ३०० भोजिग्रह, ई० पू० २४० पार्थीय, ई० पू० २०० निरुम, ई० पू० ७४ लावा, ई० ०१ बाजी, ई० ०० शक, ई० २४८ अक्षर, ई० ३०० गुप्त और ई० ४९२ समती, ई० २१७ फस्ली, ई० २६३ बंगला, ई० १०० माहर, ई० १०० हप, ई० १०० रिजरी ई० १३१ मारिक संवत्, ई० १३० पारीमर्द, ई० ६३६ मागो (बर्मी), ई० ६८६ (१) ईसावी

हाँसीके किलेकी सूर्य-प्रतिमा

१० प्रभुदयालजी

यह आदित्यकी मूर्ति हाँसी (जि० हिसार)के पुराने किलेकी पूर्व दीवारके पास मिट्टीमें दबी हुई संवत् १६८० विक्रममें, एक शोरा निकालनेवाले कुम्हारको, मिट्टी रोदते वक्त, मिली थी। कुदाल लगनेसे इसका एक हाथ भी टूट गया था। वह इसे अपने घर ले गया। पता लगनेपर शहरके मुखिया लोग पहुँचे और उसे उठाकर वहाँसे एक देवीके मन्दिरमें ले गये। विचित्र सुन्दर और शिल्पकारीका विचित्र नमूना होनेसे दूर-दूरके दर्शकोंका मेला लगने लगा। जयपुरके कारीगरोंको बुलाकर हाथ जुड़ाया गया। रोजाना सौ दो सौ चढ़ाया चढ़ने लगा। पुजारीको कई हजार रुपयेका लाभ हुआ। सरकारी कर्मचारी इसे यहाँसे, पुरातत्त्व-विभागके कानून द्वारा, ले जाना चाहते थे। लाहौर या विलायत भेजनेकी तजवीज थी। परन्तु सारा नगर इसके विरुद्ध था। चौ० शेरसिंह रईसकी कोशि-शोंसे आखिर सरकारने, कुछ शर्तोंपर, उसे यहाँ छोड़ना मंजूर कर लिया। इसके लिये एक कमिटी बनी। कुछ रुपया धर्मार्थ पंचायतमें जमा था। उसी रुपयेसे एक पंचायती मन्दिर, शहरके चौराहेके पास, बनाया गया है। इसीमें यह मूर्ति रखी जायगी।

पुजारियोंने इसे विष्णुकी प्रतिमा कहना शुरू किया है।

सूर्य-सहित इसमें २३ चित्र हैं। ऊपर ६ ग्रहोंका चक्र बना है। दोनों बगलोंमें, ऊपरसे नीचेको, दायें-बायें तीन तीन मूर्तियाँ बनी हैं; दोनों तरफकी मिलाकर ६ हैं। एक छोटी-सी मूर्ति पाँचोंके बीचमें है। सब चित्रोंमें टोपीके समान टोप हैं। किसीके सिरपर पगड़ी या साफा नहीं है, यह ध्यान देने योग्य बात है।

भविष्यपुराणादिके प्रमाणसे यह प्रतिमा पूषा या सूर्यकी है। पूषाके दोनों हाथोंमें कमल होनेका ही लेख है। सिरपर करंड मुकुट, कानोंमें कुण्डल, गलेमें हार, रक्त वस्त्र (जिसमेंसे अङ्ग दीख पड़ें), हाथोंकी मुट्ठी, कमल पकड़े, कन्धेसे लगी होनेका उल्लेख है। कंधेपर यज्ञोपवीत भी चाहिये। सो सब है। इस मूर्तिमें डंडियों सहित कमल है। तीन कलियाँ बिना खिली हैं। हाथोंके पास कपड़ा (पटका) लिपटा दिखाया गया है। पर विचित्र वस्त्र और पाँवोंमें बूट हैं। कहा जाता है, सूर्यका अङ्ग चिट्ठ हो गया था; विश्वकर्माने उसे ठीक कर दिया। पाँवमें कमी रह गयी थी; अतः वहाँ

(पारसी), ई० ५७० गंग (प्रवर्धमान विजयराज्य), ई० ८२४ कोलंब, ई० ७७८ नेपाल, ई० १,०७६ चालुक्य, ई० १,०७६ जलाली, ई० १,११३ सिंह, ई० १,११६ लक्ष्मण, ई० १,२२६ आदिलशाही, ई० १,३४१ पैहुवैत, ई० १,३४३ सू, ई० १,४२२ कपिल, ई० १,४२२ इलाही, ई० १,६७४ शिव, ई० १,६२३ तुलसी, ई० १,८२४ दशानन्द, ई० १,६१० रूसी क्रान्ति। इनके सिवा कुछ और सत् भी हैं, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं है। —"गङ्गा"-सम्पादक।

ढाक दिया गया है। सूर्यके पाँव देवने और पूजनेका निषेध है। उत्तर भारतमें इस प्रकारकी पड़ी और वृत्तसे ढके पाँवकी प्रतिमाएँ मिली हैं।

इसमें नवो ग्रह हैं। प्रथम सिंहासनाखंड चन्द्र हैं। हाथमें कुमुद, आभूषण पहने, सोनेका जनेऊ धारे, पताका लिये, दोनों स्त्रियोंके सहित हैं। मंगल अंगार-समान हैं। बुध सिंहासनाखंड हैं। वृहस्पति कम-पण्डित पुस्तकधारी हैं। शुक्र सबके बीचमें हैं। एक हाथमें पुस्तक और एकमें निधि है। शनैश्चरका काला रंग, काले वस्त्र, सिरपर करंड मुकुट, नाना आभूषण भूषित, एक पाँव लँगड़ा और शरीर छोटा दिखाया गया है। सूर्य नवग्रहोंमें मुख्य हैं। राहु सिंहासनपर हैं; खेटक धारे, एक हाथ खाली और एकमें कम्बल या पुस्तक है। केतुके सिरका भाग केतु माना जाता है। वही यहाँ दिखाया गया है। यहाँ हाथ सहित धड़ सिर-सहित है। सबके सिरोंपर टोपके समान मुकुट और सब भूषण-धारी हैं।

केतुसे नीचे दायीं तरफ विष्णु हैं, जिनके एक हाथमें शङ्ख, दूसरेमें गदा है। इनके सामने दायी तरफ ब्रह्मा हैं, जिनके हाथमें गदा, या श्रुक् जान पड़ती है। इनके ही नीचे दायीं तरफ शिव हैं, जिनके हाथमें खट्वाङ्ग है। खट्वाङ्ग भुजा या टाँगकी हड्डीसे बनता है, जिसके सिरपर मनुष्यकी पोपड़ी जोड़ी जाती है। यह दो शस्त्र, शूल और खट्वाङ्ग, शिवके प्रिय हथियार हैं। इनके मुकाबले दायीं ओर जो प्रतिमा है, हमें नहीं समझ पड़ी। इससे नीचेकी दोनों प्रतिमाएँ धनुर्गण लिये हैं। दायें निशुभा और दायें राशी है। यह सूर्यकी प्रतिमाएँ हैं।

पाँवोंके पास, दायें-दायें, दोनों पिनारोंपर

घोड़ेके मुखवाले दोनों अश्विनीकुमार हैं। इनके हाथमें औषधि है। इनके बाद दोनों तरफ वीचमें यम हैं, जिनके सिरपर मनुष्यके चेहरेका आकार बना है। हाथमें खड्ग हैं। यमके सिरपर मनुष्य-कपालका ही टोप है, जो उसका खास निशान है। आड़ा तिलक केवल पुजारीकी कृति है। दायीं तरफ पिगल अग्नि स्तंभके अग्रतार हैं, जिनके टोपसे विचित्र अग्नि शिखा निकल रही है। दाढ़ी भी मालूम पड़ती है। हाथमें कलम है। एकमें लम्बा कागज है, जिसपर नागरी अक्षरमें "आदिदेव" लिखा है। हमने यह अक्षर गौरसे पढ़े हैं। यह नागरी भाषाके वर्तमान अक्षरोंके समान हैं, इसपर मुझे शक है। कई लोगोंने यह बताया है कि, यह अक्षर हमने उसी समय देखे थे, जब कि यह पुजारीके मन्दिर, देवीके स्थानमें, लायी गयी थी। अक्षर प्रतिमाने अनुरूप सुन्दर नहीं हैं। कुछ छिल्लेसे निशान भी हैं; अतः मुझे इनपर कुछ सन्देह बना हुआ है। दायीं तरफ, पाँवके पास, हाथमें सुन्दर दण्ड लिये कार्तिक हैं। दण्डका आकार सुन्दर है। २३ वी छोटी पतलीसी अन्तिम प्रतिमा दोनों पाँवोंके बीचमें है, इसे भी हम नहीं जान सके हैं। हम इसे सूर्यका सारथि अरण कहते हैं। परन्तु इसकी छातीके उभारोंका आकार इसे जनाना सिद्ध करता है, जो शायद सूर्यकी पत्नी छाया हो। सारी प्रतिमाओंको भूषणोंसे सजाया गया है। भुजापर पाजूनन्द हैं, जो अधिकतर सिद्धके चेहरेके हैं। सूर्यकी भुजापर यह साफ नजर आ रहे हैं।

रुष्ण पुत्र साँवको कुछ हुआ था। उसने चन्द्रमागापर साँवपुर बनाया; और, वही एक बड़ा सूर्यका मन्दिर बनाकर उसमें सोनेकी सूर्य प्रतिमा स्थापित की। भारतके प्राच्यगणोंने सूर्यकी पूजामें

इनकार किया। नारदको सम्मतिने शाकद्वीप (फारस) से १८ कुत्रोंके घालक लाये गये, जिनमेंसे ६ को यादवोंकी फन्या प्याही गयी, और, उनको सन्तान 'मग' फहलायो। याकोने शक फन्या

प्याही, और, गह 'भोजक' फहाये। उर्मी समयसे यहाँके प्रातण पुजारीपन तथा सूर्य-पूजाका नियम फर चुके थे। इन प्रतिमाको विष्णु-प्रतिमा यननेका यही कारण हुआ है।

मद्रासका गवर्नमेंट म्युजियम

या० श्रीमद्भागवतप्रवाद यगां

सर्वप्रथम, सन् १८१६ ई० में, मद्रासमें संग्रहालय (म्युजियम) गोलनेकी घात चली। इस वर्षों-तक इसे कार्यरूपमें परिणत करनेकी चेष्टाएँ होती रहीं। सन् १८३० ई० में मद्रास-प्रायद्वीपके अनुसन्धानकर्त्ताओं द्वारा संगृहीत बहुमूल्य सामग्रियोंको एक स्थानमें सुरक्षित रखने और उनसे विज्ञान-सम्बन्धी रोजोंमें सहायता मिलनेकी आवश्यकताका अनुभव ईस्ट इंडिया कम्पनीने किया। मद्रासकी तत्कालीन लाइब्रेरी, सोसायटी तथा रायल एशियाटिक सोसायटीकी शाखा द्वारा भेंटमें दिये गये संग्रहोंको उसने सहर्ष स्वीकार किया। सन् १८५१ ई० में मद्रास-सरकारको, एक संग्रहालयकी नींव डालनेकी शर्त्तपर, कम्पनीने अयतककी संगृहीत वस्तुओंको दे डाला। इसी साल लन्दनमें होनेवाली विश्व-विधुत प्रदर्शनीमें यहाँकी कुछ बहुमूल्य निधियाँ भेजी गयी थी, जिन्हें प्रदर्शनीके अधिकारियोंने बड़े चावसे अपनाकर, मद्रास सरकारको इस ओर विशेष प्रोत्साहित किया। फलतः इसी साल, सेंट जार्जके किलेमें, म्युजियमकी स्थापना भी हो गयी। संगृहीत सामग्रियोंकी बहुलताके कारण, सन् १८५४ ई० में, पेंथियन रोडपर

म्युजियमका स्थान-परिवर्तन हुआ। तयसे संग्रहालयका स्थायी भवन यहीं है।

प्रतिवर्ष रोजकी सामग्रियाँ अधिकाधिक बढ़ने लगीं। बड़ी सुस्तीदीके साथ अन्यान्य उत्साही विठानोंने हाथ बँटाया, और, संग्रहालयकी पुरानी इमारतसे लगा हुआ एक नया भवन बना। पुरानी इमारत और नये भवनके बीचमें ही कोन्नेमरा सार्वजनिक-पुस्तकालय (Connemara Public Library) का भी जन्म हुआ। तयसे इन नये-पुराने-दोनों भवनोंको आवश्यकतानुसार, संग्रहालयके अधिकारी, बढ़ाते ही रहे हैं। इस प्रकार पूरा संग्रहालय पुराने और नये—दो भवनोंमें बँटा हुआ है।

संग्रहालयके पुराने भवनोंमें पुरातत्त्व, प्राणिविज्ञान तथा उद्भिद्बिद्या-सम्बन्धी तीन विभाग हैं। नये भवनमें कला, उद्योग-धन्धा तथा नृवंशविद्या-सम्बन्धी संग्रह, प्राचीन शास्त्रास्त्र, प्रागैतिहासिक तथा मूल प्रारम्भिक इतिहास-सम्बन्धी वस्तुएँ हैं। इस नये भवनसे संलग्न संग्रहालयकी चकूता और अभिनय-शाला है, जिसमें, समय-समयपर, शिक्षा-सम्बन्धी अभिनय किये जाते हैं। इसकी विधायिका मद्रास सरकार है।

पुरातत्त्व-विभागमें मुख्यतः जैन, बौद्ध और हिन्दू-शिल्प-कला-सम्बन्धी संग्रह है। संगृहीत वस्तुओं में सबसे महत्वपूर्ण हैं बौद्ध स्तूपों में मिली छोटी-छोटी बहुमूल्य चीजें, जिनमें अमरावती (भुल्लूर जिला) की, ईसासे २००-२५० वर्ष पूर्वतक की सामग्रियाँ, विशेष महत्त्वकी हैं। ईसासे पूर्व २०० वर्षकी भट्टीपोलूकी सामग्रियोंमें विलौर पत्थर (स्फटिक) की डिबिया है, जिसमें एक अस्थिका टुकड़ा पाया गया है। लोग उसे गौतम बुद्धकी ही अस्थि समझते हैं। यह अस्थि स्फटिककी डिबियाके साथ कलकत्ता-स्थित महारोधि सोसायटीको, सन् १९२२ ई० में, भेंट कर दी गयी। इस विभागकी अन्यान्य उल्लेखनीय सामग्रियोंमें दक्षिण भारतके मन्दिरोंके चित्र हैं, जिनसे प्राचीन द्रविड़-वास्तुविद्या पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त पत्थरकी छोटी-छोटी चैण्य तथा शैव मूर्तियाँ, अनेक बहुमूल्य साग्रपत्र तथा दक्षिण भारतीय राजवंशों और ईस्ट इंडिया कम्पनीकी कई प्राचीन मुद्राएँ भी हैं।

शास्त्रास्त्रोंकी गैलेरीमें अधिकांशतः तंजोर-राजप्रासादके शास्त्रागार और सेंट जार्ज किलेके भाँति भाँतिके हथियार सुसज्जित और सुरक्षित हैं। कई तरहकी तोपों और बन्दूकोंके अतिरिक्त बहुतसे

दक्षिण भारतीय हथियार भी हैं, जिनपर अच्छी नकाशीके काम हैं।

दक्षिण भारतीय धातु-मूर्तियोंमें कई बोल-शासनकालकी हैं। ताण्डव नृत्य करते हुए नटराज (शिव) की मूर्ति और राम, सीता, लक्ष्मण तथा हनुमान्की मूर्तियाँ देखने ही योग्य हैं। नेगापट्टममें प्राप्त कई सुन्दर बौद्ध-मूर्तियाँ भी यहाँ रखी गयी हैं। यहाँकी धातु-मूर्तियोंका संग्रह भारतमें सर्वोत्तम है।

यह संग्रहालय ग्रेट ब्रिटेनके संग्रहालयोंके संग्रहका एक सदस्य है। शुकसारको छोड़कर अन्य सभी दिन यह, जनसाधारणके लिये, ७ बजे प्रातःकालसे ५ बजे सन्ध्यातक खुला रहता है। प्रति मासके प्रथम शनिवारको, १२ बजेके बाद, पर्यटकों और स्त्रियोंके लिये खुला रहता है। प्रति दिनके आगन्तुकोंकी औसत संख्या ६०० है।

एफ० एच० ब्रेड्लो, डॉ० एस-सी० महोदय म्युजियमके वर्तमान सुपरिण्डेंट हैं। सभी विभागोंकी देख रेख ये ही करते हैं। पुरातत्त्व विभागके सहायक कार्यकर्त्ता श्रीयुक्त रामचन्द्रन एम० ए० हैं। मुद्राविद्या-सम्बन्धी विभाग (Numismatic Section)के लिये भी एक अलग सहायक कार्यकर्त्ता हैं।

पटनेका संग्रहालय

आ० लक्ष्मीनारायण दी० ए०

पटनेके संग्रहालयका प्रारम्भ ब्रह्म कालसे है। विहार और उड़ीसाके एक भिन्न प्रान्त बननेके तीन सान पचास, १८१६ ई०के जुलाईमें, एक बमिटी प्रान्तीय संग्रहालयके गैलरीयोंके निमित्त, एक प्रयासीनिमित्त बनेके लिये, नियुक्त हुई, जिसकी रिपोर्ट सदी वर्षके बाद १८५२ ई०में प्रकाशित

हुई थी। किन्तु, भवननिर्माणका प्रथम आर्थिक इतिहासकारण, स्थगित रहा। उसी समयसे संग्रहालयकी सामग्रियोंका संग्रह धारण हुआ और यह ठिकानेसे रखी जाने लगी। फर्ना-डाईकोर्ट-मनके सटे उत्तरवाले मकानके नीचेके तल्लेमें बह रही जाने लगी। सन् १९१३ ई०की ३ ही अप्रैलमें राय

बहादुर शाहन्द्राय एम० ए०, बी० एल० इसके अध्यक्ष नियुक्त हुए और इनी तिथिसे पटना-संग्रहालयका जीवन प्रारम्भ होता है।

राय बहादुर शाहन्द्रायने इस पदसे ता० १० अप्रैल १९१८ ई०को इस्तीफा दे दिया। उनके स्थानापन पटना कालेजके प्रोफेसर जे० एन० समादर बी० ए० हुए; और, इसके पश्चात् राय साहब मनोरंजन घोष एम० ए० ने ४ थी अक्टूबर १९१८ को चार्ज लिया, जो अवतक इसके अध्यक्ष रहे।

इस संस्थाके सर्व-प्रथम सभापति आनरेबुल मिस्टर ई० एच० सी० वाल्स थे, जिनके पश्चात् आनरेबुल सर एच० मेकफर्न हुए। इनके पश्चात् आनरेबुल मिस्टर एल० एफ० मोर्टेड हुए। उपर्युक्त दोनों सभापति बोर्ड-ऑफ-रेवेन्यूके सदस्य भी थे। इनके पश्चात् पटना हाईकोर्टके जज आनरेबुल जस्टिस सर जान ए० बर्नल, ४थी अप्रैल १९२१से अपनी मृत्यु ता० ५ वीं अक्टूबर १९२६ ई० तक, सभापति रहे। इनके पश्चात् बेरिस्टर मिस्टर पी० सी० मानुक् अपने इस्तीफेक सभापति रहे। मिस्टर मानुक्का स्थान १२वीं जून १९३० से बा० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए० (Oxon) ने ग्रहण किया है। इन दिनों जायसवालजी ही सभापति है।

मिस्टर पी० सी० मानुक्के सभापतित्व-कालमें ही पन्नेके संग्रहालयका नया भवन निर्मित हुआ और ७ वीं मार्च १९३६ ई०को प्रान्तीय गवर्नर सर ह्यूस्टीफेसनके द्वारा यह भवन खोला गया।

यह नया भवन राजपुत-मोगल-समयकी शिल्प-शैलीके ढंगपर बना है और इसमें कुल ३,२०,००० रुपये लगे हैं। यिनमें भवनके तीन भाग दीख पड़ते हैं।

संग्रहालयमें दीवारोंके मध्य भागोंमें और टेबुलोंपर सामग्रियोंके रखनेके स्थान हैं। इस संस्थाके निम्न लिखित विभाग हैं—(१) पुरातत्त्व, (२) भूगर्भ, (३) प्राणिज, (४) कला-कौशल, (५) व्यवसाय, (६) प्राचीन कालके शस्त्रादि और रथ-चिह्न। पुरातत्त्व-विभाग दो भागोंमें बँटा हुआ है—मुद्रा-विभाग और अभिलेख-विभाग। इस विभागका संग्रह सिक्के और अन्य दो वस्तुओंके साथ दो शालाओं (Hall), पाँच कोठरियों और संग्रहालयके बरामदेमें है। इसमें सबसे चित्ताकर्षक वस्तु एक स्त्रीकी मूर्ति है, जो दीदारगंज (गंगा-तटपर) से १९३०में पायी गयी थी। यह बलुआ (जुगार) पत्थरकी बनी है और ऊपर मौर्यकालीन पालिश है। यह मूर्ति एक चौरीको धारण किये हुए है। गढ़ाईकी उत्पत्तिमें और भारतभरके संग्रहालयोंकी कोई भी पत्थरकी मूर्ति इससे अधिक सुन्दर नहीं है। स्त्री साड़ी पहने हुई तथा चदर ओढ़े हुए है, कलाई और पाँवमें जेवर तथा नलेमें एक माला और अनेक शिरोभूषण लगे हैं। वक्ष-भागके भागसे ऊपरका हिस्सा कुछ झुका हुआ है और मूर्तिकी भावभंगी नेत्राकर्षक है। बुलन्दीबागसे प्राप्त अतिप्राचीन कालका स्तम्भ है, जिसका निम्न भाग घटाकार है। इसी सुन्दर वस्तु एक त्रिभुजाकार पत्थर है, जो पन्नेके दरगाहसे प्राप्त हुआ है और जिसपर ब्राह्मी लिपिमें अतिप्राचीन चिह्न भी हैं। गान्धार-शिल्पशैलीकी वस्तुओंके अतिरिक्त कुछ लड़ीसासे मध्ययुगकी मूर्तियाँ और तीन हस्तकोल (गंगा) की मूर्तियाँ हैं, जिनमें दो बोधिसत्वकी और एक बुद्धदेवकी मूर्ति है। प्राचीन कालकी सुन्दर वस्तुओंमें विदार-शरीफसे प्राप्त एक स्तम्भ भी है, जिसपर स्कन्दयुगके कालका शिलालेख है। यह बरामदेमें रखा हुआ है। अन्यान्य वस्तुओंमें मिट्टीकी मुद्राएँ हैं, जो बसाद-से प्राप्त हुई हैं। नीचेके तलेमें एक बड़े दालानमें प्रागैतिहासिक युगके पत्थरके ब्रह्म हैं। वहाँ प्रस्तर और लौह, दोनों युगोंकी वस्तुएँ हैं और ताँबेमें मड़े कुल्हाड़े की संगृहीत है। भरहुत (बघेलखण्ड) की बेश्नीकी नकल, जो सिमेंट और पेरिसकी मिट्टीसे बनायी गयी है और त्रिखटा असली रूप इस समय भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) में है, रानी

है। बोधगयाके स्मारकोंकी गणना भी दर्शनीय है। ३१० स्तूप द्वारा की हुई पटलिपुत्रकी खोदाईसे मनोहर मिट्टीके सचिकी डली मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें एक स्त्रीका शिरोभाग एक देवता हुआ बालक और एक सर्पक। सम्पूर्ण भाग विनोद दर्शनीय है। पत्थरकी खोदाईसे भी, जो ३१० ए० पी० बननी शारीने सम्पादित कियी थी, बहुत ही सुन्दर सचिकी डली मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें ऊँचे-ऊँचे शिरोभूषण हैं। वर्तमान अभ्युत्थाने इन्हीं प्रकार सचिकी डली एक पुष्प-मूर्ति पायी थी। राम साहब मनोरंजन पोपने पुनर्दीर्घागकी खोदाई करायी थी। उसमें इनको कट्टिनिर्मित एक सुगम वेदी हा प्राप्त हुई थी, जेही रि, कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें वर्णित है। राम साहब द्वारा की गयी अन्तिम खोदाईसे दो और सुन्दर स्त्रीकी मूर्तियाँ मिली थीं। इधर इज्जत पीतलकी मध्ययुगकी जैन-मूर्तियाँ भी मिली हैं। रामायणके दृश्योंकी दिखानेवाला एक (चतुर्कोण धातुका) टुकड़ा वर्तमान अभ्युत्थाने चौपायों में मिला था। यह बलाका एक सुन्दर नमूना है और पुनः कालका बना हुआ है।

इस संग्रहालयके पास सुवर्ण और पीतलकी मूर्तियोंका भण्डार समग्र है, जो बुकिंशर (गया जिले) से मिली हैं, और, जिनमें बुद्ध, बोधिसत्व तथा मोक्ष देवताओंकी मूर्तियाँ

हैं। इनकी विराट् व्याख्या तब की जा सकेगी, जब गवर्नमेंट द्वारा यह चीज प्राप्त होगी।

मुद्रा-विभागमें प्राचीन कालसे मोगल कालतकके सोने, चाँदी और ताँबेके सिक्कों की भण्डार समग्र है। बादशाह जहाँगीरका बड़ मोनेक सिक्का भी है, जिसमें मद्रिदायान अंकित है और ओ बहुत ही दुर्लभ है। यहाँ शिलालेखोंका, बहुत प्राचीन कालके प्रसिद्ध लेखोंका, समग्र भी है। प्रसिद्ध खानखेल शिलालेखकी प्रतिलिपि और उसीसे भ्रष्ट राजाओंके सामन्य भी यहाँ मौजूद हैं। प्रागैतत्त्व विभागमें सचिकी डली और सुवर्ण के दो चित्र हैं। उनके हथियार, भूषण तथा गानेकी सामग्रियाँ भी हैं।

भूतत्त्व विभागमें सबसे अधिक चित्ताकर्षक वस्तु एक प्रसारीभूत वृक्ष (fossil tree) है, जो आसन्ननोलमें पाया गया था। यह १४ फीट लम्बा तथा प्राचीनतामें सत्तराई प्रपत्ता तीसरा नम्बर रखता है। इस विभागमें भिन्न-भिन्न प्रकारके धातु-वर्षा और पत्थर हैं, जो वैज्ञानिक दृष्टिसे सुसज्जित हैं।

कला विभागमें राजपूत और मोगल-कालके सुन्दर और शरीर चित्र हैं। मिस्टर मानुकेने, म्युजियमको, एक फारस-देशीय खरबू (tile) और बगीचेके दृश्यका चित्र भी दिया है

प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, यम्यई (पुरातत्त्व-विभाग)

श्री ३१० ए० पी०, ए० १६०, ए० १६०, प्रिन्सिपल क्लर्क

इस म्युजियमके पुरातत्त्व विभागमें, सबसे पहले, दो चीजें ही रखी गयी थीं। इनमेंसे एक पुनः पुनः सप्त-शतकसे और दूसरी शायद ऐशियाटिक सोसायटीकी स्थानीय शाखाकी कृपासे मिली थी। सन् १९०६ ई० में जब इस विभागके लिये सप्तशतकसे सज्ज भवन बना,

तब इस प्रान्तके भिन्न-भिन्न जिलोंसे सामग्रियाँ यहाँ समृद्धित होने लगीं।

यह विभाग पाँच गैलरियोंमें बँटा हुआ है। सबमें प्रवेश करनेपर ज्यों ही दर्शक दायीं ओर मुड़ता है, व्यों ही उसे एक बड़ा हाल मिलता है, जिसमें केवल प्राकृत-

मूर्तियाँ ही मजी-मजायी रची हुई हैं। कठ, पाथर और पीतलकी सभी मूर्तियाँ त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश-की दृष्टिमें अलग-अलग रची हुई हैं।

चार यद्दे-यद्दे दृष्टके तस्वीरदार चौखटें, जो शायद बीजापुर जिलेके बादाभीवाली गुफाओंसे लाये गये थे, गैलरीके प्रवेश-द्वारों (पूर्व और पश्चिम) की दीवारोंमें लगे हुए हैं। इनमेंसे एकमें कमजोर बैठे हुए ब्रह्मा, दूसरेमें शेषशायी विष्णु तथा तीसरे और चौथेमें सपरिवार महादेव हैं। तीसरा और चौथा भवनके सुएय दोनों प्रवेश-द्वारोंमें लगे हैं। यह प्रारम्भिक (१ वीं) और छठी सदियों का लुप्त-व्य-चित्रकलाके सर्वश्रेष्ठ एवं अत्युत्तम नमूने हैं। इनके बाद चतुर्मुख ब्रह्माकी ऊर्ध्वकायप्रतिमा (*bust*), भगवान् विष्णु, मदिपासुरमदिनी (शक्ति) और पार्वतीकी मूर्तियोंका स्थान आता है। ८वीं सदीकी हाथी-गुफाओंसे यह ब्राह्मण-सामग्रियाँ मिली हैं। यह मूर्तियाँ इस खूबीके साथ बनी हैं कि, देखते ही पड़गानी जा सकती हैं। गुजरातसे जितनी मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें प्रायः अधिकांश १२वीं और १३वीं सदियोंकी हैं। वरुणकी मूर्ति यही सुन्दर है। वे दायाँ ओर अपनी खी लिये मकरासीन हैं। मूर्तिमें दायाँ ओर मेघ और दायाँ ओर पाशकी ऐसा सुन्दर और स्पष्ट दिखलाया गया है कि, मूर्तिको वरुणकी मूर्ति माननेमें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। गुजरात-कलाकारोंने अपनी देव-मूर्तियोंमें वह कौशल दिखलाया है कि, उनमेंसे देखते—देखते सौन्दर्य और आकर्षण—भरा हुआ जान पड़ता है। इन दक्षिण-भारतीय मूर्तियोंकी रूपरेखा शोलापुर और धारवार जिलोंकी ११ वीं सदीकी मूर्तियाँ कहीं अधिक कलापूर्ण और सुन्दर हैं—मूर्तियोंके अन्तर्धर्ममें उत्कृष्ट कलाकारकी आभास देख पड़ता है। इन्हें देखकर मूर्ति-पूजकोंके हृदयमें सदा भक्ति के भाव उदित होते हैं सदा, किन्तु गुजरातकी देव-मूर्तियोंकी भाँति इन देवी सौन्दर्य-का हम अभाव पाते हैं।

बीचके चार ऊँचे-ऊँचे स्थानोंमेंसे एकमें पीतलकी मूर्तियाँ समायी हुई हैं। इनमें अधिकांश मूर्तियाँ दक्षिण भारतकी हैं। वैष्णव-मूर्तियोंका दख पूर्वकी ओर और शैव-मूर्तियोंका पश्चिमकी ओर है। इन पीतलकी मूर्तियोंका प्रचलन पाँचवों या छठी सदीसे आरम्भ हुआ था, जब दक्षिण भारतमें बौद्ध धर्मका खूब दौरावा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, आदिकाननमें ब्रह्मचारी और पत्नी मिट्टी-की मूर्तियाँ पश्चिम भारतमें और पाथरकी मूर्तियाँ पूर्वमें, सदा रूप या अनुष्ठानादिके लिये, व्यवहृत होती थीं। देशमें बौद्धधर्मका प्रमुख उठ जानेपर भी पीतलकी वैष्णव और शैव—चक्र-विग्रह और उरसव—मूर्तियाँ, हिन्दू-जनतामें सना-तनधर्मका प्रचार करने और हिन्दू-धर्मके महोत्सवोंके अवसर-पर, यात्राओं (जलमों) में घुमानेके लिये, अधिक व्यवहृत होती थीं। सनातनधर्मके प्रचारक ऐसी मूर्तियाँ सदा अपने साथ रखते और हिन्दू-जनतामें उन्हें दिखा-दिखाकर हिन्दू-धर्मका महत्त्व बतलाया करते थे।

इन पीतलकी मूर्तियोंकी ठालनेके लिये, उन दिनों, जाड़ या मोमसे साँचे बनाये जाते थे; और, इस कारण, कलाकार साँचोंमें अपनी पूरी मूर्तिनिर्माणकलासे काम लेनेमें समर्थ हो सकते थे। वे अपने मँजे हुए हाथोंकी सहाय्य दिखानेमें कुतर्क्य होते थे। यही कारण है कि, भारतीय कलाके ये सर्वोत्कृष्ट नमूने, देश-विदेशोंमें भी, प्रशंसाके पात्र हो रहे हैं। दक्षिण भारतसे प्रायः जितनी पीतलकी सुन्दर देव-मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें नटराज, सोमम्भन्ध, परमेश्वर और पार्वतीकी मूर्तियाँ अपना सानी नहीं रखतीं।

बीचके बाकी तीन खानोंमें विभिन्न कालकी पूजाकी धातु-सामग्रियाँ—दीर, दीपाधार, मूर्तितल (चौकी) आदि—रची हुई हैं।

पाषाण-शिलाके लिये कोई खास गैलरी नहीं होनेके कारण, कभी कभी बहुमुख्य ताम्रपत्र, इसी गैलरीमें

उत्तरी और टेनुच-केओमें, कालकमानुषार, राजाकर रखे हुए हैं। इनमेंसे कुछ तो स्थानीय राज्य पश्चिमाटिक सोसायटीसे उधार लिये गये हैं और कुछ को संप्रदायने खुद खरीदा है। इन ताम्ररत्नोंमें प्राणगणों, शिवालयों तथा धार्मिक संस्थाओंमें दिये गये वस्तुओं के उल्लेख हैं। इन दानरत्नोंमें सबसे प्राचीन (४५६ और ४६० ई० के) दानपत्र हैं त्रैकृत्य-शासनकों, जो पर्दा और सूरतमें मिले हैं।

यह ज्ञान के उत्तर-पश्चिम की ओर जो छोटी कोठरी है, उसमें केवल प्राचीन कुछ सामग्रियाँ ही रखी जाती हैं। गुप्तावधि के एक प्राचीन जैन मन्दिरमें प्राप्त सुन्दर चित्रकारी किया हुआ, जो कुछ बड़ा धरा है, उसे सरकारी पुरातत्त्व-विभाग के डायरेक्टर जनरल महोदयने ही भेंटमें दिया था।

काफी जगह होने के कारण, इस गैलरीमें कई प्रकार के सन्दर्भ हैं, जिनसे प्राचीन कला-कौशल एवं वस्तु निर्माण-विधापर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

दायाँ ओर की दीवार के पास केवल प्राचीन जैनमूर्ति-विधा के ही नमूने रखे गये हैं। इनमें सबसे मुख्यवान् वस्तु मधुरास्थित जैन-स्तूप के "क्रास बार" और कुछ मूर्तियों के शिरोभाग हैं, जिन्हें लखनऊ संग्रहालयने भेंट-स्वरूप प्रदान किया है। लिखमें मिली १२ वीं सदी की, खेत संगमरमरी की खुदी मूर्ति तथा खानदेशसे मिली पीत-लकी सुन्दर मूर्ति, दोनों ही, इस गैलरी के बहुमूल्य संग्रह हैं। खानदेशवाली मूर्ति की पीठपर जो उल्लेख खुदा है, उसे देखनेसे पता चलता है कि, वह ११ वीं सदी की है।

बायेंके दो खानों और उत्तर ओर की दीवार के खानोंमें दक्षिण भारत के प्राचीन मिट्टी के घर्तानों का संग्रह है। चरम्पाधान मिट्टी (Necropolis Pottery) की यह वस्तुएँ मद्रास संग्रहालयने भेंटमें मिली हैं। इनमें कई पात्र तो हूतने योग्य हैं कि, उनमें मनुष्य शरीर की सारी दृष्टिपूर्ण चीजें सकती हैं, किन्तु कई ऐसे भी हैं कि, उनमें छोटी से छोटी दृष्टि भी नहीं चोट सकती। ज्ञान पड़ता है

कि, ऐसी वस्तुओंमें पड़के भरे हुए लोगों की सारी दृष्टियाँ या एक साथ दृष्टि ही रखकर यह जमीनमें गाढ़ दी जाती थीं। ऐसी (शव के बजा जानेपर ग्रन्थि-सञ्चय कर तथा अन्नग किन्ती वस्तुमें रखकर गाढ़ देने की) प्रथा आज भी इस देश के हिन्दुओंमें वर्तमान है। गैलरी के उत्तर पूर्व के कोनेमें, थोड़ा बड़े खानेमें, दृष्टिमाने भरा मिट्टी का एक पैसा ही "ग्रन्थि-धान" है। डाक्टर सर जीवन्तो जमशेदजी मोदी इसे फारसमें लाये थे। इसका आकार देखनेसे तो ज्ञान पड़ता है कि, इसमें शव नहीं छूट सकता। सम्भव है, शव की कुछ दिनोंतक सूख या रक्त जानेपर ही उसकी दृष्टियाँ इसमें रख दी जाती हों। यह प्रथा जर्मन धर्म के माननेवालों (Zoroastrians) में आज भी वर्तमान है।

इसी कोठरीमें, पश्चिम ओर, दीवारसे लगे हुए, चरम्पाधान पट्टियोंपर असीरिया की तथ्यकला के सगमरमरी नमूने सजाये हुए हैं। यह बहुत बड़े बड़े और बड़ी हैं। आसरे ३००० वर्ष पूर्व असीरिया देशीय कला के यह शेष संस्मरण चिह्न हैं। इनमेंसे अधिकांश, असीरिया के राजा शसुर नसीरपाल द्वितीय (ई० पू० ८८३-८५८) के समयके हैं, जिसके शासनकालमें उस देश की कला उन्नतिकी चरम सीमाको पहुँची हुई थी।

इनमेंसे अधिकांश, मोललकी सन् १८५४ की खोज-ईमें, तत्कालीन बगदाद के गवर्नर सन जॉर्ज ब्रज्जको मिली थी। उन्होंने तो इन्हें स्थानीय (बगदाद के) राज्य पश्चिमाटिक सोसायटी को भेंटमें प्रदान किया था, किन्तु संरक्षक लयने सोसायटीने बगदाद लेकर इन्हें अपने यहाँ रखा है।

दायाँ ओर से सर्वप्रथम तीन भगमरमरी पट्टियोंपर वेदल और रथोंमें बैठकर आपसमें युद्ध करते हुए दलों के चित्र यहाँ हैं, वे हाथों धनुर्बाण लेकर लड़ रहे हैं। शेष पट्टियोंमें कुछपर राजा शसुरनसीरपालका चित्र सुझा है और कुछमें पक्षदार घोषाक परने हुए पुत्तारियों का।

असीरियाके पुजारी उन दिनों विशेष धर्मोत्सवके अवसरों-पर ऐसा ही वस्त्र पहना करते थे । एकमें एक नकाबपोश पुजारीका भी स्वरूप है, जिसके माथेपर एक चिड़िया बैठी हुई है, पुजारी खजूरेके पेड़को फलान्वित करनेके निमित्त अनुष्ठान करते दिखाये गये हैं । छठी और ग्यारहवीं पट्टियोंमें सुन्दर और आकर्षक चित्र हैं । इनमें राजा असुर नसोरपाल, हाथमें पाँच कर्नाखयोपाली एक टहनी लिये, दिखलाया गया है । अन्तमें जो दो पट्टियाँ है, उनमें एकमें एक मनुष्य अपने बायें हाथमें एक बकरा लिये ~ शायद बलिके लिये- जा रहा है । चौथी और सातवीं पट्टियोंमें शिलालेख भी धोनेके कारण विशेष मूकवान् एवं महत्वपूर्ण है । शिलालेखकी लिपि असीरियाकी प्राचीन लिपि जैसी है । इन शिलालेखोंमें या तो उपयुक्त राजाके गुणगान गाये हैं या मूर्ति सम्बन्धी पट्टियोंमें खुदे हुए चित्रोंके वर्णन हैं ।

मिश्रदेशीय दो चित्रपटोंमें दो मनुष्योंका परस्पर आलिङ्गन दिखलाया गया है । इनके अतिरिक्त कुछ काष्ठ, कुछ पद्यमृत्तिका (*Ter racolla*) और कुछ पद्यवेस्टर (*Alabaster*) * पापाणकी यनी प्राचीन वस्तु भी है, जो नील नदीकी उपत्यकाओंमेंसे प्राप्त हुई हैं । इन वस्तुओंमें तरह तरहकी मूर्तियाँ, शोषाधार और साम्यज्ञाकारकी सुहरें हैं ।

पञ्चवीं सदीके कुछ मण्डोदक चित्र (*Fresco painting*), पनाके कोट्टरवादाकी दीवारोंसे, मिले हैं । गैलरीकी दक्षिणी दीवारके स्थानमें यह चित्र सजाये हुए हैं । चित्रमें भगवान् विष्णुके भिन्न भिन्न अवतार दिखलाये गये हैं ।

बिस्फी भी व्यक्ति या राष्ट्रीय सम्प्रदायको, उन्नति प्रमाणात्सार, कई अवस्थाओं या युगोंको पार करना पड़ता है । भारतीय सम्प्रदायकी अवतककी व्यवस्थाओं या

युगोंको चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है— (१) पेलियोलिथिक या आदिकालीन रुद्र पापाणयुग, (२) नियोलिथिक या परिष्कृत पापाणयुग, (३) आरम्भिक लौह-युग और (४) पाश्चात्कालीन लौह-युग ।

सम्प्रदायकी प्राथमिक अवस्थामें मनुष्य किसी भी धातुसे परिचित नहीं थे—यही नहीं, वे ऊबड़ खावड़ पत्थरों तकको काटने और चिकना करना नहीं जानते थे । वर्षोंके बाद उन्हें वह युक्ति सूझी, और, वे पत्थरोंसे हथियार तथा पाने-पीनेके बर्तन आदि बनाने लगे । आरम्भिक लौह-युगमें वे लोहको गलाने और उससे भिन्न भिन्न वस्तुएँ बनानेमें असमर्थ थे । पश्चात्कालीन लौह युगमें वे अनेक प्रकारके यन्त्रादि बनाने लगे और सोने, चाँदी तथा टीरसे परिचित हो गये ।

समूहालयके इस पुरातत्त्व विभागकी आदिकालीन रुद्र पापाणयुग और परिष्कृत पापाणयुगकी सामग्रियाँ कुछ एच० एस० कार महाशय द्वारा और कुछ लखनऊ तथा मद्रास समूहालयोंसे मिली हैं । इनके अतिरिक्त जी० ई० एल० कार्टर आर्० सी० एस० (पेशनवाफ्ता) महोदय द्वारा भी बहुत सी सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं, जिन्हें उन्होंने बड़े परिश्रमसे, इस प्रांतके भिन्न भिन्न स्थानोंसे, दूँव निकाला था ।

दो तल्लेपर, पायाँ और, बीड़ सामग्रियोंकी गैलरी है । बौद्ध सामग्रियोंको तीन श्रेणियोंमें बाँटा जा सकता है । दक्षिणी और, दोचारके पास, अमरावती (बि० गुंदा) स्थित स्तूपकी कलापूर्ण सामग्रियाँ रखी हुई हैं । अमरावतीका यह स्तूप, बेजवादासे ३० मील उत्तरी और, दृष्टानदीके तटपर, स्थित है । अमरावतीमें आम्भोंके जो सिंहे मिले हैं, वे सन् ११४—२०० ई० के हैं । अतः जान पड़ता है, स्तूप मौर्यकालमें ही बना था ।

गैलरीके भीषोषीच, मंत्रपर, जगमग पाँचवीं सदीके,

छोटे-छोटे स्तूप और पट्टियाँ, वर्ष तथा उन्नति-क्रमानुसार रखी हुई हैं। यह सामग्री मीरपुरखास (सिन्ध) के स्तूपों में से मिली है। कच्ची मिट्टी की भी दो-एक पट्टियों में स्तूप के नक्शे हैं, जिनके प्राचे भागों में, बुद्ध भगवान्‌को भिन्न-भिन्न रूपों में, दिखलाया गया है।

उत्तर की ओर दीवारवाले खानों [C1803] में ध्यान-सुझा में बैठे हुए बुद्ध भगवान्‌की चार (पक्षी) मिट्टी की मूर्तियाँ और मीरपुरखास के स्तूप-सम्वन्धी पाथर की साम-प्रियाँ रखी हुई हैं; और, बाकी जगहों में बौद्धधर्म-सम्वन्धी गान्धार की प्राचीन कलाकारी के नमूने हैं। इनमें अधिकांशमें, भगवान्‌ बुद्ध ने सम्वन्ध रखनेवाली भिन्न-भिन्न घटनाओं के दृश्य हैं। अभी हाल में, पेशावर संग्रहालय से प्राचीन तक्षणकला-सम्वन्धी जो ६२ वस्तुएँ लायी गयी हैं, उनसे इस संग्रहालयका महत्त्व बढ़ गया है। इनमें, कइयोंमें, जातक-कथाएँ चित्रित हैं।

इस गैलरी के अन्तिम छोरपर की एक कोठरी खासकर फारस और अरब के प्राचीन हस्तलेखों के लिये ही अलग कर दी गयी है। दीवार के केसमें, दिन्नू के प्राचीन हस्तलिखित दो लम्बे लम्बे प्रलिन्दे हैं। वहीं फारसी और अरबी के प्राचीन कवियों और लेखकों के हस्तलेख हैं। बीजापुर के आदिलशाहका लिखा हुआ "नौरस" नामक ग्रन्थ भी दूसरे केसमें सुरक्षित रखा गया है।

लिफ्ट की पासवाली तंग राह से होकर दर्शक इस स्थान पर पहुँचता है, जहाँ पुरातत्व-सम्वन्धी अग्रगण्य संग्रह हैं। कुछ ही वर्ष हुए, सिन्ध के कोर्सि-स्वर्णों से, जिनकी देख-रेख बराबर भारत सरकार करती है—विविध भाँतिके सुन्दर-सुन्दर स्वर्णों को दूँद खाने के लिये, इस म्युजियम में एक आफिसर भेजा। इन्हें गैलरी के पूर्वार्ध भागों में, क्रमानुसार, रखा गया है। इनपर कई रंग की मीनाकारी की गयी है, जो आज भी वासी मालूम होती है। इनमें कई पट्टियाँ ऐसी हैं, जिनपर चेन्नू-चूटे बड़े हुए हैं। इन्हें देखकर

हम उन दिनों के कुम्हारों के बुद्धि-वैचक्षण्य की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

जिस जगह ऊपर की पट्टियाँ रखी हैं, ठीक उनके सामने वाले दो टेबल-केसों में मिट्टी के वर्तकों के टुकड़े रखे हुए हैं। यह सामग्री सिन्ध-प्रदेश के भिन्न-भिन्न प्राचीन स्थानों से मिली है। इन्हें देखने पर पता चलता है कि, इस देश में मिट्टी के रंगीन वर्तन बनाने की कला कितनी अद्योगतिक हो गयी है। गैलरी की दूसरी ओर, दीवार के केसों में, बौद्धकालीन कुछ मिट्टी के वर्तन और खुदी हुई ईंटें रखी हुई हैं। यह सब वस्तुएँ माण्ड्याबाद, मीरपुरखास तथा सिन्ध की ओर जगहों की खोदाइयों से मिली थीं। वर्तनों में अधिकतर खाने-पकाने के ही वर्तन हैं। इनके अलावा दीवार और खिलौने हैं, जिनमें तरह-तरह के फल और जानवर दिखलाये गये हैं। इन वस्तुओं में पक्की मिट्टी का हाथी, सर्प-सम्वन्धी शिला-फत्रक (libation slab) और यदिया नकाशवाली कलसी अधिक महत्व की सामग्री हैं, जो यहाँ ही सुन्दर हैं। सिन्ध में ऐसी-ऐसी प्राचीन कलाकारी और नकाशों के नमूनों की कमी नहीं है। इन वस्तुओं में कितनी ही चौथी और पाँचवीं सदियों की बनी हुई हैं।

बायीं ओर के तीन टेबल-केसों में से आखिरवाले टेबल-केस में करामाती प्याले रखे हुए हैं, जो मिश्रित धातु के बने हैं। इनमें अच्छी नकाशी की गयी है, सभी निराले ढंग के हैं और सबमें कुरान के अक्षर और उद्धरण दिये हैं। इनके बारे में यह तारीख सुनी जाती है कि, इनमें पानी भरकर पीने से कई तरह के रोग और शिकायतें दूर हो जाती हैं।

बायीं ओर के बाकी दो टेबल केस प्राक्-इस्लाम काल की मूर्तियों और दक्षिण अरब की प्राचीन वस्तुओं के लिये रखे गये हैं। इनमें कुछ हिमेराइट जिपि (Hymerite character) में खुदे हुए हैं। इनका निर्माणकाल ई० पू० ८०० वर्ष से ई० पू० ६०० वर्ष बाद तक है, जिन दिनों

अरघपर सेवेन (*Saben*) और दिमेराइट राजाघोंका अधिकार था और जिन्हें पुरानमें "अभिमानके अवतार" कहा गया है । यह सामग्री हिल्ड, मर्ग या साया, अदन तथा दक्षिण-अरबके अन्य स्थानोंमें मिली है । सेंट जग (*Saint Zagh*) ऊँटपर सवार हैं और दोनों ओर स्वयंके पैले लटके हुए हैं तथा आगे-आगे नकीष दौड़ा जा रहा है । प्राक् इस्लामकालीन अरबके देवता, बाद और कई रखे और बैठे हुओंके बीच मिश्र-देशीय देवी सेवेत (*Goddess Sekhet*) की मूर्तिर्घा, कला और प्राचीनताकी दृष्टिसे, यही मूल्यवान् हैं ।

उपयुक्त गैलरीको पार कर जानेपर दर्शक सामने-वाली गैलरीके बरामदेमें पहुँचते हैं । यहीं भिन्न-भिन्न लिपियोंमें खुदे हुए शिलालेख संवृद्धित किये जाते हैं । भारतवर्षमें ऐसे बहुत कम संग्रहालय हैं, जहाँ अरब, फारस और पश्चिम भारतके शिलालेखोंका ऐसा सुन्दर संग्रह है ।

दसवीं सदीके आरम्भसे लेकर अठारहवीं सदीके अन्ततकके शिलालेख कूफी, नस्ख तथा नस्तलिक्-लिपियोंमें हैं । शिलालेख वर्षकमाधुमार रखे गये हैं और उनपर खुदी हुई बातोंका भ्रम उनमें लगी हुई रिजोंपर जिव दिया गया है । इस तरह दर्शक आसानीके साथ, प्रत्येक शिलालेखके विषयमें, साधारण जानकारी प्राप्त कर सकते हैं ।

अरबी भाषाकी कूफी लिपिमें खुदे हुएजैसे चार शिलालेख यहाँ रखे हुए हैं, जैसे इस देशमें जायद की कहीं देखनेको मिलें । ये चार शिलालेखोंसे गुजरातके सुलतानों तथा मोगल शासकोंके अधीन पश्चिम भारतके इतिहासपर अच्छा प्रकाश पड़ता है । इनमें कई अभी अच्छी दशामें हैं ।

यमईके समीप सोपर स्तूपके स्थानसे प्राप्त सम्राट् अशोककी आठवीं राजाज्ञा, वाजपेय यशके यूप (याज्ञिक स्वग्भ) का एक खुदा हुआ लघु तथा (सम्भवतः मधु-रामे प्राप्त) चौद-प्रतिमाका पद-तल, जिसमें कुषाण-वंशीय शासक दुर्विन्द (सन् १२३ ई०) के समकाल के

खुदा है, बरामदेकी दूसरी ओरपर रखा हुआ है । अधिकसके कमलोंके सामनेवाले टेबुल-केमपर सिक्कोंके नमूने तथा पागण-शिलालेखोंके छोटे-छोटे टुकड़े इस भाँति रखे गये हैं कि, दसवीं या अठारहवीं सदियोंमें बादकी देवनागरी लिपिका क्रमशः विकास सहजमें ही जाना जा सकता है । दूसरे चार केलोंमें लगभग पचास—कुछ सुपात्र और कुछ टूटे—शिलालेख और दक्षिण अरबमें प्राप्त सजा और दिमेराइट लिपिमें खुदे हुए ताम्रपत्र रचे हुए हैं । यह अरबके प्राक्-मुस्लिमकालकी चीजें हैं । आखिर-वाले केसमें असीरिया और बेबिलोनके लगभग एक दर्जन पथर और पत्थी मिट्टीकी छोटी-छोटी दृष्टिकॉपें हैं, जिनपर ईसासे नवीं सदीसे छठी सदी पूर्वकी लिपिमें लेख हैं । यह नेप्थूतदनजर और असुर नसीरपाल जैसे शक्तिशाली राजाघोंके अश्वीन तथाकालीन बेबिलोनकी कलाकारीके मौन साक्षी हैं । इस तल्लेके पूर्वी कोनेपर एक सुदृढ़ कमरा है, जिनमें मुस्लिम और अमुस्लिम सिक्कोंका संग्रह है । यहाँ इस देशके सभी समयके तरह-तरहके सिक्कोंके नमूने रखे गये हैं ।

शिलालेखोंवाली गैलरीके पास चक्रदार सीढ़ीके नीचे उतरनेपर दर्शकोंको दो टेबुल-केम मिलेंगे जिनमें पन्थापालात्मिक (मानव तर-सम्बन्धी) सोसायटी द्वारा उधार मिले हुए कुछ नमूने रखे गये हैं । उनमें पारसियोंके "Tower of Silence" (श्मशान)का भी एक नमूना है ।

सामनेके खुदे हुए बरामदोंमें भी दोनों ओर अग्रगण्य वस्तुएँ सजायी गयी हैं । दोस और भारी स्मारक स्वग्भ और बीरोंके कीर्ति-स्वग्भ (जो दक्षिण भारतसे मिले हैं) तथा पोर्तुगीजोंके कुछ शिलालेख पूर्वकी ओर बरामदेमें रखे हुए हैं । परिचमरी और बरामदेमें ब्राह्मणकालीन मूर्तियाँ और तल्लणकलाके नमूने हैं, जो दोहद और तैयबडर से, अभी थोड़े ही दिन हुए, लाये गये हैं । यह अठारहवीं या बारहवीं सदियोंकी गुजराती वस्तु-निर्माणकलाके सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं ।



१२३—जैनमूर्ति संवत् १२४२ की)
(यखान, धास्कट, सिन्धसे प्राप्त)



१२४—प्रस्तपीभूत वृक्ष
(पटना म्युजियम)



१२५—दो स्त्रियोकी मूर्तिका-मूर्तियाँ
(पाटलिपुत्र, मौर्यकाल)
(पटना म्युजियम)



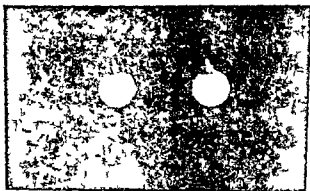
१२६—चामर धारिणी स्त्री मूर्ति
(शुंगकाल, दीदारगंज)
(पटना म्युजियम)



१२७—ईंटपर रामायणका एक दृश्य
(चौसा, शाहाबाद)
(पटना म्युजियम)



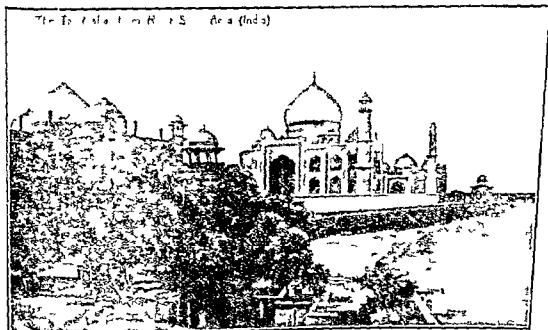
१२८—मृण्मयी नागिनी
(मौर्यकाल, पाटलिपुत्र)
(पटना म्युजियम)



१२६—जहाँगीरकी खर्ण-मुद्राएँ
(पटना म्युजियम)



१३०—योधि-सत्त्व प्रतिमा
(गान्धार शिख, पेशावर)
(प्रिन्स आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई)



१३१—ताजमहल, आगरा

गङ्गाका "पुरातत्त्वाङ्क"



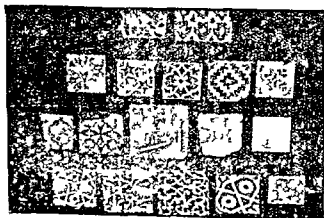
१३२—गरडमुखी देवप्रतिमा
(असीरिया, ईसासे पूर्व ९वीं शताब्दी)
(प्रिन्स आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई)



१३३—असीरियाका राजा असुर
नसीरपाल (ईसासे पूर्व ८८५-८६०)
(बम्बई म्युजियम)



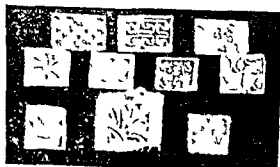
१३४—असीरियाकी देव मूर्ति
(ईसासे पूर्व ९वीं शताब्दी)
(बम्बई म्युजियम)



१३५—सिन्धकी १६ वीं सदीकी मुसलमानी ईंटें
(प्रिन्स आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई)



१३६—ईसासे पूर्व ६ ठी शताब्दीकी अरय-देव-मूर्तियाँ
(बम्बई म्युजियम)



१३७—४ वीं सदीकी उत्कर्षण चौखट ईंटें (धालनापाद, मीरपुरगास, सिन्ध) (बम्बई म्युजियम)



१—निवेदन

हिन्दीसाहित्यमें जिन विषयका अभाव है, उसपर विशेषाङ्क निकालना, गम्भीर साहित्यकी सृष्टि करना और हिन्दू सभ्यता तथा सभ्यताका महत्त्व दिखाना आदि 'गङ्गा'के उद्देश्य हैं। इन्हीं उद्देश्योंसे प्रेरित होकर "पुरातत्त्वाङ्क" निकाला जा रहा है। इस विशेषाङ्कको प्रकाशित करनेका प्रस्ताव विषयकाचार्य राहुल सांठ्यायन का था। आपने आचार्य नरेन्द्रदेवजीके साथ, रूपा-पूर्वक, इसका सम्पादन-भार भी स्वीकार किया था। अस्वस्थता और राजनीतिक कार्योंमें पड़ जानेके कारण नरेन्द्रदेवजी सम्पादन-कार्यमें सहयोग नहीं दे सके—यह दुःखकी बात है, परन्तु सांठ्यायन-जीने सम्पादन-कार्यमें, सदा, प्रत्येक प्रकारका, साहाय्य दिया—कई लेख लिखे, दूसरोंसे कुछ लेख लियाये, कई कावियोंका संशोधन किया, कुछ कामोंका प्रूफ देया—जहाँ कहीं रहे, सदा विशेषाङ्कको सफल बनानेकी चेष्टा करते रहे। अन्तको, विदेशसे लौटनेपर, तो आप एक मासतक मुलतानगजमें, इसी कार्यके लिये, रहे भी। इसमें सन्देह नहीं कि, आपने इसके लिये इतना परिश्रम न किया होता, तो यह ऐसा सुन्दर नहीं बन सकता। इसलिये इस विशेषाङ्कको प्रायः आपको ही रूपाका फल समझना चाहिये।

इस विशेषाङ्कका कार्यारम्भ १५ महीने पहले

किया गया था। तबसे मुझे हममें लगा रहना पड़ा। सांठ्यायनजीकी अनुपस्थितिमें मुझसे जो कुछ हो सका, किया। कितने ही अप्राप्य चित्र मँगाये गये, एक हजार रुपयेसे अधिकके ब्लाक बनवाने पड़े, महानों लिखा पढ़ोकर भारत सरकारसे, पुरा-तत्त्व विषयक कई चित्रोंको छापनेके लिये, हुक्म लेना पड़ा और अधिकारी विद्वान से लेख मँगानेमें लगभग एक वर्षतक लगातार खत कितामत करनी पड़ी। इन सब कामोंमें पानोकी तरह रुपये बहाने पड़े। "गङ्गा"के प्रधान सारक्षक बनेलाराज्याधिपति साहित्य-निभूषण कुमार कृष्णानन्द सिंह बहादुर और आपके विद्वान प्राध्वेद सेक्रेटरी पण्डित गौरी-नाथ भा, व्याकरणतीर्थने 'पुरातत्त्वाङ्क'को सर्वाङ्ग-सुन्दर बनानेके लिये दिल खोलकर रुपये खर्च किये। आप लोगोंकी हिन्दी हितैषिता और उदारता श्रमशक्ती ही कारण हिन्दू समाजमें "पुरातत्त्वाङ्क" निकल सका है। शायद समाजकी किसी भी भाषामें पुरातत्त्व विषयक विशेषाङ्क नहीं निकला था।

"गङ्गा"का वार्षिक मूल्य ५५ २० है। इसमें ३५ रु०का तो यह विशेषाङ्क ही, प्राध्वेदोंको दिया जा रहा है। १८ का सालभर टिकट देना पड़ेगा—परन्तु व्यवहारमें भी कुछ खर्च कफ़ा पड़ेगा। इस तरह अधिकसे अधिक ११८ में हा 'गङ्गा'के इस ३२ वर्षके अग्रशिष्ट ११ अङ्क, प्राध्वेदोंको, देने

पड़ेंगे। यह सब बनेली-राज्याधिपतियों और ५० गौरीनाथ भाजीकी साहित्यगतपूराणताका ही फल है। इसलिये आप लोग समस्त हिन्दीसंसारके धन्यवाद-भाजन हैं।

हिन्दीसंसारको विदित है कि, आप लोग सनातनधर्मानुयायी हैं। मैं भी सनातनधर्ममें विचारका आदमी हूँ। इस दशामें “गङ्गा”में सनातनधर्मके निरुद्ध कोई लेख छपना कुछ पाठकोंको खटकता है। परन्तु खटकनेकी कोई बात नहीं। हमारे दर्शनमें, शाङ्करभाष्यमें और अन्यान्य शास्त्र ग्रन्थोंमें चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि अनेक विरोधी मतोंका उल्लेख, पाठकोंके विचार और खण्डनके लिये, किया गया है। फिर भी “गङ्गा” एक मासिक पत्रिका है। इसके पाठक विभिन्न विचारोंके हैं। उनके लिये, अन्य पत्रिकाओंकी तरह, विविध विचारोंके लेखोंको छापना “गङ्गा”का कर्तव्य है। हाँ, सम्पादकीय विचार सनातनधर्मके विपरीत नहीं हो सकते।

कुछ लोगोंका मत है कि, पुरातत्त्व सनातनधर्मका कुछ विरोधी है, परन्तु यह मत ठीक नहीं। मेरे विचारसे तो पुरातत्त्व-विषयक खोजें सनातनधर्मका सर्वाधिक समर्थन करती हैं। भारतकी किसी भी खोदाईमें सनातनधर्म या आर्य-संस्कृतिकी विरोधिनी कोई भी चीज नहीं मिली है। हाँ, हरप्पा और मोहजोदारोकी खोदाइयोंसे निकली वस्तुओंको लेकर अग्रज कुछ मतभेद है। कुछ अंग्रेज विद्वानों और उनके अनुयायी भारतीय पण्डितोंकी राय है कि, इन दोनों स्थानोंकी खोदाइयाँ सुमेरियन या द्रविड सभ्यताके गौरवका समर्थन करती हैं और यह सभ्यता आर्यसभ्यतासे प्राचीनतर है। परन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं। अनेक विद्वानोंके मतसे

वैदिक सभ्यतासे बहुत पीछेकी यह सभ्यता है। इस सभ्यन्धकी जितनी युक्तियाँ हैं, उन्हें जाननेके लिये पाठकोंको इस अङ्कमें प्रकाशित डा० लक्ष्मण-स्वरूप, डा० अविनाशचन्द्र दास, डा० नरेन्द्रनाथ लाहा आदिके लेखोंको, ध्यानसे, पढ़ना चाहिये। इन विद्वानोंकी युक्तियाँ जान मार्शल या वाडेल साहयकी युक्तियोंसे कमजोर नहीं। मेरी तो धारणा है कि, भारतकी किसी भावी खोदाईमें यदि मोहजोदारो और हरप्पासे भी प्राचीनतर वस्तुएँ मिलेंगी, तो वह भी सनातनधर्म या आर्य सभ्यताका अनुमोदन करनेवाली ही होगी। भारतका प्रत्येक अणु हमारी संस्कृतिके अनुकूल है। भारतकी खोदाइयोंमें ही क्यों, मेसोपोटामिया (योगाजुई), पेरू (अमेरिका), ईजिप्त् आदिकी खोदाइयोंमें जो इन्द्र, वरुण, स्वस्तिक, सूर्य आदिके नाम, प्रतिमाएँ और चिह्न आदि मिले हैं, वे भी सनातनधर्म और आर्य-सभ्यताकी महिमाके संवर्द्धक हैं। फलतः पुरातत्त्वकी खोजों और इस विषयके साहित्यके प्रचारसे हमारे धर्म, सभ्यता, इतिहास और संस्कृतिको महान् लाभ होगा।

हाँ, इस अङ्कमें दो-चार लेख ऐसे हैं, जिनसे हमारी सभ्यता और संस्कृतिका विरोध होता है, परन्तु इन लेखोंमें या तो पाश्चात्य विद्वानोंके विचारोंका अनुधावन किया गया है या इनके विचार हमारे ही सभ्यन्धमें ऐसे नहीं, ईरानियों, चीनियों आदिके धारमें भी ऐसे ही हैं। विधर्मियोंसे अपनी सभ्यतिके समर्थनकी आशा भी बहुत नहीं करनी चाहिये। हमारे निरुद्ध जो भूगर्भशास्त्रकी बातें हैं, वे भी विवादास्पद हैं। यह शास्त्र अभी बिल्कुल अधूरा है। जिस भूगर्भशास्त्रकी बातोंने पाश्चात्य

विद्वान् और उनके भारतीय अनुगामी ऋग्वेदका काल १२०० बी० सी० मानते हैं, उसी शास्त्रके आधारपर डा० अविनाशचन्द्र दास ऋग्वेदका काल २५००० वर्ष। इस सम्बन्धमें जो सज्जन अधिक जानना चाहें, वे "गङ्गा" के "वेदाङ्क" की सम्पादकीय टिप्पणियाँ पढ़ें। यहाँ, स्थानाभावके कारण, इतना ही लिखा जा सकता है कि, भूगर्भशास्त्रकी बातें पूर्णतः विश्वसनीय नहीं। समय मिलने पर इस सम्बन्धमें "गङ्गा" के अगले अङ्कमें विशेष लिखा जा सकेगा। पाठकोंको यह सुनकर भी प्रसन्नता होगी कि, सांस्कृत्यायनजीका भी मत है कि, पुरातत्त्व-विषयक खोजें मूर्तिपूजाकी विरोधिनी नहीं हैं।

यहाँ यह लिखना भी मैं नहीं भूल सकता कि, "पुरातत्त्वाङ्क" में कई सज्जनोंने तरह-तरहकी सहायता दी है। भारत सरकारके पुरातत्त्व-विभागाध्यक्ष राय बहादुर प० दयाराम साहनीने कई सरकारी चित्रोंको छापनेकी स्वीकृति देनेकी कृपा की; इसलिये वे साधुवादके पात्र हैं। राय साहय मनोरञ्जन घोष एम० ए०, कामरूप-अनुसन्धान-समितिके उपमन्त्री प० सर्वेश्वर शर्मा कटकी, प० काशीनाथ दौक्षित एम० ए०, डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, काशी-नागरी प्रचारिणी सभाके मन्त्री महोदय, आचार्य प० महावीरपूसाद द्विवेदी, प० लोचनपूसाद पाण्डेय आदि आदिने जो साहाय्य दिया है, वह सदा स्मरणीय रहेगा। आप लोगोंको जितना धन्यवाद दिया जाय, थोड़ा है।

हाँ, नालन्द् नहीं, नालन्दा शब्द है; परन्तु खेद है कि, डा० होरानन्द् शास्त्रोके लेखमें, भूकरीडरकी गलतीसे, नालन्द् ही छप गया है!

खेद है कि, अनेक सुयोग्य विद्वानोंसे आग्रह करके

जो लेख मँगाये गये थे, उनमेंसे कितने ही, स्थानाभावके कारण, इस अङ्कमें नहीं जा सके; कई सम्पादकीय विचार भी नहीं प्रकाशित किये जा सके। जो हो, परन्तु ये लेख "गङ्गा" के आगामी अङ्कमें यथाशक्य शीघ्र छापे जायेंगे। तबतक लेखकोंसे क्षमा-याचना है।

—रामगोविन्द त्रिवेदी

२ — आवश्यक विनय

राज्यके कार्यमें अतीव व्यस्त रहने और आगामी अप्रैल माससे निकलनेवाले "हृलधर" नामक साप्ताहिक पत्रके प्रवन्धका सारा कार्य हाथमें लेनेके कारण इन दिनों मुझे "गङ्गा" के सम्पादनका कार्य करनेका विलकुल ही समय नहीं। इतने दिनों-तक जो कुछ मुझसे बग पड़ी, "गङ्गा" की सेवा की; परन्तु आगे ऐसा करनेमें असमर्थ हूँ। फलतः अब मैं सम्पादकीय विभागसे हट रहा हूँ। इसके लिये पाठकोंसे क्षमा-याचना करता हूँ। हाँ, "गङ्गा" के सञ्चालन और स्वामित्वका भार मुझपर आगे भी बना रहेगा और इस नाते मैं हिन्दीसंसारकी सेवा करता रहूँगा।

—गौरीनाथ भा

३ — "पुरातत्त्वाङ्क" के सम्बन्धमें

जिस समय मैंने "गङ्गा" के प्रधान सम्पादक प० रामगोविन्द शास्त्रीसे "पुरातत्त्वाङ्क" निकालनेके बारेमें कहा था, उस समय यह विद्वत्ता नहीं हुआ था कि, हिन्दीमें, महत्त्वपूर्ण होनेपर भी, ऐसे उद्देशित विषयपर विशेषाङ्क निकाला जा सकेगा। तो भी यह निफल हो गया। इस विशेषाङ्क द्वारा हिन्दीजनताके सामने माहित्यके एक अङ्कको पूर्ण करनेवाली यदि कोई बात

आयी हो, तो उसके लिये “गंगा” के संरक्षक, अध्यक्ष और प्रधान सम्पादक शास्त्रीजी ही साधुवादके पात्र हैं। आचार्य नरेन्द्रदेवके अस्पृश्य और कारा-प्रवासी हो जाने और मेरे भारतसे बाहर चले जानेके कारण एक तरहसे सारा ही भार शास्त्रीजीके ऊपर पड़ गया था; और, उन्होंने “कँसा कर चले गये” का उलाहना देते हुए भी उसे किया। ‘पुरातत्त्वाङ्क’ की जो विषय-सूची मैंने और आचार्य नरेन्द्रदेवजीने बनायी थी और जिसमें पाँच सात विषयोंको ५० गोपीनाथ कविराजने भी जोड़ दिया था, वह सब सिर्फ लेखकोंको आसानीके लिये ही किया गया था, इसलिये यदि सभी विषयोंपर लेख नहीं आये, तो उसके लिये चिन्ता नहीं; किन्तु हम अच्छी तरह जानते हैं कि, भारतीय पुरातत्त्वके कई उपयोगी अङ्गोंपर लेख नहीं दिये जा सके हैं। विशेषकर वृहत्तर भारत—मध्य एशिया, अफगानिस्तान जाया, इंडो-चायना, लंका आदि—के विषयमें। लेखोंके एक ही समय न आ जानेके कारण और छपाईमें देरी होती देख, लेखोंमें न विषयका और न योग्यताका ही खयाल किया जा सका। ब्लाक भी जितना हम देना चाहते थे, उतना नहीं दे सके। समयाभावके कारण ही भारतकी पुरानी लिपियोंका भी ब्लाक, बाहर, बनानेके लिये, नहीं भेजा जा सका यद्यपि उसे मनोऽमिलित रूपमें प्रकाशित नहीं किया जा सका। स्थानाभाव और फाल्गु-भापने आये हुए लेख मेसे भी कितनोंको ही इस अङ्कमें नहीं छपा जा सका। आशा है, लेखक महोदय क्षमा प्रदान करेंगे। दूजे हुए लेख सादर भगने अङ्कमें प्रकाशित किये जायेंगे।—रा० सा०।

४—पुरातत्त्व-साहित्यका महत्त्व

हिन्दीमें पुरातत्त्व-साहित्यकी कितनी आवश्यकता है, इसे इस अङ्कमें छपे विद्वानोंके गम्भीर लेखोंसे पाठक यदि नहीं समझ सकेंगे, तो हमारी (सम्पादक द्वयकी) इन दो चार पङ्क्तियोंसे नहीं समझेंगे। भारतके सच्चे इतिहासके निर्माणमें “पुरातत्त्व” की सामग्रियाँ अत्यन्त उपयोगी हैं, और, खोदाई आदिके द्वारा अभीतक जो कुछ किया गया है, वह दालमें नमकके बराबर है। उसकी जब हम यूरोपके सभ्य देशोंके कार्यसे तुलना करते हैं, तब उसे बहुत अल्प पाते हैं। काशीकी नागरी-प्रचारिणी सभाने हिन्दीकी खोजकी रिपोर्टें तथा ‘प्राचीन मुद्रा’ छापकर; और, उसकी पत्रिकाके योग्य सम्पादक श्रद्धेय ओझाजीने भी हिन्दीमें कुछ कार्य किया है। ओझाजी हिन्दीमें इस विषयके युगप्रवर्तक होनेसे चिरस्मरणीय रहेंगे। इतिहासकी सबसे ठोस सामग्री ही पुरातत्त्व सामग्री है; और, उस सामग्रीसे भारतकी कोई जगह शून्य नहीं है। गाँवके पुराने डीहोंपर फेंके मिट्टीके बर्तनोंके चित्र-विचित्र टुकड़े तो हमें इतिहासकी कभी कभी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातें बताते हैं। लेकिन उन्हें समझनेके लिये हमारे पास वैसा श्रोत्र और नेत्र होना चाहिये।

५—सर्वसाधारणके जानने योग्य कुछ बातें

घेसे तो बहुतसी बातें हैं, जिन्हें एक पुरातत्त्व-प्रेमी और पुरातत्त्व-गवेषकको जानना चाहिये; किन्तु यहाँ कुछ घेसी बातें गिना दी जाती हैं, जिनको साधारण पाठक भी यदि ध्यानमें रखें, और अपने आसपासकी सामग्रियोंके रक्षण और परीक्षणका खयाल करें, तो बहुत फायदा हो सकता है—

(१) शिला, ताम्रपण्ड और भग्न मूर्तियों तथा दूसरी चीजोंपरके लेपोंको जहाँ कहीं भी देखें, उन्हें अन्यत्र मुद्रित लिपियोंसे यदि मिलावें, तो उस से कालका घान हो सकता है। यह पयाल रखें कि, पुरावत्त्वविद् न सत्य हैं और न वह भारतमें सच जगह पहुँच ही सके हैं, इसलिये आपके गाँवके डीह या महादेव-स्थानपर ढेर की हुई खण्डित मूर्तियोंके टुकड़ोंमें भी कभी कोई हीरा निकल आ सकता है।

(२) अपने आसपासकी पहाड़ियोंके पत्थरोंसे भिन्न यदि किसी दूसरे रंगके पत्थरकी मूर्ति मिले, तो वह कभी-कभी और भी महत्त्वपूर्ण सूचना देने-वाली हो सकती है। मूर्तियोंमें अक्सर आसन (पीठिका) के नीचे या प्रभामण्डल (सिरके चारों ओरके बरे) या पीठपर लेख छुड़े होते हैं।

(३) ईंटोकी लम्बाईपर अलग लेख छप चुका है। जितनी ही असाधारण लम्बाईकी ईंटें मिलें, उतनी ही उन्हें उस स्थानकी प्राचीनताकी बतलाने-वाली सम्भन्ता चाहिये। भर सक अखण्ड ईंट खोज निकालने और उसका नाप लेनेकी कोशिश करनी चाहिये। बहुत छोटी ईंटें (लाहोरी या लाखोरी) मुसलमानों कालकी होती हैं। विचित्र आकार-प्रकारके खपड़े, कुएँ बाँधनेकी चन्द्राकार पट्टियाँ आदि भी कभी-कभी बहुत उपयोगिनी होती हैं।

(४) मकानकी नॉच, कुआँ या तालाब खोदने-में यदि कोई चीज मिले, तो उसकी गहराईकी नापकर चीजके साथ नोट कर लीजिये। यह गहराई प्रमाणकी एक बहुत ही उपयोगिनी कड़ी है। इसी तपह जो चीज़ जिस गाँवके जिस स्थानपर मिले, उसे भी नोट कर लेना चाहिये। स्मरण रहे, "स्थान-

हीना न शोभन्ते दन्ता: केशा नखा नराः" की उक्ति इसपर और घटती है।

(५) कहीं-कहीं गाँवोंमें पीपलके नीचे या किसी टूटे-फूटे देवस्थानमें पत्थरके लम्बे चिकने टुकड़े मिलते हैं। उनमें कभी-कभी दस बारह हजार वर्ष पूर्वकी, हमारे पूर्वजोंके, हथियार भी सम्मिलित रहते हैं। यदि वह संगमरारे या चक्रमक जैसे कड़े पत्थरके तथा नोकीले और तेज धार लिये हों, तो निश्चय ही सम्प्रामेय कि, वे यही अस्त्र हैं, जिनसे हमारे पूर्वज शिकार आदि किया करते थे।

(६) कुएँ आदि खोदनेमें धरतीके बहुत नीचे कभी-कभी मनुष्यकी खोपड़ियाँ या हड्डियाँ मिल जाती हैं। हो सकता है, वह खोपड़ी कई हजार वर्षोंकी पुरानी, किसी तृप्त जातिके मनुष्यकी, हो; इस लिये उसकी छान बीन करनी चाहिये और यदि आकृति असाधारण तथा हड्डी बहुत पुरानी या पत्थर जैसी मालूम होती हो, तो उसकी रक्षा करनी चाहिये या किसी विशेषज्ञसे दिखाना चाहिये। बहुत नीचे मिले मिट्टीके बर्तनोंके बारेमें भी यही सम्भन्ता चाहिये। तबिये या पीतलकी तलवार या छुरा यदि कहीं मिल जाय, तो उसे धातुके भाव वैच न डालना चाहिये। हो सकता है, वह ५-६ हजार वर्षोंकी पुरानी चीज हो; और, कोई संग्रहालय उसे धातुसे कई गुने दामपर खरीद ले।

(७) (क) मिट्टीसे भटे तथा दब गये भीदोंवाले जहाँ तालाब हों, (ख) जहाँ आसपास पुराने देवस्थानों या पीपलके नीचे टूटी-फूटी मूर्तियाँ अधिक मिलती हों, (ग) जहाँ खेत जोतते या मिट्टी खोदते धक पुराने कुएँ या ईंटकी दीवार आदि निकल आती हों, (घ) जहाँ घग्घातमें मिट्टीके धूल जानेपर तबिये आदिने वैसे तथा दूसरी चीजें

मिलती हों (चौकोर या मूर्त्तिवाले सिक्के अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं; और, पानेवालेको, उनके कालके अनुसार, कई गुना अधिक दाम मिल सकता है); ऐसे स्थान पुरातत्त्वके लिये अधिक उपयोगी होते हैं। गढ़ या ऊँची जगहसे भी प्राचीनता मालूम होती है; किन्तु हजार वर्ष पूर्वसे जहाँ बस्ती फिर नहीं बसी, वहाँकी जमीन बहुत ऊँची नहीं मिलेगी।

(८) गाँवमें, साधारण लोगोमें, यह भ्रम फैला हुआ है कि, सरकार जहाँ-कहाँ खोदाई करती है, वह किसी खजानेके लिये। उन्हें समझना चाहिये कि, पुरातत्त्वकी खोदाईमें सरकारने जितना खर्च किया है, यदि खोदाईमें निकले हुए सोने-चाँदीके दामसे मुकाबिला किया जाय, तो उसका शतांश भी न होगा। फिर भी सोने-चाँदी या कीमती पत्थरकी जो कोई चीज मिलती है, उसे न गलाया जाता है, न बेचा जाता है। वह तो भिन्न-भिन्न संग्रहालयोंमें, इतिहासके विद्वानों और प्रेमियोंके देखने और जाननेके लिये, रख दी जाती है। यदि गाँवमें इस तरहके सिक्के आदि किसीको मिलें, तो उसे वह गला करके या तोड़-फोड़ करके खराब न कर दे। सम्भव है कि, उससे उसकी अपनी जातिका कोई सुन्दर इतिहास मालूम किया जा सके। बहुत-से भूले वंशोंके परिचय और गौरव स्थापन करनेमें इन चीजोंने बहुत सहायता की है। सम्भव है, ऐसी चीजको गलाने या तोड़नेवाला अपने पूरे पुराणका कीर्ति और इतिहासको अपनी इन क्रिया द्वारा गला और तोड़ रहा हो !

६—पुरातत्त्व और पाश्चात्य विद्वान्

पुरातत्त्वके नियमों या प्रचालन विद्वान् किन्तु उत्सुक है, इसका एक उदाहरण लीजिये। फोर्ड यॉम महीने हुए, पाश्चीम-राज्यके गिलगित स्थानमें,

१२-१३ सौ वर्ष पुराने अक्षरोमें, भोजपत्रपर लिखे, बहुतसे संस्कृत-ग्रन्थोंका एक ढेर मिल गया। भारतके कितने ही विद्वान् तो उसके महत्त्वको उतना नहीं समझते; किन्तु उसके बारेमें सवित्र सुन्दर विवरण फ्रांसके आचार्य सिल्वेन लेवीने प्रकाशित कराया है ! उनके पास कुछ पन्ने पहुँच गये थे, जिनके पाठको, उन्होंने, उसमें, छपा भी हैं। वह और उनके सहकारी डा० कुशे आदि उन हस्तलिखित ग्रन्थोंके बारेमें इतने उत्सुक हैं कि, उन्होंने कई बार काश्मीर-राज्यके अधिकारियोंके पास पत्र भी भेजे। वह व्यर्थ है कि, कहीं असावधानीसे वह सामग्री नष्ट या लुप्त न हो जाय ! जर्म में (रा० सा०) पिछले नवम्बरमें पेरिसमें था, तब उन्हें काश्मीरसे पत्र मिला था, जिसमें लिखा था कि, हस्तलेखोंका निरूपण (decipher) किया जा रहा है ! कहाँ वह आशा रखते थे कि, इन अठारह महीनोंमें उन पुस्तकोंके नाम आदिके विषयमें कोई विस्तृत विवरण मिलेगा और कहाँ पत्र जा रहा है कि, गुप्त लिपिमें लिखे ग्रन्थोंका निरूपण किया जा रहा है ! यदि ग्रन्थोंका प्रकाशन या विवरण तैयार न करके अठारह महीने सिर्फ निरूपणमें ही लग जाते हैं, तो कम उन्हें विद्वानों के सामने आनेका मौका मिलेगा ! आचार्य लेवीने कहा था कि, पूरे अठारह महीने हो गये, ऐसा अद्भुत ग्रन्थ समुदाय भारतमें मिला है, जिसे लोग फेबल चीनी और तिब्बती अनुवादोंसे ही जान सकते थे; परन्तु उसके बारेमें भारतमें इस तरहका आलस्य है, यह भारतके लिये लज्जाकी बात है !

भारतीय पुरातत्त्वके मादित्वसे बारेमें यदि आप पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, तो उन्हें आप द्वावेड निर्याती डा० योगल और उनके माद-योगियोंके पत्रिभारते निकलनेवाली पार्ष्व पुस्तिका

'The Annual Bibliography of Indian Archaeology' से जान सकते हैं।

७—पुरातत्त्वोत्खननके लिये एक सेवक-दलकी आवश्यकता

पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज और खननका सारा भार हम सरकारपर ही नहीं छोड़ सकते। सभी सम्बन्धित देशोंमें गैर सरकारी लोगोंने इस विषयमें बहुत काम किया है। आज कल तो अर्थ कृच्छ्रतासे यहाँ-तहाँ हालत पहुँच गयी है कि, गवर्नमेंटने पुरातत्त्व विभागके खर्चको बहुत ही कम कर दिया है। भारत सरकारके शिक्षा-सदस्यके भाषणसे यह भी मालूम होता है कि, सरकार विदेशी विश्वविद्यालयों तथा दूसरी विश्वसनीय संस्थाओंको भारतमें पुरातत्त्व-सम्बन्धी उत्खननके लिये अनुमति दे देगी। ऐसा करनेसे निश्चय ही भारतके इतिहासकी बहुतसी बहुमूल्य सामग्री—जो आगे खोदाईमें निकलेगी, उसे—यह संस्थाएँ भारतसे बाहर ले जायँगी। यद्यपि संस्थाओंके प्रामाणिक होनेपर, सामग्रियोंका भारत से बाहर जाना, जहाँतक विज्ञानका सम्बन्ध है, हानिकार नहीं है, किन्तु यह भारतीयोंके लिये शोभा नहीं देता। साथ ही यह भी तो उचित नहीं कि, हम बाहर जानेके डरसे ऊपर दूसरोंको भी खोदनेका काम न दें और न आप ही इस विषयमें कुछ करें। अस्तु। लक्ष्मीपात्रोंको चाहिये कि, पर्याप्त धन देकर किसी विश्वविद्यालय या संग्रहालय द्वारा खोदाई करावें। हिन्दी भाषा-भाषी राजाओं, जमींदारों और गणतन्त्रोंके विषयमें यह आम तौरसे शिकायत है कि, वह विज्ञान, फला तथा दूसरे सस्कृति सम्बन्धी मामलोंसे उपेक्षा करते हैं और इसपर दूसरोंको सहनेका मौका भी मिलता है कि, यदि वह इन्हें नहीं कर सकते, तो उनका अस्तित्व ही निरर्थक है। वस्तुतः इस ध्वनीका भविष्य बहुत कुछ इस प्रकार-

के कामों द्वारा जनताकी सहानुभूति प्राप्त करने ही पर निर्भर है।

हमारा देश गरीब है। बहुतसे आदमी होंगे, जो पुरातत्त्वके सम्बन्धमें कुछ कार्य करना चाहते हैं; किन्तु उनके पास धन नहीं, जिससे वह सहायता करें। ऐसे समझदार पुरातत्त्व-प्रेमी भी एक प्रकारसे उत्खननमें सहायता कर सकते हैं। आवश्यकता है, प्रत्येक प्रान्तमें ऐसे उत्साही लोगोंका एक पुरातत्त्व सेवा-दल कायम करनेको। दलमें फाल्सेजोंके छात्र और प्रोफेसर तथा इस विषयमें उत्साह रखनेवाले दूसरे शिक्षित सज्जन सम्मिलित हों। सेवादलके सदस्य सालमें कुछ सप्ताह या मास जानकार नेताओंके नेतृत्वमें अपने हाथों खननका काम करें। निकली चीजोंको प्रदेशके संग्रहालय या अन्य किसी सार्वजनिक सुरक्षित स्थानमें रखा जाय। कैम्पका जीवन चलाते हुए अपने पाससे खर्च कर काम करनेवाले लोग आसानीसे मिल सकेंगे। वस्तुओंकी सुरक्षा और अभिज्ञ नेता होनेका विश्वास हो जाय, तो सरकार भी इस काममें बाधक नहीं होगी और जहाँतक होगा, उसमें वह सहूलियत पैदा करेगी।

८—भारतीय पुरातत्त्व-वेत्ता

जिस प्रकार "वेदाङ्क" में वेदशास्त्रोंके पते प्रकाशित किये गये थे, उसी प्रकार यहाँ कुछ ऐसे देशी विदेशी पुरातत्त्व वेत्ताओंके पते प्रकाशित किये जा रहे हैं, जिनसे, आवश्यकता पड़नेपर, पुरातत्त्व विषयक विशेष अभिज्ञता प्राप्त की जा सकती है। हमने यथाशक्ति इस यातकी चेष्टा की है कि, भारतीय पुरातत्त्व क्षेत्रमें काम करने वाले विप्रेक्षित विद्वान् किसी भी पुरातत्त्व वेत्ताका नाम न छूटने पाये, तो भी, सम्मन है,

किसीका नाम छूट गया हो। यहाँ यह भी ध्यान देनेकी बात है कि, जिन विद्वानोंके नाम "पुरातत्त्वाङ्क"में आ चुके हैं, उनके नाम इस सूचीमें नहीं रचे गये हैं।

- १ राय बहादुर प० दयाराम साहनी एम० ए०,
डायरेक्टर जेनरल आफ आर्कियालाजी
इन इंडिया, दिल्ली और शिमला
- २ डा० हीरानन्द शास्त्री एम० ए०, डी० लिट्,
गवर्मेन्ट एपीग्राफिस्ट फार इंडिया,
नीलगिरि, मद्रास
- ३ राय बहादुर रामपूसाद चन्दा बी० ए०,
लेट सुपरिण्डेंट, आर्कियालाजिकल सेक्शन,
इंडियन म्युजियम, कलकत्ता
- ४ डा० आनन्दकुमार स्वामी डी० एस-सी०,
क्युरेटर, म्युजियम आफ फाइन आर्ट्स,
बोस्टन (अमेरिका)
- ५ खाँ बहादुर मौलवी जफर हसन बी० ए०,
सुपरिण्डेंट, आर्कियालाजिकल सर्वे, आगरा
- ६ महामहोपाध्याय प० गौरीशङ्कर हीराचन्द
ओझा, क्युरेटर, राजपुताना म्युजियम,
अजमेर
- ७ राय साहब मनोरञ्जन घोष एम० ए०,
क्युरेटर, पटना म्युजियम, पटना
- ८ श्रीयुत गणेशचन्द्र चन्द्र,
सुपरिण्डेंट, आर्कियालाजिकल सर्वे,
सेंट्रल सफिल, पटना
- ९ श्रीयुत एन० के० भट्टशाली एम० ए०,
क्युरेटर, ढाका म्युजियम, ढाका
- १० पण्डित के० एन० सीताराम
एम० ए०, पी एच० डी०,
क्युरेटर, सेंट्रल म्युजियम, लाहोर

- ११ राय साहब प्रयागदयाल,
क्युरेटर, प्राविशियल म्युजियम, लगनऊ
- १२ श्रीयुत एम० डी० राघवन अग्रवाल, बी० ए०,
सुपरिण्डेंट इन चार्ज, गवर्नमेंट म्युजियम, मद्रास
- १३ श्रीयुत जी० बी० आचार्य बी० ए०,
क्युरेटर, प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई
- १४ श्रीयुत प० माधवस्वरूप पत्त एम० ए०,
असिस्टेंट सुपरिण्डेंट, आर्कियालाजिकल सर्वे,
फ्रांटियर सफिल, लाहोर
- १५ श्रीयुत एम० गुप्त,
क्युरेटर, आर्कियालाजिकल म्युजियम, तक्षशिला
- १६ श्रीयुत एम० बी० गर्दे एम० ए०,
सुपरिण्डेंट, आर्कियालाजी, ग्वालियर स्टेट
- १७ श्रीयुत ए० एस० गदरे,
क्युरेटर, वाट्सन म्युजियम, राजकोट
- १८ श्रीयुत एम० नाजरीन,
आफिशियेटिंग सुपरिण्डेंट, आर्कियालाजिकल सर्वे,
वेस्टर्न सफिल, पूना
- १९ श्रीयुत एम० एच० कुरेशी,
आफिशियेटिंग सुपरिण्डेंट, आर्कियालाजिकल
सर्वे, महमडन पेंड ब्रिटिश मानुमेंट्स,
नार्दर्न सफिल, आगरा
- २० डा० डी० आर० भण्डारकर
एम० ए०, पी एच० डी०,
एडीटर, इंडियन एंटिकोरी, बम्बई
- २१ डा० शम सुल-उल्मा सर जे० जे० मोदी
के० सी० आई० ई०, पी एच० डी०,
एडीटर, जर्नल आफ दि कामा ओरियंटल
इन्स्टीच्यूट, बम्बई
- २२ श्रीयुत जी० यजदानी एम० ए०
डायरेक्टर आफ आर्कियालाजी, हैदराबाद (दमिपन)

- २३ श्रीयुत ओ० सी० गाङ्गुली,
सम्पादक, "रूपम्", कलकत्ता
- २४ श्रीयुत टी० एन० रामचन्द्रन एम० ए०,
मद्रास म्युजियम, मद्रास
- २५ श्रीयुत आर० सुब्बा राय एम० ए०,
एडीटर जर्नल आफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल
रिसर्च सोसाइटी, राजमहेन्द्री
- २६ श्रीयुत हकीम सईद शमसुल्ला कादरी,
एडीटर, "तारीख", हैदराबाद
- २७ ए० जयचन्द्र विद्यालङ्कार, दारागंज, प्रयाग
- २८ डा० रमेशचन्द्र मजुमदार एम० ए०, पी० एच० डी०,
यूनिवर्सिटी, ढाका
- २९ डा० प्रबोधचन्द्र सागरी एम० ए०, डी० लिट्,
यूनिवर्सिटी, कलकत्ता
- ३० डा० विजयराज चटर्जी
एम० ए०, पी० एच० डी०, मेरठ कालेज, मेरठ
- ३१ श्रीयुत एस० पर्णवितान,
एडीटर, एपीग्राफिया जीलोजिका, सिलोन
- ३२ डा० बेनीमाधव बरुआ एम० ए०, डी० लिट्,
यूनिवर्सिटी, कलकत्ता
- ३३ डा० सुनीतिकुमार चटर्जी एम० ए०,
पी० एच० डी०, यूनिवर्सिटी, कलकत्ता
- ३४ प्रिंसिपल विधुशेखर भट्टाचार्य एम० ए०,
शान्तिनिकेतन, बोलपुर, धारभूम
- ३५ डा० ए० वनर्जी शास्त्री एम० ए०, डी० फिल,
पटना कालेज, पटना
- ३६ मि० एसोसिएट, गवर्नमेंट स्कूल आफ
आर्ट्स, कलकत्ता
- ३७ सर जान मार्शल, भूतपूर्व डायरेक्टर जनरल
आफ इंडियन आर्कियालाजी, लंडन
- ३८ डा० एच० व्यूडर्स, यूनिवर्सिटी, बर्लिन (जर्मनी)

- ३९ प्रो० सिल्वन लेवी, पेरिस यूनिवर्सिटी, पेरिस
- ४० प्रो० अम्ब्रोगिया बालिनी, मिलान (इटाली)
- ४१ डा० स्टैन कोनो,
एडीटर, ऐक्यू ओरिपेटेलिया, ओस्लो (नार्वे)
- ४२ प्रो० जियन मिलुस्की, पेरिस
- ४३ डा० हर्मान गोएस पी० एच० डी०,
कन्जर्वेटर, कर्न ईंस्टीच्यूट (हालैंड)
- ४४ सर एम० आरल स्ट्राइन के० सी० जे० ई०,
C/o. डा० पी० एस० एलन, आक्सफोर्ड, इंग्लैंड
- ४५ प्रो० ए० फूरो, पेरिस यूनिवर्सिटी, पेरिस
- ४६ डा० जे० हाकिन, म्युजे नेमे, पेरिस
- ४७ प्रो० पाउल पेलियो, पेरिस यूनिवर्सिटी, पेरिस
- ४८ डा० एल० डी० वर्नट, ब्रिटिश म्युजियम, लंडन
- ४९ प्रो० जार्ज शापेटियर,
यूनिवर्सिटी, उपासला (स्वीडेन)
- ५० मि० चार्ल्स डुग्बा सेल, भू० पू० सुपरिंटेंडेंट,
आर्कियालाजिकल सर्वे र्मा सर्फिल, रंगून
- ५१ सर जार्ज ए० ग्रियर्सन, सरी, इंग्लैंड
- ५२ मि० जार्ज प्रोसलिये, फ्लोपेन्ड, कम्बोडिया
- ५३ डा० के० हमदा, टोकियो (जापान)
- ५४ श्रीमती स्टिला ग्रामरिस, हालैंड
- ५५ मि० जार्ज मापेरो, पेरिस
- ५६ मि० मार्डग मे, सुपरिंटेंडेंट,
आर्कियालाजिकल सर्वे, र्मा सर्फिल, मांडले
- ५७ मि० तिन वे० मार्डग, यूनिवर्सिटी, रंगून
- ५८ मि० अलेक्जेंडर रिपा, भूतपूर्व सुपरिंटेंडेंट,
आर्कियालाजिकल सर्वे, मद्रास
- ५९ मि० एच० ली० शट्लवर्थ,
रायन एशियाटिक सोसायटी, लंडन
- ६० डा० ओटो स्ट्राइन,
यूनिवर्सिटी, प्राग, जेकोम्सोवैकिया

- ६१ प्रो० एफ० डब्ल्यू० थामस,
आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, लंडन
- ६२ डा० डान मार्टिनो डि जिन्वा विक्रम सिद्ध,
रायल एशियाटिक सोसायटी, कोलम्बो
- ६३ डा० एस० ओल्डेनबर्ग पी-एच० डी०
एकाडेमी ऑफ साइंस, लेनिनग्राड, रूस
- ६४ डा० विन्डर्निट्ज एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राग, जेकोस्लोवेकिया
- ६५ मि० फैंकलिन इजर्टन,
एडीटर, जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियंटल
सोसायटी, न्यू हैवेन, अमेरिका
- ६६ मि० जान एन्ड, ब्रिटिश म्यूजियम, लंडन
- ६७ डा० जे० पी-एच० वोगल पी-एच० डी०,
एडीटर, ऐनुअल वाइड्लोग्राफी आफ इंडियन
आर्कियालाजी, लोडेन, हालैंड
- ६८ डा० एन० ज० क्रोम पी-एच० डी०,
प्रोफेसर आफ इंडो-जायानीज आर्कियालाजी,

६—पुरातत्त्व-विषयक पुस्तकें, रिपोर्टें और पत्र-पत्रिकाएँ

“वेदाङ्क” की ही तरह पुरातत्त्व-विषयक पुस्तकों आदिकी सूची, मूल्य, प्रकाशन-समय, प्रातिस्थान, निर्माण-काल आदिके साथ, प्रकाशित करनेका हमारा विचार था। इसके लिये हमने कई पुस्तक-प्रकाशकों और विद्वानोंसे पत्र-व्यवहार करना शुरू किया। कुछ सूचियाँ और पुस्तकें मँगायीं भी। उन्हें देखनेसे मालूम हुआ कि, पुरातत्त्व-विषयक साहित्य वैदिक साहित्यसे कई गुना बड़ा है। यदि सूची प्रकाशित की जाय, तो सारा “पुरातत्त्वाङ्क” ही भर जाय; इसलिये लेखकोंके नामके साथ कुछ बहुत ही उपयोगी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओंकी सूची ही प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया। तदनुसार यह सूची प्रकाशित की जा रही है। यह सारी सूची प्रायः पंजाब यूनिवर्सिटीके डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फिल (अन्यत्र) और अपने परामर्शसे डा० जगन्नाथ

6. Babeloy, E.—(a) Manual of Oriental Antiquities.
7. Bagehi, Dr. Prabodha Chandra—(a) Pre-Aryan and Pre-Dravidian.
8. Bannerji, R.D.—(a) The Origin of the Bengali Script, (b) *आद्योक्त मूला*.
9. Barnett, L. D.—(a) Antiquities of India.
10. Barth, M. Auguste.—(a) Inscriptions du Cambodge.
11. Barua, Beni Madhava and Kumar Ganganand Singh.—(a) Barhut Inscriptions, (b) Old Brahmi Inscriptions in the Udayagiri and Khandagiri Caves.
12. Barwell, Anna.—(a) Buried treasures of Chinese Turkistan.
13. Bergaigne, P.M.—(a) *Les Inscriptions Sanscrites du Cambodge*.
14. Boyle, De.—(a) *La Palais d' Angkor Vat*, (b) *L' Architecture Hindoue*.
15. Bhandarkar, D. R.—(a) Inscriptions of Ashoka, (b) Lectures in ancient Indian Numismatics.
16. Bhattacharya, Nalini Kanta M. A.—(a) Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculptures in the Decca Museum
17. Bhattacharya, Benoytosh.—(a) The Indian Buddhist Iconography.
18. Bhau Da Ji.—(a) Literary Remains of Dr Bhau Da Ji
19. Bidya Benoda, B B.—(a) Catalogues of coins in the Indian Museum
20. Binyon, Lawrence.—(a) Examples of Indian Sculpture at the British Museum.
21. Blagden, C. O.—(a) Mon Inscription.
22. Bloch, Th.—(a) Supplementary Catalogue of the Archaeological Collections of the Indian Museum.
23. Bosch, F. D. K.—(a) De Prambanan Temples.
24. Bose, Phanindra Nath.—(a) The Indian Colony of Siam
25. Borovka, Dr. Gregory.—(a) Scythian Art.
26. Boyer, A. M.—(a) Kharosthi Inscriptions discovered by Sir M. A. Stein.
27. Brown, A. Coggin.—(a) Catalogue of Pre-historic Antiquities in the Indian Museum.
28. Brecks, J. W.—(a) An account of the Primitive tribes and monuments of the Nilgiris
29. Brown, C. J.—(a) Catalogue of the coins in the Provincial Museum of Lucknow.
30. Brown, Percy.—Indian Painting
31. Bühler, George.—(a) *Indische Palaeographie*, (b) *Bhagwanlal Indragiri's 23 Inscriptions from Nepal*.
32. Burnett, A. C.—(a) The Element of South Indian Palaeography.
33. Buzess, James.—(a) The Buddhist Stupas of Amaravati and Jagayyapeta, (b) The ancient monuments, temples and sculptures of India, (c) *Cave Temples of India*, (d) *A Guide to Ellora Cave Temples*, (e) *Digambar Jain Iconography*
34. Bunbury, E. H.—(a) A History of Ancient Geography.

- 35 Callenfels, Dr. P. V. Van Stem. (a) Reports on the inscriptional tours through Sumatra etc.
36. Cave, W. Henry —(a) The ruined cities of Ceylon.
37. Chakravarty, Dr. Nityan Prasad, M. A.—(a) India and Central Asia.
- 38 Chatterji, Dr. Bijan Ray —(a) Indian Culture in Java and Sumatra
39. Codrington, K. de B.—(a) An introduction to the Medieval Indian Sculpture
40. Contenan, Dr. George—(a) Manuel d'archéologie orientale, (b) Les Antiquités Orientales, (c) L'Art de l'Asie orientale ancienne
41. Coomaraswami, A. K.—(a) History of Indian and Indonesian Art, (b) Bibliographies of Indian Art, (c) Catalogue of Indian collections in the Museum of Fine Arts, Boston
42. Cousens, Henry —(a) The Architectural Antiquities of Western India, (b) Antiquities of Sindh
43. Cunningham, Sir Alexander.—(a) The Ancient Geography of India, (b) Coins of Ancient India, (c) Coins of the Indo-Scythians, (d) The Bhiksha Topes, (e) Book of Indian Eras, (f) Corpus Inscriptionum Indicarum, (g) Ladak, (h) Example of Indian Sculpture at the British Museum, (i) Coins of Medieval India
44. Crawford, J.—(a) Researches on Ancient and Modern India
45. Chanda, Ram Prasad —(a) Catalogue of the Museum of Archaeology at Sanchi, (b) Bhoonja Dynasty of Mayurbhanj and their ancient capital
46. Dey, Nundo Lal, M. A., B. L.—(a) The Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India
47. Dhama B. L.—(a) A Guide to Khajuraho
48. Diskalkar, D. B.—(a) Selections from Sanskrit Inscriptions
49. Dutt, Binode Behari.—(a) Town Planning in Ancient India
50. Elliot, W.—(a) Coins of Southern India
51. Fergusson, James.—(a) History of Indian and Eastern Architecture, (b) Cave Temples of India, (c) Archaeology in India, (d) Illustrations of the Rock-cut Temples of India, (e) Picturesque illustrations of ancient Architecture in Hindostan.
52. Fischer, Otto.—(a) Die Kunst Indiens, Chinas und Japans.
53. Finot, Louis.—(a) Notes D'Épigraphie Indochinoise, (b) L'origine d'Angkor.
54. Foucher, A.—(a) La Géographie ancienne du Gandhara, (b) The Beginnings of Buddhist Art & other Essays, (c) Étude sur l'Iconographie Bouddhique de l'Inde.
55. Francke, A. H.—(a) Antiquities of Indian Tibet
56. Gangooly, Ordhendra Coomar.—(a) Indian Architecture, (b) A Collection of Indian brasses & bronzes.
57. Goshal, A.—(a) Antiquities Bouddhiques de Bamiyan.

58. Goloubew, Victor.—(a) Documents from servir a' l' etude d' Ajanta; etc.
59. Griffiths.—(a) Ajanta Caves.
60. Groneman.—(a) Tyandi Borobudur in Central Java.
61. Groslier, George.—(a) Arts and Archeologie Khmers.
62. Grunwedel, A.—(a) Buddhistische Kunst in Indien.
63. Hackin, J.—(a) Guide Catalogue Les Collections Bouddhiques.
64. Halder, R. R.—(a) Articles on inscriptions in Indian Antiquary and other journals.
65. Hamada Dr. K.—(a) On the Gray (clay) Faces of Buddha recently found in Afghanistan.
66. Hargreaves, H.—(a) Excavations in Baluchistan in 1925.
67. Havell, E. B.—(a) Indian Architecture, (b) Fundamentals of Indian Art, (c) Indian Sculpture and Painting.
68. Hultsch, Eugen.—(a) Corpus Inscriptionum Indicarum, (b) South Indian Inscriptions.
69. Hurliman, Martin.—(a) L' Inde Architecture.
70. Indrajit, Bhagwan Lal.—(a) Hathigumpha and other Inscriptions.
71. Iyer, A. V. T.—(a) Indian Architecture.
72. Jahagirdar, R. V.—(a) Indo-Aryan Languages.
73. Jacon, J. A.—(a) Excavation in the Chaman Valley.
74. Jinavijaya, Muni.—(a) प्राचीन जैन-लेख-संग्रह ।
75. Jouveau, Dalmoul G.—(a) Dravidian Architecture, (b) Vedic Antiquities.
76. Juyaboll, Dr. H.H.—(a) Translation of Sarga XVII. of the old Javanese Ramayana.
77. Kak, R. C.—(a) Ancient and mediaeval Architecture of Kashmir, (b) Handbook of Archaeological and Numismatic Sections of Sri Pratap Museum. Srinagar.
78. Kaye, G. R.—(a) The Bakshali Manuscript.
79. Kaelhorn.—(a) Bruchstücke Indischer Schauspiele in Inschriften Zu Ajmer.
80. Konow, Sten.—(a) Classified catalogue of the library of Director General for Archaeology in India.
81. Kramer, Dr. Augustin.—(a) West Indonesia, Sumatra, Java, Borneo.
82. Krom, Dr. N. J.—(a) Hindoe Javaansche Gerchiedenis, (b) Borobudur Archaeological description.
83. Kuraishi, Mohd. Hamud M. A.—(a) A short guide to the Buddhist remains excavated at Nalanda.
84. Lal R. B. Hira.—(a) Inscriptions of the C. P. and Berar.
85. Lauepoole.—(a) Catalogues of the coins of the Sultans of Delhi in the British Museum.
86. Law, Bimalchandan.—(a) Ancient Indian Tribes.
87. Levi, Sylvain.—(a) Le Nepal, (b) Pre-Aryan and Pre-Dravidian.
88. Luce, G. H., M.A., I.E.S.—(a) Selections from the inscriptions of Pagan.

12. Annual Report of the Archaeological Dept of the Nizam's Dominion, Hyderabad (Deccan).
 13. Annual Report of the Archeological Dept. of Mysore State.
 14. Annual Report on South Indian Epigraphy, Central Publication Branch, Calcutta
 15. Annual Report of the Varendra Research Society, Rajshahi
 16. Epigraphia Indica Central Publication Branch Calcutta
 17. Indian Antiquary British Indian Press Mazgaon Bombay
 18. Indian Historical Quarterly Oriental Press Calcutta
 19. Journal of the Andhra Research Society Rajahmundry Madras
 20. Journal of B & O Research Society Patna
 21. Journal of Bombay Historical Society Exchange Buildings Sprott Road Bombay
 22. Journal of Indian History Nadu Street Mylapore Madras
 23. Journal of the Oriental Research Luz Mylapore Madras
 24. Journal of the American Oriental Society Yale Library New Haven Conn U S A
 25. Memoir of the Archaeological Survey of India Delhi
 26. Journal of the Punjab Historical Society Lahore
 27. Journal of the U P Historical Society Indian Press Allahabad
 28. Journal of the Asiatic Society of Bengal 1 Park Street Calcutta
 29. Journal of the Royal Asiatic Society Bombay Branch Town Hall Bombay
 30. Journal of the Royal Asiatic Society Ceylon Branch Colombo
 31. Epigraphia Zeylanica Colombo (Ceylone)
 32. Djawa Java Institute Batavia
 33. Archive Orientales Oriental Institute Prague Czechoslovakia
 34. Journal Asiatique Paris
 35. Journal of Cmsa Oriental Institute Bombay
 36. Ceylone Antiquary Colombo
 37. Kerala Society Papers Trivandrum (Travancore)
 38. नागरीप्रचारिणीपत्रिका, काशी ।
 39. Quarterly Journal of the Mythic Society Bangalore
 40. तारीख, हैदराबाद (दक्कन) ।
 41. Anthropol St Gabel Modline Near Vienna, Austria
 42. Bulletin of the School of Oriental Studies London.
 43. The Bukkyo Bijutsu Tokyo (Japan)
 44. Epigraphia Birwanea Rangoon (Burma)
 45. Ephigraphia Indo Moslemica Govt of India Central Publication Branch Calcutta
 46. Indian Historical Records Commission Central Publication Depot Calcutta
 47. Journal of the Burma Research Society Rangoon
 48. Journal des Savants Paris
 49. Journal of the Society of Oriental Research New York (America)
 50. Revue Numismatique Paris
- ये सब पुस्तकें, रिपोर्टें और पत्र पत्रिकाएँ निम्न लिखित स्थानों पर मिल सकती हैं—
1. Luzac & Co, 46, Great Russell Street London, W. C. 1.
 2. Otto Harrassowitz, 14, Querstrasse, Leipzig, Germany.
 3. Paul Geuthner, 18, Rue Jacob, Paris (VI),
 4. Oriental Book Agency, 15, Shukriawar, Poona.
- पुरातत्त्व विषयक पुस्तक और पत्र पत्रिकाएँ पढ़नेसे साहित्यिक ज्ञान होता है और एतद्विषयक मूर्तियाँ, शिलालेख, ताम्रपत्र, मुहर आदि देखनेसे पुरातत्त्वके प्रगत और व्यावहारिक ज्ञानकी अभिवृद्धि होती है । ये चीजें म्युजियम, संग्रहालय या अजायब-घरमें सुरक्षित रहती हैं । ऐसे अजायबघर संसार और भारतके प्रायः प्रत्येक बड़े-बड़े नगरमें हैं । भारतमें फलकत्ता का इंडियन म्युजियम, घमरवाका प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, मद्रासका गवर्नमेंट म्युजियम, पटना म्युजियम, लाहौरका सेंट्रल म्युजियम, मथुराका कर्जन म्युजियम, पेशावर म्युजियम,

तक्षशिला म्युजियम, सारनाथ म्युजियम, लगनऊका प्राग्निशिवल म्युजियम, ढाका म्युजियम अजमेरका राजपुताना म्युजियम राजशाहीकी चारन्द्र रिसर्च सोसायटी, गोहाटीकी कामरूप अनुसन्धान-समिति, दिल्लीका आर्कियालाजिस्ल म्युजियम, सतारा म्युजियम, साँचाका आर्कियालाजिस्ल म्युजियम, कलकत्तेका वर्गोय साहित्य परिषद्, पूनेका भण्डारकर आरियटल इंस्टीच्यूट और भारत इतिहास संशोधक मण्डल, कलकत्तेकी उगल एशियाटिक सोसायटी, बम्बईका कामा इंस्टीच्यूट, अमरावतीका शारदाश्रम,

रायगढ़की मध्य भारत-इतिहास-समिति आदि ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनमें शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्राएँ, मूर्तियाँ, भूर्जपत्र और ताडपत्रपर लिखे प्राचीनतम उत्तमोत्तम ग्रन्थ देखने और पढ़नेको मिल सकते हैं। प्रत्येक बड़े स्टेटमें भी ऐसी संस्थाएँ हैं। उक्त स्थानोंमें जाकर पुरातत्त्वप्रेमियोंको लाभ उठाना चाहिये। खेद है कि, इनमेंसे कईयोंके लिखे लिखाये विवरण हम इस विशेषाङ्कमें नहीं छाप सके। समयानुसार वे छपेंगे।



एक पार्श्व भेजकर २ पुस्तकें

मुफ्त मँगाकर पढ़िये

श्रीमान्, आप स्वप्नदोष, शीघ्रपतन, धातुक्षीणता, वीर्य पतला हो जानेसे पेशाबके साथ निकल जाता हो, वीर्यके रोगों से दुःख पा रहे हैं और बहुतसे ठगोंकी दवाएँ खाकर भी आराम न पाकर निराश हो चुके हों, तो—

१ वीर्य-सम्बन्धी ६० रोगों के कारण, निदान, चिकित्साकी सचित्र पुस्तक

‘वीर्य-चिकित्सक’ मुफ्त मँगा ले।

२ वीर्य सम्बन्धी रोगोंसे नीरोग हुए सज्जनोंकी ‘प्रशंसापत्रावली’ पुस्तक मुफ्त।

पता—वीर्य वर्धक कम्पनी, रमजु

पोस्ट सादाबाद, प्रान्त मधरा।

89. Liders, Henrich.—(a) A list of Brahmi inscriptions from the earliest times up to 100 A. D.
90. Lugsan, A. C.—(a) Old clipped stones of India.
91. Lawrence, Binyon.—(a) Examples of Indian sculpture at the British Museum.
92. Maitra, A. K.—(a) गौड़-लेखनाल ।
93. Majumdar, Mani Gopal.—(a) Inscriptions of Bengal.
94. Majumdar, Dr. R. C.—(a) Ancient Indian Colonies—Champa.
95. Marshall, Sir John.—(a) Guide to Taxila, (b) Mohenjodaro and the Indus Civilization, (c) Conservation Manual—a handbook for the use of Archaeological officers etc, (d) The Bhagh Caves.
96. Matsumoto, Yenchu.—(a) Development of the characteristics of the Buddhist pictures in Central Asia in its relation to the Far East.
97. Mehta, Nanlal Ohanlal I. C. S.—(a) Studies in Indian Painting.
98. Mervant, L. A.—(a) Guide to the Anthropological and Ethnographical Museum, Indian Dept. [Leningrad.]
99. Mensching, Gustav.—(a) Buddhistesche Symbolik.
100. Mitra, Rajendralal.—(a) Antiquities of Orissa, (b) Bodhi Gaya.
101. Mitra, Panchanan.—(a) Pre-historic India.
102. Nahar, Puran Chand.—(क) जैन-शिला-लेख-संग्रह ।
103. Nelson, W.—(a) Catalogues of the coins in the Indian Museum, Calcutta.
104. Neogi, Panchanan.—(a) Copper in Ancient India.
105. Ojha, R. B. Gaurishankar H.—(क) प्राचीन लिपि-माला । (ख) अशोककी धर्म-लिपियाँ ।
106. Prinsep.—(a) Essays on Indian Antiquities.
107. Przyhuski, J.—(a) Un Ancien Peuple du Penjab Les Udumbaras.
108. Ramanayya, N. Venkata.—(a) Essay on the origin of South Indian Temples.
109. Ramavatar Pande, Sahitacharya.—(a) Piyadasi Inscriptions.
110. Rangacharya, V.—(a) Inscriptions of the Madras Presidency.
111. Rao, Gopinath.—(a) Elements of Hindu Iconography.
112. Rao, B. Venkoba.—(a) Architecture and sculpture of Mysore.
113. Rapson, E. J.—(a) Catalogue of the coins of the Andhra Dynasty, (b) Indian Coins.
114. Rea, Alex.—(a) Catalogue of the Pre-historic Antiquities from Adichanallu and Perumbair, (b) Chalukyan Architecture.
115. Rice, Lewis.—(a) Mysore and Coorg from the Inscriptions.
116. Sahni, Daya Ram R. B.—(a) Catalogue of the Museum of Archaeology at Sarnath.
117. Sanyal, Nirabandhu.—(a) List of inscriptions in the Museum of the Varendra Research Society, Rajshahi, (b) List of gold coins in the Varendra Research Society Museum.

सब तरहकी सुन्दर छपाईके काम—

श्री मिथिला प्रेस

खलीफाबाग, भागलपुरमें भेजिये

हमारे यहां हिन्दी, बंगला, अंगरेजी, उर्दू आदि भाषाओंमें हर तरहकी छपाईके काम सुयोग्य कार्याध्यक्षोंकी देख-भालमें होते हैं। छोटी बड़ी पुस्तकें, ट्रैक्ट, पर्चे, रजिस्टर, रसीद-बहियाँ, कैशमेमो, बालान, लेटरहेड, मिल-युक्त, नोटिस, हैण्डबिल, इन्विटेशन कार्ड, विजिनेस कार्ड, पोस्टर, प्लेकार्ड आदि सब तरहके काम बड़ी सुन्दरताके साथ तथा सस्तेसे सस्ते दामोंमें छापे जाते हैं।

पुस्तक-प्रकाशक लाभ उठावें

विहारकी इन सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिकाकी छपाई हमारे इसी प्रेसमें होती है, जो आपके सामने मौजूद है। इसीसे आप समझ सकते हैं, कि हमारे यहांकी छपाई कौसी होती है। आप यहां साप्ताहिक अथवा मासिक पत्र पत्रिका भी छपा सकते हैं। पुस्तकों और पत्र पत्रिकाओंकी सुन्दर छपाईके लिये हमने हालमें एक बिलकुल नयी और अप-टू-डेट स्टाइलकी डबल क्राउन फ्रैंट-बैक मेशीन भी मंगा ली है।

रंग-विरंग चित्रोंकी छपाई

हाफटोन क्लार्क (चित्रोंकी छपाईके लिये हमारे यहां पिजलीसे चलनेवाली नयी बालकी ड्रेडिल मशीन मौजूद है। अब आप यहां हर तरहके एकरंगे, दोरंगे और बहुरंगे चित्र भी छपा सकते हैं।

ब्राह्मणोंके कामोंकी ओर हम विशेष दृष्टि रखते हैं और सदा उनके कामोंकी सुन्दरताके साथ नियत समयपर करते हैं। एक बार काम करवाकर अनुरोध दें। हमारा विज्ञापन है कि हमारी छपाईसे आपको पूर्ण सन्तोष होगा।

वाइसिडिंग डिपार्टमेंट

छपाईके कामोंके अतिरिक्त हमारे यहां हर तरहकी उत्तम जिन्दगी-धार्मिक काम भी होता है। इन कामके लिये हमने पूरा व्यवस्था बनायी है और मय सब मामलानके वाइसिडिंग डिपार्टमेंट गोल दिया है, जिसमें फरिंग मेशीन, परफोरेटिंग मेशीन, नम्बरिंग मेशीन, कलिंग मेशीन, स्टिचिंग मेशीन योग्य सब कुछ मौजूद है। यह डिपार्टमेंट केवल ब्राह्मणोंके सुभीतेके विचारसे खोला गया है। आप जो कुछ भी छपाय, उसे यहां पंथया भी सकते हैं।

व्यवस्थापक:—श्री मिथिला प्रेस, खलीफाबाग, भागलपुर।